॥श्रीमद्भगवद्गीता॥

॥यथार्थ गीता॥

५२००

वर्षांच्या दीर्घ
कालानंतर
श्रीमद्भगवद् गीतेची
शाश्वत व्याख्या

॥श्रीमद्भगवद्गीता॥

॥यथार्थ गीता॥

मानव धर्मशास्त्र

स्वामी अड़गड़ानन्द
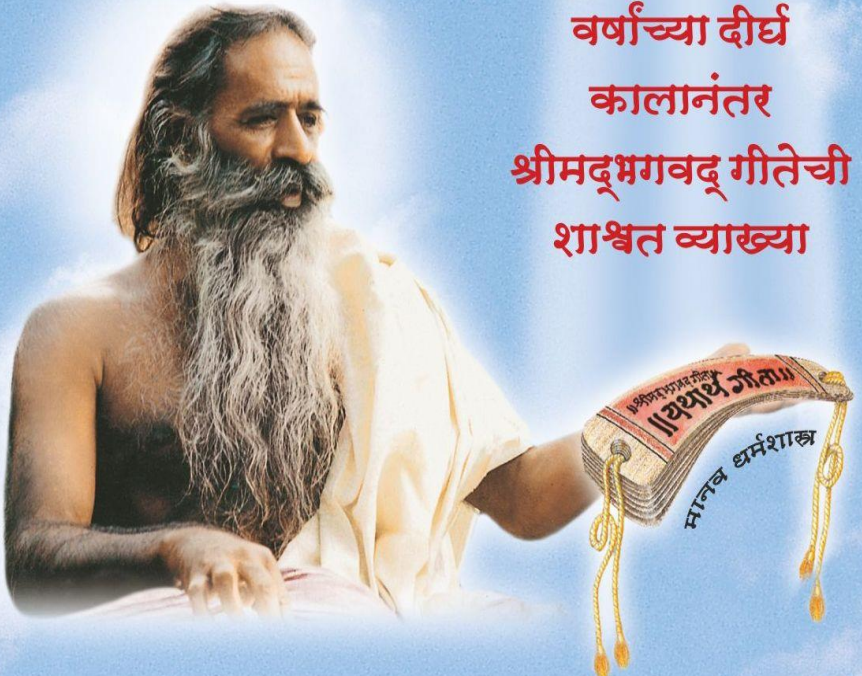
MARATHI

लेखकाविषयी .....

'यथार्थ गीता' या पुस्तकाचे लेखक एक अशा प्रकारचे संत आहेत की त्यांच्या जवळ एकही शैक्षणिक पदवी नाही. पण सद्गुरुंची अपार कृपा त्यांना लाभलेली आहे. त्यामुळे त्यांची जीवनयात्रा ईश्वरीय आदेशानुसार चालू आहे. सुरुवातीस लेखकश्रींना लेखन म्हणजे भजन साधनातील अडथळा वाटे. परंतु या गीतेवरील भाष्याबाबत भगवंताची आज्ञा हीच निमित्तरुप झाली आहे. भगवंतानी त्यांना ध्याना मध्ये सांगितले की, आपल्या सर्व वृत्ती शांत झाल्या आहेत. फक्त एक गोष्ट बाकी राहिली आहे व ती म्हणजे गीतेवर भाष्य लिहिणे. सुरुवातीस भजनातच व्यस्त राहून ही गोष्ट टाळण्याचा त्यांनी प्रयत्न केला. परंतु भगवंताचा आदेश बदलला नाही. त्या आदेशाचे मूर्त-स्वरुप म्हणजेच 'यथार्थ गीता' हे भाष्य होय. हे भाष्य करताना जिथे जिथे त्रुटी राही तेथे भगवंत ती सुधारित असत. स्वामीजींनी स्वान्तः सुखाय लिहिलेली ही कृती सर्वान्तः सुखाय बनावी, हीच शुभकामना!

प्रकाशक

।। ॐ नमः सद् गुरुदेवाय ।।

श्रीमद्भगवद्गीता

यथार्थ गीता

मानव धर्मशास्त्र

टीकाकार

परमपुज्य श्री परमहंस महाराजांचा कृपाप्रसाद

स्वामी अड़गड़ानन्दजी

श्री परमहंस आश्रम शक्तेषगढ,

गाव–पत्रालय–शक्तेषगढ़, जिल्हा – मीर्जापुर,

उत्तर प्रदेश, भारत

फोन : (०५४४३) २३८०४०

प्रकाशक

श्री परमहंस स्वामी अड़गड़ानन्दजी आश्रम ट्रस्ट

न्यू अपोलो एस्टेट, गाला नं 5, मोगरा लेन (रेलवे सबवे के पास), अंधेरी (पूर्व), मुम्बई – 400069

फोन - (022) 28255300 • ई-मेल - contact@yatharthgeeta.com • वेबसाइट - www.yatharthgeeta.com

ॐ

श्रीकृष्णाने ज्या वेळी गीतेचा उपदेश दिला होता, त्यावेळी त्यांच्या अंतरंगात कोणते भाव होते? मनातील समस्त भाव सांगितले जात नाहीत. फार थोडे सांगितले जातात. थोडे भावावेशात व्यक्त होतात आणि शेष क्रियात्मक असतात. म्हणजे एखादा साधक साधनमार्गावर चालूनच ते जाणू शकतो. ज्या एका स्तरावर श्रीकृष्ण होते, ती अवस्था प्राप्त करुन घेतलेले महापुरुषच गीता काय सांगते ते जाणतात. ते गीतेतल्या ओळींचा केवळ पुनरोच्चार करीत नाहीत तर त्यावेळी श्रीकृष्णांच्या मनातील भाव पण स्पष्टपणे दाखवू शकतात. कारण त्या वेळी श्रीकृष्णाच्या समोर जे दृश्य होते तेच दृश्य त्या वर्तमान महापुरुषांसमोर पण आहे. म्हणून असा महापुरुष ते पाहू शकतो, इतरांना दाखवू शकतो, तुमच्यात ते जागृत पण करु शकतो, त्या मार्गावर तुम्हाला यशस्वीपणे चालवूही शकतो.

'पूज्य श्री परमहंसजी महाराज' देखील त्या पातळीवरील महापुरुष होते. त्यांच्या वाणीद्वारे व अंत:प्रेरणेद्वारे गीतेचा जो अर्थ प्राप्त झाला त्याचे संकलन म्हणजे 'यथार्थ गीता' आहे.

स्वामी अड़गड़ानन्द

आमची प्रकाशने

पुस्तकें	भाषा
यथार्थ गीता	
❖ भारतीय भाषा	हिंदी, मराठी, पंजाबी, गुजराती, उर्दू, संस्कृत, उडिया, बंगाली, तामिल, तेलगू, मलयाळम, कन्नड, आसामी
❖ अन्तरराष्ट्रीय भाषा	इंग्रजी, जर्मन, फ्रेंच, नेपाली, स्पॅनीश, नार्वेजीयन, चायनीज, डच, इटालियन, रशियन
शंका समाधान	हिंदी, मराठी, गुजराती, इंग्रजी
जीवनादर्श एवं आत्मानुभूति	हिंदी, मराठी, गुजराती, इंग्रजी
अंग क्यों फडकते हैं ? और क्या कहते हैं ?	हिंदी, इंग्रजी, गुजराती, जर्मन
अनछुये प्रश्न	हिंदी, मराठी, गुजराती
एकलव्य का अंगुठा	हिंदी, मराठी, गुजराती
भजन किसका करें	हिंदी, मराठी, गुजराती, जर्मन, इंग्रजी
योगशास्त्रीय प्राणायाम्	हिंदी, मराठी, गुजराती
षोडशोपचार पूजन-पद्धती	हिन्दी, मराठी, गुजराती
योगदर्शन-प्रत्यक्षानुभूत व्याख्या	हिन्दी
ग्लोरिस् ऑफ योगा	इंग्रजी
ऑडियो कैसेट्स	
यथार्थ गीता	हिंदी, गुजराती, मराठी, इंग्रजी
अमृतवाणी	हिंदी
(श्री स्वामीजींच्या मुखारविन्दातून निःसृत अमृतवाणीचें संकलन) भाग १ से ५१ पर्यंत	
गुरूवंदना (आरती)	
(MP3) सीडीज्	
यथार्थ गीता	हिंदी, गुजराती, मराठी, इंग्रजी
अमृतवाणी	हिंदी
ऑडियोसीडीज्	
यथार्थ गीता	जर्मन

अनंत श्री विभूषित,

योगिराज, युग पितामह

परमपुज्य श्री स्वामी परमानन्दजी

श्री परमहंस आश्रम अनुसुया

(चित्रकुट)

यांच्यापरम पावन चरणी

सादर समर्पित

- अन्तस्प्रेरणा

गुरु-वन्दना

।। ॐ श्री सद्‌गुरुदेव भगवान् की जय ।।

जय सद्‌गुरुदेवं, परमानन्दं, अमर शरीरं अविकारी।।
निर्गुण निर्मूलं, धरि स्थूलं, काटन शूलं भवभारी।।

सूरत निज सोहं, कलिमल खोहं, जनमन मोहन छविभारी।।
अमरापुर वासी, सब सुख राशी, सदा एकरस निर्विकारी।।

अनुभव गम्भीरा, मति के धीरा, अलख फकीरा अवतारी।।
योगी अद्वैष्टा, त्रिकाल द्रष्टा, केवल पद आनन्दकारी।।

चित्रकूटहिं आयो, अद्वैत लखायो, अनुसुइया आसन मारी।।
श्री परमहंस स्वामी, अन्तर्यामी, हैं बड़नामी संसारी।।

हंसन हितकारी, जग पगुधारी, गर्व प्रहारी उपकारी।।
सत्-पंथ चलायो, भरम मिटायो, रूप लखायो करतारी।।

यह शिष्य है तेरो, करत निहोरो, मोपर हेरो प्रणधारी।।
जय सद्‌गुरु.........भारी।।

।। ॐ ।।
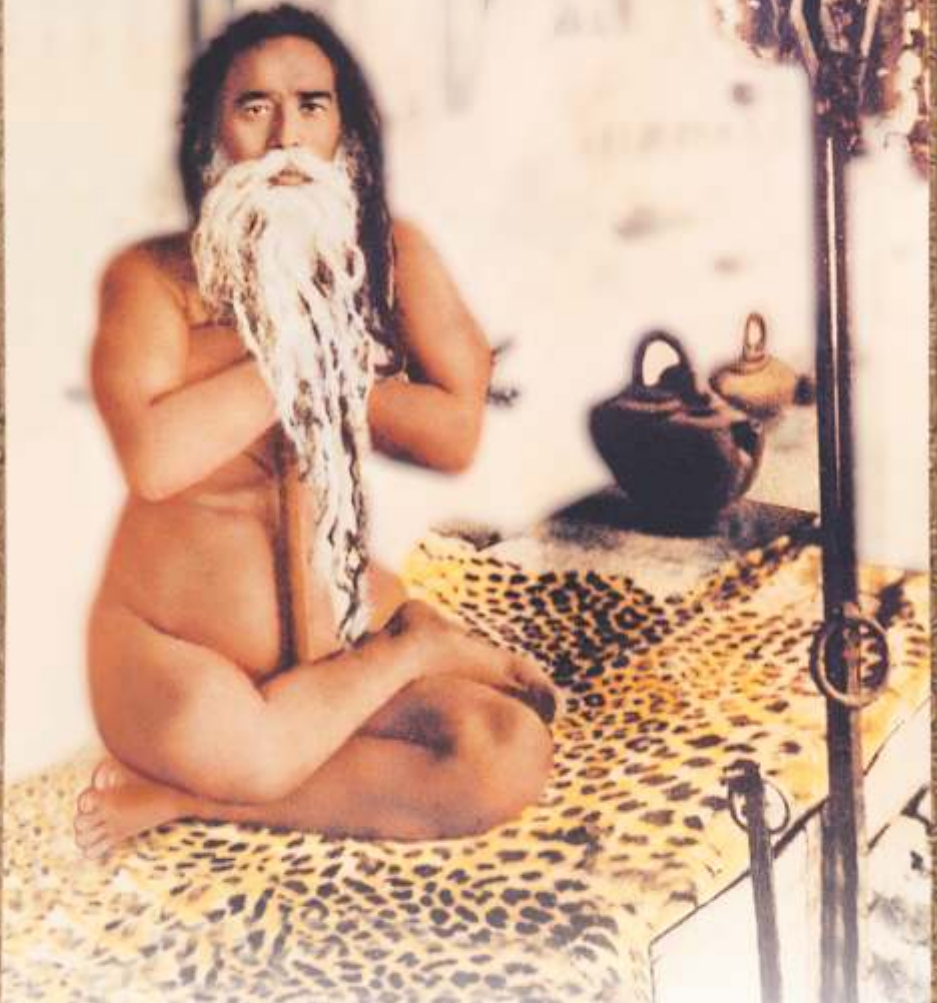
"आत्मने मोक्षार्थं जगत् हिताय च"
श्री श्री १००८ श्री स्वामी परमानन्दजी महाराज (परमहंसजी)
जन्मः शुभ सम्वत् विक्रम १९६९ (१९११ ई.)
महाप्रयाण ज्येष्ठ शुक्ल ७, २०२६, दिनांक २३/०५/१९६९ ई.
परमहंस आश्रम अनुसुइया, चित्रकूट

श्री स्वामी अड़गड़ानन्द जी महाराज

C-121, KIRTI NAGAR, NEW DELHI - 110 015 (INDIA).

विश्वगौरव सम्मानपत्र

वेदवेदांग आयुर्वेद ज्योतिषादि शास्त्रपरम्परासुरक्षाव्रती, अखिल संस्कृतवाङ्मयसंरक्षण—प्रचार—प्रसारपक्षधर आर्षसनातनमर्यादाजीवनपद्धतिसदाचारपरायण, "सर्वभूतहिते रतः—वसुधैव कुटुम्बकम्" के सद्भावना पर्यावरण से ओतप्रोत,

सम्माननीय श्री स्वामी अड़गड़ानन्द जी महाराज - परमहंस आश्रम

निवासी शक्तेशगढ़ चुनार (मिर्जापुर) को

अन्तर्राष्ट्रीय अधिवेशन में विश्वगौरव सम्मानपत्र से विभूषित किया जाता है।

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।

World Religious Parliament is pleased to confer
The Title of Vishwagaurav
In recognition of his meritorious contribution for World Development
through श्रीमद्भगवद्गीता, धर्मशास्त्र, (भाष्य यथार्थ गीता)
दिनांक कुम्भ मेला 10-4-98 हरिद्वार

Chairman (आचार्य)
Presentation Committee

Acharya Prabhakar Mishra
Chairman
World Religious Parliament

विसाव्या शतकाच्या अंतिम महाकुंभ मेळ्याच्या पर्वामध्ये हरिद्वार येथील सर्व शंकाराचार्य, सर्व महामंडालेश्वर, ब्राह्मण महासभा आणि ४४ देशातील धर्मशील विव्दानांच्या उपस्थितीमध्ये विश्वधर्म संसदेद्वारा पूज्य स्वामीजींना ''विश्वगौरव'' हे सन्मानपत्र अर्पण करण्यात आले.

विश्व धर्म संसद्

WORLD RELIGIOUS PARLIAMENT

C-121, KIRTI NAGAR, NEW DELHI 110 015 (INDIA)

सम्मान प्रमाणपत्र

''शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'' के मौलिक सिद्धान्तों पर आधारित विश्व में निरोगसमाज की स्थापना तथा शारीरिक मानसिक बौद्धिक सामाजिक स्वास्थ्य की उपलब्धि के लिए प्रयत्नशील एवं बाह्य तथा आन्तरिक पर्यावरण की स्वच्छता के लिए संकल्पित विश्व धर्मसंसद् प्राच्यअर्वाच्य ज्ञान विज्ञान की किसी भी शाखा के माध्यम से मानवता की सेवाओं में समर्पित व्यक्तियों को सम्मान करने में गौरव समझती है।

इसी धारणा-अवधारणा के दृष्टिकोण से उल्लेखनीय ज्ञान तथा सेवाओं के लिए श्री विश्वमानव को एक धर्मशास्त्र दाता विश्वगौरव स्वामी अड़गड़ानन्द जी को यथार्थ गीता धार्मिक क्षेत्र/विषय में विश्वगुरु सम्माननीय उपाधि से सम्मानित तथा जनसेवा के क्षेत्र में अग्रणी प्रमाणित करती है।

श्रीमद् भगवद् गीता भाष्य "यथार्थ गीता" धर्मशास्त्र है।

World Religious Parliament is pleased to confer the above Title in recognition of his meritorious contribuiton for World Development through ____________

26-1-2001

Chairman
Presentation Committee
or
Presiding Authority

Acharya Prabhakar Mishra
Chairman (Indian Region)
World Religious Parliament

विंश्वमानव धर्मशास्त्र श्रीमद्‌भगवतगीता या महान ग्रंथावरील 'यथार्थ गीता' ह्या भाष्याबद्दल परमपूज्यस्वामी श्री अडगडानन्द महाराजांना दि. २६ जानेवारी २००१ रोजी महाकुंभ पर्व, प्रयाग येथे ''विश्वगुरू'' ह्या सन्माननीय पदवीने सन्मानित करण्यात आले व जनसेवा क्षेत्रात 'श्रेष्ठ अग्रणी' म्हणून त्यांचा गौरव करण्यात आला.

।।श्री काशीविश्वनाथो विजयते।।

सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-शास्त्रार्थविद्यावतार-विश्वविश्रुत-महामहोपाध्यायदिविरुदविभूषक
पण्डितसम्राट-प्रातःस्मरणीय श्री शिवकुमारशास्त्रिमिश्रप्रतिष्ठापिता
वाराणसेयसर्वविधविद्वत्समाज-प्रतिनिधिभूता-

श्री काशीविद्वत्परिषद्

पत्राचार कार्यालय :
डी.१७/५८, दशाश्वमेध,
वाराणसी, उत्तर प्रदेश
मो. नं. ९४१५ २८५८५६
टे. नं. ०५४२-२४५२११३

दिनांक 1.3.04

श्री काशीविद्वत्परिषद् समय-समय पर धर्म की समीक्षा करती आयी है । धर्म के सम्बन्ध में यह समाज को निर्देश देने का अधिकार रखती है । धार्मिक प्रकरणों में यह भारत की बहुमान्य सर्वोच्च संस्था है । किसी निर्णय को संशोधित करने का अधिकार परिषद् की कार्यकारिणी को है किन्तु धर्म और धर्मशास्त्र अपरिवर्तनशील होने से आदिकाल से धर्मशास्त्र श्रीमद्‌भगवद्‌गीता ही रही है ।
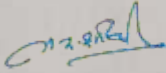
इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ।। गीता, ४/१
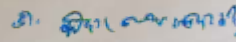
अर्जुन ! इस अविनाशी योग को कल्प के आदि में मैंने सर्वप्रथम सूर्य के प्रति कहा । सूर्य ने अपने पुत्र मनु से कहा । मनु ने इस स्मृत ज्ञान को सुरक्षित रखने के लिए स्मृति की परम्परा चलायी और अपने पुत्र इक्ष्वाकु से कहा । कालान्तर में इस स्मृति ज्ञान को महर्षि वेदव्यास ने लिपिबद्ध किया । मानव जीवन का नियमन तथा निःश्रेयस प्रदान करने वाली आदि मनुस्मृति गीता ही है ।

मनु के समक्ष अवतरित वेद इसी का विस्तार हैं । अन्य शास्त्र समयानुसार विश्व की विविध भाषाओं में ईश्वरीय गायन श्रीमद्‌भगवद्‌गीता की ही प्रतिध्वनि हैं । गीता की अवधारणा को स्वामी अड़गड़ानन्द जी ने 'यथार्थ गीता' में व्यक्त किया है जो शत-प्रतिशत सत्य है । परा विद्या की परिभाषा है ।

स्वामी जी ने गीता की यह व्याख्या देकर विश्व मानव को एक धर्मशास्त्र, एक परमात्मा के पथ को प्रशस्त किया है । धर्मशास्त्र की व्याख्या के रूप में हम सभी 'यथार्थ गीता' की अनुशंसा करते हैं ।

गणेशदत्त शास्त्री
मंत्री
श्री काशीविद्वत्परिषद्
भारत

आचार्य केदारनाथ त्रिपाठी दर्शनरत्नम वाचस्पति
अध्यक्ष
श्री काशीविद्वत्परिषद्
भारत

भारताच्या सर्वोच्च श्री काशी विद्वत् परिषदेने दिनांक ०१-०३-२००४ रोजी ''श्रीमद्‌भगवद्‌गीते'' ला धर्मशास्त्र आणि ''यथार्थ गीते'' ला परिभाषा म्हणून स्वीकृत केले आहे.

।।श्री काशीविश्वनाथो विजयते।।

सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-शास्त्रार्थविद्यावतार-विश्वविश्रुत-महामहोपाध्यायदिविरुदविभूषक
पण्डितसम्राट-प्रातःस्मरणीय श्री शिवकुमारशास्त्रिमिश्रप्रतिष्ठापिता
वाराणसेयसर्वविधविद्वत्समाज-प्रतिनिधिभूता-

श्री काशीविद्वत्परिषद्

पत्राचार कार्यालय :
डी.१७/५८, दशाश्वमेध,
वाराणसी, उत्तर प्रदेश
मो. नं. ९४१५ २८५८५६
टे. नं. ०५४२-२४५२११३

दिनांक 1.3.04

श्री परमहंस आश्रम, शक्तेश गढचुनार की अपनी सौभाग्यपूर्ण यात्रा का सुअवसर प्राप्त हुआ है । वहाँ के वर्तमान परमहंस स्वामी श्री अड़गड़ानन्दजी महाराज के दर्शन का स्मरणीय अवसर काशी की विद्वन्मण्डली के साथ मुझे प्राप्त हुआ । श्री परमहंस स्वामी अड़गड़ानन्दजी महाराज ब्रह्मलीन योगिराज स्वामी श्री परमानन्द परमहंस जी के शिष्य है और उनके द्वारा प्राप्त मानव धर्मोपदेश को स्वरचित 'यथार्थ गीता' के माध्यम से मानव मात्र के लिये प्रसारित कर रहे है, जिस गीता का ज्ञान भगवान कृष्ण ने अपने मुखारविन्द से अर्जुन के माध्यम से समस्त मानव के लिये किया था । इसीलिये श्रीमद्भगवद् गीता मानव मात्र का धर्मशास्त्र है । भगवान एक है और सबके है अतः उनकी गीता भी एक आकाश, एक सूर्य और एक चन्द्र के समान सबके लिये है ।

इस प्रकार गीता एकतामूलक है और स्वयं भी एकता का मूल है । भगवान ने स्वयं कहा है - ममैवांशो जीव लोकः'' अर्थात् प्राणी मात्र भगवान का ही अंश है तथा अंश अंशी में भेद नही होता है । अतः प्रत्येक प्राणी भगवद्भिन्नता के आधार पर वस्तुगत्या परस्पर में भी अभिन्न ही हैं। ''तद्भिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्व नियमः'' यह वस्तुस्थिति है । अतःगीता एकतामूलक तथा एकता का मूल दोनो ही है । यही गीता की यथार्थता है जिसे पूज्य परमहंस जी महाराज ने ''यथार्थ गीता'' में, जो भाष्यरुप है, प्रतिपादित किया है ।

यहाँ ''यथार्थ गीता'' पद से यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि कोई अयथार्थ गीता भी है क्योंकि गीता एक है - श्रीमद्भगवद् गीता'। प्रस्तुत 'यथार्थ गीता' श्रीमद्भगवद् गीता' का ही भाष्य है, जिसे स्वयं परमहंस श्री स्वामी जी महाराज ने प्रत्येक अध्याय की अंतिम पुष्पिका में कहा है ।- 'यथार्थ गीता' भाष्ये - ऐसा उल्लेख करते हुये । इसलिये 'यथार्थ गीता' का अभिप्रेतार्थ है । गीता की यथार्थता! इस अभिप्रेतार्थ को श्री स्वामी परमहंस जी ने इस सम्पूर्ण भाष्य में प्रतिपादित किया है ।

श्रीमद्भगवद् गीता पर अनेक भाष्य निर्मित हुए है - जैसे कर्म की प्रधानता बताते हुए लोकमान्य तिलक का गीता रहस्य, भगवद्भक्ति प्रधान वैष्णव भाष्य तथा ज्ञान प्रधान शांकरभाष्यादि ग्रन्थ! किन्तु प्रस्तुत यथार्थ गीता में एकेश्वरवाद मुख्यतया प्रतिपादित है जिसका किसी से विरोध नहीं है, प्रत्युत्त सबके साथ एक ईश्वरत्व की अनुभूति के रुप में सामंजस्य प्रकाशक है । क्योंकि कर्मकलाप भी उसी में पर्यवसित, भक्ति भी उसी की, तथा उसी का साक्षात्कार परमपुरुषार्थ मोक्ष का साधक है । भगवान ने स्वयं कहा है-

''यत्करोषि यद्श्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय! तत्कुरुस्व मदर्पणम् ।।
''मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्व न संशयः ।।

तथा ''ज्ञात्वा मां शान्ति मृच्छति, ''ज्ञान लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधि गच्छति ''सर्व ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिस्यसि'' तथा सर्व कर्माखिलं पार्थ! ज्ञाने परिसमाप्यते'' इत्यादि । इस प्रकार प्रस्तुत ''यथार्थ गीता'' की यथार्थता है - एक परमतत्व परमात्मा के आधार पर सबमें समत्व की अनुभूति -

''समो ऽहं सर्वभूतेषु न में द्वेष्यो ऽस्ति न प्रियः ।

इस पवित्र उद्देश के साथ श्री परमहंस स्वामी अडगडानन्दजी महाराज द्वारा संस्थापित एवं संचालित यह परमहंस आश्रम ऋषियों के प्राचीन गुफाओं एवं अरण्यो की तरह इस पर्वत श्रेणी के बीच से लोक में गीतोक्त इस उपदेश को उद्बुद्ध करने वाला है कि शास्त्रानुमोदित स्वाभाविक व्यवहार को अपनाते हुए सबमें ''अभेदभावनयैव यतितव्यम् भाव को लोक कल्याणार्थ प्रसारित करना है ।

हरि ॐ तत्सत्

आचार्य केदारनाथ त्रिपाठी दर्शनरत्नम वाचस्पति
अध्यक्ष
श्री काशीविद्वत्परिषद्
भारत

भारताच्या सर्वोच्च श्री काशी विद्वत् परिषदेने दिनांक ०१-०३-२००४ रोजी ''श्रीमद्भगवद्गीते'' ला धर्मशास्त्र आणि ''यथार्थ गीते'' ला परिभाषा म्हणून स्वीकृत केले आहे.

गीता म्हणजे मानवमात्राचे धर्मशास्त्र आहे.

–महर्षि वेदव्यास

श्रीकृष्णकालीन महर्षि वेदव्यासांच्या पूर्वी कोणतेही शास्त्र पुस्तकरुपाने उपलब्ध नव्हते. श्रुतज्ञानाच्या ह्या परंपरेला मोडून त्यांनी चार वेद, ब्रम्हसूत्र, महाभारत, भागवत व गीता सारख्या ग्रंथात पूर्व संचित भौतिक तसेच आध्यात्मिक ज्ञान संकलित करुन शेवटी स्वतःच निर्णय दिला की ''सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः'' सर्व वेदांचे प्राण असणाऱ्या उपानिषदांचे सार गीतेमध्ये आहे. गीतारुपी गाईचे गोपाल श्रीकृष्णाने दोहन केले व बेचैन अशांत जीवाला परत्म्याच्या दर्शनाप्रत व साधनेच्या मार्गाने शाश्वत स्थितीपर्यंत पोहचवले. महर्षी व्यासांनी आपल्या ग्रंथामधून गीतेला 'शास्त्र' अशी संज्ञा देऊन गीतेची स्तुती केली आणि सांगितले – ''गीता सुगीता कर्तव्या'' गीतेचे चांगल्या प्रकारे अध्ययन करुन ती ह्रदयात आत्मसात करण्या योग्य आहे. ती भगवान श्रीकृष्णांच्या मुखातून निःसृत झालेली वाणी असल्याने इतर शास्त्रांचा संग्रह करण्याची काय आवश्यकता ?

गीतेचा सारांश पुढील श्लोकात व्यक्त झालेला आहे.

एकं शास्त्रं देवकीपुत्र गीतम्, एको देवो देवकीपुत्र एव ।
एको मंत्रस्तस्य नामानि यानि, कर्माप्यको तस्य देवस्य सेवा ।।

अर्थात एकच असे शास्त्र आहे जे देवकीपुत्र भगवान (श्रीकृष्णाच्या) मुखातून गायले गेले आहे. प्राप्त करुन घेण्यासारखा देवकीपुत्र (श्रीकृष्ण) हा एकच देव आहे. या त्याच्या गीतात आत्मा हेच सत्य सांगितले आहे. आत्म्याशिवाय दुसरे काहीही शाश्वत नाही. या गीतेमध्ये महायोगेश्वराने कशाचा जप करायला सांगितला? ओमचा! अर्जुना, ओम अक्षय परमात्म्याचे नाव आहे. त्याचा जप कर आणि ध्यान माझे कर. कर्म एकच आहे–गीतेमध्ये वर्णन केलेल्या परमदेव, एका परमात्म्याची सेवा! त्या परमात्म्याला श्रद्धेने ह्रदयात धारण करा. सारांश सुरुवातीपासूनच गीता आपले शास्त्र आहे. भगवान श्रीकृष्णाच्या नंतर हजारो वर्षांनी ज्या

महापुरुषांनी एका ईश्वराला सत्य असल्याचे सांगितले ते गीतेचे संदेशवाहक आहेत. ईश्वराकडून लौकिक तसेच पारलौकिक सुखांची कामना, ईश्वराला घाबरणे, अन्य कोणालाही ईश्वर न समजणे (मानणे) असे तर सर्व महापुरुषांनी सांगितले, परंतु ईश्वरासाठी साधना करणे, ईश्वरापर्यंत जाण्यासाठी मधले अंतर कमी करणे या सर्व गोष्टींची क्रमबद्ध सांगोपांग चर्चा केवळ गीतेमध्ये केलेली आहे. त्यासाठी यथार्थ गीता पाहा. गीतेने सुख शांती तर प्राप्त होतेच परंतु ती अक्षय, अनामय, परमपददेखील देते आणि हे परमपद प्राप्त करावयाचे असेल तर विश्व गौरवास पात्र झालेली टीका "**यथार्थ गीता**" पाहा.

जगात सर्वत्र गीतेचा आदर केला जातो. तरीही ही गीता कोणत्याही धर्माचा किंवा संप्रदायाचा ग्रंथ बनू शकला नाही. कारण संप्रदाय कोणत्या ना कोणत्या रुढींनी जखडलेले असतात. भारतामध्ये प्रकट झालेली गीता म्हणजे विश्वातील विद्वानांचा अनमोल ठेवा आहे. आणि म्हणुनच गीतेला राष्ट्रीय ग्रंथाचा (शास्त्राचा) मान देऊन उच्च-नीच भावाने, भेदभावाने तसेच कलह परंपरेने पीडीत आसणाऱ्या विश्वातील संपूर्ण जनतेला परमशांती देण्याचा प्रयत्न करावा.

धर्म-सिद्धान्त – एक

१. सर्व ईश्वराची मुले–

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।।१५/७।।

सर्व मानव ईश्वराची मुले आहेत.

२. मानवी देहाची सार्थकता–

किं पुनर्ब्राह्मणः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।।९/३३।।

सुखरहित, क्षणभंगुर परंतु दुर्लभ असे हे मानवशरीर प्राप्त झाले असता, तू माझी आराधना कर. माझे भजर कर. अर्थात भजनाचा अधिकार फक्त देहधारी मनुष्यालाच आहे.

३. मनुष्याच्या जाती फक्त दोन–

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु।।१६/३।।

मनुष्यात फक्त दोनच वर्ग किंवा प्रकार असतात– दैवी व आसुरी! ज्याच्या हृदयात दैवी गुणांचे प्राबल्य असते, ज्याच्या हृदयात दैवी संपत्ती कार्य करीत असते तो देवतास्वरूप असतो. तर ज्याच्या हृदयात आसुरी संपत्ती कार्य करीत असेल तर तो असुरस्वरूप असतो. तोच असुर होय. तिसरा कोणतीही जात अस्तित्वात नाही.

४. ईश्वरामुळे प्रत्येक इच्छा (कामना) सुलभ–

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्।।९/२०।।

माझी उपासना करून लोक स्वर्गप्राप्तीची इच्छा करतात. मी त्यांची इच्छा पूर्ण करतो. परमात्म्याची उपासना केल्याने सर्व गोष्टी सुलभतेने प्राप्त होतात.

५. परमेश्वराला शरण जाण्याने पापांचा नाश-

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि।।४/३६।।

सर्व पापी लोकांपेक्षाही अधिक पाप करणारा पापीसुद्धा ज्ञानरूपी नौकेच्या सहाय्याने निःसंदेह भवपार होत असतो.

६. ज्ञान-

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थ दर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा।।१३/११।।

आत्म्याच्या अधिपत्याखाली आचरण, परमतत्त्वाच्या अर्थानुरूप माझे परमात्म्याचे प्रत्यक्ष दर्शन म्हणजे ज्ञान आहे आणि त्याच्या विपरीत जे काही आहे ते अज्ञान आहे. म्हणून ईश्वराची प्रत्यक्ष जाण किंवा ओळख म्हणजेच ज्ञान होय.

७. उपासनेचा अधिकार सर्वांना-

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः।।९/३०।।
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।।९/३१।।

अत्यंत दुराचारी-पापी मनुष्यदेखील भजन करून सत्वर धर्मात्मा बनू शकतो, तसेच शाश्वत परमशांती प्राप्त करू शकतो व म्हणून ज्याने स्वतःला संपूर्णपणे भगवतचरणी समर्पित केले आहे, तो धर्मात्मा होय.

८. भगवत्मार्गात बीज नष्ट होत नाही-

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।।२/४०।।

आत्मादर्शनाच्या क्रियेच्या स्वल्प आचरणानेदेखील जन्म-मरणाच्या महान भयापासून मनुष्याचा उद्धार होतो.

९. ईश्वराचा वास-

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।।१८/६१।।

सर्व भूतमात्रांच्या (प्राण्यांच्या) हृदयात ईश्वराचा वास असतो.

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।।१८/६२।।

सर्व भावनाभावित होऊन त्या परमात्म्याला शरण जाल, तर त्याच्या कृपेने तुम्हाला परमशांती व शाश्वत परमधाम प्राप्त होईल.

१०. यज्ञ-

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते।।४/२७।।

ज्ञानाने प्रदीप्त झालेल्या आत्मसंयमरूपी योगाग्नीत सर्व इंद्रियांची कर्मे व मनाचे सर्व विकार यांचे हवन केले जाते.

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगतीरुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः।।४/२९।।

बरेचसे योगी श्वासाचे प्रश्वासात हवन करतात आणि दुसरे बरेचसे प्रश्वासाने श्वासात हवन करतात. यानंतर थोडी उन्नत अवस्था प्राप्त झाल्यानंतर श्वास-प्रश्वास यांच्या गतीचा निरोध करून ते प्राणायामामध्ये तल्लीन होऊन जातात. या प्रकारे योगसाधनेच्या विधी विशेषालाच यज्ञ असे म्हणतात. त्या यज्ञाला कार्यरूप देणे म्हणजे कर्म होय.

११. यज्ञाचा अधिकार-

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम।।४/३१।।

जे यज्ञ करीत नाहीत त्यांना पुन्हा मनुष्यशरीर प्राप्त होत नाही व हे मनुष्यशरीर प्राप्त झालेल्या सर्वांना यज्ञ करण्याचा अधिकार आहे.

१२. ईश्वराला पाहता येते-

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप।।११/५४।।

अनन्य भक्तीच्या योगाने साधक मला सुलभतेने प्रत्यक्ष पाहू शकतो, मला ओळखू (जाणू) शकतो व माझ्यामध्ये प्रवेशही करू शकतो.

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्।।२/२९।।

या अविनाशी आत्म्याकडे कोणी विरळाच आश्चर्य म्हणून, अद्भुत् वस्तू म्हणून, पाहतात. अर्थात हे त्याचे प्रत्यक्ष दर्शन होय.

१३. आत्माच सत्य आहे, सनातन आहे-

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।।२/२४।।

आत्माच सत्य आहे. आत्माच सनातन आहे.

१४. विधाता व त्यापासून उत्पन्न झालेली सृष्टी नश्वर आहे-

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।।८/१६।।

ब्रह्मा आणि त्याने निर्माण केलेली सृष्टी, देवता आणि दानव म्हणजे दुःखाची खाण आहे, ते सर्व क्षणभंगुर आहे, नश्वर आहे.

१५. देवपूजा-

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया।।७/२०।।

कामवासनांनी ज्यांची बुद्धी विकृत झालेली आहे असे मूढ बुद्धीचे लोक परमात्म्याव्यतिरिक्त अन्य देवतांची पूजा करतात.

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।

तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्।।९/२३।।

अर्थात, देवतांची पूजा करणारे माझीच पूजा करीत असतात; परंतु ते पूजन अविधीपूर्वक असल्याने नष्ट होऊन जाते.

कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।

मां चैवान्तः शरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्।।१७/६।।

सात्त्विक श्रद्धा असणारे देवतांची पूजा करतात; परंतु असे पूजन करणाऱ्यांनाही तू असुर समज.

१६. अधम-

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।

क्षिपाम्यजस्त्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु।।१६/७-१९

जो यज्ञाचा नियत विधी सोडून कल्पित विधींनी यज्ञाचे यजन करतो; तो क्रूर कर्मी, पापाचारी तसेच मनुष्यामध्ये अधम आहे.

१७. नियत विधि म्हणजे काय?

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।

यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्।।८/१३।।

नियत विधी म्हणजे अक्षय ब्रह्माचा निर्देशक असणाऱ्या ॐ चा जप करणे. माझे म्हणजे परमात्म्याचे स्मरण करणे व तत्त्वदर्शी महापुराणाच्या मार्गदर्शनाखाली ध्यान करणे होय.

१८. शास्त्र-

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।

एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत।।१५/२०।।

शास्त्र म्हणजे गीता होय.

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।

ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि।।१६/२४।।

कर्तव्य कोणते व अकर्तव्य कोणते हे ठरवितांना शास्त्र प्रमाण समजले जाते. तेव्हा गीतेमध्ये (शास्त्रामध्ये) जो निर्धारित विधी सांगितला आहे त्याप्रमाणे आचरण करावे.

१९. धर्म-

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।।१८/६६।।

धार्मिक उलथा-पालथ सोडून तू फक्त मला शरण ये. अर्थात भगवंताच्या ठिकाणी संपूर्ण समर्पण हेच धर्माचे मूळ आहे. त्या दयाघन प्राभूला प्राप्त करण्याचे नियत विधीचे आचरणच धर्माचरण होय (अध्याय २ श्लोक ४०) आणि जो हे आचरण करतो तो मनुष्य अत्यंत पापी असला तरी तो शीघ्र धर्मात्मा बनतो (अध्याय ९ श्लोक ३०)

२० ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।

शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च।।१४/२७।।

त्या अविनाशी ब्रह्माचा, अमृताचा, शाश्वत धर्माचा आणि अखंड एकरस आनंदाचा आश्रय-आधार मीच आहे. अर्थात, परमात्मास्थित सद्‌गुरु हेच या सर्वांचे आश्रय आहेत- आधार आहेत.

नोट : (विश्वातील सर्व धर्मांची सत्यधारा म्हणजे गीतेची प्रसारण होय.)

प्राचीनकाळापासून आजपर्यंतच्या विव्दानांचे तैथिक क्रमानुसार संदेश

श्री परमहंस आश्रम जगतानन्द ग्रा. पो. बरैनी कच्छवा, जिल्हा – मिर्जापूर (उ.प्र.) येथील आपल्या वास्तव्यात स्वामी अडगडानन्दजींनी प्रवेशव्दाराजवळ एका बोर्डावर गंगा दशहऱ्याच्या (१९९३ इ.) पावन पर्वप्रसंगी याची एक प्रत लावली होती.

ॐ

।। विश्वगुरु भारत ।।

- **वैदिक ऋषि (अनादिकाल-नारायण सूक्त)**
  कणा–कणात व्यापून राहिलेले केवळ ब्रम्हच सत्य आहे. त्याला जाणणे हाच मोक्षाचा एकमेव उपाय आहे.
- **भगवान श्रीराम (त्रेता-लाखो वर्षापूर्वी-रामायण)**
  ईश्वराच्या भजनाशिवाय कल्याणाची इच्छा करणे मूर्खपणाचे आहे.
- **योगेश्वर श्रीकृष्ण (५००० वर्षापूर्वी-गीता)**
  परमात्माच सत्य आहे. चिंतनाच्या पूर्ती काळात सनातन ब्रम्हाची प्राप्ती होत असते. देवी–देवतांची पूजा करणे मूर्खपणाचे असते.
- **महात्मा मूसा (३००० वर्ष पूर्व-यहूदी धर्म)**
  तूम्ही ईश्वरावरील श्रद्धा बाजूला सारून मूर्ती बनवलीत त्यामुळे ईश्वर नाराज आहे. तेव्हा प्रार्थनेत मन केंद्रित करा.
- **महात्मा जरथुस्त्र (२७०० वर्ष पूर्व-पारसी धर्म)**
  अहुरमज्दा म्हणजेच ईश्वराची उपासना करुन दुःखाचे कारण असणाऱ्या व हृदयात ठाणा मांडून असणाऱ्या विकारांना नष्ट करा.
- **भगवान महावीर (२६०० वर्ष पूर्व-जैन ग्रंथ)**
  आत्मा हेच सत्य आहे. कठोर तपस्या करून याच जन्मात ते सत्य जाणता येते.

- **गौतम बुद्ध (२५०० वर्ष पूर्व-महापरिनिब्बान सुत्त)**

  मी ते अविनाशी पद प्राप्त केले आहे, जे पूर्वी महर्षींनी प्राप्त केले होते. हाच मोक्ष होय.

- **मसीह ईसा (२००० वर्ष पूर्व-ईसाई धर्म)**

  प्रार्थनेने ईश्वर प्राप्त होत असतो. माझ्याकडे म्हणजेच सद्‌गुरुजवळ जा म्हणजे ईश्वराचे पुत्र असे तुम्हाला म्हंटले जाईल.

- **हज़रत मुहम्मद साहेब (१४०० वर्ष पूर्व-इस्लाम धर्म)**

  "ला इल्लाह इल्लल्लाह मुहम्मदुर्र रसूल्लाह"- कणा कणात व्यापुन असलेल्या खुदाशिवाय (ईश्वराशिवाय) कोणीही पूजनीय नाही. मुहम्मद अल्लाहचे संदेशवाहक आहेत.

- **आदि शंकराचार्य (१२०० वर्ष पूर्व)**

  हे जगत मिथ्या आहे. या जगात फक्त तो हरी व त्याचे नाव एवढेच सत्य आहे.

- **संत कबीर (६०० वर्ष पूर्व)**

  राम नाम अति दुर्लभ, औरन ते नहि काम । आदि मध्य औ अन्तहूं, रामहिं ते संग्राम ।। रामाबरोबर संघर्ष करा, तोच कल्याण करणारा आहे.

- **गुरु नानक (५०० वर्ष पूर्व)**

  "एक ओंकार सत्‌गुरु प्रसादि । एक ओंकारच सत्य आहे; परंतु तो सद्‌गुरुच्या कृपेचा प्रसाद आहे."

- **स्वामी दयानन्द सरस्वती (२०० वर्ष पूर्व)**

  अजर, अमर, अविनाशी अशा परमात्म्याची उपासना करा. त्या ईश्वराचे मुख्य नाव ओम् आहे.

- **स्वामी श्री परमानन्दजी (१९१२-१९६९)**

  ईश्वर जेव्हा कृपा करतो तेव्हा शत्रु मित्र बनतो आणि आपत्ती संपत्ती बनत असते. ईश्वर सर्वत्र पाहत असतो.

।। ॐ ।।

अनुक्रमणिका

ॐ

प्रस्तावना

वास्तविक गीतेवर टीका लिहिण्याची खरोखर आज काहीच आवश्यकता नाही, कारण गीतेवर शेकडो भाष्ये लिहिली गेली आहेत. ज्यामध्ये पन्नास एक टीका तर केवळ संस्कृतमध्ये झालेल्या आहेत. गीतेविषयी पाच पन्नास विविध प्रकारची मते आहेत. अर्थात सर्वांचे मूळ एकच म्हणजे गीता आहे. योगेश्वर श्रीकृष्णांनी तर गीतेमध्ये एकच गोष्ट सांगितली आहे, मग असे मतभेद का? वास्तविक वक्ता एकच असतो. परंतु समोर दहा श्रोते बसलेले असतील तर ते दहा प्रकारांनी वक्त्याचा आशय ग्रहण करतील कारण मनुष्याच्या बुद्धीवर सत्त्व, रज व तम या गुणांचा जितका प्रभाव असेल, त्यानुसार तो आशय ग्रहण करत असतो. त्याच्यापुढे त्याला वेगळे असे काही आकलनच होत नाही. त्यामुळे मतमतांतर असणे स्वाभाविक आहे.

भिन्न भिन्न मतांमुळे किंवा काही वेळा एकच सिद्धांत निरनिराळया काळांत आणि भाषांमध्ये व्यक्त झाल्यामुळे सर्वसामान्य मनुष्य संशयात पडतो, अनेक भाष्यांमध्ये एकाच सत्याचा स्त्रोत वाहत आहे; परंतु शुद्ध अर्थ सांगणारे एक पुस्तक हजारो टीकांमध्ये ठेवून दिले तर नेमके यथार्थ अर्थाचे पुस्तक ओळखणे किंवा शोधून काढणे कठीण जाते. सध्या गीतेवर बरीच भाष्ये झालेली आहेत. ती सर्व त्यांना समजलेल्या सत्याचा उद्‌घोष करीत असतात. परंतु गीतेच्या शुद्ध अर्थापासून ती भाष्ये बरीच दूर आहेत. काही महापुरुषांनी तर सत्याला निश्चितपणे स्पर्श केलेला आहे. परंतु काही कारणामुळे ते समाजाच्या समोर ठेवू शकले नाहीत.

श्रीकृष्णाचा आशय आपल्या हृदयात ते साठवू शकले नाहीत कारण, मूलतः श्रीकृष्ण एक योगी होते. श्रीकृष्ण ज्या स्तरावरची गोष्ट करतात, त्या स्तरावर क्रमाक्रमाने पोहचून उभा राहणारा महापुरुष अक्षरशः असे दाखवू शकेल की, श्रीकृष्णांनी जेव्हा गीतेचा उपदेश केला त्यावेळी त्यांच्या मनात

कोणता भाव, आशय होता? मनातील सर्व भाव सांगता येत नाहीत, काही सांगितल्यानंतर जाणता येतात, काही भाव भावनांच्या द्वारा व्यक्त होतात आणि बाकीचे पूर्णपणे क्रियात्मक आचरणाचे असतात. असे भाव प्राप्त करण्याकरिता वाटसरुने मार्गक्रमण करायला हवे. ज्या स्तरावर श्रीकृष्ण होते त्या स्तरावर क्रमाक्रमाने चालत पोहचलेला महापुरुष जाणू शकतो की, गीता काय सांगत आहे? तो गीतेचे श्लोक पुन:पुन्हा म्हणत नाही; पण त्यातील भावाचे दर्शन घडवितो कारण जे दृश्य त्यावेळी श्रीकृष्णांच्या समोर होते तेच दृश्य वर्तमानकाळातील महापुरुषाच्या समोर आहे. म्हणूनच तो पाहू शकतो, दाखवून देतो, आपल्यात जागृत पण करतो व त्या पथावर मार्गक्रमण पण करवितो.

पूज्य श्री परमहंसजी महाराजदेखील त्याच स्तरावरील महापुरुष होते. त्यांच्या मुखातून व अंत:प्रेरणेतून गीतेचा जो अर्थ प्राप्त झाला, त्याचे संकलन म्हणजे ही 'यथार्थ गीता' होय. त्यात आमचे स्वत:चे काहीसुद्धा नाही. हा 'क्रियात्मक योग' आहे. साधना करणाऱ्या प्रत्येक पुरुषाला या परिस्थितीतून जावे लागते. जोपर्यंत तो याच्यापासून अलग आहे, वेगळा आहे तोपर्यंत स्पष्टच आहे की, तो कसल्या ना कसल्या प्रकारच्या बढाया मारीत असतो, डांगोरा पिटत असतो; परंतु तो साधना करु शकत नाही. म्हणून एखाद्या महापुरुषाला शरण जावे, कारण की श्रीकृष्णाने दुसरे कसलेच सत्य सांगितलेले नाही. '**ऋषिभिर्बहुधा गीतं**' ऋषिमुनींनी ज्याचे पुष्कळ वेळा गायन केले आहे तेच मी सांगणार आहे. त्यांनी असे नाही म्हंटले की, ते ज्ञान फक्त मलाच माहीत आहे, केवळ मीच ते जाणतो अथवा मीच ते दाखवू शकेन. पण त्यांनी सांगितले ''एखाद्या तत्वद्रष्ट्याकडे जा. निष्कपट-निर्मळ-शुद्ध भावाने त्याची सेवा करुन ते ज्ञान त्याच्याकडून प्राप्त करा'' श्रीकृष्णाने महापुरुषांच्या द्वारा शोधलेले, सनातन सत्यच पुन: सांगितले आहे.

गीता सुबोध अशा संस्कृतमध्ये आहे. जरी अन्वयार्थ घेतला तरी गीतेचे बहुतांशी तत्त्वज्ञान आपण स्वत:च हृदयात साठवू शकतो; पण आपण नेमका तोच अर्थ घेत नाही. उदाहरणार्थ पहा. श्रीकृष्णांनी स्पष्टपणे सांगितले की यज्ञाची प्रक्रिया म्हणजेच कर्म होय. तरीही आपण म्हणतो की

शेती करणे हे कर्म होय. यज्ञाची कल्पना स्पष्ट करतांना त्यांनी सांगितले की, यज्ञामध्ये बहुतेक योगीजन प्राणवायूचे अपान वायूमध्ये हवन करतात. तसेच बरेचसे योगी अपान वायूचे प्राणवायूत हवन करतात. तर बरेचसे योगी 'प्राण' आणि 'अपान' या दोन्ही वायूंना थांबवून प्राणायामात मग्न होऊन इंद्रियांच्या संपर्ण प्रवृत्तींना संयमरुपी अग्नीत हवन करतात. अशा प्रकारे श्वास-उच्छ्श्वासाचे चिंतन म्हणजे यज्ञ होय. मनासह इंद्रियांचा संयम म्हणजे यज्ञ आहे. शास्त्रकारांनी स्वतः यज्ञाचे स्वरुप सांगितलेले असतानाही आपण म्हणतो की विष्णूच्या नावाने स्वाहा बोलणे, अग्नीमध्ये जव, तीळ, तूप याचे हवन करणे म्हणजे यज्ञ होय. श्रीकृष्णांनी मात्र असा एक शब्दही सांगितलेला नाही.

आपण ही गोष्ट समजू शकलो नाही त्याचे काय कारण आहे बरे? शेंडी तुटेपर्यंत घोकंपट्टी करुन सुद्धा आपल्या हातात वाक्याचा निरर्थक अर्थ का पडतो? आपणाला यथार्थ ज्ञानाबद्दल काहीच का कळत नाही? वास्तविक, मनुष्य जन्म घेऊन हळूहळू मोठा होत जातो; तेव्हा वडिलोपार्जित संपत्ती (घर, दुकान, जमीन-जुमला, पद-प्रतिष्ठा, गाय, म्हैस, यंत्र, उपकरण इत्यादी) त्याला वारशात प्राप्त होते. बरोबर त्याच प्रकारे काही रुढी, परंपरा, पूजा-पद्धती या गोष्टीदेखील वारशामध्ये प्राप्त होतात. खूप पूर्वी भारतात तेहतीस कोटी देवदेवता मोजल्या जात असत. अखिल विश्वात त्यांची अगणित रुप आहेत. बालक जसजसे मोठे होत जाते तसतसे आपले आई-वडील, बहीण-भाऊ, शेजारी-पाजारी यांची पूजा पाहते. कुटुंबात चालत आलेल्या उपासना पद्धतीची कायम छाप त्याच्या डोक्यावर पडते. देवीची पूजा एखाद्या कुटुंबात चालत असेल तर जन्मभर तो त्या देवीचा जप करीत राहतो. जर कुटुंबात पिशाच्च पूजा होत असेल तर तो पिशाच्चाचा जप करीत बसतो. याप्रमाणे कोणी शिवाला तर कोणी दुसऱ्या देवाला पकडून ठेवून त्यांचा जप करतो. सारांश त्यांना तो सोडू शकत नाही.

अशा संभ्रमित झालेल्या पुरुषाला गीतेसारखे कल्याणकारी शास्त्र मिळाले तरी तो ते शास्त्र समजू शकत नाही. वडिलोपार्जित संपत्ती तो एखाद्या वेळेस सोडू शकेल; परंतु रुढी व धर्म कर्मकांडातील कर्मकठतेला तो

कधी नष्ट करु शकत नाही. वडिलोपार्जित संपत्ती सोडून आपण हजारो मैल दूर जाऊ शकतो; परंतु मनावर व बुद्धीवर बिंबलेले रुढीगत विचार तेथेही आपला पिच्छा सोडत नाहीत. आपण डोके उडवून ते बाजूला तर ठेवू शकत नाही. त्यामुळे आपण यथार्थ शास्त्राला, त्याच रूढी, रिवाज, मान्यता, आणि उपासना पद्धतींना अनुरूप अशा साच्यात ठेवून बघू इच्छितो. जर त्यानुसार गोष्ट चपखल बसली, घटनांचा क्रम बसला तर आपण त्याला बरोबर समजतो. म्हणूनच आपल्याला गीतेचे रहस्य नीट समजू शकत नाही. गीतेचे रहस्य नीट दिसत नाही. म्हणून गीतेचे रहस्य हे रहस्यच बनून राहते. हे रहस्य समजायला वास्तविक संत किंवा सद्‌गुरु आहेत. तेच गीतेचा आशय, गीतेचे म्हणणे यथार्थपणे सांगू शकतात. सर्वजण गीतेचे रहस्य समजू शकत नाहीत. तेव्हा श्रीकृष्णांनी ज्यावर भर दिला आहे तो सुलभ उपाय म्हणजे एखाद्या महापुरुषाच्या सान्निध्यात राहावे.

गीता हा ग्रंथ कोण्या विशिष्ट व्यक्ती, जात, वर्ग, पंथ, देश, काल किंवा रूढिग्रस्त संप्रदायाचा नाही. उलट हा एक सार्वलौकिक व सार्वकालीन धर्मग्रंथ आहे. तो प्रत्येक देश, जात, व सर्व स्तरावरील प्रत्येक लोकांसाठी आहे. केवळ इतरांकडून ऐकून किंवा कोणाच्या तरी प्रभावाने मनुष्याने असा एखादा निर्णय घेऊ नये की ज्याचा प्रभाव सरळ सरळ त्याच्या अस्तित्वावरच पडत असतो. पूर्वग्रहापासून मुक्त होऊन सत्यशोधकांसाठी हा ‘आर्षग्रंथ’ म्हणजे एक दीपस्तंभ आहे. हिंदूंचा आग्रह आहे की ‘वेद’ हेच प्रमाण आहेत. वेदाचा अर्थ आहे ज्ञान ! परमात्म्याचे आकलन ! ज्ञान ! परमात्मा ना संस्कृतमध्ये आहे, ना संहितेमध्ये. पुस्तक तर त्याचे एक संकेतमात्र आहे. वस्तुतः तो हृदयात जागृत होतो.

विश्वामित्र चिंतन करीत होते. त्यांची भक्ती बघून ब्रह्मदेव आले. म्हणाले, “आजपासून तुम्ही ऋषी झालात”. पण विश्वामित्रांना ब्रह्मदेवाच्या या वराने संतोष झाला नाही. पुन्हा चिंतनात मग्न झाले. काही काळानंतर देवतांसहित ब्रह्मदेव पुन्हा आले आणि म्हणाले, “तुम्ही आजपासून राजर्षी झालात”, परंतु विश्वामित्रांचे समाधान झाले नाही. ते पुन्हा निरंतर चिंतनात मग्न झाले. काही कालावधीनंतर ब्रह्मदेव दैवी संपत्तीसह पुन्हा आले आणि

म्हणाले, ‘‘आजपासून तुम्ही महर्षी झाला आहात’’ यावर विश्वामित्र म्हणाले, ‘‘नाही, मला जितेंद्रिय ब्रह्मर्षी म्हणा’’ यावर ब्रह्मदेव म्हणाले, ‘‘अजून तुम्ही जितेंद्रिय झाले नाही’’. विश्वामित्र पुन्हा ध्यानाला बसले तेव्हा त्यांच्या डोक्यातून तपस्येचा धूर निघायला लागला तेव्हा सर्व देवतांनी ब्रह्मदेवाला निवेदन केले- विनंती केली, तेव्हा ब्रह्मदेव म्हणाले, ‘‘आता तुम्ही ब्रह्मर्षी झालात’’ विश्वामित्र यावर म्हणाले, ‘‘जर मी ब्रह्मर्षी आहे तर वेद आम्हाला वरू दे’’. वेद विश्वामित्राच्या हृदयात अधिष्ठित झाले. जे तत्व माहीत नव्हते ते माहीत झाले. यालाच वेद म्हणायचे. पोथीला नाही. जेथे विश्वामित्र राहात होते तेथे वेदपण राहात होते. हेच श्रीकृष्ण पण सांगतात. ‘‘संसार अविनाशी पिंपळाचा वृक्ष आहे. वर परमात्मा ज्याचे मूळ आहे आणि खाली प्रकृतीपर्यंत त्याच्या शाखा आहेत.जो या प्रकृतीचा नाश करून परमात्म्याला समजून घेतो तो वेदवेत्ता असतो. अर्जुना मी पण वेदवेत्ता आहे. म्हणजे प्रकृतीचा प्रसार व नाश या बरोबर परमात्म्याच्या अनुभूतीलाच ‘वेद’ असे नाव आहे. हा अनुभव ईश्वराची देणगी आहे, म्हणूनच वेदाला अपौरुषेय असे म्हंटले जाते. महापुरुष अपौरुषय असतो. त्यांच्या माध्यमातून परमात्माच बोलत असतो. ते महापुरुष परमात्म्याचे संदेश प्रसारक होऊन जातात. फक्त शब्दज्ञानाच्या आधारावर त्यांच्या वाणीत नेमका अर्थ पारखता येत नाही. त्यांना फक्त असाच माणूस ओळखू शकतो, की ज्याने ‘क्रियात्मक’ साधना पथावर चालून अशी अपौरुषेय देहबुद्धी पलीकडील स्थिती प्राप्त केली आहे, ज्याचा पुरुष (मी) परमात्म्यामध्ये विलीन झालेला आहे.

खरे म्हणजे, वेद अपौरूषेय आहेत. परंतु बोलणारे शंभर दीडशे महापुरुषच होते. त्यांच्या वाणीच्या संकलनाला ‘वेद’ म्हणू लागले. परंतु ज्यावेळी शास्त्र लिहिण्यात येते तेव्हा सामाजिक व्यवस्थेचे नियमपण त्याबरोबर लिहिले जातात. महापुरुषाच्या नावावर जनता त्याचे पण पालन करू लागते, जरी धर्माबरोबर त्यांचा नाममात्र पण संबंध राहिलेला नसतो. आधुनिक काळात मंत्र्याच्या मागे-पुढे फिरून साधारण पुढारी सुद्धा, अधिकारीवर्गाकडून आपले काम करून घेतात. खरे म्हणजे मंत्रिमहोदय अशा पुढाऱ्याला ओळखत पण नाहीत. या प्रकारे सामाजिक उपयुक्तता तत्कालीनच होत असते. वेदांच्या बाबतीतही असेच आहे. त्यांचे चिरंतन

सत्य उपनिषदात ग्रंथित केलेले आहे. त्या उपनिषदांचा सारांश म्हणजे योगेश्वर श्रीकृष्णाची वाणी 'गीता' होय. थोडक्यात गीता ही अपौरुषय 'वेद' सांगरातून घुसळून काढलेल्या उपनिषदरूपी अमृताचे सार, सर्वस्व आहे.

अशा प्रकारे प्रत्येक महापुरुष की जो परमात्म्याची प्राप्ती करतो तो स्वतःच एक धर्मग्रंथ आहे. त्याच्या वाणीचे संकलन अखिल विश्वात कोठेही होऊ दे. त्याला शास्त्र म्हंटले जाते. परंतु काही काही धार्मिक मंडळीचे असे म्हणणे आहे की, ''जेवढे कुराणात उतरणार नाही'' ''ईसामसीहावर विश्वासाशिवाय स्वर्ग मिळू शकत नाही. तो ईश्वराचा एकुलता एक पुत्र होता'' ''आता असा महापुरुष होऊ शकणार नाही'' ही त्यांची रूढीप्रियता आहे. जर त्या परमतत्त्वाचा साक्षात्कार करून घेतला तरी तीच गोष्ट पुनः होईल.

गीता सार्वभौम आहे. धर्माच्या नावावर प्रचलित विश्वातल्या सर्व ग्रंथामध्ये गीतेचे स्थान अद्वितीय आहे. गीता स्वतः धर्मशास्त्रच नाही तर इतर धर्मग्रंथात सांगितलेल्या निखळ सत्याचा मानदंड पण आहे. गीता ही एक कसोटी आहे. त्यात प्रत्येक धर्मग्रंथात सांगितलेले सत्य स्पष्टपणे समजून येते. परस्पर विरोधी विधानांबाबत समाधानकारक उकल त्यात मिळते. प्रत्येक धर्मग्रंथात, या जगातील खाण्यापिण्याविषयी सांगितले आहे. त्यात कर्मकांडाचे बाहुल्य आहे, प्राबल्य आहे. जीवनाला आकर्षक बनवण्यासाठी काय करावयाचे किंवा काय करावयाचे नाही याच्या रोचक व भयानक वर्णनांनी धर्मग्रंथ भरलेले आहेत. कर्मकांडाच्या व परंपरेला जनता धर्म समजायला लागली आहे. जीवन निर्वाहाच्या कलेसाठी निर्माण केलेल्या पूजापद्धतीमध्ये देश, काल, परिस्थितीनुसार परिवर्तन स्वाभाविकच आहे. धर्माच्या नावावर समाजातल्या कलहाचे हेच एकमात्र कारण आहे. 'गीता' हा क्षणिक, क्षणभंगुर व्यवस्थेच्या पद्धतीच्या वर उठून आत्मिक पूर्णतेत प्रतिष्ठा प्राप्त करून देणारा 'आचरणात्मक' सातत्याचा नमुना आहे. यातील एकही श्लोक भौतिक जीवनव्यवहारासाठी नाही. यातील प्रत्येक श्लोक आपल्याकडून आंतरिक संघर्षाची मनोमन आराधना, पूजनांची मागणी करीत आहे. तथाकथित धर्मग्रंथांप्रमाणे 'गीता' आपल्याला स्वर्ग किंवा नरक या द्वन्द्वात फसवत नाही. परंतु अमरत्वाची प्राप्ती करून देते की,

ज्याच्या मागे जन्म-मृत्यूचे बंधन शिल्लक राहत नाही.

प्रत्येक महापुरुषाची आपली आपली एक शैली असते व काही आपले विशिष्ट शब्द असतात. योगेश्वर श्रीकृष्णाने पण गीतेमध्ये 'कर्म', 'यज्ञ', 'वर्ण', 'वर्णसंकर', 'युद्ध', 'क्षेत्र', 'ज्ञान' इत्यादी शब्दांवर वारंवार भर दिला आहे. या शब्दांचा आपला म्हणून आशय आहे. शिवाय पुनरावृत्तीमध्ये पण त्यांचे स्वतःचे सौंदर्य आहे. हिंदी रूपांतरात या शब्दांचा त्या अर्थानेच उपयोग केला आहे. तसेच आवश्यक तेथे त्या शब्दांची व्याख्या पण दिली आहे. गीतेचे मुख्य आकर्षण म्हणजे खाली दिलेले प्रश्न आहेत. त्यांचा आशय आधुनिक समाजाने हरवलेला आहे. ते पुढील प्रकारचे आहेत 'यथार्थ गीते' मध्ये तुम्हांला ते मिळतील.

१. श्रीकृष्ण - एक योगेश्वर होते.

२. सत्य - आत्मा हेच सत्य आहे.

३. सनातन - आत्मा सनातन आहे, परमात्मा सनातन आहे.

४. सनातन धर्म - परमात्म्याला भेटवणारी क्रिया.

५. युद्ध - दैवी व आसुरी संपत्तीचा संघर्ष हेच 'युद्ध' होय. त्या अंतःकरणाच्या दोन प्रवृत्ती आहेत. त्या दोन्हींचे नष्ट होणे हाच युद्धाचा अंतिम परिणाम होय.

६. युद्ध स्थान - हे मानवशरीर आणि मनासह इंद्रियांचा समूह हे युद्धस्थळ आहे.

७. ज्ञान - परमात्म्याची प्रत्यक्ष जाणकारी म्हणजे 'ज्ञान' होय.

८. योग - या संसारातील संयोग-वियोगरहित अव्यक्त ब्रह्माशी मिलन होणे म्हणजे योग होय.

९. ज्ञानयोग - आराधना हेच कर्म आहे. स्वतःवर विश्वास ठेवून, स्वसामर्थ्यावर अवलंबून राहून कर्माला प्रवृत्त होणे हाच ज्ञानयोग होय.

१०. निष्काम कर्मयोग - 'इष्ट' म्हणजे ईश्वरावर विश्वास-श्रद्धा ठेवून समर्पणासह कर्म करण्यास प्रवृत्त होणे म्हणजे निष्काम कर्मयोग होय.

११. श्रीकृष्णांनी कोणते सत्य दाखवले? श्रीकृष्णांनी तेच सत्य दाखविले की जे तत्त्वदर्शी महापुरुषांनी आधीच पाहिले होते, तसेच पुढेही ते पाहणार आहेत.

१२. यज्ञ – साधनेच्या विशेष पद्धतीला 'यज्ञ' असे नाव आहे.

१३. कर्म – यज्ञाला कार्यरूप देणे म्हणजेच कर्म होय.

१४. वर्ण – आराधनेची एकच पद्धत की जिला कर्म म्हणतात व ज्या पद्धतीला चार श्रेणींमध्ये विभागले आहे, तेच चार वर्ण होत हे एकाच साधकाचे उच्चनीच स्तर आहेत. जाती नाहीत.

१५. वर्णसंकर – परमात्म्याच्या पथावरून च्यूत होणे, साधनेमध्ये भ्रम उत्पन्न होत जाणे म्हणजेच वर्णसंकर होय.

१६. मनुष्याची श्रेणी (वर्ग) – अंतःकरणाच्या स्वभावानुसार मनुष्य दोन प्रकारचा असतो. एक देवांसारखा व दुसरा असुरांसारखा. याच माणसाच्या दोन जाती आहेत. त्या मनुष्याच्या स्वभावाद्वारे ठरतात आणि ह्या स्वभावात चढउतार होतच असतो.

१७. देवता – हृदयरूपी प्रदेशात परमदेवाचे देवत्त्व मिळवून देणाऱ्या गुणांचा समूह म्हणजे देवता होय. बाह्यदेवतांची पूजा म्हणजे मूर्खपणा होय.

१८. अवतार – व्यक्तीच्या हृदयात होतो, बाहेर होत नाही.

१९. विराट दर्शन – योग्याच्या हृदयात ईश्वराकडून दिली गेलेली किंवा झालेली अनुभूती होय. परमेश्वर साधकाची दृष्टी बनून उभे राहतात; तेव्हा दिसू लागतात.

२०. पूजनीय देव 'इष्ट' – एकमात्र परात्पर ब्रह्म फक्त 'पूज्य' देव आहे. त्याला शोधण्याचे ठिकाण म्हणजे हृदयरूपी प्रदेशातच आहे. त्याची प्राप्ती होण्याचा स्त्रोत त्याच अव्यक्त स्वरूपात स्थिरावलेल्या सिद्ध महापुरुषांच्या द्वारा वाहत जातो.

आता यामधून योगेश्वर श्रीकृष्णाचे स्वरूप समजण्यासाठी तिसऱ्या अध्यायापर्यंत आपल्याला वाचायला हवे. तेराव्या अध्यायापर्यंत आपल्याला

स्पष्टपणे समजेल की, श्रीकृष्ण एक योगी होते. दुसऱ्या अध्यायापासून सत्य दिसायला लागेल. 'सनातन' व 'सत्य' एक दुसऱ्याचे पूरक आहेत हेही दुसऱ्या अध्यायापासूनच स्पष्ट व्हायला लागेल व तसे ते पूर्ण होईपर्यंत चालेल. अध्याय चौथ्यापर्यंत 'युद्ध' (संघर्ष) स्पष्ट व्हायला लागेल व अकराव्या अध्यायात संशयाचे निराकरण होईल. असेच अध्याय सोळाव्या पर्यंत पाहायला पाहिजे. 'युद्धक्षेत्र' समजून घेण्यासाठी तेरावा अध्याय पुनःपुन्हा पाहावा.

'ज्ञान' चवथ्या अध्यायापासून स्पष्ट होईल. तसेच तेराव्या अध्यायात ते चांगल्या प्रकारे समजायला लागेल की प्रत्यक्ष दर्शनाचे नाव 'ज्ञान' आहे. सहाव्या अध्यायापर्यंत 'योगा' चे स्वरूप आपण समजू शकाल. तसे पाहता पूर्ण होईपर्यंत योगाच्या निरनिराळ्या अंगाची परिभाषा आहे. अध्याय तीनपासून सहापर्यंत 'ज्ञानयोग' स्पष्ट होईल. पुढे पाहण्याची खास आवश्यकता नाही. 'निष्काम कर्मयोग' दुसऱ्या अध्यायापासून सुरू होऊन पूर्ण होईपर्यंत सांगितला आहे. अध्याय तिसऱ्यापासून चौथ्यापर्यंत अध्ययन केल्याने 'यज्ञा' चे स्वरूप स्पष्ट होईल.

अध्याय २/३९ मध्ये कर्माचे नाव प्रथमच उच्चारले आहे. या श्लोकापासून चौथ्या अध्यायार्पंत वाचल्यावर कर्माचा अर्थ आराधना, भजन का आहे हे स्पष्ट होईल. अध्याय सोळावा आणि सतरावा आत्माच सत्य आहे हा विचार स्थिर करतो. तिसऱ्या अध्यायात 'वर्णसंकर' म्हणजे काय ते समजते तर अध्याय चौथ्यामध्ये 'अवतार' म्हणजे काय त्याचा अर्थ स्पष्ट होतो. वर्ण व्यवस्थेसाठी अठरावा अध्याय पहावा. अर्थात तिसऱ्या-चौथ्या अध्यायात त्याचे सूचन आहे पण विस्ताराने स्पष्टता अठराव्या अध्यायातच आहे. मनुष्याच्या जाती दोन! देव आणि आसुर. त्याची स्पष्टता सोळाव्या अध्यायात आहे. दहाव्या अध्यायापासून 'विराट दर्शनास सुरुवात करून अकराव्या अध्यायापर्यंत त्याची स्पष्टता केली आहे. अध्याय सात, नऊ व पंधरामध्येपण यावर प्रकाश टाकण्यात आला आहे. अध्याय सात, नऊ व सतरामध्ये बाह्य देवतांची अस्तित्वहीनता स्पष्ट होत जाते. परमात्म्याच्या पूजेचे ठिकाण फक्त 'हृदय प्रदेशातच' आहे. त्या हृदयात ध्यान, श्वासोच्छ्वासाचे चिंतन इत्यादी क्रिया एकांतात बसून (मंदिर-मूर्तीसमोर

नाही) केल्या जातात. हे अध्याय तीन, चार, सहा आणि अठरामध्ये स्पष्ट केले आहे. जरी अध्याय सहापर्यंत गीतेचे अध्ययन केले तरी 'यथार्थ गीता'चा मूळ आशय आपल्या लक्षात येईल. त्यासाठी जास्त विचार करण्याची आवश्यकता नाही.

गीता जीवनसंग्रामाचे साधन नाही, परंतु जीवन संघर्षामध्ये शाश्वत विजय मिळविण्याचे एक सक्रिय प्रशिक्षण आहे. म्हणून तो एक युद्ध ग्रंथ आहे की तो खराखुरा विजय मिळवून देतो. परंतु गीतेमध्ये सांगितलेले युद्ध तलवार, धनुष्य बाण, गदा किंवा फरशीने लढले जाणारे लौकिक, सांसारिक युद्ध नाही. तसेच या युद्धात शाश्वत विजयसुद्धा मिळत नाही. हा तर सत् असत् प्रवृत्तींचा संघर्ष आहे. त्याच्या रूपकात्मक वर्णनाची परंपरा चालत आलेली आहे. वेदामध्ये इंद्र, वृत्त, विद्या व अविद्या, पुराणात देव व आसुर यांचा संग्राम, महाकाव्यात राम व रावण, कौरव व पांडवांच्या संघर्षालाच गीतेमध्ये धर्मक्षेत्र आणि कुरुक्षेत्र, दैवी व आसुरी संपत्ती, सजातीय तसेच विजातीय, सद्गुण आणि दुर्गुणांचा संघर्ष असे संबोधले आहे.

हा संघर्ष जेथे होतो ते ठिकाण आहे कोठे? गीतेचे धर्मक्षेत्र व कुरुक्षेत्र म्हणजे भारतातील कोणता भूभाग नाही तर स्वतः गीताकारांच्या शब्दात "इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते" कौन्तेय, हे शरीर हेच एक क्षेत्र आहे जेथे पेरलेले चांगले आणि वाईट 'बी' संस्कार घेऊन सदा उगवत असते. दहा इंद्रिये, मन, बुद्धी, चित्त, अहंकार, पाच विकार व तीन गुणांचा विकार हा या क्षेत्राचा विस्तार आहे. प्रकृतीतून निर्माण झालेल्या या तिन्ही गुणांनी विवश होऊन मनुष्याला कर्म करावेच लागते. तो एक क्षणभरही कर्माशिवाय राहू शकत नाही. "पुनरपि जननम पुनरपि मरणम पुनरपि जननी जठरे शयनम" जन्मोजन्मी तो हे करत आला आहे. हेच कुरुक्षेत्र आहे. सदगुणांच्या माध्यमातून साधनेचा नेमका मार्ग पकडून जेव्हा साधक परमधर्म परमात्म्याकडे पुढे जात अग्रेसर होतो, तेव्हा हेच क्षेत्र धर्म बनते. हे शरीरच क्षेत्र आहे.

याच शरीराच्या अंतरंगात अंतःकरणाच्या दोन प्रवृत्ती अत्यंत पुरातन आहेत. एक दैवी संपत्ती व दुसरी आसुरी संपत्ती! दैवी संपत्तीची उदाहरणे पुण्यरूपी पांडू आणि कर्तव्यरूपातली कुन्ती! पुण्य जागृत होण्यापूर्वी मनुष्य

जे काही कर्तव्य समजून करतो तो आपल्या समजुतीनुसार तो कर्तव्यच करतो. परंतु त्याच्याकडून कर्तव्य होत नाही. कारण पुण्याशिवाय कर्तव्याला समजून घेताच येत नाही. कुन्तीने पांडूशी संबंध येण्यापूर्वी जे काही मिळवले होते तो होता कर्ण! तो जन्मभर कुंतीच्या मुलांशी लढत राहिला. पांडवांचा कट्टर शत्रू जर कोणी होता, तर तो होता कर्ण! विजातीय कर्म म्हणजेच 'कर्ण' होय. जो बंधनकारक आहे, ज्याच्यामध्ये परंपरागत रूढींचे चित्रण आहे– पूजा पद्धती शरीराला सोडत नाही. पुण्य जागे झाल्यावर धर्मरूपी युधिष्ठिर, अनुरागरूपी 'अर्जुन', भावरूपी 'भीम', नियमरूपी 'नकुल', सत्संगरूपी 'सहदेव', सात्त्विकतारूपी 'सात्यकी' शरीरसामर्थ्यरूपी 'काशीराज', कर्तव्य पालनाने भवसागरावर विजय रूपी 'कुन्तीभोज' इत्यादी इष्टोन्मुख मानसिक प्रवृत्तींचा उत्कर्ष होतो. त्यांची संख्या सात अक्षौहिणी आहे. 'अक्ष' दृष्टीला म्हणतात. सत्यमय दृष्टिकोणाने जी एकत्र केली आहे ती दैवी संपत्ती! परमधर्म परमात्म्याकडे मोठे अंतर पार पाडण्यासाठी सात शिड्या म्हणजे सात भूमिका आहेत. केवळ एक संख्याविशेष नाही. खरे पाहता या प्रावृत्ती अनंत आहेत, अगणित आहेत.

दुसऱ्या बाजूला आहे 'कुरूक्षेत्र'! ज्यामध्ये दहा इंद्रिये व मन अशी अकरा अक्षौहिणी सेना आहे. मनासह इंद्रियांच्या आधीन दृष्टिकोनामुळे जी एकत्र केली गेलेली आहे ती आहे आसुरी संपत्ती! त्यातच अज्ञानरूपी धृतराष्ट्र आहे, जो सत्य जाणूनसुद्धा आंधळा बनला आहे. त्याची पत्नी आहे 'गांधारी!' गांधारी म्हणजेच इंद्रियांना आधार देणारी प्रवृत्ती! त्याबरोबर आहे मोहरूपी दुर्योधन, दुर्बुद्धी–रूपी दुःशासन, विजातीय कर्मरूपी कर्ण, भ्रमरूपी भीष्म, द्वैताचे आचारणरूपात कृपाचार्य व या सर्वांमध्ये जीवरूपी विदूर आहे जो राहतो अज्ञानात पण त्याची दृष्टी सदैव पांडवांवर आहे, पुण्याने प्रभावित झालेल्या सत्प्रवृत्तीवर आहे. कारण आत्मा परमात्म्याचा शुद्ध अंश आहे. अशा प्रकारे आसुरी संपत्ती पण अनंत आहे. क्षेत्र मात्र एकच आहे ते म्हणजे, हे शरीर. यात लढणाऱ्या दोन प्रवृत्ती आहेत त्या म्हणजे एक वृत्ती प्रकृतीवर विश्वास देववविते, नीच अधम योनीचे कारण बनते, तर दुसरी वृत्ती परमपुरुष परमात्म्यामध्ये विश्वास व प्रवेश मिळवून देते. तत्त्वदर्शी

महापुरुषांच्या मार्गदर्शनाखाली व संरक्षणाखाली क्रमाक्रमाने साधना केल्यावर दैवी संपत्तीचा उत्कर्ष व आसुरी संपत्तीचा सर्वथा नाश होतो. जेव्हा कोणता विकारच उरत नाही तेव्हा मनाचा संपूर्ण निरोध होतो व अशा स्तब्ध स्थिर मनाचा पण लय होत जातो. तेव्हा दैवी संपत्तीची आवश्यकता समाप्त होते. (उरत नाही). अर्जुनाने पाहिले की, कौरव पक्षाबरोबर पांडव पक्षाचे योद्धे पण योगेश्वरात सामावले जात आहेत. पूर्ततेबरोबर दैवी संपत्तीचा पण विलय होऊन जातो व अंतिम शाश्वत परिणाम दिसू लागतो. नंतर महापुरुष जर काही करत असेल तर ते फक्त अनुयायांच्या मार्गदर्शनासाठी करतात.

लोकसंग्रहाच्या या भावनेने महापुरुषांनी सूक्ष्म मनोभावांचे वर्णन त्यांना ठोस स्वरूप देऊन केले आहे. गीता छंदोबद्ध आहे, व्याकरणयुक्त आहे. परंतु गीतेतील पात्रे प्रतिकात्मक आहेत. अमूर्त योग्यतांची, आदर्शांची ती मूर्तरूपे आहेत. गीतेच्या प्रारंभीच तीस चाळीस पात्रांची नावे घेतली आहेत, ज्यामध्ये अर्धे स्वजातीय व अर्धे विजातीय आहेत. कोणी पांडव पक्षाचे तर कोणी कौरव पक्षाचे आहेत. 'विश्वरूप दर्शन' करवताना त्यामधील चार सहा नावे पुन: आली आहेत. त्यापेक्षा संपूर्ण गीतेमध्ये या नावांविषयी चर्चासुद्धा नाही. एकच अर्जुन असा आहे की सुरुवातीपासून शेवटपर्यंत योगेश्वरांच्या समोर आहे. तो अर्जुन पण केवळ योग्यतेचे प्रतीक आहे. काही व्यक्तिविशेष नव्हे. गीतेच्या सुरुवातीला अर्जुन सनातन कुलधर्मासाठी व्यथित आहे परंतु योगेश्वर श्रीकृष्णाने तो अज्ञानी असल्याचे दाखविले आहे. आणि त्याला उपदेश केला आहे की, आत्माच सनातन आहे, शरीर नाशवंत आहे. त्यासाठी युद्ध कर. या आदेशात असे स्पष्ट होत नाही की, अर्जुनाने कौरवांना मारावे. पांडव पक्षाचे लोकही शरीरधारीच होते. दोन्ही बाजूला नातेवाईक होते. संस्कारानुसार घडलेले शरीर तलवारीने कापल्यावर नाश पावू शकतो का? जर शरीर नाशवंत आहे तर शरीरालाच अस्तित्व नाही. तर मग तो अर्जुन तरी कोण होता? श्रीकृष्ण कोणाच्या रक्षणासाठी उभे होते? कोण्या शरीरधाऱ्याच्या रक्षणासाठी ते कटिबद्ध होते? यावर श्रीकृष्ण म्हणाले "जो शरीरासाठी परिश्रम करतो तो पापी जीव, मुर्खबुद्धी पुरुष जीवनात व्यर्थ होऊन जातो. जर श्रीकृष्ण कोण्या शरीर धारण करणाऱ्याच्या रक्षणासाठी उभे आहेत तर ते देखील मूर्ख बुद्धीचे असून ते व्यर्थ जगत आहेत. खरे पाहता अनुराग, प्रेम, हाच अर्जुन होय.

अशा प्रेमळ जनांच्या रक्षणासाठी महापुरुष सदैव उभे आहेत. अर्जुन शिष्य होता व श्रीकृष्ण सद्‌गुरु होते. नतमस्तक होऊन विनयाने त्यांने सांगितले होते की, धर्माच्या मार्गात मोहाने ग्रासलेल्या चित्ताने मी आपल्याला विचारतो आहे की जे श्रेयस्कर (परम कल्याणकारक) असेल तो उपदेश मला करावा. अर्जुन 'श्रेया'ची मागणी करीत होता. 'प्रेय' (भौतिक पदार्थ) नाही. केवळ सांगून नका तर माझ्याकडून करवून घ्या, संभाळून घ्या. मी आपला शिष्य आहे. मी आपल्याला शरण आलो आहे. अशा प्रकारे गीतेमध्ये ठिकठिकाणी हे स्पष्ट आहे की अर्जुन आर्त अधिकारी आहे व योगेश्वर श्रीकृष्ण सद्‌गुरु आहेत. ते सद्‌गुरु 'प्रेमी भक्तांच्या बरोबर सदैव राहतात व त्यांना मार्गदर्शन करतात.

जेव्हा भावनावश होऊन एखादी भावुक व्यक्ती पूज्य महाराजजींच्या जवळ राहण्यासाठी हट्ट करते तेव्हा ते सांगत असत, 'जा शरीराने कोठेही राहा, मनाने माझ्याजवळ येत राहा. सकाळ संध्याकाळ राम, शिव किंवा ॐ यांपैकी कोणत्याही दोन अडीच अक्षरांच्या नामाचा जप करा आणि माझ्या स्वरूपाचे हृदयात ध्यान करा. एक मिनीट देखील माझ्या स्वरूपाला पकडू शकलात तर ज्याचे नामस्मरण, भजन करता आहात तोच मी तुम्हाला देईन. त्याला अधिकाधिक पकडू शकलात तर हृदयापासून सारथी बनून सदैव तुमच्या बरोबर राहीन'. जेव्हा शरीर ताब्यात येते तेव्हा व त्यानंतर महापुरुष एवढ्या आपल्याजवळ राहतो की जेवढे आपले हात-पाय नाक इत्यादी अवयव आपल्याजवळ आहेत. तुम्ही हजारो किलोमीटर दूर असलात तरी ते तुमच्याजवळ आहेत. मनात विचार यायच्या आधीच त्यांचे मार्गदर्शन व्हायला लागते. अनुरागी भक्तांच्या हृदयात तो महापुरुष सदैव आत्म्याशी अभिन्न होऊनच जागृत राहतो.

गीतेच्या अकराव्या अध्यायात योगेश्वर श्रीकृष्णांचे ऐश्वर्य पाहिल्यावर अर्जुन आपल्या क्षुद्र त्रुटींसाठी क्षमायाचना करू लागला. श्रीकृष्णांनी क्षमा केली, कारण अर्जुनाच्या याचनेमुळे सौम्यस्वरूपात येऊन ते म्हणाले, "अर्जुना, माझ्या या स्वरूपाला यापूर्वी कोणी पाहिलेले नाही किंवा भविष्यातही कोणी पाहू शकणार नाही". असे जर आहे तर मग आम्हा सर्वसामान्यासाठी

गीता व्यर्थ आहे, की त्या परमात्म्याच्या दर्शनासाठी लागणारी योग्यता अर्जुनापुरतीच सीमित होती. तथापि त्यावेळी संजयही अर्जुनाबरोबर विराट दर्शन पाहात होता. तथापि श्रीकृष्णांनी सांगितले आहे की, बरेचसे योगीजन ज्ञानरूपी तपाने पवित्र होऊन साक्षात माझ्या स्वरूपाला प्राप्त करू शकले आहेत. शेवटी हे महापुरुष काय सांगू इच्छितात? वस्तुतः अनुराग– प्रेमच अर्जुन आहे. ती आपल्या हृदयातील विशेष भावना आहे. अनुरागाशिवायचा पुरुष पूर्वी केव्हाही पाहू शकला नाही. तसेच प्रेमळ भाव नसणारा पुरुष भविष्यात पण काही पाहू शकणार नाही. ''**मिलहि न रघुपति बिनु अनुरागा। किये कोटि जप योग विरागा।**'' म्हणजे अर्जुन एक प्रतीक आहे. जर प्रतीक नाही असे वाटत असेल तर गीतेचे अध्ययन सोडून द्या. तेव्हा तर या दर्शनासाठी योग्यता अर्जुनापुरती सीमित होती.

अध्यायाच्या शेवटी योगेश्वर निर्णय देत आहेत, "अर्जुना, अनन्य भक्ती आणि श्रद्धा यांच्याद्वारे मी या प्रकारे प्रत्यक्ष दर्शनासाठी (जसे तू पाहिलेस), तत्त्वाने स्पष्ट समजण्यासाठी व माझ्या अंतरंगात प्रवेश सुलभ आहे" अनन्य भक्ती अनुरागानेच दुसरे रूप आहे. आणि हेच अर्जुनाचेही स्वरूप आहे. अर्जुन पथिकाचे प्रतीक आहे या प्रकारे गीतेतील सर्व पात्र प्रतिकात्मक आहेत. ज्या त्या ठिकाणी गीतेत त्याचा संकेत मिळत असतो.

कोणी ऐतिहासिक कृष्ण किंवा अर्जुन भलेही होऊन गेलेले असोत, किंवा भले विश्वयुद्ध झालेले असो, पण गीतेमध्ये भौतिक युद्धाचे चित्रण कुठेही केलेले नाही. त्या ऐतिहासिक महायुद्धप्रसंगी घाबरला होता तो अर्जुन! सैन्य नव्हे. सैन्य तर लढण्यासाठी सज्ज होऊन उभे होते. गीतेचा उपदेश देऊन श्रीकृष्णाने काय सव्यसाची अर्जुनाला सेनेच्या योग्यतेचा केला? वस्तुतः साधन लिखाणात येत नाही. सर्व काही वाचल्यानंतरही चालत राहणे हे बाकी राहतेच. ही प्रेरणा म्हणजेच 'यथार्थ गीता' होय.

(श्री गुरुपोर्णिमा, वि.सं. २०४०) सद्गुरु कृपाश्रयी, जगतबंधु

२४ जुलै, १९८३ ई. **स्वामी अड़गड़ानन्द**

●

ॐ

श्री परमात्मने नमः

यथार्थ गीता

(श्रीमद्भगवद्गीता)

।। अथ प्रथमोऽध्यायः ।।

अध्याय पहिला

धृतराष्ट्र उवाच-

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ।।१।।

धृतराष्ट्राने विचारले, "हे संजया, धर्मभूमी अशा कुरुक्षेत्रावर युद्धासाठी एकत्र जमलेल्या माझ्या पुत्रांनी आणि पाण्डूच्या पुत्रांनी काय केले ?"

अज्ञानरूपी धृतराष्ट्र आणि संयमरूपी संजय ! अज्ञान हे मनाच्या अंतरंगात वसत असते. या अज्ञानात मन गुरफटले जाते. धृतराष्ट्र हा जन्मांध आहे; परंतु संयमरूपी संजयाच्या माध्यमातून तो कुरुक्षेत्रावरील घडामोडी पाहू शकत आहे, ऐकू शकत आहे. त्याला निश्चित माहीत आहे की परमात्मा हेच एकमेव सत्य आहे; परंतु त्याचा मोहरूपी पुत्र दुर्योधन जोपर्यंत जिवंत आहे तोपर्यंत त्याचे लक्ष कौरवांवर म्हणजेच पर्यायाने विकारांवर केंद्रित झाले आहे.

धर्म हे एक पवित्र क्षेत्र आहे. जेव्हा हृदयरूपी देशात दैवी संपत्तीचा प्रभाव असतो तेव्हा हे शरीर धर्मक्षेत्र बनते. आणि जेव्हा येथे आसुरी संपत्तीचा प्रभाव असतो तेव्हा तेच शरीर कुरुक्षेत्र बनते. 'कुरु' म्हणजे 'करा' हा शब्द आदेशात्मक आहे. श्रीकृष्ण म्हणतात - "प्रकृतीतून

निर्माण होणाऱ्या त्रिगुणांनी प्रवृत्त होऊन, मनुष्य कर्म करीत असतो. तो क्षणमात्रही कर्माशिवाय राहू शकत नाही''. ते गुण त्याच्याकडून कर्म करवून घेत असतात. तो झोपलेला असला तरी त्याचे कर्म चालूच असते. अर्थात ते कर्म म्हणजे शरीर निरोगी ठेवण्याचा तो एक प्रकारचा आहारच आहे. हे तिन्ही गुण मनुष्याला देवापासून क्षुद्र किड्यापर्यंत देहबद्ध करीत असतात. जोपर्यंत प्रकृती व प्राकृतीपासून उत्पन्न होणारे तिन्ही गुण अस्तित्वात आहेत, तोपर्यंत 'कुरु-करा' चालूच राहील व म्हणून जन्ममृत्यूचे क्षेत्र, विकारांचे क्षेत्र हे कुरुक्षेत्र आहे व परमश्रेष्ठ परमात्म्यात प्रवेश देणारे, विलीन करणारे पुण्यशील प्रवृत्तींचे (पांडव) क्षेत्र म्हणजे धर्मक्षेत्र आहे.

पुरातत्त्ववेते पंजाब, काशी, प्रयाग, मध्यप्रदेश तसेच इतरही अनेक ठिकाणी कुरुक्षेत्राचा शोध घेत आहेत. परंतु गीताकार श्रीकृष्णाने स्वतःच हे युद्ध कोठे झाले ते सांगितले आहे – 'इदं शरीर कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।' ''हे अर्जुना, हे शरीर हेच क्षेत्र आहे आणि जो हे जाणतो, त्याची मर्यादा समजतो तो क्षेत्रज्ञ आहे.'' पुढे त्यांनी या क्षेत्राची व्याप्ती सांगितली आहे. त्यात दहा इंद्रिये, मन, बुद्धी, अहंकार, पाच विकार आणि त्रिगुणांचे वर्णन केले आहे. शरीर हेच क्षेत्र आहे, एक आखाडा आहे. त्यात परस्परांशी झुंजणाऱ्या-झगडणाऱ्या दोन प्रवृत्ती आहेत. एक दैवी संपत्ती व दुसरी आसुरी संपत्ती-पाण्डवरुपी सत् प्रवृत्ती व कौरवरुपी असत्-दुष्ट प्रवृत्ती'.

अनुभवी महापुरुषाला शरण गेल्यानंतर या दोन्ही प्रवृत्तींमधील संघर्ष संपुष्टात येतो. हा क्षेत्र व क्षेत्रज्ञामधील संघर्ष आहे आणि हाच वास्तविक लढा आहे, युद्ध आहे. विश्वयुद्धांनी इतिहासाची पाने भरून गेलेली आहेत. परंतु त्या युद्धांत विजयी झालेल्या पक्षालासुद्धा शाश्वत विजय मिळू शकला नाही. जय-पराजय हे बदल असतात. प्रकृतीचे संपूर्णपणे शमन करून, तात्पुरते प्रकृतीच्या पलीकडे असणाऱ्या सत्तेचे दर्शन घेणे, ज्ञान मिळवणे व त्यात प्रवेश करणे हा वास्तविक विजय आहे. हा एक असा विजय आहे की ज्याच्या नंतर कधीही हार नाही – पराजय नाही. हीच खरी मुक्ती आहे की जिला जन्ममृत्यूचे बंधन नाही.

या प्रकारे अज्ञानाने प्रभावित असणारे प्रत्येक मन संयमाच्या द्वारे क्षेत्र व क्षेत्रज्ञ यांच्या युद्धात काय झाले हे जाणू शकते. अर्थात संयम जेवढा जागृत होईल त्याच प्रमाणात त्या व्यक्तीला दृष्टी प्राप्त होईल.

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत्।।२।।

संजय म्हणाला – पाण्डवांचे सैन्य व्यूहरचनेने उभे राहिलेले पाहताच, राजा दुर्योधन द्रोणाचार्यांजवळ जाऊन असे म्हणाला

द्वैतभावाचे आचरण म्हणजेच "द्रोणाचार्य". जेव्हा परमात्म्यापासून आम्ही अलग झालो आहोत, वेगळे झालो आहोत याची जाणीव होते (हेच द्वैतभावाचे ज्ञान होय) तेव्हा त्या भगवंताच्या प्राप्तीची तळमळ, अभिलाषा मनात निर्माण होते. त्यामुळे गुरूची आवश्यकता वाटून आम्ही गुरुचा शोध घेऊ लागतो. दोन प्रवृत्तींमधील प्रथम गुरू हाच असतो ज्याचा शोध घेतो; परंतु त्यानंतरचे सद्गुरु योगेश्वर श्रीकृष्ण हेच असतात जे योगसिद्ध आहेत.

राजा दुर्योधन आचार्यांच्या जवळ जातो. मोहरूपी दुर्योधन! मोह हे सर्व व्याधींचे मूळ आहे, मुख्य कारण आहे. दुर्योधन – दुर् म्हणजे दोषयुक्त, योधन म्हणजे आत्मिक दूषित संपत्ती असे धन, आत्मिक संपत्ती हीच स्थिर शाश्वत संपत्ती आहे. तिच्यात जो दोष निर्माण करतो तोच मोह असतो. तो मनुष्याला प्रकृतीकडे खेचत असतो तसेच तो वास्तव ज्ञान प्राप्त करून घेण्याची प्रेरणाही देत असतो. मोह असतो तोपर्यंत प्रश्न शिल्लक असतात, मोह संपला की मग सर्व पूर्णच असते.

व्यूहरचनायुक्त पांडवांचे सैन्य पाहून म्हणजेच पुण्यशील सत् प्रवृत्तींचा जमाव – संघटन पाहून दुर्योधन गुरू द्रोणांच्या जवळ जाऊन उपहासाने म्हणाला –

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता।।३।।

आचार्य, द्रुपदाचा पुत्र आणि तुमचा बुद्धिमान शिष्य धृष्टद्युम्न याने व्यूह रचना केलेली ही मोठी पाण्डवसेना पहा.

शाश्वत व स्थिर परमात्म्यावर श्रद्धा असणारा, दृढ मनोबळ असणारा तो धृष्टद्युम्न ! तोच पुण्यशील प्रवृत्तींचा नेता आहे, प्रमुख आहे. 'साधन कठिन न मन कर टेका' नुसते साधन बळकट असून उपयोग नाही तर मनाची सिध्दता बळकट असली पाहिजे. मनोनिग्रह असला पाहिजे.

आता सेनेचा विस्तार बघा-

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः।।४।।

या सेनेत 'महेष्वासा' - महान अशा ईश्वराच्या ठिकाणी आश्रय देणारे, भावरूपी भीम, अनुरागरूपी 'अर्जुना' सारखे अनेक शूर वीर, जसे सात्विकतारूपी 'सात्यकी', चराचरात सर्वत्र ईश्वर भरून राहिलेला असे ईश्वराचे विराटत्व सुचवणारा विराट, तसेच अचल-स्थिर स्थितीचे द्योतक असा महारथी राजा द्रुपद -

धृष्टकेतुश्चेकितानः कशीराजश्च वीर्यवान।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्वः।।५।।

'धृष्टकेतुः' - कर्तव्यात दृढ असणारा, 'चेकितान' - स्वैरभैर भटकणाऱ्या मनाला लगाम घालून योग्य स्थळी मन स्थिर ठेवणारा, 'काशिराजाः' - कायारूपी काशीमध्येच साम्राज्य आहे 'पुरुजित्' - स्थळ, सक्ष्म व कारण अशा शरीरावर विजय मिळवून देणारा, 'कुन्तिभोजः' - कर्तव्याच्या सहाय्याने मृत्युलोकावर विजय मिळवणारा, सर्व मनुष्यांमध्ये श्रेष्ठ, 'शैब्य' - म्हणजे सत्य व्यवहार.

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एक महारथाः।।६।।

युद्धाला आवश्यक मनोधारणा असणारा पराक्रमी 'युद्धामन्यु' ज्याच्याजवळ उत्तम प्रकारचे ओज आहे, तेज आहे असा 'उत्तमौजा' भक्कम आधार, पाठबळ मिळाले की मन निर्भय बनते, अशा भक्कम आधारामुळे

जो निर्भय आहे असा सुभद्रपुत्र अभिमन्यु. ध्यानरूपी द्रौपदीचे पाच पुत्र वात्सल्य, लावण्य, सहृदयता, सौम्यता व स्थिरता हे सर्वजण थोर महारथी आहेत. साधनेच्या मार्गावर वाटचाल करण्याची त्यांची संपूर्ण योग्यता आहे, क्षमता आहे.

अशा प्रकारे पांडवांच्या पक्षातील दैवी संपत्तीने युक्त असणाऱ्या पंधरा-वीस योद्धयांची नावे दुर्योधनाने घेतली. असत् प्रवृत्तींचा राजा असूनही 'मोहा' मुळेच सत् प्रवृत्ती समजणे शक्य होते. 'मोह' तसे करण्याला बाध्य करतो.

त्यानंतर स्वतःच्या पक्षातील योद्धयांविषयी तो संक्षेपाने द्रोणाचार्यांना सांगतो. जर बाह्य युद्ध असेल तर आपल्या फौजेची बढाई त्याने मारली असती. येथे विकार कमी सांगितले गेले; कारण विकार नाशवंत असतात व त्यांच्यावर विजय प्राप्त करावयाचा आहे. फक्त सहा-सात विकारच त्याने सांगितले की ज्यांच्या अंतरंगात संपूर्ण बहिर्मुखी प्रवृत्तींचा वास आहे. जसे -

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य सञ्ज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते।।७।।

हे द्विजश्रेष्ठा, आता आमच्या सैन्यात जे जे प्रमुख आहेत, जे माझ्या सैन्याचे अधिकारी आहेत त्यांची नावे आपल्याला कळण्यासाठी सांगतो; ते आपण ऐकून घ्या, जाणून घ्या.

बाह्य युद्धात सेनापतीला द्विजश्रेष्ठ म्हणून संबोधणे समयोचित नाही. वास्तविक गीता म्हणजे अंतःकरणातील दोन प्रवृत्तींचा संघर्ष आहे व तेथे द्वैत वृत्तीच्या आचरणाचे प्रतीक म्हणजे गुरू द्रोण आहेत. जोपर्यंत आम्ही आमच्या आराध्यापासून लेशमात्रही अलग असतो तोपर्यंत तेथे प्रकृती विद्यमान असते, द्वैतभाव उपस्थित असतो. या 'द्वि' वर विजय मिळवण्याची प्रेरणा आम्हाला गुरू द्रोणाचार्यांपासून मिळत असते. आमचे अर्धवट अपूर्ण ज्ञानच आम्हाला पूर्ण ज्ञान प्राप्त करण्याची प्रेरणा देत असते. ते पूजास्थल नाही, मंदिराचे प्रांगण नाही. ती युद्धभूमी आहे. तेथे शौर्यसूचक संबोधन असायला हवे.

आता असत् प्रवृत्तींचे प्रमुख कोण कोण आहेत?

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च।।८।।

एक तर स्वतः आपण (द्वैतभावाचे आचरणरूपी द्रोणाचार्य) आहात. भ्रमरूपी – संदेहरूपी पितामह 'भीष्म' आहेत. भ्रम हे या विकारांचे उद्‌गम स्थान आहे आणि अंतापर्यंत तो जिवंत रहात असतो; म्हणून तो पितामह आहे. सर्व सेना मरून गेली तरी हा जिवंत होता. शरशय्येवर निश्चेतन अवस्थेत पडून होता; पण तरीही तो जिवंत होता. म्हणून भीष्म हा भ्रमरूप आहे. या प्रमाणेच असत् कर्मरूपी कर्ण व संग्रामात सदैव विजयी होणारे 'कृपाचार्य' (आमच्या पक्षात) आहेत. साधनेच्या अवस्थेत साधकाकडून घडणारे कृपेचे आचरण म्हणजेच कृपाचार्य होय. परमेश्वर कनवाळू आहे, तो कृपेचे धाम आहे. त्याच्या प्राप्तीनंतर संताचे स्वरूपही असेच कनवाळू बनते. परंतु या साधनेच्या कालात जोपर्यंत आम्ही परमेश्वरापासून अलग राहतो, तोपर्यंत तोही आमच्यापासून दूरच असतो, अलग असतो. असत् प्रवृत्ती जिवंत असते, ती मोहाने गुरफटलेली असते. अशा परिस्थितीत साधक जर कनवाळूपणाने वागला तर तो नष्ट होऊन जातो.

सीतेने दया दाखवली; त्यामुळे तिला काही काळ लंकेत राहून प्रायश्चित करावे लागले. विश्वामित्र क्षणभर दयाद्र बनले त्यामुळे त्यांना पतीत व्हावे लागले. योग सूत्रकार महर्षि पतंजलीही म्हणतात – 'ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः' (३/३७). व्युत्थान कालात (समाधी अवस्थेतून बाहेर आल्यावर) सिद्धी प्रकट होतात. वास्तविक त्या सिद्धी आहेत. परंतु काम, क्रोध, मोह या विकारांइतक्याच कैवल्य प्राप्तीमध्ये त्या अडसररूप विघ्नरूप आहेत. गोस्वामी तुलसीदासांचेही असेच मत आहे.

छोरत ग्रन्थि जानि खगराया।
विघ्न अनेक करइ तब माया ।।
रिद्धि सिद्धि प्रेरइ बहु भाई।
बुद्धिहिं लोभ दिखावहिं आई ।।

(रामचरितमानस, ७/११७/६-७)

माया अनेक विघ्ने, अडचणी निर्माण करत असते. ती साधकाला अनेक सिद्धि प्रदान करते. साधकाला ती सिध्द बनवते. असा सिद्धी प्राप्त झालेला साधक मरणासन्न मनुष्याच्या जवळून गेला तरी तो मनुष्य उठून उभा राहील; एवढी सिद्धी त्याला प्राप्त होते. अर्थात तो मनुष्य भले जिवंत झाला; पण साधकाने ते स्वतःचे सामर्थ्य समजले तर तो नष्ट होऊन जाईल. एक रोगी बरा झाला की त्याच्या जागी अनेक रोगी जमतील. त्यामुळे भजन-चिंतनामध्ये खंड पडेल व साधक त्यामुळे इतका बहकत जाईल की प्रकृतीचे बाहुल्य वाढून तो प्रकृतीच्या पाशात अडकला जाईल. जर लक्ष्य दूर असेल आणि जर साधकाने कृपाळूपणा केला तर त्याच्या त्या कृपेच्या आचरणामुळे 'समितिंजय' (संग्रामात सदैव विजयी होणारी) अशा सर्व सेनेवर तो विजय मिळवू शकेल व म्हणूनच जोपर्यंत लक्ष्यपूर्ती होत नाही तोपर्यंत साधकाने अत्यंत सतर्क, सावध राहिले पाहिजे. 'दया बिनु सन्त कसाई, दया करी तो आफत आई ।' परंतु अपूर्ण अवस्थेत ही दया म्हणजे ज्याचे दमन करण्यास अशक्य अशा असत् प्रवृत्तीच्या दुर्धर्ष योद्धयासारखी आहे. या प्रकारे आपल्या पक्षात आसक्तीरूपी आश्वत्थामा आहे, विकल्परूपी विकर्ण आहे व भ्रममयी श्वासासारखा असणारा भुरिश्रवा आहे. हे सर्व बहिर्मुखी प्रवाहाचे मुख्याधिकारी आहेत.

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः।।९।।

माझ्यासाठी जीवावर उदार झालेले, अनेक प्रकारच्या शस्त्रांनी सज्ज व युद्धात कुशल असणारे पुष्कळ वीर येथे युद्धासाठी सिद्ध झालेले आहेत. ते सर्व माझ्यासाठी आपले प्राण द्यायलाही तयार आहेत. अर्थात, ते निश्चितपणे किती आहेत हे सांगता येणार नाही. आता कोणती सेना कोणामुळे सुरक्षित आहे? यावर दुर्योधन म्हणतो -

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ।।१०।।

भीष्माने रक्षण केलेली आमची सेना अफाट सेना असून ती अजिंक्य

आहे. तर भीमाने रक्षण केलेली पांडवांची सेना जिंकण्यास सोपी असून ती पर्याप्त म्हणजे मोजकी आहे. येथे 'पर्याप्त' व 'अपर्याप्त' हे क्लिष्ट दुर्बोध शब्द दुर्योधनाच्या मनातील शंका-संदेह व्यक्त करीत आहेत. आता ज्यांच्यावर कौरवांची भीस्त आहे ते पितामह भीष्म म्हणजे कोणती सत्ता आहे ? तसेच ज्याच्यावर पांडव अवलंबून आहेत तो भीम म्हणजे कोणती सत्ता आहे हे पहावयाचे आहे. यानंतर दुर्योधन सेनेला सूचना देताना सांगत आहे -

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि।।११।।

तेव्हा सेनाव्यूहरचनेत आपापल्या मोक्याच्या जागी उभे राहून आपण सर्वांनी मिळून भीष्माचार्यांचेच रक्षण केले पाहिजे. जर भीष्माचार्य जिवंत राहतील तरच आम्ही अजिंक्य राहणार आहोत. तेव्हा पांडवांशी लढण्यापेक्षा तुम्ही फक्त भीष्माचार्यांचेच रक्षण करावे. जो स्वतःचे रक्षण करू शकत नाही, ज्याच्या रक्षणाचा भार कौरवांना उचलावा लागत आहे, त्या भीष्माला योध्दा कसे म्हणावे ? तो कसला योध्दा ? पण येथे भीष्म म्हणजे भ्रम, विपरीत ज्ञान, संदेह भ्रांती. भीष्म म्हणजे हाडामांसाचा योद्धा नव्हे. म्हणून भीष्म म्हणजे भ्रम-भ्रांती जोपर्यंत टिकून आहे, तोपर्यंत विजातीय म्हणजे दुष्ट प्रवृत्ती अजिंक्य आहेत, अजेय आहेत. अर्थात 'अजेय' म्हणजे ज्याला जिंकताच येत नाही. असा नव्हे तर अजेय म्हणजे दुर्जय, म्हणजेच कष्टाने ज्याला जिंकता येते असा.

महा अजय संसार रिपु, जीति सकइ सो बीर।।
(रामचरितमानस, ६/८० क)

जेव्हा भ्रम किंवा भ्रांती नाहीशी होते तेव्हा अज्ञान संपूर्णपणे नष्ट होते. ते अस्तित्वहीन बनते. आणि आंशिकरूपाने उरलेले मोह वगैरे रिपूही शीघ्र नाहीसे होतात. भीष्माची इच्छा होती इच्छामरण ! पण इच्छा म्हणजेच भ्रांती. इच्छेचा अंत व भ्रम नष्ट होणे या दोन्ही गोष्टी एकच आहेत. ही गोष्ट संत कबीराने अगदी सोप्या शब्दांत सांगितली आहे.

इच्छा काया इच्छा माया, इच्छा जग उपजाया।
कह कबीर जे इच्छा विवर्जित, ताका पार न पाया।।

जेथे भ्रम-भ्रांती नसते, तो अमर्याद व अव्यक्त असतो. हे शरीर निर्माण होण्याचे कारणही इच्छा हेच आहे. इच्छा म्हणजेच माया आहे आणि इच्छा हीच जगताच्या उत्पत्तीचे कारण आहे. ('सोऽकामयत् तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय इति' छान्दोग्य ६/२/३). कबीर म्हणतात, जे संपूर्णतः निरिच्छ आहेत, 'तिनका पार न पाया' - ते अपार, अनंत व असीम अशा परमात्म स्वरूपात प्रवेश मिळवू शकतात. ('योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति ।' (बृहदारण्यक ४/४/६) जे कामनारहित आहेत, जे आत्म्यामध्ये स्थिर म्हणजे आत्मस्वरूप बनले आहेत, त्यांचे कधीच पतन होत नाही. ते ब्रह्माशी एकरूप होऊन जातात. सुरुवातीला इच्छा अनंत असतात. पण अनंत-अपार अशा परमेश्वरप्राप्तीची इच्छा मात्र बाकी असते. परंतु जेव्हा परमेश्वरप्राप्तीची इच्छाही पूर्ण होते, तेव्हा इच्छाही शिल्लक राहत नाही. जर यापेक्षाही मोठी किंवा श्रेष्ठ अशी दुसरी कोणती वस्तू असती तर तुम्ही तिच्या प्राप्तीची इच्छा नक्की ठेवली असती. जर त्याच्यापेक्षा श्रेष्ठ अशी दुसरी कोणती वस्तूच नाही तर मग कशाची इच्छा करणार? जेव्हा प्राप्त होण्यासारखी वस्तूच शिल्लक रहात नाही, तेव्हा इच्छेचे तेथून समूळ उच्चाटण होते आणि इच्छा नष्ट होताच भ्रांतीही समूळ नष्ट होते. हेच भीष्माचे इच्छामरण आहे. म्हणून दुर्योधन म्हणतो की, भीष्माकडून रक्षित असणारी आमची सेना अजेय आहे. सारांश - जोपर्यंत भ्रांती असते तोपर्यंत अज्ञानाचे - अविद्येचे वास्तव्य असते. भ्रांती नष्ट होताच अज्ञानही नाहीसे होते.

भीम म्हणजे भावरूप आहे. त्याच्याकडून रक्षण केली गेलेली पांडवांची सेना जिंकण्यास सुलभ आहे. 'भावे विद्यते देवः' - अविदित परमेश्वराला विदित - ज्ञात करण्याचे सामर्थ्य - क्षमता भावामध्ये आहे. 'भाव वस्य, भगवान, सुख निधान करूना अयन' **(रा. मानस ७/९२ ख).** श्रीकृष्णाने या भावालाच श्रद्धा म्हटले आहे. या श्रद्धेमध्ये परमेश्वराला वश करण्याचे सामर्थ्य असते. या भावातून, श्रद्धेतूनच संपूर्ण पुण्यमय प्रवृत्तीचा विकास होतो. हा भावच पुण्याचे संरक्षण करतो. ही श्रद्धा, हा भाव इतका सामर्थ्यवान आहे की, परमदेव परमात्म्याला तो जन्म घ्यायलाही भाग पाडतो. परंतु

त्याबरोबरच हा भाव इतका नाजूक असतो की, आज भाव आहे तर उद्या त्याचे अभावात परिवर्तन व्हायला वेळ लागत नाही. कारण इच्छिलेल्या म्हणजे इष्ट गोष्टीत थोडी जरी त्रुटी जाणवली की भाव-श्रद्धा डळमळू लागते, पुण्यमय सात्विक प्रवृत्ती विचलित होते व 'इष्ट' शी संबंध दुरावला जातो. व म्हणून भीमाकडून रक्षण केली जाणारी पांडवांची सेना जिंकणे सोपे आहे. महर्षि पंतजलींचेही हेच म्हणणे आहे - 'स तु दीर्घकाल नैरन्तर्य सत्कारासेविंतो दृढभूमिः' (१/१४) दीर्घकालपर्यंत निरन्तर श्रद्धा व भक्तिपूर्वक केलेली गोष्टच दृढ-भक्कम होऊ शकते.

तस्य सञ्जनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ।।१२।।

अशा प्रकारे प्रत्येकाने आपापल्या शक्तीप्रमाणे शंख फुंकले. हा शंखध्वनी म्हणजे त्या त्या वीरांनी आपल्या शक्तीप्रमाणे केलेली पराक्रमाची घोषणा होती. कुरुवंशातील महान पराक्रमी पितामह भीष्मांनी दुर्योधनाला आनंद व्हावा म्हणू सिंह गर्जनेप्रमाणे मोठया जोराने आपला शंख फुंकला. हा ध्वनी फार भयावह होता. सिंह म्हणजे भयाचेच प्रतीक; निबीड जंगलात एकांत स्थळी या सिंहाची गर्जना आपल्या कानावर पडली; तर सिंह आपल्यापासून कितीतरी मैल लांब असला तरी भीतीने आपल्या हृदयाचा थरकाप होतो व भयाने शरीरावर सरसरून काटा उभा राहतो, शरीर भीतीने कापू लागते. आपली अशी दशा होण्याचे कारण काय? कारण सिंहाविषयीचे भय आपल्या मनात दडून बसलेले असते. म्हणजे हे भय आपल्या प्रकृतीमध्ये असते, परमात्म्याच्या ठिकाणी नसते. कारण परमात्मा म्हणजे निर्भयतेचे साम्राज्य! जर भ्रमरूपी भीष्माचार्य विजयी होणार असतील तर आपण ज्या मायारूपी जंगलात भरकटत आहोत ते जास्तच भरकटले जाऊन भयाची मात्रा वाढेल, भयाचे काळोखी आवरण अधिक दाट होईल, भयाची तीव्रता वाढेल. भयाचा अंधःकार मनात अधिक दाटेल, भय भयाशिवाय आपल्याला दुसरे काही देऊ शकत नाही. तेव्हा या प्रकृतीपासून निवृत्त होणे हाच खरा मोक्षाचा मार्ग आहे. ही माया (प्रकृती) म्हणजे घोर अंधःकाराची पडछाया आहे. कौरव म्हणजे या मायेचे प्रतीक ! ते भयाशिवाय दुसरे काही देऊ

शकणार नाहीत. त्यामुळे कौरवांच्या सैन्यात सर्व रणधुरंधरांची रणवाद्ये एकदम वाजली तरी भयाशिवाय दुसरे काहीही उत्पन्न झाले नाही. लक्षात ठेवा की प्रत्येक विकाराच्या मुळाशी काही ना काही भय असतेच ! म्हणून त्यांनी आपली रणवाद्ये जोरजोराने फुंकून घोषणा केली.

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत्।।१३।।

त्यानंतर शंख, नगारे, तुताऱ्या, ढोल, रणशिंग ही रणवाद्ये एकदम वाजविली गेली, तेव्हा त्यांचा फारच मोठा आवाज झाला. त्यामुळे वातावरण भयावह झाले व पांडव सेनेत भय उत्पन्न करणे हाच तर कौरवांचा उद्देश होता. अशाप्रकारे दुष्ट प्रवृत्तीचे बाह्य आक्रमण सफल झाल्यावर मोहमय बंधन अधिक घट्ट-मजबूत बनते.

यानंतर पुण्यप्रवृत्तीच्या पांडव सेनेत रणवाद्ये फुंकली गेली यात पहिला मान योगेश्वर श्रीकृष्णाला दिलेला होता.

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः।।१४।।

पांढऱ्या शुभ्र घोड्यांनी युक्त असणाऱ्या (येथे पांढरा रंग सात्विक व निर्मलतेचे प्रतीक आहे) - 'महति स्यन्दने' म्हणजे महान रथावर आरूढ झालेल्या योगेश्वर श्रीकृष्णाने व अर्जुनाने आपापले अलौकिक शंख फुंकले. येथे अलौकिक या शब्दाचा अर्थ आहे सर्व लोकांमध्ये श्रेष्ठ ! मृत्युलोक, देवलोक, ब्रह्मलोक व जेथे जेथे जन्ममृत्यूचे भय आहे त्या सर्व लोकांपेक्षा श्रेष्ठ अशी पारलौकिक व पारमार्थिक स्थिती प्रदान करणे हा योगेश्वर कृष्णाच्या घोषध्वनीचा अर्थ आहे. ह्या योगेश्वराचा रथ सोन्याचांदीचा किंवा लाकडाचा नाही तर तो रथ अलौकिक आहे, त्याचा शंख अलौकिक आहे व त्यामुळे त्याचा घोषध्वनीही अलौकिकच आहे. लोकांपेक्षा श्रेष्ठ आहे असे फक्त एक ब्रह्म तेवढे आहे. सरळ त्या ब्रह्माशी संपर्क साधून देणे हा श्रीकृष्णाच्या घोषध्वनीचा अर्थ आहे. परंतु ही स्थिती श्रीकृष्ण कशा प्रकारे प्रदान करतील?

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः।।१५।।

'हृषिकेश' : – जो हृदयाचा जाणता आहे, स्वामी आहे त्या कृष्णाने 'पांचजन्य' शंख फुंकला आणि पाच ज्ञानेंद्रियांना त्यांच्या (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध) गुणांसह वश करून (तो निग्रह) आपल्या भक्तगणांना प्रदान करण्याचा घोष श्रीकृष्णाने केला. विक्राळ रूपात बंड करणाऱ्या इंद्रियांना वश करून आपल्या भक्तांना इंद्रियनिग्रहाची देणगी सद्गुरूच देत असतो आणि योगेश्वर श्रीकृष्ण हे महान सद्गुरू होते. 'शिष्यस्तेऽहं' भगवन! मी आपला शिष्य आहे. तेव्हा ब्राह्य विषय-उपाधी इकडे लक्ष जाऊ न देता इष्ट गोष्टीवरच लक्ष केंद्रित होऊ दे. अयोग्य असे काहीही माझ्या कडून पाहिले जाऊ नये, ऐकले जाऊ नये किंवा स्पर्शिले जाऊ नये. अर्थात या सर्व गोष्टी सद्गुरूवरच अवलंबून असतात.

'देवदत्त धनंजयः', दैवी संपत्ती आपल्या काबूत ठेवणारा अनुराग म्हणजेच अर्जुन होय. येथे अनुराग म्हणजे यथोचित, इष्ट असणाऱ्या गोष्टींबद्दल प्रेम असणे यात विरह, वैराग्य, अश्रुपात याही गोष्टींचा समावेश होतो. 'गदगद् गिरा नयन बह नीरा' रोमांचक गोष्टीही यात येतात, पण येथे विषयवासनेला, विकाराला लेशमात्र शिरकाव असत नाही. जर हा अनुराग यशस्वी झाला तर प्रत्यक्ष परमात्म्यात प्रवेश देणाऱ्या दैवी संपत्तीवर तो अधिपत्य प्राप्त करू शकतो. याचेच दुसरे नाव धनंजय आहे. धन म्हणजे दौलत, संपत्ती यामुळे शरीराचा उदरनिर्वाह व इतर गरजा पूर्ण होत असतात. पण या बाह्य संपत्तीचा आत्म्याशी काहीच संबंध नसतो. या संपत्तीपेक्षा आत्मिक संपत्ती हीच खरी स्वतःची संपत्ती आहे. बृहद्आरण्यक उपनिषदात याज्ञवल्क्याने मैत्रेयीला समजवताना हेच सांगितले की, पृथ्वीचे स्वामित्व जवळ असले तरी त्यामुळे अमृतत्वाची प्राप्ती होऊ शकत नाही. ते प्राप्त करण्यासाठी आत्मिक संपत्तीच जवळ असणे आवश्यक आहे. तोच त्यावर एकमेव उपाय आहे.

यानंतर भयावह, अचाट कर्म करणाऱ्या भीमाने पौण्ड्र म्हणजे प्रीती

नावाचा महाशंख फुंकला. प्रीती म्हणजेच भाव-प्रेम ! त्याचा उद्गम व निवास हृदय असते. म्हणूनच भीमाला वृकोदर असे म्हणतात. हे प्रेम, हा भाव लहान मुलात दिसून येतो; परंतु वस्तुतः ते प्रेम आपल्या हृदयात असते, ते मुलांमध्ये फक्त प्रकट होत असते. हा भाव अगाध आहे, सामर्थ्यवान आहे. त्याने म्हणजे भावरूपी भीमाने पौण्ड्र-प्रीती नावाचा महाशंख फुंकला, हा भाव महान आहे, बलवान आहे, सामर्थ्यवान आहे पण प्रेमाचे माध्यम असले तरच !

हरि व्यापक सर्वत्र समाना।
प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना।।

(रामचरित मानस, १/१८४/५)

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ।।१६।।

कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिराने 'अनंत विजय' नावाचा शंख फुंकला. महाभारतात कुन्ती हे कर्तव्याचे प्रतीक आहे; तर युधिष्ठिर हे धर्माचे प्रतीक आहे. धर्म जर स्थिर व सुदृढ ठेवला तरच 'अनन्त विजय' अनन्त परमात्म्याची स्थिती प्राप्त करून देईल. जो युद्धामध्ये स्थिर असतो, निश्चिल असतो त्याला युधिष्ठिर म्हणतात. जो प्रकृति-पुरुष, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ यांच्या संघर्षामध्ये स्थिर राहू शकतो, जो महाभयंकर दुःखानेही विचलित होत नाही असा स्थितप्रज्ञच एक दिवस अनन्त, अविनाशी अशा परमतत्त्व परमेश्वरावर विजय मिळवू शकतो.

नियमरूपी नकुलने 'सुघोष' नावाचा शंख फुंकला. येथे नकुल हा आचारपरंपरेचे नियम पाळण्यात अत्यंत काटेकोर होता व म्हणून त्याला 'नियम' असे म्हटले आहे. तेव्हा जो जो नियम भव्य होईल, उन्नत होईल म्हणजेच शुद्ध आचारविचार वाढतील तेव्हा अशुभ-अमंगल नष्ट होत जाईल व मंगलकारक, कल्याणकारक, शुभकारक स्थिती निर्माण होईल. नंतर सत्संगरूपी सहदेवाने 'मणिपुष्पक' नावाचा शंख फुंकला. विद्वानांनी प्रत्येक श्वासाला 'बहुमूल्य रत्न' असे म्हटले आहे. 'हीरा जैसी स्वांसा बातों में बीती जाय' आता येथे सत्संग व बहुमूल्य श्वास याचा काय संबंध आहे ? त्यासाठी सत्संगाचे स्वरूप समजावून घ्यायला हवे. सत्संग दोन प्रकारचे असतात.

एक सत्पुरूषांच्या सान्निध्यात बसून त्यांची अमृतवाणी श्रवण करणे. हा झाला बाह्य सत्संग पण दुसरा सत्संग हा आंतरिक असतो. भगवान श्रीकृष्णांच्या मते आत्मा हेच एकमेव सनातन सत्य आहे. तेव्हा सर्व प्रकारांनी–बाजूंनी इंद्रियांचे नियमन करून जर मन आत्म्याच्या संगतीत राहील, आत्म्याच्या ठिकाणी रत होईल तेव्हा तो खरा, वास्तविक सत्संग होतो. सतत ध्यान, चिन्तन व चित्ताची एकाग्रता याचा सतत सराव, अभ्यास केल्याने हा सत्संग साधला जातो. या सनातन सत्याच्या सान्निध्यात मन जसजसे अधिक रममाण होईल – रत होईल तसतसे प्रत्येक श्वासावरही नियंत्रण ठेवणे शक्य होईल व मग मनासहित इंद्रियाचा विरोध होऊ शकेल त्या दिवशी मन संपूर्ण इंद्रिय निग्रह करू शकेल त्या दिवशी त्याला सनातन तत्त्वाची प्राप्ती होईल. त्यानंतर एखाद्या वाद्याच्या सुराप्रमाणे चित्ताचा सूर वाद्याच्या सुरात मिसळून जाईल व हाच खरा सत्संग ठरेल. या अर्थाने सहदेवाला सत्संगरूप असे म्हंटले आहे.

बाह्य रत्न कठीण आहे; परंतु श्वासरूपी रत्न फुलापेक्षाही कोमल आहे. फूल तर विकसित झाल्यानंतर किंवा देठापासून तुटल्यावर कोमेजून जाते, परंतु मनुष्य पुढचा श्वास घ्यायला जिवंत राहू शकेल की नाही याची शाश्वती नाही. परंतु आंतरिक सत्संग सफल झाला तर मात्र प्रत्येक श्वासावर नियंत्रण ठेवून परम लक्ष्याची प्राप्ती करून घेता येते. पांडवांचे हेच लक्ष्य आहे; त्या व्यतिरिक्त दुसरे ध्येय–लक्ष्य त्यांना नाही. परंतु प्रत्येक साधन निर्मलतेच्या मार्गात काही ना काही अंतर निर्माण करत असते.

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डीच महारथः।

धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः।।१७।।

महाधनुर्धारी काशीचा राजा, महापराक्रमी शिखंडी, धृष्टद्युम्न, विराट व अजिंक्य असा सात्यकि यांनी आपापले शंख फुंकले. हा शब्दशः अर्थ झाला तरी ध्वन्यार्थ वेगळाच आहे. कायारूपी काशी ! मनुष्य मनासहित सर्व इंद्रियांचा निग्रह करून कायेमध्येच केंद्रित करीत असतो. तेव्हा तो 'परमेश्वासः' परमेशाच्या अंतःकरणात प्रविष्ट होतो. परमेश्वराच्या अंतःकरणात प्रवेश देणारी सक्षम शरीर–काया हीच काशी आहे. शरीरात परमश्रेष्ठ ईश्वराचा

निवास असतो. 'परमेश्वास' म्हणजे श्रेष्ठ धनुर्धर असा नाही. परंतु परम+ईश+वास असा आहे.

शिखा व सूत्राचा (जानव्याचा) त्याग म्हणजे शिखंडी, आजकाल लोक मुंडण करतात, जानवे काढून टाकतात, व अग्नी पेटवणे सोडून देतात व मग स्वतःला संन्यासी समजतात. या गोष्टी न करणे म्हणजे संन्यास ! पण तसे होऊ शकत नाही. कारण शिखा ही ध्येयाचे प्रतीक आहे, जे प्राप्त करावयाचे त्या लक्ष्याचे प्रतीक आहे व जानवे हे संस्काराचे प्रतीक आहे. जोपर्यंत परमेश्वराला प्राप्त करणे बाकी आहे तोपर्यंत मनुष्य कशाचा व कसा त्याग करू शकणार ? मग संन्यास तरी कसला ? अजून तर पथिकाची मार्गक्रमणा सुरू आहे. जेव्हा प्राप्तव्य प्राप्त होईल, मागे चिकटलेला संस्काराचा दोर कापला जाईल तेव्हा भ्रम पूर्णपणे नष्ट होईल व म्हणून शिखंडीच भ्रमरूपी भीष्माचा नाश करणारा आहे. शिखंडी म्हणजे चिंतनाच्या मार्गातील महारथी आहे.

'धृष्टद्युम्न' – दृढ आणि अचल, स्थिर मनाचे प्रतीक म्हणजे धृष्टद्युम्न होय. 'विराट' – सर्वत्र भरून राहिलेल्या विराट ईश्वराला पाहण्यासाठी लागणाऱ्या दैवी सम्पदेच्या गुणांनी युक्त असणारा असा योद्धा म्हणजे विराट होय. सात्यकी म्हणजे सात्त्विकता होय. सत्याचे चिंतन करण्याची प्रवृत्ती म्हणजेच सात्त्विकता. ती जर अंगी बाणली तर घसरण्याचे – पडण्याचे भय राहणार नाही आणि ही वृती या संघर्षात पराजित होऊ देणार नाही. ती विजयच देईल.

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक्।।१८।।

अचल, स्थिर पददायक म्हणजे द्रुपद आणि सहृदयता, वात्सल्य, लावण्य, सौम्यता इत्यादींमध्ये श्रेष्ठ व महापराक्रमी असणारे द्रौपदीचे पाच पुत्र व महाबाहू अभिमन्यू या सर्वांनी आपापले शंख फुंकले. महाबाहू हे कार्यक्षेत्राचे प्रतीक आहेत. जेव्हा मन भयरहित होते तेव्हा त्याचे सामर्थ्य खूप वाढत असते.

हे राजन, या सर्वांनी आपापले शंख फुंकले या प्रत्येकाने काही ना

काही ठरवलेले आहे, तेव्हा त्याचे पालन करणे आवश्यक आहे व म्हणून तर त्या सर्वांची येथे नावे सांगितली. याशिवाय काही गोष्टी मनबुद्धीच्या पलीकडे असतात, परमेश्वर स्वत:च अंत:करणात एकीकडे स्वत: दृष्टी बनून आत्म्यासमोर उभे रहातात आणि निर्णय घेतात आणि स्वत:चीच ओळख करून देतात.

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।

नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन्।।१९।।

आकाश व पृथ्वी दणाणून सोडणाऱ्या आवाजाने धृतराष्ट्रपुत्रांची हृदये विदीर्ण झाली. मात्र श्रीकृष्ण आपला पाठीराखा आहे या आत्मविश्वासामुळे पांडवांची सेना किंचितही भ्यायली नाही. उलट कुरुक्षेत्रावर पांचजन्यच्या घोषामुळे दैवीशक्तीवरील अधिपत्यामुळे, अनन्तावर मिळवलेल्या विजयामुळे तेथे अशुभ नष्ट होऊ लागले आणि आसुरी संपदा, बहिर्मुखी प्रवृत्ती विदीर्ण झाल्या, त्यांचे सामर्थ्य क्षीण होऊ लागले. सर्वत्र सफलता प्राप्त होऊ लागताच मोहमयी प्रवृत्ती नेहमीच शांत होतात, नाहीशा होतात.

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः।।२०।।

अर्जुन उवाच -

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत।।२१।।

संयमरूपी संजयाने अज्ञानाने झाकाळून गेलेल्या धृतराष्ट्राच्या मनाला समजावले की हे राजन, अर्जुनाच्या ध्वजावर वैराग्यरूपी हनुमान विराजले आहेत. येथे कपिध्वज म्हणजे ध्वज चंचल असतो म्हणून त्याला कपिध्वज म्हटलेले नाही. येथे ध्वजावर आरूढ झालेला कपी म्हणजे साधेसुधे सामान्य वानर नाही. ते स्वयं हनुमान आहेत. नरोत्तम श्रीरामांचे सेवक वानरोत्तम आहेत. ते मूर्तिमंत वैराग्य आहेत. ज्यांनी मान-अपमान यांचे हनन केले आहे - 'राम मान निरादर आदरही' प्रकृतीमध्ये उपलब्ध असणाऱ्या वस्तूंचा, विषयांचा, विकारांचा त्याग म्हणजेच येथे वैराग्यरूपी ध्वजा म्हटले आहे.

ध्वजा ही राष्ट्राची प्रतीक असते तेव्हा ज्याचे वैराग्य हीच ज्याच्या रथाची ध्वजा आहे अशा अर्जुनाने कौरव युद्धसिद्ध झाले आहेत व शस्त्रास्त्रांचा वर्षाव होण्याची वेळ आली आहे असे पाहून आपले धनुष्य उचलून जो हृदयाचा, स्वामी आहे त्या योगेश्वर कृष्णाला म्हणाला, " हे अच्युता, (जो कधी च्यूत होत नाही असा) दोन्ही सैन्यांच्या मध्यमागी माझा रथ उभा कर". येथे हा सारथ्याला दिलेला आदेश नाही तर सद्‌गुरुला केलेली प्रार्थना आहे. परंतु हा रथ मध्यमागी कशासाठी न्यायचा आहे ?

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्ध व्यमस्मिन् रणसमुद्यमे।।२२।।

अर्जुन म्हणाला, हे अच्युता, मध्यभागी रथ उभा केल्यास कोणाकोणाला युद्ध करावयाची इच्छा आहे ते मला पाहता येईल. या महायुद्धात मला कोणाकोणाबरोबर युद्ध करावयाचे आहे तेही मला पाहता येईल.

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः।।२३।।

धृतराष्ट्राच्या हटवादी पुत्राचे कल्याण इच्छिणारे कोण कोण राजे येथे लढायला आले आहेत ते मला पाहू दे. त्यासाठी हा रथ दोन सैन्यांच्या मध्यभागी उभा कर. दुर्योधन मोहाचे प्रतीक आहे. तेव्हा या मोहमयी प्रवृत्तींचे हित इच्छिणारे असे जे जे राजे येथे आहेत त्या सर्वांना पाहण्याची इच्छा आहे.

संञ्जय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ।।२४।।

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति।।२५।।

संजय म्हणाला – निद्राजयी अर्जुनाने असे म्हटल्यानंतर हृदयाचा स्वामी भगवान श्रीकृष्णानी दोन्ही सैन्यांमध्ये भीष्म, द्रोण आणि महीक्षिताम् म्हणजे शरीररूपी पृथ्वीवर अधिकार गाजवणाऱ्या राजांच्या मध्ये आपला उत्तम रथ

उभा केला. आणि ते म्हणाले, पार्था ! येथे जमलेल्या कौरवांना पहा.

येथे उत्तम रथ म्हणजे सोन्या चांदीचा रथ असा अर्थ नाही. या जगाच्या परिभाषेत उत्तमता ही नश्वर शरीराच्या अनुकूलतेवरून किंवा प्रतिकूलतेवरून ठरत असते. ही परिभाषा अपूर्ण आहे. जर आमच्या आत्म्याची प्रकृतीला- स्वभावाला साथ असेल, जिथे कसलेही म्हणजे लेशमात्रही मालीन्य नसेल तेच उत्तम. उत्तम रथाचा अर्थ असा ध्वनित होतो.

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितृनथ पितामहान्।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातृन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा।
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि।।२६।।

यानंतर अचूक लक्ष्यवेध साधणाऱ्या आपल्या पार्थिव शरीराला रथ बनवणाऱ्या पार्थाने, दोन्ही पक्षांच्या सैन्यामध्ये आपले वाडवडील, आजे, गुरु, मामे, भाऊ, पुत्र, नातू, मित्र तसेच त्याचे सासरे व हितचिंतक या सर्वांना पाहिले. म्हणजे दोन्ही सेनेत अर्जुनाला आपला परिवार, आपल्या मामाचा, सासरचा परिवार दिसला तसेच आपले मित्र व गुरुजन त्याला दिसले. हे सर्व मिळून अठरा अक्षौहिणी सैन्य होते म्हणजे प्रचलित परिमाणा प्रमाणे साडेसहा अब्ज इतके सैन्य झाले. महाभारत परिमाणा प्रमाणे अठरा अक्षौहिणी म्हणजे अंदाजे चाळीस लाख इतके सैन्य झाले ! म्हणजे आजच्या संपूर्ण विश्वाच्या संख्येइतकी ही संख्या झाली. इतक्या लोकांसाठी कधी तरी अन्नसमस्या निर्माण झाल्याशिवाय राहणार नाही. पण विशेष म्हणजे एवढी प्रचंड संख्या फक्त अर्जुनाच्या परिवाराची होती. एवढा मोठा कधी कोणाचा परिवार असू शकतो का ? हे कधीच शक्य असणार नाही. हे हृदयरूपी देशाचे चित्रण होते.

तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान्।
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्।।२७।।

जेव्हा कुन्तीपुत्र अर्जुनाने त्या साऱ्या बांधवांना स्वजनांना पाहिले तेव्हा करूणेने अत्यंत व्याकुळ होऊन शोक करू लागला. कारण हा सगळा आपलाच परिवार आहे. त्यांना मारून टाकण्याच्या कल्पनेने तो अत्यंत

व्याकूळ झाला व म्हणाला,

अर्जुन उवाच -

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्।।२८।।

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।

वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते।।२९।।

हे कृष्णा, ह्या युद्धात लढण्याच्या इच्छेने आलेल्या माझ्या आप्त स्वजनांना व मित्रांना पाहून माझ्या शरीराचे अवयव गळून जात आहेत, तोंडाला कोरड पडत आहे. शरीराला कंप सुटला आहे व माझ्या अंगावर रोमांच उभे राहत आहेत. इतकेच नव्हे तर –

गाण्डीवं स्त्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।

न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः।।३०।।

माझे गाण्डीव धनुष्य माझ्या हातातून गळू लागले आहे. शरीराचा फार दाह होत आहे. एवढा महारथी, पराक्रमी अर्जुन ! पण स्वजनांशी लढण्याच्या कल्पनेने तो गलितगात्र झाला. व्याकूळ झाल्याने त्याचे शरीर तापू लागले, विषादाने तो कापू लागला. त्याचे मन भ्रमल्यासारखे होऊ लागले. तो विव्हळ होऊन श्रीकृष्णाला म्हणाला आता उभे राहण्याचेही सामर्थ्य माझ्यात नाही. माझ्या डोळ्यापुढे काळोख पसरत आहे. काही पाहण्याचेही सामर्थ्य माझ्यात नाही.

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।

न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे।।३१।।

हे कृष्णा ! या युद्धाची लक्षणे चांगली दिसत नाहीत. मला तर सगळी विपरीतच चिन्हे दिसत आहेत. या युद्धात स्वजनांना मारून कोणतेही कल्याण होणार नाही हेही मला स्पष्ट दिसत आहे. अरे, कुळाचा नाश करून कोणाचे कधी कल्याण होते का ?

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।

किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा।।३२।।

संपूर्ण परिवार रणांगणावर उभा आहे. त्याला मारून विजय मिळवणे व विजय मिळवलेल्या राज्याचे सुख भोगणे ही गोष्ट अर्जुनाला रुचेना. असे लांछित सुख त्याला नको होते व म्हणून तो श्रीकृष्णाला म्हणाला – हे कृष्णा, मला असा विजय नको आहे. तसेच असे रक्तलांछित राज्य, भोग किंवा असे हे जीवनही मला नको आहे. असले राज्य व सुख प्राप्त करण्यात काय अर्थ आहे ? याचे कारण स्पष्ट करताना अर्जुन म्हणतो –

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च।।३३।।

ज्यांच्यासाठी आम्ही राज्य, उपभोग व सुखे यांची इच्छा करावयाची तेच हे आप्त-स्वकीय आपल्या जीविताची आशा सोडून युद्धासाठी सिद्ध होऊन या रणांगणावर उभे राहिले आहेत. आम्हाला राज्य हवे होते, सुख, उपभोग, संपत्तीही आम्हाला हवी होती; पण ते सर्व आमच्या आप्त, स्वजन व मित्रांसह हवे होते. त्यांच्यासह ते भोगण्याची इच्छा होती. परंतु ते सर्व आपल्या जीविताची आशा सोडून येथे आले आहेत. तेव्हा आता मला असे राज्य, उपभोग, सुख, संपत्ती काहीही नको आहे. हे सर्व त्यांच्यासाठी व त्यांच्यामुळे प्रिय आहे. तेच जर राहणार नसतील तर सुखभोगाचे व राज्याचे प्रयोजन काय ? आम्हाला ते नको आहे. जोपर्यंत आप्त, स्वजन व मित्र असतात तोपर्यंत मनुष्याच्या इच्छा-वासना तीव्र असतात. आपले वैभव त्यांना दाखवण्याची, त्यांच्यापेक्षा वरचढ होण्याची, त्यांच्याकडून वाहवा मिळवण्याची इच्छा असते. त्यामुळे त्यांच्याशिवाय वैभवाचा उपभोग घेणे हे मानवी मनाला पटत नाही. अहो, झोपडीत राहणारा गरीब मनुष्यही आपल्या स्वजनांना मारून विश्वाचे साम्राज्य स्वीकारणार नाही. अर्जुन येथे हेच सांगत आहे की, आम्हाला उपभोग प्रिय आहेत, विजय हवा आहे परंतु ज्यांच्यासाठी हे सर्व हवे आहे तेच जर जिवंत राहणार नसतील तर त्या सुखवैभवाचे काय प्रयोजन ? कारण या युद्धात ज्यांना मारावयाचे आहे ते लोक कोण आहेत ते पहा.

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा।।३४।।

ह्या युद्धात गुरु, वडील, पुत्र, आजे, मामा, सासरे, नातू, मेहुणे असे अनेक नातलग येथे उपस्थित आहेत.

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते।।३५।।

हे मधुसूदना, मला जरी कोणी त्रैलोक्याचे राज्य देऊ केले तरी मला ठार मारण्याची इच्छा करणाऱ्या या लोकांना मी मारू इच्छित नाही; मग या पृथ्वीची काय कथा ?

रणांगणावर उभ्या असणाऱ्या अठरा अक्षौहिणी सैन्यात अर्जुनाला आपले सर्व स्वकीयच दिसले. वास्तविक अर्जुन म्हणजे करूणा ! करूणेने ओथंबलेल्या प्रत्येक भक्तापुढे उपासनेच्या प्रारंभी हीच समस्या उभी असते. त्यांना वाटते की, भजन-पूजन, उपासना, आराधना करून परमेश्वराची प्राप्ती करून घ्यावी. परंतु एखाद्या अनुभवी सद्‌गुरुच्या सहवासात किंवा त्याच्या मार्गदर्शनाखाली उपासना करणाऱ्या भक्ताला जेव्हा क्षेत्र व क्षेत्रज्ञ यांच्यातील संघर्षाचे स्वरुप समजते व मग आपल्याला खरे कोणाशी लढावयाचे आहे हे समजते तेव्हा तो हताश होतो. त्याला असे वाटत असते की पित्याकडील परिवार, सासुरवाडीचा परिवार, मामाकडील परिवार, इतर सहृद, मित्र व गुरुजन यांच्यासह रहावे, सर्वांनी सुखी असावे, त्यांची नीट व्यवस्था ठेवावी व ते करत असतानाच परमेश्वराची उपासना करून त्याचीही प्राप्ती करून घ्यावी. परंतु जेव्हा त्याला समजते की, परमेश्वराची आराधना करण्यासाठी प्रथम सर्व आप्तांनांच सोडावे लागते, प्रथम त्यांच्याविषयी असणाऱ्या प्रेमाचाच त्याग करावा लागतो तेव्हा तो व्याकूळ होतो.

पूज्य महाराजश्री म्हणायचे - 'साधू होणे व मृत्यू पावणे या दोन्ही गोष्टी एकच आहेत. त्याच्यासाठी जगात कोणीही जिवंत नसते व कोणी जिवंत असले तर तो मोह, आसक्ती असते. या मोहावर व आसक्तीवर विजय मिळवणे हाच साधूचा खरा विजय असतो. या मोहाचा, आसक्तीचा प्रसार म्हणजे तर आयुष्य असते. अन्यथा आयुष्यात आमचे काय आहे ? 'तुलसीदास कह चिद् विलास जग, बूझत बूझत बूझै' मनाचा प्रसार म्हणजेच हे जगत आहे. योगेश्वर कृष्णानेही मनाच्या प्रसारालाच 'जगत' म्हंटले. जो

या मनाच्या प्रसाराला रोखतो, त्याच्यावर विजय मिळवतो, तो चराचर जगावर विजय मिळवतो. इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः (गीता ५/१९).

केवळ अर्जुन व्याकूळ झाला असे नव्हे. अनुराग–प्रेम सर्वांच्या हृदयात असते. ज्याच्या हृदयात हे प्रेम आहे, करुणा आहे ते सर्वच असे व्याकूळ होतात. प्रथम त्यांना वाटते की, भजन–पूजनापासून काही फायदा होईल व त्यामुळे सर्वजण सुखी होतील, त्यांच्याबरोबर सुखाचा उपभोग घेऊ. परंतु ते जर जिवंतच राहणार नसतील तर सुख मिळवून काय उपयोग ? अर्जुनाची दृष्टी राज्यसुखापर्यंतच सीमित होती. त्रैलोक्याच्या साम्राज्य प्राप्तीलाही तो सुखाची पराकाष्ठा समजत होता. त्याच्याही पलीकडे काही सत्य आहे ही गोष्ट अद्याप अर्जुनाला समजलेली नाही.

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः ।।३६।।

हे जनार्दना, धृतराष्ट्राच्या मुलांना मारून आम्हाला का आनंद होणार आहे ? धृतराष्ट्र म्हणजे धृष्टतेचे राष्ट्र. त्याच्यापासून निर्माण होणाऱ्या मोहरूपी दुर्योधनादींना मारून आम्हाला काय समाधान मिळणार आहे ? जनार्दना, या आततायी लोकांना मारून आम्हाला उलट पापच लागेल; जो यत्किंचित लाभासाठी अनीतीच्या मार्गाचा अवलंब करतो, त्याला आततायी म्हंटले जाते. परंतु जो आत्म्याच्या मार्गात अडथळा बनतो तो महा आततायी असतो. काम, क्रोध, लोभ, मोह हे मोक्षाच्या मार्गातील अडथळे आहेत.

तस्मान्नार्हा तयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव।।३७।।

म्हणून हे माधवा, धृतराष्ट्राच्या या पुत्रांना आम्ही मारणे योग्य नाही. अरे, हे स्व–बांधव कसे ? ते तर शत्रू होते ना ? वास्तविक नाती ही अज्ञानातून उत्पन्न होत असतात. हा मामा आहे, हा काका आहे, ही सासुरवाडी आहे, हे आमचे स्वजन आहेत – आप्त आहेत हे सर्व संबंध अज्ञानातून उत्पन्न होत असतात. अहो, आमचे हे शरीरच जर नश्वर आहे तर ही नाती कुठून टिकणार ? जोपर्यंत मोह असतो तोपर्यंत आम्हाला परिवार असतो, आमचे सुहृद असतात, आमची एक दुनिया असते. परंतु जेथे मोह असत नाही, तेथे हे कोणतेही

संबंध–ही नाती उपस्थित होतच नाहीत. येथे मोहामुळे अर्जुनाला त्याचे शत्रूही सुहृद वाटू लागले व म्हणून तो श्रीकृष्णाला म्हणत आहे की, या आप्तांना मारून आम्ही कसे सुखी होणार ? जर हे अज्ञान आणि मोह नष्ट झाला तर कुटुम्बाचे अस्तित्वच राहणार नाही. अर्थात, हे अज्ञानच ज्ञानाचे प्रेरक बनत असते. भर्तृहरी, तुलसीदास इत्यादी अनेक महानुभवांना वैराग्याची प्रेरणा त्यांच्या पत्नीपासून मिळाली आहे, तर कोणी सावत्र आईच्या वागण्यामुळे खिन्न होऊन वैराग्याचा मार्ग पत्करला आहे असे आपल्याला दिसून येते.

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम्।।३८।।

हे जनार्दना, लोभामुळे ज्यांचे चित्त भ्रष्ट झाले आहे अशा या लोकांना कुलनाश केल्याने लागणारे पाप दिसत नाही. ते जाणून घेण्याची त्यांच्यात कुवत नाही परंतु

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन।।३९।।

हे जनार्दना, मित्रदोह करणे किंवा कुलनाश करणे हे महापाप आहे हे आम्हाला समजत असताना या विचारापासून आम्हाला परावृत्त व्हायला नको का ? श्रीकृष्णा, मी हे पाप करत आहे असे नाही; तर आपणही चुकत आहात. येथे अर्जुनाने भगवान श्रीकृष्णावरही दोषारोप केले आहे. येथे तो स्वतःला श्रीकृष्णाच्या बरोबरीचा समजत आहे. प्रत्येक नवीन साधक जेव्हा सद्‌गुरुला शरण जातो तेव्हा तो स्वतःला सद्‌गुरुच्या बरोबरीचा समजतो. ज्ञानामध्ये आपण आपल्या गुरूच्या समान आहोत असे त्याला वाटते. म्हणून येथे अर्जुन म्हणतो की, त्या लोकांना जरी ही गोष्ट समजली नाही तरी तुम्ही–आम्ही तर ही गोष्ट जाणत आहोत. तेव्हा मित्रद्रोह व कुलनाश केल्याने लागणाऱ्या दोषांबाबत आम्हाला विचार करायला हवा. या कुलनाशाने काय घडते ?

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत।।४०।।

कुलाचा क्षय झाला की, परंपरागत कुलधर्म नष्ट होतात. येथे अर्जुन परंपरागत कुलधर्म व कुलाचार यांनाच सनातन धर्म समजत होता. जेव्हा धर्म नष्ट होतो तेव्हा संपूर्ण कुलावर अधर्माचा पगडा बसतो. संपूर्ण कूळ पापाखाली चिरडले जाते.

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः।।४१।।

हे कृष्णा, जेव्हा अधर्माचे प्राबल्य होते, पाप वाढते तेव्हा कुलातील स्त्रिया बिघडतात आणि कुलस्त्रिया बिघडल्या की वर्णव्यवस्थेचा नाश होतो. त्यांच्या अधःपतनाने वर्णसंकर होतो. नको असलेली संतती, प्रजा उत्पन्न होते. अर्जुनाला असे वाटत होते की, कुलस्त्रियांच्या अधःपतनाने वर्णसंकर होतो. परंतु अर्जुनाच्या या विचाराचे खंडन करून श्रीकृष्णाने त्याला पुढे सांगितले की, मी किंवा स्वस्वरूपात स्थित असणाऱ्या महापुरुषांनी आराधनाक्रमात भ्रम उत्पन्न केला की वर्णसंकर निर्माण होतो. तेव्हा वर्णसंकराने कोणते दोष घडतात ते सांगताना अर्जुन म्हणतो –

सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः।।४२।।

वर्णसंकर हा कुलक्षय करणाऱ्यांना व कुळालाही नरकात नेतो. कारण श्राद्ध-तर्पणादी क्रिया लुप्त झाल्याने त्यांचे पितर अधोगतीला जातात. या वर्णसंकरामुळे वर्तमान पिढीचे अधःपतन होते, त्यांचे पूर्वजही अधोगतीला जातात व भावी पिढीचेही असेच अधःपतन होत असते. इतकेच नाही तर –

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः।।४३।।

कुळक्षय करणाऱ्यांच्या ह्या वर्णसंकरकारक दोषांनी जातीधर्म व शाश्वत-परंपरागत कुलधर्म उध्वस्त होतात. अर्जुनाला असे वाटत होते की, कुलधर्म हा सनातन आहे. कुलधर्म शाश्वत आहे. परंतु श्रीकृष्णाने त्याच्या या विचारांचे खंडन करून त्याला सांगितले की, आत्मा हाच सनातन-शाश्वत धर्म आहे. वास्तविक या सनातन धर्माचे ज्ञान होण्यापूर्वी मनुष्य धर्माच्या नावावर

एखाद्या रुढीला धर्म समजतो. अर्जुनाला यामुळेच कुलधर्मच हा सनातन धर्म वाटला. परंतु कुलधर्म म्हणजे श्रीकृष्णाच्यामते एक रूढी आहे.

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम।।४४।।

हे जनार्दना, ज्या लोकांचे कुलधर्म नष्ट झाले आहेत त्यांना नरकवास प्राप्त होतो असे ऐकले आहे. त्यांचा केवळ कुलधर्मच नष्ट होत नाही तर शाश्वत–सनातन धर्म नष्ट होत असतो. जेव्हा धर्मच नष्ट होतो तेव्हा धर्म नष्ट करणाऱ्या लोकांना अनंत कालापर्यंत नरकवास भोगावा लागतो असे ऐकले आहे. अर्थात पाहिले नाही, केवळ ऐकले आहे.

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः।।४५।।

अहो, आम्ही बुद्धिमान असूनही केवढे महत्पाप करण्यास उद्युक्त झालो आहोत ! राज्याच्या व सुखाच्या लोभाने आम्ही स्वजनांना मारण्यास सिद्ध झालो आहोत.

येथे अर्जुन स्वतःला बुद्धिमान, ज्ञानी समजत आहे. प्रथम प्रत्येक साधक स्वतःला असे ज्ञानीच समजत असतो. महात्मा बुद्ध म्हणतात, 'जेव्हा मनुष्याचे ज्ञान अधुरे–अर्धवट असते; तेव्हा तो स्वतःला महान ज्ञानी समजत असतो. परंतु जेव्हा तो खरे ज्ञान प्राप्त करू लागतो तेव्हा तो स्वतःला महामूर्ख समजू लागतो'. याप्रमाणे येथे अर्जुन स्वतःला ज्ञानी समजत आहे. म्हणून तो प्रत्यक्ष भगवान श्रीकृष्णाला समजावत आहे की, आम्ही जे पाप करावयास निघालो आहे त्याने कोणतेही कल्याण साधणार नाही. आम्ही राज्याच्या व सुखाच्या लोभाने कुलनाश करावयास तयार झालो आहोत. आम्ही खरोखर फार मोठी चूक करीत आहोत. आणि हे श्रीकृष्णा, तूही आमच्याबरोबर मोठी चूक करीत आहेस. परमज्ञानी व परिपूर्ण असणाऱ्या भगवान श्रीकृष्णाला असे म्हणून अर्जुनाने चांगलाच धक्का दिला व शेवटी तो आपला निर्णय देतो.

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्।।४६।।

धृतराष्ट्राच्या पुत्रांशी लढण्यापेक्षा त्यांनी शस्त्रविरहित व प्रतिकार न करणाऱ्या मला युद्धभूमीवर ठार मारले तरी ते माझ्यासाठी अधिक कल्यांणकारक ठरेल. निदान इतिहास म्हणेल की, अर्जुन खरोखर समजुतदार होता म्हणून त्याने आपले प्राण देऊन एवढी मोठी प्राणहानी करणारे भयंकर युद्ध टाळले. भोळयाभाळया व निष्पाप मुलांचे प्राण वाचवण्यासाठी व कुळ नष्ट होऊ नये म्हणून लोक आपल्या प्राणांची आहुती देत असतात. इथे मोहाचे प्राबल्य वाढल्यामुळे, आत्मज्ञान झाले नसल्यामुळे, अज्ञानामुळे अर्जुन असे म्हणत आहे. जेव्हा मोह प्रबळ होतो तेव्हा असेच घडत असते. मनुष्य अगदी परदेशात जाऊन वैभवशाली प्रासादात राहत असला तरी काही दिवसांनंतर त्याला आपली झोपडी आठवते. अर्जुनाचे इथे असेच झाल्याने तो म्हणत आहे की, धृतराष्ट्राच्या शस्त्रधारी पुत्रांनी शस्त्रांचा त्याग केलेल्या व प्रतिकार न करणाऱ्या मला रणभूमीवर ठार केले करी ते कल्याणकारकच ठरेल. कारण निदान ते तरी सुखी होतील.

संजय उवाच -

एवमुक्त्वार्जुनः सङ्ख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्रमानसः।।४७।।

संजय धृतराष्ट्राला म्हणाला की, दुःखाने अति व्याकुळ झालेल्या अर्जुनाने असे म्हणून आपले धनुष्य व बाण बाजूला ठेवून दिले व रथाच्या मागील भागात खाली जाऊन बसला. याचाच अर्थ क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ यांच्या संघर्षात भाग न घेता तो त्या संघर्षातून बाजूला झाला.

निष्कर्ष–

भगवद्गीता म्हणजे क्षेत्र व क्षेत्रज्ञ यांच्या संघर्षाचे निरूपण आहे. गीता म्हणजे ईश्वरी ऐश्वर्याने संपन्न अशा भगवतस्वरूपाचे संगीत आहे. हे संगीत जेथे होते ते युद्ध-क्षेत्र आहे 'शरीर'! या शरीरात दोन प्रवृत्ती वसत असतात - एक 'धर्मक्षेत्र' व दुसरे 'कुरुक्षेत्र.' येथे त्या दोन्ही क्षेत्रांतील सेनांचे स्वरूप व त्यांच्या सामर्थ्याचा आधार काय आहे हे सांगितले. शंखध्वनींनी त्यांच्या पराक्रमाचा परिचय करून दिला. त्यानंतर ज्या सेनांबरोबर युद्ध करावयाचे आहे, तिचे निरीक्षण झाले. ती सेना अठरा अक्षौहिणी(म्हणजे जवळ साडेसहा

अब्ज) इतकी विशाल होती असे म्हंटले आहे, परंतु ती अनंत–अमर्याद आहे. प्रकृतीचे दोन दृष्टिकोन आहेत – एक इष्टोन्मुखी प्रवृत्ती – 'दैवी संपदा', व दुसरी बर्हिमुखी प्रवृत्ती – 'आसुरी संपदा'. दोन्ही प्रकृतीचीच स्वरूपे आहेत. फक्त एक कल्याणकारक मार्गाने प्रयाण करत असते, परमधर्म परमात्म्याकडे घेऊन जात असते; तर दुसरी प्रकृतीला दिलासा देत असते. प्रथम दैवी संपदा प्राप्त करून आसुरी संपदेचा नाश केला जातो आणि मग शाश्वत सनातन परब्रह्माचा साक्षात्कार होतो. मग दैवी संपदेची आवश्यकताही कमी होत जाते आणि मग युद्धाचा निकाल – परिणामही समजला जातो.

अर्जुन जेव्हा सैन्याचे निरीक्षण करतो तेव्हा ज्यांना मारावयाचे आहे तो सगळा आपला परिवार आहे, आप्त, मित्र, स्वजन आहेत असे त्याला दिसते. जेवढा आपला संबंध तेवढेच आपले जग असे प्रत्येकाला वाटत असते. इथे अर्जुनालाही तसेच वाटले आहे. दयाशीलतेच्या पहिल्या टप्प्यात पारिवारिक मोह अडसररूप बाधक ठरत असतो, परंतु जेव्हा साधकाला समजते की, या मधुर संबधानेच भयंकर विच्छेद होणार आहे, आपण त्यांना जसे समजतो तसे ते संबंध मधुर नाहीत तेव्हा साधक घाबराघुबरा होतो. त्याला प्रथम स्वजनासक्तीला मारणे अयोग्य, अनिष्ट वाटते व म्हणून तो प्रचलित रूढीमध्येच आपल्या संरक्षणाचा उपाय शोधू लागतो. इथे अर्जुनाने असेच केले आहे. येथे तो म्हणतो – "कुलधर्म हाच सनातन–शाश्वत धर्म आहे. या युद्धामुळे हा सनातन धर्म नष्ट होईल, कुळातील स्त्रियांचे अध:पतन होईल, त्यातून वर्णसंकर होईल व त्यामुळे संपूर्ण कुळात व कुलक्षयी लोकांना अनंतकालपर्यंत नरकवास भोगावा लागेल." म्हणून आपल्या सनातन धर्माचे रक्षण करण्यासाठी येथे अर्जुन व्याकूळ झाला आहे. तो श्रीकृष्णाला विचारतो की, आम्ही लोक बुद्धिमान व विवेकी असताना आम्ही हे महापाप का करावे ? अर्थात, त्याच्या मते श्रीकृष्णही हे पाप करायला सिद्ध झाले आहेत. तेव्हा नरकवासाकडे नेणाऱ्या पापांतून स्वत:चा बचाव करण्यासाठी तो म्हणतो, 'मी हे युद्ध करू शकणार नाही.' असे म्हणून तो रथाच्या मागील बाजूस खाली बसला. म्हणजेच क्षेत्र–क्षेत्रज्ञ यांच्यातील संघर्षामधून त्याने माघार घेतली.

टीकाकारांनी या अध्यायाला 'अर्जुन विषाद योग' असे म्हटले आहे. अर्जुन दयाशीलतेचे प्रतीक आहे. सनातन धर्मासाठी विकल होणारे दयाशील

*लोकच विषाद-योगाचे निमित्त बनत असतात. असाच विषाद मनूलाही झाला होता. '**हृदय बहुत दुःख लाग, जनम गयउ हरि भगति बिनु रा. १/१४२** मनात संशय, किन्तु निर्माण झाल्यानेच मनुष्य दुःखी बनत असतो. अर्जुनाच्या मनात असा संदेह निर्माण झाला की, या युद्धामुळे कुलक्षय होईल व त्यामुळे वर्णसंकर निर्माण होईल व वर्णसंकरामुळे आमच्या सर्व कुलाला अनन्तकाळापर्यंत नरकवास भोगावा लागेल. कुलधर्मालाच त्याने सनातन धर्म समजल्याने तो नष्ट होण्याचे दुःख त्याला झाले व त्या दुःखाने तो विव्हळ झाला व म्हणून या अध्यायाला 'संशय विषाद योग' असे खरे म्हणायला हवे तेव्हा -*

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे 'संशयविषादयोगो' नाम प्रथमोऽध्यायः।।१।।

या प्रकारे श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषदे तसेच ब्रह्मविद्या व योगशास्त्रविषयक श्रीकृष्ण आणि अर्जुन यांच्या संवादातील 'संशय विषाद योग' नावाचा प्रथम अध्याय समाप्त झाला ।। १ ।

इति श्रीमत् परमहंसपरमानन्दस्य शिष्यस्वामीअड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्भगवद्गीतायाः 'यथार्थगीता' भाष्ये 'संशयविषादयोगो' नाम प्रथमोऽध्यायः।।१।।

या प्रकारे श्रीमत्परमहंस श्रीपरमानंदजींचे शिष्य स्वामी अड़गड़ानंन्दकृत श्रीमद्भगवद्गीतेवरील भाष्य 'यथार्थ गीते' तील 'संशय-विषाद योग' नावाचा प्रथम अध्याय समाप्त झाला.

।।हरिः ॐ तत्सत्।।

ॐ

श्री परमात्मने नमः

।। अथ द्वितीयोऽध्यायः ।।

अध्याय दुसरा

गीतेतील पहिला अध्याय म्हणजे गीतेचे जणू प्रवेशद्वार आहे. जिथे प्रारंभी साधकाला ज्या शंका-कुशंका निर्माण होतात, त्याची जी गोंधळलेली स्थिती निर्माण होते त्या बैचेन करणाऱ्या अनुभवांचे येथे चित्रण आहे. रणभूमीवर सर्व कौरव-पांडव लढणारे होते. परंतु फक्त अर्जुनाच्या मनातच विर्तक उभा राहिला. कारण अर्जुन म्हणजे दयाशीलतेचे प्रतीक आहे. आवडत्या गोष्टींची आसक्ती किंवा प्रेमच क्षेत्र व क्षेत्रज्ञ यांच्यातील संघर्षाला प्रेरीत करीत असते. अनुराग किंवा दयाशीलता ही त्याची पहिली पायरी असते. पूज्य महाराजजी म्हणत - "आश्रमात राहणाऱ्या सद्गृहस्थाला जेव्हा ग्लानी यायला सुरुवात होते जेव्हा अश्रुपात होतो, जेव्हा त्याचा कंठ दाटून येतो तेव्हा समजावे की आता ईश्वराच्या भजन-पूजनाला खरी सुरुवात झाली आहे. तेव्हा तात्पर्य असे की दयाशीलतेमध्येच सर्व काही समाविष्ट असते. त्यातच धर्म, नियम, सत्संग व भाव सर्व काही विद्यमान असते.

दयाशीलतेच्या पहिल्या टप्प्यात कौटुंबिक प्रेम हे अडसररूप ठरत असते. सुरूवातीला सर्वांना असे वाटत असते की, आपण परम श्रेष्ठ सत्याची प्राप्ती करून घ्यावी. परंतु हे परिपूर्ण सत्य प्राप्त करण्यासाठी कौटुंबिक संबंधाचा-प्रेमाचा त्याग करावा लागेल हे जेव्हा मनुष्याला समजते तेव्हा तो हताश होतो. व मग तो आधीपासून काही धर्म-कर्म म्हणून करत होता त्यात संतोष मानतो. आणि मग आपल्या विचाराच्या पुष्टीसाठी तो प्रचलित रूढींचा पुरावा सादर करतो - जसे अर्जुनाने म्हटले की 'कुलधर्म सनातन ' आहे.

युद्धामुळे या सनातन धर्माचा लोप होईल, कुलक्षय होईल, स्वैराचार वाढेल. अर्थात हे अर्जुनाचे खरे विचार होते असे म्हणता येणार नाही. तर सद्‌गुरूच्या सान्निध्यात येण्यापूर्वी अवलंबिलेली ती एक कुरीत होती. तो एक खोटा आचार होता.

अशा या गैर आचाराच्या जाळ्यात फसल्यामुळेच मनुष्य नानाविध धर्म, अनेक संप्रदाय, लहान मोठे गट व असंख्य जाती निर्माण करीत असतो. कोणी नाक दाबत असते, कोणी कान कापत असते, कोणाला स्पर्श केल्याने कोणाचा धर्म नष्ट होत असतो; तर कोणाचे अन्न भक्षण केल्याने कोणाचा धर्म नष्ट होत असतो. यामध्ये दोष कोणाचा? कोणत्या जातीत जन्म घेतलेल्या लोकांचा? त्यांच्यामुळे जातिधर्म बुडतो का? नाही, हे धादांत खोटे आहे. दोष भ्रम निमार्ण करणाऱ्यांचा आहे. धर्माच्या नावाखाली आम्ही गैर चालींचे, गैर रूढींचे शिकार बनत असतो. त्यामुळे दोष आमचा आहे.

महात्मा बुद्धाच्या वेळी ‘केश-कम्बल’ नावाचा एक संप्रदाय होता. या संप्रदायात केस वाढवून त्यांचा घोंगडीसारखा उपयोग करणे म्हणजे पूर्णत्व प्राप्त होते असे समजले जात असे. तेव्हा कोणी गोव्रतिक (गाईप्रमाणे राहणारा) असत; कोणी कुक्कुरव्रतिक (कुत्र्याप्रमाणे स्वतःचे खाणे, पिणे व फिरणे ठेवणारा) असे. ते आपल्या या व्रताला-वर्तनाला धर्म मानत, पण ब्रह्मविद्येशी अशा या रूढींचा काही संबंध नसतो. संप्रदाय व अशा खोट्या रूढी पूर्वीही होत्या व आजही आहेत. कृष्णाच्या काळात अशाच प्रकारचे संप्रदाय होते, वाईट रूढी होत्या. त्यातल्या एका गैर रूढीचा अर्जुन शिकार बनला होता व म्हणून तो म्हणाला की युद्धामुळे १) सनातन धर्म नष्ट होईल, २) त्यामुळे वर्णसंकर निर्माण होईल, ३) पिंडोदकादी क्रिया लुप्त होतील व ४) आमच्या हातून कुलक्षय झाला तर ते एक महा पाप ठरेल; आणि तेच पाप करावयास आज आम्ही उद्युक्त झालो आहोत. या अध्यायात श्रीकृष्णांनी अर्जुनाच्या या भ्रांतिमूलक विचारांना उत्तर दिले आहे.

संजय उवाच -

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ।।१।।

करुणेने व्याप्त झालेल्या, अतिशय दुःखी झालेल्या व ज्याचे डोळे अश्रूंनी भरून आले आहेत अशा त्या अर्जुनाला पाहून मधुसूदन, म्हणजे उन्मादाचा-मदाचा नाश करणारे भगवान श्रीकृष्ण म्हणाले,

श्रीभगवानुवाच -

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ।।२।।

अर्जुना, अरे या विषम अशा स्थळी तुझ्यामध्ये हे अज्ञान कसे निर्माण झाले? येथे विषम स्थळ म्हणजे त्याच्यासारखे दुसरे कोणतेही स्थळ या पृथ्वीतलावर नाही असे. ज्या स्थळावर लौकीक गोष्टीचा विचार केला जात नाही, पारलौकिक हेच ज्याचे लक्ष्य आहे, अशा निर्विवाद ठिकाणी हे अज्ञान तुझ्या ठिकाणी कोठून निर्माण झाले? तुम्ही म्हणाल सनातन धर्माच्या रक्षणासाठी कटिबद्ध असणाऱ्या अर्जुनाच्या ठिकाणी अज्ञान कोठून असणार? सनातन धर्माच्या रक्षणासाठी अत्यंत तत्पर राहणे किंवा प्राणांचीही तमा न बाळगणे हे काय अज्ञानाचे द्योतक आहे? यावर भगवान श्रीकृष्ण उत्तर देतात- हो, ते अज्ञानच आहे. कारण अशा प्रकारचे आचरण आजपर्यंत कोणत्याही महानुभवाने केलेले नाही. या आचरणाने, या कृतीने स्वर्गही मिळणार नाही व कीर्तीही मिळणार नाही. जो सन्मार्ग सोडीत नाही, जो सन्मार्गावर दृढपणे उभा आहे, त्यालाच श्रेष्ठ समजले जाते. आपल्या कुटुंबासाठी सर्वस्वाचा त्याग करणे, मरायला सिद्ध होणे हे जर अज्ञान नसते; तर अनेक महापुरुष त्याच मार्गाने गेले असते. जर कुलधर्म हे परम सत्य असते तर कल्याणकारी मार्गाकडे व स्वर्गाकडे जाण्याचा तो एक उत्तम मार्ग ठरला असता. पण तो तसा ठरला नाही. या मार्गाच्या आचरणाने कीर्तीही प्राप्त होत नाही. जेव्हा मीरा भगवंताचे भजन करू लागली तेव्हा 'लोग कहे मीरा भई बावरी, सास कहे कुलनाशी रे' लोकांनी तिची 'बावरी' म्हणून निंदा केली. सासूने तिला

कुलकलंकिनी म्हटले. परंतु ज्या परिवाराच्या व कुळाच्या मर्यादांसाठी मीराची सासू व्याकूळ झाली होती त्या सासूला आज जग जाणत नाही. तिला विसरून गेले आहे; पण मीराबाईला आज अखिल विश्व जाणत आहे. अशाच प्रकारे येथे अर्जुन आपल्या कुटुंबासाठी व्याकूळ झालेला आहे. मग ज्या कृत्याने कीर्ती प्राप्त होत नाही, जे कृत्य कल्याणकारक नसते व ज्या कृत्याचे आचरण कोणत्याही महानुभवाने केलेले नाही ते कृत्य अज्ञानमूलकच नव्हे का?

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।

क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ।।३।।

अरे अर्जुना, तू असे नामर्द बनू नकोस. येथे श्रीकृष्ण अर्जुनाला सांगत आहेत की, तू असा नामर्द बनू नकोस. अर्जुन खरोखर नामर्द-पौरुषहीन होता का? वास्तविक जे पौरुषविहीन आहेत त्यांना नपुसंक म्हंटले जाते. त्या दृष्टीने अर्जुन नार्मद किंवा दुबळा नव्हता तो तर महापराक्रमी होता. अर्जुनाची गोष्ट सोडली तरी प्रत्येक जण आपापल्या कुवतीनुसार पुरुषार्थ करीत असतो. शेतकरी रात्रंदिवस शेतात मेहनत करून एक प्रकारे पुरुषार्थच करीत असतो. कोणी चांगला व्यापार करण्यात पुरुषार्थ समजतो. कोणी आपल्या पदाचा दुरुपयोग करण्यात पुरुषार्थ समजतो. अर्थात, आयुष्यभर असा पुरुषार्थ करूनही शेवटी मनुष्याला रिकाम्या हातानेच जावे लागते. याचाच अर्थ असा की, हा खरा पुरुषार्थ नव्हे. 'आत्म-दर्शन' हा खरा पुरुषार्थ आहे. गार्गीने याज्ञवल्क्याला म्हटले आहे-

नपुसंक पुमान् ज्ञेयो यो न वेत्ति हृदि स्थितम् ।

पुरुषं स्वप्रकाशं तस्मानन्दात्मानमव्ययम् ।।''

जे हृदयस्थ आत्म्याला ओळखू शकत नाहीत तेच पुरुष नपुसंक असतात, नामर्द असतात, असे समजावे. हा आत्माच पुरुषस्वरूप, स्वयंप्रकाशी, परम आनंदयुक्त आणि अव्यक्त असतो. या आत्म्याला ओळखणे, त्याला प्राप्त करण्याचा प्रयत्न करणे म्हणजेच पुरुषार्थ करणे होय. तेव्हा हे अर्जुना, तू असा नपुसंक-नामर्द बनू नकोस. हे तुला योग्य नाही. हे शत्रुतापना, हृदयाची ही भीरूता, ही दुर्बलता तू सोडून दे आणि कणखरपणे युद्धासाठी

उभा रहा. कौटुंबिक आसक्तीचा त्याग कर. ही आसक्तीच हृदयाला दुर्बल बनवणारी आहे. तेव्हा या दुर्बलतेचा तू त्याग कर. यावर अर्जुनाने तिसरा प्रश्न उपस्थित केला –

अर्जुन उवाच -

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ।।४।।

अंहकाराचे दमन करणाऱ्या हे मधुसूदना, जे आम्हाला अत्यंत पूजनीय आहेत अशा पितामह भीष्मांवर आणि गुरु द्रोणाचार्यांवर या युद्धात बाणांनी मी उलट प्रहार कसा करू? हे शत्रुनाशना, मला हे शक्य होणार नाही.

द्रोणाचार्य हे द्वैताचे प्रतीक आहेत. आम्ही वेगळे आहोत, परमेश्वर वेगळा आहे. द्वैताची ही जाणीवच परमेश्वर प्राप्तीच्या प्रेरणेचा प्रारंभिक स्त्रोत आहे; आणि हेच तर द्रोणाचार्यांचे गुरुत्व आहे. तर भीष्म हे भ्रमभ्रांतीचे प्रतीक आहे. जोपर्यंत मनावर या भ्रांतीचा कब्जा असतो तोपर्यंत मुले, कुटुंब, नातेवाईक हे सर्व आपले वाटतात. या आपुलकीचे, आसक्तीचे माध्यम आहे भ्रम! व मग हृदयस्थ आत्मा त्यानाच पूज्य समजून त्यांच्या मोहात गुरफटतो व म्हणू लागतो हे माझे आजोबा आहेत, हे कुलगुरु आहेत. परंतु जेव्हा साधकाची साधना परिपूर्ण होते तेव्हा '**गुरू न चेला, पुरुष अकेला** '

न बन्धुर्न मित्रं गुरुर्नैव शिष्यः ।
चिदानन्दरूपः शिवोऽहम् शिवोऽहम् ।।

जेव्हा चित्त त्या परमानन्दात विलीन होते तेव्हा तेथे ज्ञान देणारा गुरु व ग्रहण करणारा शिष्य असा भेदच राहत नाही. हीच सर्वश्रेष्ठ अवस्था असते. गुरुचे गुरुत्व प्राप्त केल्यानंतर गुरुत्व एकरूपच होऊन जाते. कृष्ण अर्जुनाला म्हणतात – 'अर्जुना, तू माझ्यात निवास करशील'– म्हणजे जसे श्रीकृष्ण तसाच अर्जुन! अशा प्रकारे परमानन्द प्राप्त करणारा महापुरुष बनतो. अशा अवस्थेत गुरुचाही विलय होऊन जातो. गुरुत्व हृदयात प्रवाहित होऊन

जाते. येथे अर्जुन गुरुपदाची ढाल बनवून या संघर्षातून परावृत्त होऊ इच्छित आहे व म्हणून तो म्हणतो –

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान्।।५।।

माझ्या परमपूज्य व श्रेष्ठ गुरूवर्यांना मारून जगण्यापेक्षा भिक्षा मागून जगणे अधिक श्रेयस्कर आहे. येथे भिक्षा याचा अर्थ उदर–भरणासाठी भीक मागणे असा नाही; परंतु सज्जनांची–सत्पुरुषांची सेवा करून त्यांच्याकडून अक्षय्य सुखाची, कल्याणाची याचना करणे असा त्याचा अर्थ आहे. 'अन्न ब्रह्मेति व्यजानात' (तैत्तिरीय ३/२/१) अन्न म्हणजे एकमात्र परमात्मा आहे. त्याची प्राप्ती करून आत्मा नेहमीसाठी तृप्त होत असतो. कधीही तो अतृप्त राहत नाही. महात्म्यांची–महापुरुषांची सेवा करून व त्यांच्याकडून कल्याणप्राप्तीची याचना करून त्याद्वारे हळूहळू ब्रह्मामृताची प्राप्ती तर व्हावी; आणि कुटुंबाचाही त्याग करावा लागू नये ही अर्जुनाच्या भिक्षान्नाची इच्छा आहे. या जगात असेच लोक जास्त असतात. त्यांची अशी इच्छा असते की कौटुंबिक स्नेह–संबंध तर तुटू नये पण हळूहळू मुक्ती मात्र प्राप्त होत जावी. परंतु ज्यांचे संस्कार श्रेष्ठ आहेत, ज्यांच्यात संघर्ष करण्याची क्षमता आहे, ज्यांच्या रक्तात क्षत्रियाचे तेज खेळत आहे अशा सन्मार्गावर चालणाऱ्या पथिकाला भिक्षान्नाचे हे विधान लागू पडत नाही. जे स्वतः निष्क्रिय राहून फक्त याचना करतात ती भिक्षा होय, ते भिक्षान्न होय. गौतम बुद्धांनीसुद्धा भिक्षु संप्रदाय असूनही मज्झिम निकायमधील धम्मदायाद सुत्तामध्ये (१/२/३) या भिक्षान्नाला आमिष–एक प्रकारची लाच समजून ते त्याज्य मानले आहे.

अर्जुन पुढे म्हणतो, श्रीकृष्णा, आमच्या या गुरूजनांना मारून आम्हाला काय मिळणार आहे? अरे जे भोग भोगायला मिळतील ते सुद्धा त्यांच्या रक्ताने माखलेले असतील. अर्जुनाला कदाचित असे वाटत असावे की, हे महापाप करण्यापेक्षा भजन–पूजनाने भौतिक सुखाची मात्रा अधिक वाढेल;

कारण इतका भयंकर संघर्ष करून दुसरे काय मिळणार? शरीराला सुखकारक वाटणारे अर्थयोग आणि कामभोगच ना ! म्हणून तो पुन्हा म्हणतो–

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ।।६।।

आम्हाला ऐश्वर्यभोग मिळेल हेदेखील कुठे निश्चित आहे? आणि आम्ही जे समजत होतो ते सर्व अज्ञान होते हे सिद्ध झाल्यामुळे आता आम्ही काय करणे श्रेयस्कर आहे हेही आम्हांला समजेनासे झाले आहे. शिवाय आम्ही त्यांना जिंकू की ते आम्हाला जिंकतील हेही आम्हाला माहीत नाही. हे धृतराष्ट्राचे पुत्र आमच्यापुढे उभे आहेत; पण त्यांना मारून जगण्याची आमची इच्छा नाही. अज्ञानरूपी धृतराष्ट्रापासून निर्माण झालेले मोहरूपी स्वजन नष्ट झाल्यानंतर आम्ही जिवंत राहून काय करणार? नंतर अर्जुनाला वाटले आपण जे म्हणत आहोत, सांगत आहोत तेही अज्ञान असेल तर? म्हणून तो श्रीकृष्णाला प्रार्थना करीत आहे–

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।
यच्छ्रेः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ।।७।।

माझ्या भेकड दुर्बल स्वभावामुळे कर्तव्याच्या बाबतीत, धर्माधर्म जाणण्याच्या बाबतीत मी मोहग्रस्त झालो आहे व म्हणून मी आपल्याला विचारीत आहे की, माझ्या अशा अवस्थेत मला हितकारक, सर्वात कल्याणकारक काय आहे ते सांगा. तुम्ही म्हणाल, मी का सांगावे? भगवन् मी आपला शिष्य आहे, आपल्याला शरण आलेलो आहे, म्हणून मला श्रेयस्कर असलेली गोष्ट सांगा. अर्थात मला केवळ सांगू नका, केवळ

शिकवू नका तर जेथे मी अडखळेन तेथे मला तुम्ही संभाळून घ्या. "लादणे, लादवणे व लादवणारा", तिन्ही गोष्टी एकत्र असलेल्या बऱ्या-समजा एखादा गठ्ठा खाली पडला तर तो पुन्हा कोण लादायला येणार? अशा प्रकारचे अर्जुनाचे येथे वागणे आहे.

येथे अर्जुनाने स्वतःला संपूर्ण समर्पण केलेले आहे. आतापर्यंत तो श्रीकृष्णाची व स्वतःची योग्यता एक सारखी आहे असे समजत होता, किंबहुना काही बाबतीत स्वतःला अधिक विद्वान समजत होता. येथे मात्र आपला स्वतःचा सांभाळ, स्वतःचे रक्षण करण्याचे कार्य अर्जुनाने श्रीकृष्णावर सोपवले आहे. मनुष्याच्या लक्ष्यपूर्तीपर्यंत, सद्‌गरू साधकाच्या हृदयात राहून त्याच्या बरोबर वाटचाल करतात. जर तसे ते त्याच्याबरोबर राहिले नाहीत तर मनुष्य हा भवसागर पार करु शकत नाही. ज्याप्रमाणे उपवर कन्येला संयमाचे शिक्षण देत तिचा विवाह होईपर्यंत तिचे कुटुंबिय तिचे रक्षण करतात, त्याच प्रकारे सद्‌गुरू शिष्याच्या अंतरात्मारूपी रथाचे सारथी बनून संसाररूपी घाटातून त्याला बाहेर काढून इप्सित स्थळी त्याला पोहचवतात. येथे अर्जुन धर्माधर्म जाणण्यास असमर्थ झालेला आहे म्हणून तो श्रीकृष्णाला म्हणत आहे, भगवन्, आणखी एक गोष्ट मला समजावून सांगा,

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ।।८।।

पृथ्वीवरील निष्कंटक व धनधान्याने संपन्न असे राज्य किंवा स्वर्गातील सर्व देवातांवर अधिपत्य गाजवणारे असे इंद्रपद जरी मला मिळाले तरी मला त्याचा काही उपयोग होणार नाही; कारण माझ्या इंद्रियांना शोषून टाकणारा हा शोक मला नाहीसा करता येणार नाही. माझ्या जीविताचे शोषण करणाऱ्या या शोकाने मला इतके ग्रासले असल्यामुळे मी हे सर्व घेवून करु तरी काय? जर माझ्या वाटयाला असा हा शोकच येणार असेल तर भगवन् , मला क्षमा करा. अर्जुनाला वाटले आपण असे म्हटल्यांवर श्रीकृष्ण आपल्याला युद्ध करायला सांगणार नाहीत.

संजय उवाच -

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप ।

न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ।।९।।

संजय म्हणाला - हे राजन, मोहनिशाजयी अर्जुनाने हृदयाचा स्वामी असणाऱ्या श्रीकृष्णाला म्हंटले की, हे गोविंदा, 'मी युद्ध करणार नाही' आणि असे सांगून तो स्तब्ध झाला. अजून अर्जुनाची वृत्ती सनातनी आहे की ज्यामध्ये कर्मकांड, सुखभोग यावर भर असून स्वर्ग म्हणजे अंतिम लक्ष्य समजले जाते. आता श्रीकृष्ण अर्जुनाची ही विचारसणी कशी चुकीची आहे ते पुढे सांगतील.

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।

सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ।।१०।।

त्यानंतर हे भरतकुलोत्पन्ना धृतराष्ट्रा, दोन्ही सैन्याच्या मध्यभागी अशा प्रकारे हातपाय गाळून बसणाऱ्या अर्जुनाला पाहून किंचित हसल्यासारखे करून, भगवान श्रीकृष्ण त्याला म्हणाले -

श्रीभगवानुवाच -

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।

गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ।।११।।

अरे अर्जुना, तू ज्यांचा शोक करणे योग्य नाही त्यांचा तू शोक करीत आहेस आणि वर पांडित्याच्या पोकळ गोष्टी करीत आहेस. जे ज्ञानी आहेत, जे खरे पंडित आहेत ते जिवंत असलेल्यांबद्दल किंवा मेलेल्यांबद्दल शोक करीत नाहीत. तू पांडित्यपूर्ण गोष्टी खूप करतोस, परंतु तू खरा ज्ञानी नाहीस कारण -

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।

न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ।।१२।।

अरे, मी म्हणजे अध्यात्मिक सद्गुरु पूर्वी नव्हतो असे नाही. किंवा दयाशीलतेचा अधिकारी तू अगर हे राजे म्हणजे राजसी वृत्तीत वसत असणार

अहंकार पूर्वी नव्हता असे नाही. तसेच आपण सर्वजण ह्यापुढे असणार नाही असेही नाही. अरे, सद्गुरुचे अस्तित्व सदैव असते तसेच दयाशीलतेचे अस्तित्व सदैव असते. येथे योगेश्वर कृष्णाने योगाच्या सनातनात्वावर प्रकाश टाकला आहे व सांगितले आहे की योग भविष्यातही अस्तित्वात असणार आहे. जे मृत्यू पावले आहेत त्यांच्याबद्दल शोक का करु नये? त्याचे कारण सांगताना ते म्हणतात –

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ।।१३।।

ज्याप्रमाणे देहधारी जीवात्म्याला बाल्य, तारुण्य, व वृद्धत्व या अवस्था प्राप्त होत असतात त्याप्रमाणे मृत्युनंतर हा जीवात्मा दुसऱ्या शरीरात प्रवेश करत असतो. म्हणजे त्याला दुसरा देह प्राप्त होत असतो व म्हणून ज्ञानी लोक कधीही मोह पावत नाहीत किंवा गोंधळून जात नाहीत. या देहात काही काळ बाल्य, काही काळ तारुण्य व काही काळ वृद्धत्व दिसते. तरीपण तो आत्मा एकच असतो, तो मनुष्यही तोच असतो. त्याप्रमाणे मृत्युनंतर त्या जीवात्म्याला वेगवेगळे देह प्राप्त होत असतात. व जोपर्यंत परिवर्तनापेक्षा श्रेष्ठ अशी वस्तू-गती मिळत नाही तोपर्यंत जीवात्म्याचे हे परिवर्तन सुरुच असते.

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ।।१४।।

हे कुंतीपुत्रा, शीत-उष्ण व सुख-दुःख देणारे इंद्रिय व विषय ह्यांचे संयोग ह्याना उत्पत्ती व नाश आहे, ते अनित्य आहेत, क्षणभंगुर आहेत. म्हणून हे भरतवंशी अर्जुना, तू त्यांचा त्याग कर, तू ते सहन कर. त्यांनी तू मोहित होऊन विकल होऊ नकोस. अर्जुन इंद्रिय व विषय यांच्या संयागातून निर्माण होणाऱ्या सुखाच्या चिंतनाने विव्हळ झाला होता. इतका सद्गुणी व श्रेष्ठ आचरण असणारा अर्जुन इतका गोंधळून गेला होता की कुलधर्म, कुलगुरुंची पूजनीयता किंवा त्यांच्याबद्दल असणारा नितांत आदर या सर्व गोष्टी म्हणजे इंद्रियांची क्षणिक ओढ आहे. या भावना, स्नेह, आदर हे सर्व क्षणिक आहे, नाशवंत आहे. विषयांचा संयोग कधीच नित्य असत नाही व असणारही नाही

आणि इंद्रियांची तेवढी क्षमताही नाही, ही गोष्ट त्याला समजत नव्हती म्हणून श्रीकृष्ण म्हणतात, हे अर्जुना, या इंद्रियापासून निर्माण होणाऱ्या जाणिवांचा तू त्याग कर किंवा तू त्या सहन कर. पण अर्जुनाला ते सहन करणे का अशक्य आहे? ती काय हिमालयातील लढाई होती की रेगिस्तानमधील ? की अर्जुनाला तीव्र थंडीत किंवा तीव्र उष्णतेला तोंड द्यावे लागणार होते? ही तर समशीतोष्ण वातावरण असणाऱ्या कुरूक्षेत्रावरील लढाई होती. अर्थात या सर्व बाह्य गोष्टी आहेत. येथे खरी लढाई होती हृदयदेशाशी. तो हा संघर्ष आहे. त्याचे येथे चित्रण आहे. येथे क्षेत्र व क्षेत्रज्ञ यांमधील संघर्ष आहे. येथे आसुरीसंपदेचे दमन करुन, सर्वसंग परित्याग करुन ईश्वरात विलीन होऊन जायचे आहे. मनबुद्धीसह भगवतमय झाल्यावर दैवी संपदेचेही तेथे अस्तित्व उरत नाही. कोणते विकारच उरत नाहीत. मग दुष्ट किंवा सुष्ट प्रवृत्ती कोठून आक्रमण करणार ? योगी अशा पूर्णत्वाला पोहचल्यानंतरच त्याला परम शांती प्राप्त होत असते. ही गीता म्हणजे अंतःप्रवृत्तीच्या लढाईचे चित्रण आहे. तेव्हा या प्रवृत्ती, इंद्रियांच्या जाणिवा यांचा त्याग का करायचा? त्याने काय लाभ होईल? याचे उत्तर श्रीकृष्णांनी पुढे दिले आहे.

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।

समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ।।१५।।

श्रीकृष्ण म्हणतात – हे पुरुषश्रेष्ठा, जो मनुष्य सुखदुःख समान समजतो व जो त्यांनी विचलित होत नाही म्हणजे जो दोन्ही अवस्थांमध्ये स्थिर असतो तो मोक्षाला योग्य होतो. तो अमृततत्त्व प्राप्त करण्यास पात्र असतो. अर्जुनाला असे वाटत होते की, या युद्धाचा परिणाम म्हणजे जिंकलो तर पृथ्वीचे राज्य प्राप्त होईल व मृत्यू आला तर स्वर्ग प्राप्त होईल. श्रीकृष्ण म्हणतात अरे तुला ना स्वर्ग मिळेल ना पृथ्वी! तुला येथे अमृतत्त्वाचा लाभ होईल. पण अमृत म्हणजे काय?

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः।।१६।।

अर्जुना, जी वस्तू असत् असते तिला अस्तित्व नसते. अरे, अभावाला असित्व नसते कारण ती वस्तू अस्तित्वातच नसते. जी वस्तू असतच नाही,

ती थांबवशील कशी? व जी वस्तू सत्–म्हणजे सत्य असते तिला अस्तित्व असते व तिन्ही कालात ती नाहीही होत नाही व तिला कोणी नष्टही करू शकत नाही. अर्जुन म्हणाला– भगवन्, हे आपण सांगत आहात? तेव्हा श्रीकृष्ण म्हणाले– हो मीच तुला सांगत आहे व माझ्याबरोबर ज्यांनी या दोन्हींच्या स्वरूपाचा अभ्यास केला आहे त्यांनीही हाच निर्णय घेतला आहे. म्हणजे तत्त्वदर्शी पुरुषांनी जे तत्त्व सांगितले होते तेच श्रीकृष्णानी येथे पुन्हा सांगितले आहे कारण श्रीकृष्णही एक तत्त्वज्ञानी महापुरुष होते. परमतत्त्व परमात्म्याचे ज्यांना दर्शन झाले आहे व ज्यांनी स्वतःला त्यामध्ये समर्पित करून जे अत्यंत स्थितप्रज्ञ अवस्थेत राहतात त्यांनाच तत्त्वज्ञानी म्हटले जाते. या सत् व असत्‌चे अधिक स्पष्टीकरण करताना श्रीकृष्ण म्हणतात–

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।

विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति।।१७।।

ज्याने हे जग व्यापिले आहे व ज्याच्यापासून हे जग विस्तावले आहे ते मूळ आत्मतत्त्व नाशरहित आहे, अविनाशी आहे असे समज व जे 'अव्ययस्य' म्हणजे अविनाशी आहे त्या अव्यय तत्त्वाचा नाश करण्यास कोणीही समर्थ नाही. परंतु या 'अविनाशी' अमृताचे नाव काय आहे? ते आहे कोण?

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।

अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ।।१८।।

अविनाशी, अमर्याद आणि नित्य अशा जीवात्म्यांचे फक्त भौतिक शरीर नाशवंत असते आणि म्हणून हे अर्जुना, तू युद्ध कर. अरे आत्मा हेच अमृतत्व आहे. आत्मा अविनाशी आहे व त्याचा तिन्ही काळात नाश होत नाही. आत्मा सत्य आहे. शरीर मात्र नाशवंत आहे, असत् आहे व म्हणून हे शरीर तिन्ही काळात कधीच टिकून राहू शकत नाही.

'शरीर नाशवंत आहे, म्हणून तू युद्ध कर' असा श्रीकृष्णांनी आदेश दिलेला आहे. परंतु अर्जुनाने केवळ कौरवांनाच मारावे असे यातून स्पष्ट होत नाही. पांडवांच्या पक्षातही सर्व शरीरधारीच होते. मग पांडवांची शरीरे अविनाशी होती का? मग शरीर जर नश्वर आहे तर श्रीकृष्ण कोणाचे संरक्षण

करणार होते? शरीरधारी अर्जुनाचे? जर शरीर नश्वर आहे, त्याला अस्तित्व नाही, त्याचे संरक्षण केले जात नाही मग अशा शरीराचे रक्षण करायला श्रीकृष्ण तेथे उभे होते? जर असे असेल तर श्रीकृष्णांना अविवेकी म्हंटले पाहिजे; कारण पुढे स्वतः श्रीकृष्णांनीच म्हटले आहे की, जो केवळ शरीरासाठी खातो किंवा शरीरसुखासाठी श्रम करतो (३/१३) तो अविवेकी व मूर्ख समजावा. अशा पापी पुरुषाचे जगणे व्यर्थ असते. मग अर्जुन कोण होता?

अर्जुन म्हणजे अनुराग, दयाशीलता! अशा दयशील, प्रेमळ भक्तासाठी परमेश्वर त्याचा सारथी बनून त्याच्या बरोबर राहतो. मित्राप्रमाणे त्याला मार्गदर्शन करतो. म्हणजे येथे अर्जुन म्हणजे शरीर नव्हे. शरीर म्हणजे जीवात्म्याचे आवरण आहे, त्याच्या राहण्याचे घर आहे व त्यात राहणारा जो जीवात्मा , तो दयाशील आहे. भौतिक युद्ध केल्याने, मारल्याने किंवा कापल्याने शरीराचा अंत होत नाही हे शरीर संपले किंवा एका शरीराचा त्याग केला तरी आत्म्याला दुसरे शरीर प्राप्त होत असते. या संदर्भात श्रीकृष्णांनी म्हटले आहे की ज्या प्रकारे शरीराला बाल्य, युवा किंवा जरावस्था प्राप्त होत असतील त्या प्रकारे मृत्युनंतर आत्म्याला वेगवेगळे शरीर प्राप्त होत असते. जर शरीर कापून टाकले तर जीवात्मा शरीररूपी नवे वस्त्र बदलत असतो.

हे शरीर संस्कारांचे आश्रित असते आणि संस्कार मनावर अवलंबून असतात. '**मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।**' मनाचे नियमन करणे, ते अचल किंवा स्थिर राहणे किंवा ते अंतिम संस्कारात विलीन होणे ही सर्व एक क्रिया आहे. संस्कारांची मालिका तुटणे म्हणजेच शरीराचा अंत होणे होय. तिला तोडण्यासाठी आराधना करणे आवश्यक असते. तिलाच श्रीकृष्णांनी 'कर्म' किंवा निष्काम कर्मयोग म्हंटले आहे. श्रीकृष्णाने प्रत्येक वेळी युद्धासाठी प्रेरीत केले आहे; पण भौतिक युद्ध किंवा हिंसा यांचे समर्थन करणारा एकही श्लोक नाही. कारण हे युद्ध आहे ते सजातीय व विजातीय (सुष्ट व दुष्ट) प्रवृत्तींचे आहे व ते अंतरंगात आहे.

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ।।१९।।

ज्यांना असे वाटते की जीवात्मा हा मारणारा आहे किंवा मारला जाणारा आहे त्या दोघांनाही काही समजत नाही. कारण हा आत्मा कोणाला मारीतही नाही व कोणाकडून मारलाही जात नाही.

न जायते म्रियते वा कदाचित्
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।२०।।

हा आत्मा कधी जन्मतही नाही किंवा कधी मरतही नाही कारण तो फक्त वस्त्र बदलत असतो. हा जन्मला व पुन्हा नाहीसा झाला असेही कधी होत नाही कारण हा जन्मरहित, नित्य, शाश्वत आणि पुरातन आहे. देहाचा नाश झाला तरी ह्याचा नाश होत नाही. तेव्हा आत्माच सत्य आहे. आत्माच पुरातन आहे, आत्माच शाश्वत आणि सनातन आहे. मग आपण कोण? आपण सनातन धर्माचे अनुयायी आहोत. सनातन कोण आहे तर आत्मा! तेव्हा आपण आत्म्याचे अनुयायी आहोत, आत्मा, परमात्मा आणि ब्रह्म हे एक दुसऱ्याचे पर्याय आहेत. मग आपण कोण? तर शाश्वत धर्माचे उपासक आहोत. शाश्वत कोण आहे? शाश्वत आत्मा आहे. तेव्हा आपण सर्वजण आत्म्याचे उपासक आहोत. जर आपण चैतन्यमय आत्म्याचा मार्ग जाणत नसाल तर आपल्याजवळ शाश्वत, सनातन नावाची कोणती गोष्टच नाही. त्याची तुम्ही वाट पाहत असाल तर तुम्ही आशावादी आहात, परंतु सनातनधर्मी म्हणता येणार नाही. सनातन धर्माच्या नावावर चुकीच्या रूढीचे तुम्ही शिकार आहात.

जगातील सर्व मानवमात्रात आत्मा एक सारखाच असतो. तेव्हा जगात कोठेही कोणी आत्म्याचा मार्ग जाणत असेल व तो त्या मार्गावर प्रयत्नशील असेल तर ती व्यक्ती सनातनधर्मी आहे असे समजावे. मग ती व्यक्ती स्वतःला ख्रिश्चन समजो, मुसलमान समजो किंवा यहुदी समजो अथवा कोणीही समजो. ती सनातन धर्माचे पालन करणारी आहे.

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ।।२१।।

पार्थिव शरीराला रथ बनवून ब्रह्मरूपी लक्ष्यावर अचूक नेम मारणाऱ्या पृथापुत्र अर्जुना! ज्याला आत्मा हा अविनाशी नित्य, जन्मरहित व अक्षय आहे हे समजले तो पुरुष कसा मृत्युचे कारण होईल किंवा स्वतः कोणाला कसा मारील? अविनाशीचा नाश असंभव आहे, अजन्म जन्मतच नाही, म्हणून शरीराचा शोक करू नये. याचेच स्पष्टीकरण करताना श्रीकृष्ण म्हणतात–

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही।।२२।।

ज्याप्रमाणे मनुष्य जुनी वस्त्रे टाकून दुसरी नवी वस्त्रे परिधान करतो, त्याचप्रमाणे जीवात्मा जुन्या शरीराचा त्याग करून नवे भौतिक शरीर धारण करतो. जर जीवात्मा जीर्ण शरीराचा त्याग करत असतो तर मग काही लहान मुले का बरे मरतात? त्यांचे शरीररूपी वस्त्र तर नवे असते. त्यामुळे त्याचा उलट विकास व्हायला हवा. मग असे का घडते? याचे कारण म्हणजे मनुष्याचे शरीर संस्कारांवर आधारित असते. जेव्हा संस्कार जीर्ण होतात तेव्हा आत्मा शरीराचा त्याग करतो. जर संस्कार दोन दिवसांचा असेल तर ते शरीर दुसऱ्या दिवशीच जीर्ण बनते. त्यानंतर मनुष्य एक श्वासही अधिक घेवू शकत नाही. तेव्हा संस्कार हेच शरीर आहे व या संस्कारानुसार आत्मा नवीन शरीर धारण करीत असतो. '**अथ खलु क्रतुमयः पुरुषः। यथा इहैव, तथैव प्रेत्य भवति। कृतं लोकं पुरुषोऽभिजायते।' (छान्दोग्योपनिषद्, ३/१४)** अर्थात हा आत्मा निश्चय करणारा–संकल्प करणारा असतो. मृत्यूलोकात तो जसा संकल्पमयी असतो, तसाच शरीराचा त्याग केल्यावरही असतो. त्यामुळे त्याने ठरविलेल्या, निश्चित केलेल्या शरीरात तो निर्माण होतो. संकल्प, जीवित कार्य संपताच निघून जातो. या प्रकारे मृत्यू म्हणजे शरीराचे परिवर्तन आहे. आत्मा कधीही मरत नाही. आत्म्याच्या अमरतेवर भर देताना श्रीकृष्ण पुढे म्हणतात.

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ।।२३।।

अर्जुना, या आत्म्याला शस्त्रे तोडू शकत नाहीत. अग्नी जाळू शकत नाही. तसेच पाणी भिजवू शकत नाही अगर वायू सुकवू शकत नाही.

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ।।२४।।

अरे, हा आत्मा अच्छेद आहे– त्याला कधी छेदता येत नाही, तोडता येत नाही, तो अदाह्य आहे. त्याला कधी कोणी जाळू शकत नाही, कारण तो जाळला जाणार नाही. तो अक्लेद्य आहे– तो न भिजणारा आहे. आकाश त्याला स्वतःमध्ये विलीन करु शकत नाही, एकरुप करु शकत नाही. हा आत्मा निःसंदेह अशोष्य, सर्वव्यापक, अचल, स्थिर आणि सनातन आहे.

अर्जुनाने म्हंटले होते की, कुलधर्म हाच सनातन धर्म आहे व असे युद्ध करण्याने हा सनातन धर्म नष्ट होईल. परंतु श्रीकृष्णाने अर्जुनाचे हे मत अज्ञानयुक्त आहे असे सांगून आत्मा हाच सनातन आहे असे सांगितले. आपण कोण आहोत? सनातन धर्माचे अनुयायी! सनातन कोण आहे? तर आत्मा! जर आपल्याला आत्म्यापर्यंतचे अंतर पार करण्याची विशिष्ट पद्धत अवगत नसेल तर आपण सनातन धर्मच जाणत नाही. याचा दुष्परिणाम भारताला भोगायला लागला आहे. मध्यकालीन भारतात बाहेरुन आलेले मुसलमान फक्त बारा हजार होते; पण आज त्यांची संख्या अठ्ठावीस करोड आहे. बारा हजारावरुन वाढून लाख होतील, जास्तीतजास्त करोड होतील आणखी किती वाढतील? पण आज अठ्ठावीस करोडपेक्षाही त्यांची संख्या जास्त वाढत आहे. हे कसे? ते सर्व आपले जातिबांधव आहेत. शिवाशीव आणि बाटण्याने ते नष्ट झाले आहेत. अर्थात ते नष्ट झाले नाहीत; तर त्यांचा सनातन, अपरिवर्तनशील धर्म नष्ट झाला आहे. भौतिक (Matter) क्षेत्रात निर्माण होणारी कोणतीही वस्तू या सनातनाला स्पर्श करु शकत नाही, मग शिवाशीव किंवा बाटण्याने सनातन धर्म कसा नष्ट होईल? हा खरोखर धर्म नव्हे. ही एक वाईट–निंद्य रुढी होती– परिस्थिती होती. त्यामुळे

भारतात साम्प्रदायिक वैमनस्य वाढले, देशाचे विभाजन झाले आणि राष्ट्रीय एकता ही आज मोठी समस्या बनली आहे.

या निंद्य रुढीच्या अनेक कथा इतिहासात विखुरलेल्या आहेत. अशीच एक गोष्ट हमीरपूर जिल्ह्यात घडली. हमीरपूर जिल्ह्यात पन्नास-साठ कुलीन क्षत्रिय कुटुंबे राहत होती. आज ते सर्व मुसलमान आहेत. त्यांच्यावर ना तलवारी चालवल्या गेल्या ना तोफा डागल्या गेल्या. मग काय घडले? एक दिवस मध्यरात्री एक दोन मौलवी त्या गावातील एकमात्र असणाऱ्या विहिरीजवळ लपून बसले. पहाटे येथे कर्मकाण्डी ब्राह्मण स्नानाला येईल अशी त्यांची अटकळ होती. म्हणून ते तेथेच दबा धरुन बसले. पहाटे त्यांच्या होऱ्याप्रमाणे ब्राह्मण तेथे आल्याबरोबर मौलवीनी पकडले, त्याचे तोंड बंद केले आणि मग त्याच्या देखत त्या मौलवींनी विहिरीतून पाणी काढले, तोंड लावून पाणी प्यायले व तेच उष्टे पाणी परत विहिरीत फेकून दिले. भाकरीचा एक तुकडाही विहिरीत फेकला. विद्वान ब्राह्मण विवश होऊन नुसता बघत राहिला. नंतर ते मौलवी ब्राह्मणाला आपल्याबरोबर घेऊन गेले व आपल्या घरात त्याला डांबून ठेवले.

दुसऱ्या दिवशी त्यांनी ब्राह्मणाला भोजन करण्याची विनंती केली. त्याबरोबर ब्राह्मण खवळून म्हणाला, "अरे तुम्ही यवन आहात. तुमचे भोजन मी एक कुलीन ब्राह्मण कसे घेणार" मौलवी म्हणाले "महाराज, आपल्यासारख्या विद्वान लोकांची आम्हाला अत्यंत आवश्यकता आहे. आम्हांला क्षमा करावी" नंतर त्यांनी ब्राह्मणाला सोडून दिले.

ब्राह्मण आपल्या गावी परत आला तेव्हा त्याने पाहिले की सर्व लोक नेहमीप्रमाणे विहिरीचे पाणी वापरत आहेत. तेव्हा तो ब्राह्मण तेथेच उपोषणाला बसला तेव्हा लोकांनी उपोषणाचे त्याला कारण विचारले. त्यावर तो त्यांना म्हणाला - अरे काही यवन विहिरीच्या या कट्ट्यावर चढले होते. माझ्या देखत त्यांनी विहिरीचे पाणी काढले, ते उष्टे केले व परत ते विहिरीत टाकले. त्यांनी विहिरीत भाकरीचा एक तुकडाही टाकला. हे ऐकून गावकरी स्तब्ध झाले. त्यांनी विचारले - "आता काय होईल?" पंडितजी म्हणाले "आता काय? तुम्ही भ्रष्ट झालात. तुमचा धर्म नष्ट झाला".

त्यावेळी लोक सुशिक्षित नव्हते. शुद्रांना व स्त्रियांना शिकण्याचा अधिकार नव्हता. हा त्यांचा अधिकार न जाणो केव्हापासून हिरावून घेतला गेला होता. वैश्य लोक धनोपार्जन हाच आपला धर्म आहे असे समजत होते. क्षत्रिय लोक स्तुतिपाठकांच्या स्तुतिगीतांत रममाण झाले होते–अन्नदात्याने तलवार परजली, बिजली त्याबरोबर तळपली, डगमगू लागले दिल्लीचे तख्त, अशा प्रशस्ती–गीतात क्षत्रियांचे भान हरपून गेले होते. आणि मान सन्मान तर आपोआप प्राप्त होतच होते. मग शिकण्याची काय आवश्यकता होती? आणि धर्माशी त्यांचे काय देणे घेणे? धर्म फक्त ब्राह्मणांसाठी होता. तेच धर्मसूक्तांचे रचनाकार होते, तेच भाष्यकार होते व तेच धर्मातील खऱ्या खोटया गोष्टींचे निर्णायक होते. वास्तविक प्राचीन काळी सर्वांना म्हणजे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र या चारी वर्णातील लोकांना व स्त्रियांनाही वेदपाठाचा अधिकार होता. त्यामुळे प्रत्येक वर्णातील ऋषींनी वैदिक मंत्रांची रचना केलेली आहे, वादविवादात, शास्त्रर्थनिर्णयात भाग घेतला आहे. प्राचीन राजांनीदेखील धर्माच्या नावावर अवडंबर माजवणाऱ्या व्यक्तींना सजा केलेली आहे, तर धर्मपरायण लोकांचा सन्मान केला आहे.

परंतु मध्यकालीन भारतात सनातन धर्माचे यथार्थ ज्ञान नसल्यामुळे हमीरपूर गावाचे रहिवासी एखाद्या मेंढयाप्रमाणे नेभळटाप्रमाणे एका कोपऱ्यात उभे राहिले. आपण धर्मभ्रष्ट झालो, आपला धर्म नष्ट झाला अशीच त्यांची समजूत झाली. काही लोकांनी तर हे अप्रिय शब्द ऐकून आत्महत्या केली. परंतु कितीजण प्राण देणार? धर्मावर अतूट श्रद्धा असली तरी त्यांना विवश होऊन अन्य मार्ग शोधावाच लागला. आजही ते लोक बांबू जमिनीत पुरून व मुसळ ठेवून हिंदूच्याप्रमाणे विवाह करत असतात. नंतर मौलवी येऊन निका वाचून निघून जातो. ते सर्वजण शुद्ध हिंदू आहेत. पण ते सर्व लोक – सगळे गाव आज मुसलमान बनले आहे.

काय घडले होते हो? विहिरीचे पाणी यवनांनी प्यायले होते. नकळत मुसलमानांनी शिवलेले खाल्ले गेले होते. तेवढया कारणासाठी धर्म नष्ट झाला. म्हणजे धर्म 'लाजाळू' बनला. 'लाजाळू' नावाचे एक झाड असते. आपण त्या झाडाला स्पर्श केला की त्या झाडाची पाने संकुचित होतात व हात बाजूला करताच ती पाने पुन्हा पूर्ववत विकसित बनतात. परंतु येथे

धर्म तर असा संकुचित झाला की पुन्हा तो कधीच विकसित होऊ शकणार नाही. जिवंतपणीच ते लोक मरुन गेले, त्यांचा धर्म मरून गेला, त्यांचे राम–कृष्ण आणि परमात्मा मरून गेले. जे शाश्वत समजले जाते तेच नष्ट झाले. वास्तविक लोक ज्याला धर्म समजत होते ती शाश्वत धर्माच्या नावावर रूढ असणारी कुरीती होती. दुष्ट रूढी होती. आम्ही धर्माच्या आश्रायाला का जातो? आम्ही धर्माला शरण का जातो? कारण आम्ही मर्त्य आहोत, मरणशील आहोत आणि धर्म ही अशी एक भरीव–ठोस गोष्ट आहे की तिला शरण जाऊन आम्ही अमर बनू शकतो. धर्म केवळ स्पर्शाने किंवा बाटण्याने नष्ट झाला तर तो आमचे रक्षण काय करणार? आम्हाला कोणी मारले तर आम्ही मरतो व येथे हा धर्म फक्त शिवाशीवीने व उष्टे खाण्याने नष्ट होईल? आम्ही तलवारीने कापले गेलो तर मरणार आणि धर्म फक्त स्पर्शाने नष्ट होईल? कसला हा आमचा धर्म? वाईट रूढी, खराब चाली पद्धती, नष्ट होत असतात, सनातन नष्ट होत नसते.

सनातन तर अशी ठोस–भरीव वस्तू आहे की जिला शस्त्र तोडू शकत नाही. अग्नी जाळू शकत नाही, पाणी जिला भिजवू शकत नाही आणि खाणे–पिणे तर दूर पण या पृथ्वीवर निर्माण झालेली कोणतीही वस्तू तिला स्पर्शही करु शकत नाही. असे सनातन कसे नष्ट होईल?

अशाच काही वाईट रूढी अर्जुनाच्या काळात रुढ होत्या व अर्जुन त्यांच्या आहारी गेला होता व म्हणून त्याने विलाप करीत, शोक करीत नम्रपणे सांगितले की, कुलधर्म हाच सनातन धर्म आहे आणि या युद्धामुळे हा सनातन धर्म नष्ट होईल. कुलधर्म नष्ट झाल्याने आम्हांला अनंतकालपर्यंत नरकवास भोगावा लागेल. यावर श्रीकृष्णांनी अर्जुनाला सांगितले अर्जुना, तुझ्यामध्ये हे अज्ञान कोठून उत्पन्न झाले? येथे ती कुरूढी आहे म्हणून श्रीकृष्णांनी त्याचे निराकरण केले, खंडन केले व सांगितले की, आत्मा हाच सनातन आहे. जर तुम्ही आत्म्याचा मार्ग जाणत नसाल तर सनातन धर्मामध्ये तुमचा अद्याप प्रवेश झाला नाही असे समजावे.

जर हा सनातन–शाश्वत आत्मा सर्वांच्या शरीराला व्यापून आहे, तर मग कोणाचा शोध घ्यायचा? यावर श्रीकृष्ण म्हणतात –

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि।।२५।।

हा आत्मा अव्यक्त आहे, तो इंद्रियांना अगोचर आहे. इंद्रियांच्याद्वारे आत्म्याचे स्वरूप समजू शकत नाही किंवा जीवात्म्याचे अस्तित्व प्रस्थापित करता येत नाही. अर्थात इंद्रिय व विषय यांचा संयोग जोपर्यंत असतो, तोपर्यंत आत्म्याचे अस्तित्व असते; परंतु त्याचा स्पष्ट बोध होत नाही. तो अचिंत्य आहे, अकल्पनीय आहे. तोपर्यंत मन आणि मनातील विचार व भावनांचे तरंग आहेत, तोपर्यंत तो शाश्वत आहे, परंतु आम्ही त्याला पाहू शकत नाही, त्याचा उपभोग घेवू शकत नाही. किंवा त्यात डोकावू शकत नाही. कारण तो मनालाही अगोचर आहे. व म्हणून मनाचे नियमन करणे, मनाचा निरोध करणे आवश्यक आहे.

श्रीकृष्णांनी यापूर्वी सांगितले आहे की, असत् वस्तूला अस्तित्व नसते, ती शाश्वत नसते, ती क्षणभंगूर असते आणि जे सत् म्हणजे सत्य आहे ते तिन्ही काळात शाश्वत असते, तिन्ही काळात त्याचा अभाव नसतो. ते सत् म्हणजे आत्मा आहे. हा आत्माच अपरिवर्तनशील, शाश्वत, सनातन व अव्यक्त आहे, अगोचर आहे. या गुणधर्मांनी युक्त असणाऱ्या आत्म्याला फक्त तत्त्वदर्शी लोक पाहू शकले; परंतु विद्वान पंडित किंवा वैभवसंपन्न असणारा मनुष्य त्याचे स्वरूप पाहू शकला नाही. परंतु तत्त्वदर्शी लोकमात्र त्याला पाहू शकले आहेत. श्रीकृष्णांनी पुढे सांगितले आहे की, तत्त्व म्हणजेच परमात्मा होय. मनाच्या निरोधकालात साधक या परमात्म्याचे दर्शन घेऊ शकतो, त्याच्यात प्रवेशही करू शकतो. जेव्हा साधकाला परमात्म्याचा साक्षात्कार होतो तेव्हा स्वतःचा आत्माही ईश्वरीय गुणांनी युक्त असल्याचे त्याला दिसते. हा आत्मा सत्य, सनातन आहे व परिपूर्ण असल्याचे त्याला समजते. तो अचिंत्य– अकल्पनीय आहे हे तो जाणतो. आत्मा हा असा आचिंत्य, अगोचर व अविकारी आहे. तो न बदलणारा आहे म्हणून श्रीकृष्ण अर्जुनाला सांगतात की, आत्म्याचे हे स्वरूप जाणून नश्वर शरीराबद्दल शोक करण्याचे सोडून दे. आता श्रीकृष्ण अर्जुनाला त्याच्या विचारात असणारा विरोधाभास दाखवून अर्जुनाने शोक करणे कसे अयोग्य आहे, ते पुढे सांगत आहेत.

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि।।२६।।

हे अर्जुना, तथापि हा आत्मा नेहमी जन्म घेतो व नित्य मरतो असे जरी तुला वाटत असेल तरीदेखील; हे महाबाहो तुला शोक करण्याचे कारण नाही. कारण –

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि।।२७।।

जो जन्मला आहे त्याचा मृत्यू निश्चित आहे व जो मृत्यू पावला आहे त्याला जन्म निश्चित आहे. जन्ममृत्यूचे हे चक्र असेच फिरत राहणार आहे; तेव्हा ज्यावर काही उपाय नाही, जी गोष्ट अटळ आहे त्याचा शोक करणे अयोग्य आहे.असा शोक करणे म्हणजे दुसऱ्या दुःखाला आमंत्रित करण्यासारखे आहे.

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना।।२८।।

अरे अर्जुना, ही सर्व भूते – हे सर्व प्राणिमात्र जन्माच्या म्हणजे उत्पत्तीच्या पूर्वी अव्यक्त असतात, अशरीरी असतात आणि मृत्यूनंतरही ते अव्यक्तच असतात, अशरीरीच असतात. म्हणजे जन्माच्या पूर्वी व मृत्यूनंतर हे या प्राणिमात्रांचे स्वरूप अव्यक्तच असते. फक्त जन्ममृत्यूच्या मधल्या काळात हे प्राणिमात्र शरीर धारण करीत असतात. म्हणजे त्यांची ही मधली स्थिती फक्त दृश्य असते–व्यक्त असते. तेव्हा या परिवर्तनाबद्दल तू व्यर्थ चिंता किंवा शोक करु नयेस. यापुढे या अव्यक्त आत्म्याला कोण कशा प्रकारे पाहतो ते सांगितले आहे.

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः श्रृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ।।२९।।

या पूर्वी श्रीकृष्णांनी म्हटले होते की तत्त्वदर्शी लोक या आत्म्याला पाहू शकतात. परंतु आता हे म्हणतात तत्त्वदर्शन करणारे लोक हे महापुरुष असतात व ते फार विरळ असतात आणि असे काही महापुरुष या आत्म्याकडे आश्चर्य म्हणून अद्‌भुत वस्तू म्हणून पाहतात. केवळ ऐकत नाहीत तर त्याला प्रत्यक्ष पाहतात. तर दुसरे काही महापुरुष आश्चर्यकारक म्हणून त्याचे वर्णन करतात. अर्थात जे पाहू शकतात तेच त्याचे यथार्थ वर्णन करू शकतात. दुसरे काही साधक त्याला आश्चर्यकारक म्हणून त्याच्याविषयी ऐकतात. सर्वांनाच असे ऐकता येत नाही कारण ही गोष्ट फक्त अधिकारी साधकांनाच साधते, इतरांना नाही. अरे अर्जुना, कोणी कोणी तर ऐकूनही या आत्म्याला मुळीच जाणू शकत नाहीत कारण त्यांची तेवढी कठोर साधना नसते. व कठोर साधना नसेल तर मनाचा निरोध कोठून होणार? मग तुम्ही लक्षावधी ज्ञानाच्या गोष्टी ऐकल्या, समजून घेतल्या, अगदी केसाची शेंडी उपटून तुम्ही एखादी गोष्ट समजून घेतलीत किंवा समजून घेण्याची दुर्दम्य इच्छा ठेवलीत तरी मोह मोठा प्रबल असतो. त्यामुळे सर्व ऐकून, समजून घेऊनही थोडया वेळाने तुम्ही तुमच्या सांसारिक उद्योगात मग्न होत असता. शेवटी श्रीकृष्ण निर्णय देतात–

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ।।३०।।

अरे अर्जुना, सर्वांच्या शरीरात राहणारा आत्मा हा अवध्य असतो. त्याला कधीही मारता येत नाही. तो अभंग असल्याने त्याला तोडता किंवा कापता येत नाही. तेव्हा कोणत्याही प्राण्याबद्दल तू शोक करु नकोस.

‘आत्माच सनातन आहे– या तथ्याचे–सत्याचे प्रतिपादन करुन, त्याच्या महानतेचे वर्णन करुन हा प्रश्न आता येथे संपत आहे. आता प्रश्न असा आहे की या सनातन सत्याची प्राप्ती कशी होईल? संपूर्ण गीतेत याच्या प्राप्तीचे दोनच मार्ग सांगितले आहेत– एक निष्काम कर्मयोग आणि दुसरा ज्ञानयोग. दोन्ही मार्गात केले जाणारे कर्म एकच आहे. त्या कर्माच्या अनिवार्यतेवर भर देत योगेश्वर श्रीकृष्ण पुढे ज्ञानयोगाबद्दल सांगत आहेत–

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते ।।३१।।

अर्जुना, तुझ्या स्वधर्माचा विचार केलास तरी तुला घाबरण्याचे काहीच कारण नाही, कारण तुझा क्षात्रधर्म आहे. व क्षत्रियांना धर्मयुद्धाहून अधिक श्रेयस्कर परम कल्याणकारी असा दुसरा कोणताही मार्ग नाही. आतापर्यंत 'आत्मा शाश्वत आहे', 'आत्मा सनातन आहे', 'तोच एकमात्र धर्म आहे' असे सांगितले गेले आहे. आता प्रश्न असा की तो स्वधर्म कसा? एकमात्र आत्मा म्हणजे धर्म आहे व तो तर अचल आहे, स्थिर आहे मग धर्माचरण म्हणजे काय? आत्म्याकडे जाण्याचा जो मार्ग त्याला आत्मपथ म्हंटले जाते व या मार्गाकडे जाण्याची–प्रवृत्त होण्याची प्रत्येक व्यक्तीची क्षमता वेगवेगळी असते. मनुष्यस्वभावातून उत्पन्न होणाऱ्या या क्षमतेला स्वधर्म असे म्हंटले गेले आहे.

आत्म–पथावर चालणाऱ्या साधकांना त्यांच्या स्वभावाच्या क्षमतेप्रमाणे महापुरुषाने चार श्रेणीत विभागले आहे– शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय आणि ब्राह्मण. या त्या चार श्रेणी! साधनेच्या प्राथमिक अवस्थेत प्रत्येक साधक शूद्र असतो– म्हणजेच तो अल्पज्ञ असतो. तासनतास भजनाला बसून तो एक दहा मिनिटेही स्वत:साठी प्राप्त करु शकत नाही. तो प्रकृतीचे मायाजाळही भेदू शकत नाही. या अवस्थेमध्ये महापुरुषांची सेवा केल्यास त्याच्या स्वभावात सद्‌गुणांचा प्रादुर्भाव होतो व मग तो वैश्य श्रेणीचा साधक बनतो. आत्मिक संपत्ती हीच स्थिर संपत्ती आहे व या अवस्थेत साधक या संपत्तीचा हळूहळू संग्रह करण्यास व गोपालन म्हणजे इंद्रियांचे रक्षण करण्यास तो सक्षम बनतो. काम–क्रोध इत्यादी विकारांनी इंद्रियांची हिंसा होत असते, तर विवेक–वैराग्याने त्यांचे संरक्षण होत असते. परंतु प्रकृतीला निर्बीज करण्याची क्षमता त्याच्यात असत नाही. क्रमश: उन्नती करता करता साधकामध्ये तिन्ही गुणांशी प्रतिकार करण्याची क्षमता म्हणजेच क्षत्रियत्व त्याच्यामध्ये निर्माण होते. या अवस्थेत प्रकृती व तिच्या विकारांना नष्ट करण्याची क्षमता साधकामध्ये निर्माण होते व म्हणून युद्धाला येथूनच आरंभ होतो. क्रमश: साधना करीत करीत साधक शेवटी ब्राह्मणत्वाची श्रेणी प्राप्त करतो. या अवस्थेत मनोनिग्रह इंद्रियदमन, धारावाही चिंतन, सरलता, अनुभव व ज्ञानप्राप्ती ही लक्षणे

साधकामध्ये प्रकट झालेली दिसून येतात. या प्रकारे साधना करीत करीत साधक शेवटी ब्रह्ममय होऊन जातो की जेथे त्याचे ब्राह्मणत्वही उरत नाही.

विदेश नगरीचा राजा जनक याच्या दरबारात महर्षी याज्ञवल्क्य यांनी चक्रायाण, उबस्ती, कहोल, आरुणी, उद्दालक व गार्गी यांच्या प्रश्नांचे समाधान करताना सांगितले की, ज्याला आत्मसाक्षात्कार होतो तोच ब्राह्मण असतो. लोक-परलोक व समस्त प्राण्यांच्या अंतरंगात आत्म्याचाच अधिकार चालत असतो. सूर्य, चंद्र, पृथ्वी, जल, वायू, अग्नी, तारांगण, अन्तरिक्ष, आकाश एवढेच नव्हे तर प्रत्येक क्षण आत्म्याच्या अधिपत्याखाली आहे. हा तुमचा आत्मा अन्तर्यामी, अमृतमय आहे - अमर आहे. तो अक्षर आहे व त्याच्याहून भिन्न असणारे सर्व नाशवंत आहे. या मृत्युलोकात राहणाऱ्या कोणत्याही साधकाने या 'अक्षर' आत्म्याला न जाणता हवन केले, तप केले, हजारो वर्षे यज्ञकर्म केले तरी ते सर्व कर्म व्यर्थ आहे. या अक्षरतत्त्वाला न जाणता जो कोणी मरतो तो दयनीय आहे. कृपण आहे. आणि जो या अक्षराचे ज्ञान प्राप्त करून घेऊन मग मरतो तो ब्राह्मण आहे. (बृहदारण्यकोपनिषद ३/४-५-७-८)

येथे अर्जुन हा क्षत्रिय श्रेणीचा साधक आहे. श्रीकृष्ण म्हणतात, जो क्षत्रिय आहे त्याला युद्धाच्या व्यतिरिक्त दुसरा श्रेयस्कर, कल्याणकारी मार्गच नाही. पण क्षत्रिय म्हणजे काय? प्रायः जन्माने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र असे समजले जाते. म्हणजे जातीनुसार हे वर्ग पाडले गेले आहेत. यालाच चार वर्ण असे म्हणतात. परंतु हे बरोबर नव्हे. शास्त्रकारांनी स्वतः क्षत्रिय म्हणजे काय? वर्ण म्हणजे काय? हे सांगितले आहे. त्या ठिकाणी त्यांनी फक्त क्षत्रियांचे नाव घेतले आहे व मग अठराव्या अध्यायापर्यंत वर्ण म्हणजे नेमके काय याचे समाधानकारक उत्तर दिले आहे. या वर्णामध्ये कसे परिवर्तन झाले आहे हेही त्यांनी स्पष्ट केले आहे.

श्रीकृष्णांनी सांगितले, 'चातुर्वर्ण्यं मया सुष्टं- चारी वर्णांची सृष्टी मी निर्माण केली आहे. म्हणजे सर्व लोकांना या चार वर्णात विभागले असे समजायचे का? श्रीकृष्ण म्हणतात नाही, '**गुणकर्म विभागशः**' गुणांच्या माध्यमातून कर्माची चार भागात विभागणी केली, आता ज्या कर्माची विभागणी

केली ते कर्म म्हणजे काय आहे ते पाहणे आवश्यक आहे. गुण परिवर्तनशील आहेत आणि उचित साधनेद्वारे तामस गुणातून राजस गुणात व राजसमधून सात्त्विक गुणात प्रवेश मिळत जातो व शेवटी साधक स्वभावाने-गुणाने ब्राह्मण बनतो. त्यावेळी ब्रह्मामध्ये प्रवेश मिळवून देणारी योग्यता त्या साधकामध्ये असते. वर्ण-संबंधी प्रश्नाला येथे आरंभ होतो आणि अठराव्या अध्यायात तो पूर्ण होतो.

श्रीकृष्णाचे म्हणणे-मत असे आहे-**श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परमधर्मात्स्वनुष्ठितात** - स्वभावतः उत्पन्न झालेल्या या धर्मप्रवृत्तीची क्षमता ज्या स्तरावरील असेल, ती भले गुणरहित शूद्र श्रेणीची असली तरी ती परम कल्याणकारी असेल, कारण आपण क्रमशः तेथूनच आपल्या उत्थानाची सुरुवात करीत असतो; आपल्यापेक्षा वरच्या लोकांची नक्कल केल्याने साधक नष्ट होऊन जातो. येथे अर्जुन क्षत्रिय वर्गातील साधक आहे. म्हणून श्रीकृष्ण म्हणतात की, अर्जुना, अरे तुझा स्वभावधर्म व स्वभावानुरूप तुझी योग्यता, आणि युद्धामध्ये प्रवृत्त होणारी तुझी क्षमता पाहून असे वाटते की तू वृथा भय बाळगू नयेस. क्षत्रियाला याच्या इतका दुसरा कल्याणकारी मार्ग, श्रेयस्कर कर्म दुसरे कोणतेही नाही. याच विषयावर प्रकाश टाकीत योगेश्वर कृष्ण पुढे म्हणतात-

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ।।३२।।

पार्थिव शरीराला रथ बनवून अचूक लक्ष्यवेध करणाऱ्या अर्जुना, दैवयोगे आपोआप उघडले गेलेले स्वर्गाचे द्वाररूपी हे युद्ध भाग्यवान क्षत्रियांनाच लाभत असते. क्षत्रिय श्रेणीतील साधकांमध्ये तिन्ही गुणांवर विजय मिळविण्याची क्षमता असते. त्यांच्यामध्ये दैवी संपदा सामावलेली असल्याने त्यांच्यासाठी स्वर्गाचे-द्वार नेहमी उघडलेले असते. स्वर्गलोकात भ्रमण करण्याची शक्ती त्यांच्यामध्ये असते. क्षेत्र-क्षेत्रज्ञांचे हे युद्ध भाग्यवान क्षत्रियांनाच प्राप्त होत असते कारण त्यांच्यातच संघर्ष करण्याची शक्ती असते.

जगात अनेक लढाया होत असतात.ते सर्व संकुचित होऊन-अविवेकाने लढत राहतात. अनेक जाती लढतात. परंतु या सर्व युद्धात जिंकणाऱ्यालाही

शाश्वत विजय मिळत नाही. हे कसले लढणे? हा तर सूड आहे. जो ज्याला जितका दाबण्याचा-चिरडण्याचा प्रयत्न करतो, कालान्तराने तो तितकाच दबला जातो. ही कसली लढाई? व हा कसला विजय? येथे स्वर्गप्राप्तीऐवजी इंद्रियांना पीडा देणारा शोक, दुःख निर्माण होत असते. शेवटी शरीरही नष्ट होते. वास्तविक संघर्ष तर क्षेत्र व क्षेत्रज्ञामध्ये असतो व एकदा विजय मिळवल्यावर प्रकृतीचे कायमचे नियमन होते. म्हणजे उत्पत्तीच्या कारणाचा निरोध होतो व परम पुरुष परमेश्वराची प्राप्ती होते. हा असा विजय आहे की त्यानंतर पराभव नसतो.

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।

ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ।।३३।।

तेव्हा असे हे 'धर्मयुद्ध' की ज्यामुळे परमधर्म परमात्म्याची प्राप्ती होते; असा हा 'धर्मयुक्त संग्राम' तू केला नाहीस तर स्वधर्म म्हणजे स्वभावजात संघर्षाची असणारी क्षमता तू गमावून बसशील व पापाचा धनी होऊन तुझी अपकीर्ती होईल. अपकीर्ती कशी होईल हे सांगताना श्रीकृष्ण म्हणतात-

अकीर्तिं चापि भूतानि

कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।

सम्भावितस्य चाकीर्ति-

र्मरणादतिरिच्यते ।।३४।।

सर्व लोक सतत तुझी अपकीर्ती गात राहतील. आजही पदच्यूत झालेल्या महात्म्यांमध्ये विश्वामित्र, पाराशर, निमि, श्रृंगी यांची गणना होते. अनेक साधक साधना करीत असताना आपल्या धर्माच्या बाबत विचार करीत असतात. तेव्हा लोक आपल्याबद्दल काय म्हणतील याबाबतही ते विचार करतात कारण लोकांचे म्हणणेही साधनेला प्रेरणारुप ठरत असते आणि साधनेच्या एका विशिष्ट टप्प्यापर्यंत साधकांना लोकांचे मत प्रेरणारूप बनत असते, त्याला ते सहाय्यभूत ठरत असते. अरे जे पुरुष सन्माननीय आहेत, प्रतिष्ठित आहेत त्यांना अपकीर्ती मरणापेक्षाही अधिक दुःखदायक, क्लेशदायक वाटते.

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ।।३५।।

जे महारथी आजपर्यंत तुझ्या यशाची, पराक्रमाची वाखाणणी करीत होते, ज्यांच्या दृष्टीने तू महापराक्रमी होतास, ते सर्वजण तुझ्या या कृत्याने तुला तुच्छ लेखतील. तू केवळ भीतीमुळे रणांगण सोडून पळालास असे समजून तुला ते भित्रा समजतील. हे महारथी कोण? आत्मपथाच्या मार्गावर खडतर परिश्रम घेत पुढे जाणारे साधक जसे महारथी आहेत, त्याप्रमाणेच अविद्येकडे खेचणारे काम, क्रोध, लोभ व मोहादी हे विकारही महारथीच आहेत. श्रीकृष्ण अर्जुनाला म्हणतात की, ते सर्व महारथी तुझी किंमत कमी समजू लागतील इतकेच नव्हे तर–

अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ।।३६।।

तुझे शत्रू तुझ्या सामर्थ्याची, पराक्रमाची निंदा करतील व जे बोलू नये असे पुष्कळ बोलतील. अरे, मनुष्यात एखादा दोष दिसला की चारी बाजूंनी निंदेचा व अपशब्दांचा त्याच्यावर वर्षाव होतो व जे बोलू नये ते बोलून लोक उपहास करतात. अरे ह्यापेक्षा अधिक दुःखदायक काय असू शकेल?

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं
जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय
युद्धाय कृतनिश्चयः ।।३७।।

हे कुन्ती पुत्रा, तू युद्धात मेलास तर तुला स्वर्ग मिळेल. स्वर्गलोकात विहार करण्याची तुझ्यात क्षमता येईल. परमेश्वरमय होण्यास सहाय्यभूत होणारी दैवी संपदा तुझ्या हृदयात पूर्णतः प्रवाहित होईल किंवा विजयी झालास तर पृथ्वीचे राज्य भोगशील, महामहिम स्थिती तुला प्राप्त होईल. म्हणून अर्जुना, युद्धाचा निश्चय करुन ऊठ.

साधारणतः लोक या श्लोकाचा अर्थ असा समजतात की जर युद्धात तू मेलास तर तुला स्वर्गप्राप्ती होईल व जिंकलास तर या पृथ्वीतलावरील राज्य

प्राप्त होईल. परंतु यापूर्वी अर्जुनाने स्पष्ट सांगितले आहे– "भगवान, केवळ पृथ्वीचेच नव्हे तर त्रैलोक्याचे राज्य मला प्राप्त झाले किंवा देवतांचे स्वामीपद म्हणजे इंद्रपदाची जरी मला प्राप्ती झाली तरी माझ्या इंदियांचे शोषण करणारा हा शोक जर नष्ट होणार नसेल तर मला ते काहीही नको. अरे, एवढेच जर या युद्धाने मिळणार असेल तर गोविंदा, हे युद्ध कशाला करायचे? मी ते मुळीच करणार नाही" तरीही श्रीकृष्ण अर्जुनाला सांगत आहेत की, अर्जुन, अरे तू लढ. तू जिंकलास तर तुला पृथ्वीवरचे राज्य मिळेल व मेलास तर स्वर्ग मिळेल. म्हणजे येथे श्रीकृष्णांनी अर्जुनाला नवीन काय सांगितले व काय दिले? अर्जुन सत्य व श्रेयाची इच्छा करणारा शिष्य होता. त्याला सद्‌गुरु श्रीकृष्णांनी सांगितले की, ह्या क्षेत्र व क्षेत्रज्ञ यांमधील संघर्षात जर शरीराचे आयुष्य, त्याचा अस्तित्वकाळ जर संपलेला असेल आणि त्यापूर्वी तुम्ही तुमचे लक्ष्य प्राप्त करु शकला नाहीत तरी तुम्हाला स्वर्गाची प्राप्ती होईल. म्हणजेच स्वर्गात विहार करण्याची क्षमता तुम्हाला प्राप्त होईल, तुमच्यात दैवी सम्पदा समाविष्ट होईल आणि जर या संघर्षात तुम्ही यशस्वी व्हाल (शरीरासह) तर तुम्हाला 'महीम'– म्हणजे सर्वात महान ब्रह्माच्या महिम्याचा उपभोग घेऊ शकाल, म्हणजेच 'महामहिम' स्थिती प्राप्त करु शकाल. म्हणजे जिंकलात तर सर्वस्व म्हणजे महामहिमत्व प्राप्त करु शकाल व हरलात तर देवत्व प्राप्त करु शकाल– म्हणजे युद्ध केल्याने– संघर्षात भाग घेतल्याने दोन्ही हातात लाडू प्राप्त होणार आहेत. म्हणजे लाभातूनही लाभ आणि हानीतूनही लाभच मिळणार आहे यावरच भर देत श्रीकृष्णही पुढे म्हणत आहेत–

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ।।३८।।

अर्जुना, या प्रकारे सुख–दुःख, लाभ–हानि आणि जय–पराजय हे सारखेच समजून तू युद्धाला तयार हो. असे केल्याने तुला पाप लागणार नाही. म्हणजे येथे सुखामध्ये सर्वस्वप्राप्ती व दुःखात देवत्वाची प्राप्ती होणार आहे. लाभामध्ये महीमत्व आणि पराजयात दैवी संपदेवर अधिकार प्राप्त होईल. तेव्हा आपला लाभ व नुकसान यांचा साकल्याने विचार करुन तू लढायला तयार हो.

लढण्याने दोन्ही प्रकारे तुझा फायदाच आहे व लढण्याने तुला पाप लागणार नाही व म्हणून तू युद्धाला तयार हो–

एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां श्रृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ।।३९।।

हे अर्जुना, तुला येथपर्यंत सांख्यमार्गातले ज्ञान सांगितले. ज्ञानयोगातील बुद्धिविषयी सांगितले. तू म्हणशील कसली बुद्धी? कसले ज्ञान? तर युद्ध कर हेच! ज्ञानयोग म्हणजे काय? तर आपल्या जीवनाकडे बघून, लाभहानीचा नीट विचार करावा की यात आपण जिंकलो तर महामहिम स्थिती प्राप्त होईल आणि हरलो तर देवत्त्व मिळेल. म्हणजे दोन्हीकडून लाभ मिळेल व युद्ध नाही केले तर सर्व लोक आपला उपहास करतील. आपण भयाने रणांगणातून पळून गेलो असे समजतील व मग आपली अपकीर्ती होईल. अशा प्रकारे आपले अस्तित्व समोर ठेवून विचार करणे व युद्ध करायला तयार होणे हाच ज्ञानयोग आहे.

साधारणतः लोकांचा असा गैरसमज असतो की ज्ञानमार्गात कर्म(युद्ध) करावे लागत नाही. ते म्हणतात की ज्ञानयोगात कर्म असतच नाही. मी तर 'शुद्ध आहे', 'मी बुद्ध आहे', 'मी चैतन्य आहे' '**अहं ब्रह्मास्मि**' 'गुण गुणातच मिसळतात' – असे समजून ते स्वस्थ बसून राहतात. योगेश्वर श्रीकृष्णाच्या मते हा ज्ञानयोग नाही. ज्ञानयोगातही तेच कर्म करावे लागते जे निष्काम कर्मयोगात केले जाते. दोन्ही मार्गामध्ये फक्त दृष्टिकोनाचा फरक आहे. ज्ञानमार्गी मनुष्य आपली स्थिती समजून आपल्या स्वतःच्या सामर्थ्यावर अवलंबून राहून कर्म करीत असतो. दोन्ही मार्गात कृती आहे. आणि ते कर्मही एकच आहे. आणि ते कर्म दोन्ही मार्गात करावेच लागते. केवळ कर्म करण्याचे दृष्टिकोन दोन आहेत.

अर्जुना, याच विचारांना कर्मयोगाच्या संदर्भात ऐक. ह्या ज्ञानाने कर्मबंधनाचा नाश होईल. इथे श्रीकृष्णाने कर्माचे नाव प्रथम घेतले आहे. परंतु येथे कर्म म्हणजे काय हे स्पष्ट केलेले नाही. कर्म म्हणजे काय सांगितलेले नसले तरी त्या कर्माची विशेषता, वैशिष्ट्ये यावर त्यांनी पुढे प्रकाश टाकला आहे.

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्‌ ।।४०।।

ह्या निष्काम कर्मयोगामध्ये आरंभिलेल्या कार्याचा अर्थात बीजाचा नाश होत नाही. यामध्ये निष्कामभावाने कर्म केलेले असल्याने मर्यादित कर्मफलाचा दोष येथे उत्पन्न होत नाही. तेव्हा या निष्काम कर्माचे म्हणजेच या कर्मयोगाचे, या धर्माचे अल्प आचरणही जन्म-मृत्यूरूपी महान भयापासून रक्षण करते. तुम्ही हा कर्मयोग समजून घ्या. याप्रमाणे थोडे तरी आचरण करा. बीज रुजवा. अर्जुना हे बीज कधीच नष्ट पावत नाही. या जड प्रकृतीमध्ये या बीजरूपी सत्याला नष्ट करण्याची क्षमता नसते किंवा ते सत्य पुर्णपणे नष्ट करण्याचे कसले शस्त्रही तिच्याजवळ नसते. प्रकृती त्यावर आवरण घालू शकते किंवा थोडी अडवणूक करू शकते, परंतु आरंभिलेल्या कर्माला नष्ट करू शकत नाही.

पुढे श्रीकृष्ण म्हणतात की अगदी महाभयंकर पापीसुद्धा या ज्ञानरूपी नौकेने निःसंदेह तरून जाऊ शकतो. नेमकी हीच गोष्ट येथे सांगितली आहे. ते म्हणतात हे अर्जुना, निष्काम कर्मयोगाचे बीजारोपण कर. या बीजाचा कधीही नाश होत नाही, किंवा यात कर्मयोगाने विपरीत फळरूपी दोषही प्राप्त होत नाही. स्वर्ग, ऋद्धी, सिद्धी तुम्हाला देऊन हा योग तुम्हाला मध्येच सोडून देत नाही व तुम्ही जरी हा योग मध्येच सोडून दिलात तरी तो तुमचा उद्धारच करतो. या धर्माचे, या निष्काम कर्मयोगाचे, अल्पसे आचरण जन्म-मृत्युरूपी महान भयापासून रक्षण करते. **अनेक जन्म संसिद्धस्ततो याति परां गतिम्‌ ।** हा कर्मयोग अनेक जन्मानंतरही मनुष्याला परमगतीकडेच नेतो. याच संदर्भात श्रीकृष्ण पुढे म्हणतात-

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्‌।।४१।।

निष्काम कर्मयोगात एकच व्यवसायात्मक म्हणजेच निश्चयात्मक बुद्धी असते व निश्चय व परिणामही एकच असतो. यामुळे आत्मिक संपत्तीचा विकास होतो. ही आत्मिक संपदा स्थिर असते. ही आत्मिक संपदा प्रकृतीच्या

द्वंद्वामध्ये हळूहळू स्थापित करणे यालाच व्यवसाय किंवा निश्चय म्हणतात. परंतु ज्यांच्याजवळ ही निश्चयात्मक बुद्धी नसते, म्हणजे जे लोक अनेक प्रकारच्या इच्छा ठेवतात, ते लोक भजन-पूजन करू शकत नाहीत असे श्रीकृष्णांचे म्हणणे आहे कारण त्यांच्या बुद्धीला अनेक प्रकारचे फाटे फुटलेले असतात.

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ।।४२।।
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ।।४३।।

हे पार्था, विषयभोगात तत्पर असणारे, वेदाच्या अर्थवादात रस असणारे, स्वर्गसुख हेच परमलक्ष्य मानून त्याखेरीज दुसरे मोठे सुख नाही असे समजणारे व सांगणारे तुटपुंजे ज्ञान असणारे, असे अविवेकी लोक जन्ममृत्युफल देणारी व भोग व ऐश्वर्य यांच्या प्राप्ती संबंधात जिच्यामध्ये पुष्कळ कर्म सांगितले आहे अशी वेदवचने सांगतात व वेदाच्या पुष्पित, रोचक वाणीच्या आधाराने ते बोलतात. या अविवेकी लोकांची बुद्धी अनंत भेदांनी युक्त असते. त्यामुळे ते कर्मफल सांगणाऱ्या वेदवाक्यांना प्रमाण मानतात, स्वर्गाला श्रेष्ठ समजतात. त्यांची बुद्धी अनंत भेदांनी युक्त असल्याने ते अनेक कर्मकांडात मग्न असतात, ते परमेश्वराचे नाव घेत असतात, परंतु विविध कर्मकांड करीत असतात. मग ही कर्मकांडे, अनेक प्रकारची कर्मानुष्ठाने म्हणजे कर्म नव्हे का? श्रीकृष्ण म्हणतात नाही कर्मकांडे म्हणजे कर्म नव्हे? मग ती एक निश्चित क्रिया आहे का? यावर त्यांनी येथे काही सांगितले नाही. ते एवढेच इथे म्हणतात की अविवेकी लोकांची बुद्धी अनंत भेदांनी युक्त असल्याने विविध प्रकारच्या कर्मकांडात ते व्यस्त असतात व त्यासाठी वेदवाक्याचे प्रमाण देऊन रोचक वाणीत ते आपले म्हणणे व्यक्तही करतात. मग याचा परिणाम काय होतो?

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते।।४४।।

अर्जुना, वेदाच्या अर्थवादात मग्न झालेल्या व वेदवाक्य प्रमाण मानून रोचक वाणीत बोलणाऱ्या लोकांच्या वाणीने प्रभावीत झालेल्या लोकांची विवेकबुद्धी नष्ट होते. त्यांना काहीही प्राप्त होत नाही. त्या वाणीने मोहित झालेले लोक इंद्रिय भोगात आणि भौतिक ऐश्वर्यात अतिशय आसक्त होतात. अशा पुरूषांच्या अंतःकरणात कार्याकार्याचा निश्चय करणारी बुद्धी उद्‌भवत नाही. भगवंताच्या ठिकाणी दृढ होणारी, स्थिर होणारी बुद्धी त्यांच्यात निर्माण होत नाही.

अशा या अविवेकी लोकांची वाणी कोण ऐकते? तर भौतिक विषयभोगात–इंद्रिय भोगात व ऐश्वर्यात जे आसक्त झालेले आहेत तेच लोक अविवेकी लोकांचे बोलणे ऐकतात. अधिकारी, विवेकी, स्थिर बुद्धीचे लोक त्यांच्या बोलण्याने मोहित होत नाहीत, परंतु अविवेकी लोक मात्र मोहित होतात व त्यामुळे आत्मसुख देणारी, आदितत्त्वात प्रवेश देणारी निश्चयात्मक बुद्धी त्यांच्यात निर्माण होत नाही. त्यांचे चित्त आत्मज्ञानात कधीही स्थिर होऊ शकत नाही.

प्रश्न असा निर्माण होतो की,'**वेदवादरतः**' जे वेदाच्या अर्थवादात मग्न असतात तेही चूक करतात का? यावर श्रीकृष्ण म्हणतात–

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ।।४५।।

हे अर्जुना, '**त्रैगुण्यविषया वेदा**' म्हणजे त्रिगुणांनी युक्त असणारे वेद प्रकृतीच्या तीन गुणांबाबतीतच प्रतिपादन करतात. त्यांच्या पुढचे त्यांनाही माहीत नसते. तेव्हा **निस्त्रैगुण्योभवार्जून** तू त्रिगुणातीत हो. त्रिगुणांच्या अनुभवापलीकडे जा. पण कशा प्रकारे? यावर श्रीकृष्ण म्हणतात '**निर्द्वन्द्वः**' सुखदुःखादी द्वंद्वापासून अलिप्त, सतत सात्त्विक गुणांनी संपन्न व योगक्षेमादि स्वार्थात न पडता म्हणजेच त्या संबंधीच्या काळजीतून मुक्त हो आणि आत्म्यात स्थिर हो, आत्मनिष्ठ हो. श्रीकृष्ण म्हणतात, जो अशा प्रकारे त्रिगुणांच्या पलीकडे जाऊन आत्मनिष्ठ बनतो तो, ब्रह्म म्हणजे काय ते जाणू शकतो व ब्रह्माला जाणतो, तोच विप्र होय.

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ।।४६।।

चोहोकडून परिपूर्ण भरलेले जलाशय प्राप्त झालेल्या मनुष्याला लहान जलाशयाची जेवढी उपयुक्तता, जेवढे प्रयोजन असेल तेवढेच ब्रह्म जाणणाऱ्या ज्ञानसंपन्न ब्राह्मणाला वेदांचे प्रयोजन असते. तात्पर्य हेच की जो वेदार्थाचा विचार करुन त्यातील इष्ट तेवढेच ग्रहण करतो, म्हणजेच जो वेदांच्या पलीकडे जातो व जो ब्रह्माला जाणतो तोच ब्राह्मण होय. तेव्हा हे अर्जुना तू सुद्धा असा सात्त्विक गुणांनी संपन्न होऊन वेदांच्या पलीकडे जा व ब्राह्मण बन.

अर्जुन जन्माने क्षत्रिय होता आणि येथे श्रीकृष्ण म्हणतात ब्राह्मण बन. हे कसे काय? ब्राह्मण-क्षत्रिय इत्यादी वर्ण म्हणजे मनुष्य स्वभावातील क्षमतेचे, सामर्थ्याचे नाव आहे. हे वर्ण कर्मप्रधान आहेत. ते जन्माने रूढ होणारी रूढी नव्हे. ज्याला गंगेत डुबण्याची संधी मिळाली त्याला क्षुद्र जलाशयाचे काय प्रयोजन? त्या प्रकारे ज्याने ब्रह्माला साक्षात जाणले आहे त्या आत्मसाक्षात्कारी महापुरुषाला, त्या ब्रह्माणाला, वेदांचे तेवढेच महत्त्व असते, तेवढेच त्याचे त्यांना प्रयोजन असते. मात्र त्यांची गरज तर असतेच. कारण मागून येणाऱ्यांना त्यांची गरज असते. आता येथून कर्मयोगाच्या चर्चेला आरंभ होईल म्हणजे कर्म करताना कोणती दक्षता घेतली पाहिजे, याचे यापुढे श्रीकृष्णांनी प्रतिपादन केले आहे.

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूमा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ।।४७।।

अर्जुना, तुझा अधिकार फक्त कर्म करणे एवढाच आहे. कर्मफलाचा तुला अधिकार नाही. अरे, तू असे समज की तू केलेल्या कर्मापासून फळ मिळणारच नाही. म्हणून तू कर्मफळाला हेतूभूत होऊ नकोस, म्हणजेच माझ्या कर्माचे अमुक फळ मला मिळाले असा हेतू तू मनात ठेवू नकोस आणि कर्म न करण्याविषयी मनाचा कल होऊ देऊ नकोस. म्हणजेच कर्माबद्दल अश्रद्ध बनू नकोस.

योगश्वर श्रीकृष्णांनी एकोणचाळीसाव्या श्लोकात प्रथम कर्माचा उच्चार केला. परंतु तेथे हे कर्म म्हणजे काय व ते कसे करावे हे सांगितले नाही. त्या कर्माच्या वैशिष्ट्यांवर या श्लोकात विवरण केले आहे.

(१) हे अर्जुना, अशा प्रकारच्या कर्मामुळे तू सर्व प्रकारच्या बंधनातून मुक्त होशील.

(२) अर्जुना, या कर्मात बीजाचा नाश होत नाही. कर्माचा आरंभ केल्यानंतर त्या कर्माला नष्ट करण्याची शक्ती प्रकृतीजवळ नाही.

(३) अर्जुना, स्वर्ग, ऋद्धी, सिद्धी प्राप्त करून देणारे मर्यादित फलरूपी दोषही या कर्मामध्ये नाहीत.

(४) या कर्माच्या अल्प आचरणाने मनुष्याचा जन्म-मृत्यु सारख्या भयावह संकटातून बचाव होतो. त्याचा उद्धार होतो.

परंतु श्रीकृष्णांनी ते कर्म आहे कसे हे अद्याप सांगितलेले नाही. ते याच अध्यायातील एक्केचाळीसाव्या श्लोकात त्यांनी सांगितले आहे.

(५) अर्जुना, यात निश्चयात्मक बुद्धी एकच असते, कृतीही एकच असते. ज्यांची बुद्धी अनंत भेदांनी युक्त असते, त्यांच्या क्रीयाही अनेक असतात. असे लोक भगवंताचे भजन करू शकत नाहीत का? यावर श्रीकृष्ण म्हणतात की अनंत भेदांनी युक्त असणाऱ्या लोकांच्या बुद्धीला अनेक शाखा फुटलेल्या असतात व हे लोक वेदांच्या पुष्पक-रोचक वाणीत त्या क्रीयांचे प्रतिपादन करत असतात. या त्यांच्या वाणीचा प्रभाव ज्यांच्यावर पडतो त्यांची बुद्धी नष्ट होते. म्हणून निश्चयात्मक क्रिया एकच असते, परंतु येथे ती क्रिया कोणती ते मात्र सांगितले नाही.

सत्तेचाळीसाव्या श्लोकात श्रीकृष्ण म्हणतात कर्म करण्यातच तुझा अधिकार आहे, पण त्याचे फळ भोगण्याचा किंवा फळाची अपेक्षा करण्याचा तुझा अधिकार नाही. तेव्हा तू फळाची आसक्ती धरू नकोस व कर्म करण्यास अश्रद्ध बनू नकोस. निरन्तर आत्म्याच्या ठिकाणी रत राहा. परंतु कर्म म्हणजे काय हे येथे सांगितलेले नाही. साधारणतः लोक हा श्लोक उधृत करतात व म्हणतात काहीही करा पण त्याच्या फळाची अपेक्षा करू नका. बस्स! झाला निष्काम कर्म योग! पण श्रीकृष्णांनी अद्याप कोणते कर्म करावे हे सांगितलेले नाही. येथे फक्त कर्म काय देते व ते करताना कोणती दक्षता घ्यावी यावर श्रीकृष्णांनी येथे फक्त प्रकाश टाकला आहे. मूळ प्रश्न कर्म म्हणजे काय? तो अजून तसाच आहे. त्याचे विवरण श्रीकृष्णांनी अध्याय तीन व चारमध्ये केले आहे.

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।।४८।।

हे धनंजया कर्मफलाची आसक्ती सोडून, अभिलाषा सोडून, यशापयशाविषयी समतोल बुद्धी ठेवून तू कर्म कर. कोणते कर्म? तर निष्काम कर्म कर..'**समत्वं योग उच्यते**' - म्हणजे मनाच्या या समतोलपणालाच योग असे म्हणतात. ज्या कर्माविषयी मनात विषम भावना नाही त्याला समबुद्धी असे म्हणतात. ऋद्धी, सिद्धी किंवा कर्माविषयीची आसक्ती मनाचा समतोलपणा बिघडवत असतात. फळाची इच्छा-फळाची अभिलाषा मनात विषमता निर्माण करत असतात. त्यासाठी अर्जुना, फलाची अभिलाषा धरू नकोस, पण कर्म करण्यात अश्रद्धही होऊ नकोस. समोर दिसलेल्या किंवा न दिसणाऱ्या सर्व वस्तुविषयीच्या आसक्तीचा त्याग करून, कर्मापासून होणारी प्राप्ती-अप्राप्ती यांचा विचार न करता फक्त योगयुक्त होऊन, तू कर्म कर. योगामुळे चित्त विचलित होत नाही.

योग ही एक परम स्थिती आहे आणि ती प्रारम्भिक स्थितीही आहे. प्रारंभी आपली दृष्टी लक्ष्यावर असायला हवी. म्हणून योगावर दृष्टी ठेवून कर्माचे आचरण केले पाहिजे. समत्वभाव म्हणजे पूर्ण किंवा अपूर्ण कर्माबद्दल समभाव ठेवणे. यालाच योग म्हणतात. कर्माच्या यशापयशाने ज्यांची बुद्धी विचलित बनत नाही, ज्यांच्या मनात हर्ष-खेद म्हणजेच विषम भाव निर्माण होत नाही त्या समबुद्धीलाच योग असे म्हणतात. विषमस्थितीत मनाचा समतोल बिघडत नाही म्हणून याला समत्व योग असे म्हणतात. सर्व अभिलाषांचा येथे त्याग आहे, म्हणून याला निष्काम कर्मयोग असे म्हटले गेले आहे. कर्म करावयाचे आहे म्हणून त्याला कर्मयोग म्हटले जाते. येथे कर्म करताना कृष्णार्पण वृती ठेवावी लागते. ही कृष्णार्पण वृती म्हणजे समर्पणाची वृती. यामुळे या प्रक्रीयेला योग असे म्हणतात. या कर्मयोगात बौद्धिक पातळीवर अत्यंत दक्ष राहावे लागते, कारण यशापयशाविषयी मनाचा समतोल ठेवणे, कर्माविषयी आसक्ती न ठेवणे, कर्मफलाची अभिलाषा न राखणे, महत्वाचे असते व यालाच निष्काम कर्मयोग किंवा बुद्धियोग असे म्हणतात.

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः।।४९।।

हे धनंजया, '**अवरं कर्म**' म्हणजे निकृष्ट कर्म. हे निकृष्ट कर्म म्हणजेच आसक्तीयुक्त कर्म. ते बुद्धियोगापासून फार दूर आहे. फलाची अभिलाषा ठेवणारे कृपण असतात. ते आत्म्यामध्ये, परमात्म्यामध्ये कधीच रत होत नाहीत. तेव्हा समत्व बुद्धियोगाचा आश्रय कर. अरे, इच्छेप्रमाणे फल मिळाले तरी त्यात कल्याण कोठून असणार? साधकाने तर मोक्षाचीही अभिलाषा ठेवता कामा नये कारण वासनांपासून मुक्त होणे यालाच तर मोक्ष म्हणतात. फलप्राप्तीचा चिंतनाने साधकाचा वेळ वृथा वाया जातो आणि फल प्राप्त झाल्यावर त्यामध्येच साधक गुंतून पडतो. त्याची साधना तिथेच समाप्त होते. मग पुढे तो भगवंताचे भजन-पूजन काय करणार? तेथूनच तो विचलित होतो- कुमार्गाला लागतो. म्हणून समत्व बुद्धीने योगाचे आचरण करा.

ज्ञानमार्गालाही श्रीकृष्णाने बुद्धियोग म्हंटले होते व सांगितले होते की, अर्जुना, हा बुद्धियोग तुला ज्ञानयोग सांगताना सांगितला होता आणि येथे निष्काम कर्मयोगालाही बुद्धियोग म्हंटला आहे. वस्तुतः दोन्हीमधील दृष्टीकोन वेगळा आहे. ज्ञानयोगात लाभ-हानीचा विचार करून, त्याची चिकित्सा करून आचरण करावे लागते निष्काम कर्मयोगामध्ये बौधिक स्तरावर समत्व राखावे लागते म्हणून त्याला समत्व बुद्धियोग असेही म्हटले जाते, व म्हणून हे अर्जुना, तू समत्व बुद्धियोगाचा आश्रय ग्रहण कर, कारण फलाची अभिलाषा ठेवणारे फार कृपण असतात.

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ।।५०।।

साम्यबुद्धीने युक्त असणारे पुरुष या लोकीच पाप व पुण्य या दोन्ही गोष्टींचा त्याग करतात. ते त्यात बद्ध होऊन राहत नाहीत. म्हणून तू बुद्धियोग संपादन करण्यास तयार हो. **योगः कर्मसु कौशलम-** म्हणजे कर्माचरणात समत्व बुद्धिरूप योग साधणे हे खरे कौशल्य आहे.

या जगात कर्म करण्याच्या दोन पद्धती रूढ आहेत. लोक कर्म करून फलाची अपेक्षा करतात किंवा फल मिळाले नाही तर ते कर्म करूच इच्छित

नसतात. योगेश्वर श्रीकृष्णांनी या प्रकारच्या कर्मांना बद्धकारक समजले असून 'आराधने'ला ते एकमात्र कर्म समजत आहेत. या अध्यायात त्यांनी कर्माचा केवळ उच्चार केला आहे. तिसऱ्या अध्यायातील सुरूवातीच्या श्लोकात त्याची परिभाषा दिली आणि चौथ्या अध्यायात कर्माचे स्वरूप विस्ताराने सांगितले आहे. प्रस्तुत श्लोकात श्रीकृष्ण सांसारिक परंपरेने युक्त असणारे कर्म बाजूला ठेवून कर्म करण्याची कला सांगताना म्हणतात, 'तुम्ही अत्यंत श्रद्धायुक्त भावनेने कर्म करा; परंतु फलाचा मात्र स्वेच्छेने त्याग करा. मग कर्म कुठे जाईल? कर्म करणाऱ्याचे हे तर कौशल्य आहे. निष्काम साधकाची समग्र शक्ती अशा प्रकारची कर्मे करण्यात खर्च होत असते. आराधना करायला शरीराची गरज असते परंतु केवळ कर्मे करायची काय? ही जिज्ञासासुद्धा स्वाभाविक आहे. अन्यथा सदैव कर्मच करायचे की त्याचा काही परीणामही असू शकतो.

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।

जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ।।५१।।

अरे, बुद्धियोगी असे ज्ञानी पुरुष भौतिक कर्मापासून निर्माण झालेल्या फलाचा त्याग करुन जन्ममरणाच्या बंधनातून मुक्त होतात व अत्यंत निर्दोष, दुःखरहित असे अमृतमय स्थान प्राप्त करतात.

अर्जुनाची दृष्टी त्रैलोक्याचे साम्राज्य व स्वर्गातील इंद्रपद येथपर्यंत सीमित होती. या दोन्ही गोष्टी प्राप्त झाल्या तरी तो युद्ध करायला तयार होत नव्हता. येथे श्रीकृष्ण एक नवीन गोष्ट त्याला सांगतात की, आसक्तीरहित, कर्मद्वारा अनामय, दुःखाच्या पलीकडील, ब्रह्मानंद देणारे असे पद प्राप्त होते. निष्काम कर्मयोगाने परमपदाची प्राप्ती होते, जेथे मृत्यूला प्रवेश नाही, अशा अढळ स्थानाची प्राप्ती होते. परंतु अशा प्रकारचे कर्म करण्याची मनाची वृत्ती केव्हा होईल?

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।

तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ।।५२।।

हे अर्जुना, तेव्हा तुझी (अर्थात साधकाची) बुद्धी मोहरूपी दलदलीतून बाहेर पडेल, जेव्हा तिला धन, संतती व प्रतिष्ठा यांचा लेशमात्र मोह राहणार

नाही, या सर्व गोष्टींबाबत असणारी आसक्ती नाहीशी होईल त्यावेळी जे ऐकण्यास योग्य आहे ते तू ऐकू शकशील. तसेच ऐकलेल्या तत्त्वानुसार तुझ्यात वैराग्य भावना निर्माण होईल, त्याप्रमाणे तू आचरण करू शकशील. आता तर जे ऐकण्यास योग्य आहे ते तू ऐकू शकत नाहीस मग आचरण करण्याचा तर प्रश्न नाही. तेव्हा ही योग्यता केव्हा प्राप्त होईल हे सांगताना श्रीकृष्ण म्हणतात–

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ।।५३।।

अनेक प्रकारच्या वेदवाक्यांमुळे व वेदातील कर्मफलांच्या श्रवणामुळे विचलित झालेली, चंचल झालेली तुझी बुद्धी जेव्हा निश्चल होऊन परमात्म स्वरूपाच्या ठिकाणी, समाधिसुखाच्या ठिकाणी स्थिर होईल तेव्हा तुला बुद्धियोगाची प्राप्ती होईल. ज्याला 'अनामय परमपद' म्हणतात ती समत्व स्थिती तुला प्राप्त होईल. हीच योगातील परम स्थिती आहे आणि हीच अप्राप्याची प्राप्ती आहे. वेदांपासून ज्ञान तर प्राप्त होतेच; परंतु श्रीकृष्ण म्हणतात '**श्रुतिविप्रतिपन्ना**' वेदांतील अनेक सिद्धांत, कर्मफले ऐकून बुद्धी विचलित होते. सिद्धांत तर अनेकजण ऐकतात, पण जे ऐकणे योग्य आहे ते मात्र लोक ऐकत नाहीत.

अशी ही चंचल बुद्धी जेव्हा समाधिसुखाच्या ठिकाणी स्थिर होईल तेव्हा तुला योगातील सर्वोच्च असे अमृत पद प्राप्त होईल. श्रीकृष्णाच्या या बोलण्याने अर्जुनाची जिज्ञासा जागृत होणे स्वाभाविक होते. समाधिसुखाची प्राप्ती करुन घेणारे महापुरुष कसे असतात? त्यांची बुद्धी स्थिर असते म्हणजे कशी असते? स्थितप्रज्ञ कोणाला म्हणायचे? अर्जुनाच्या मनात अशी जिज्ञासा निर्माण झाली म्हणून त्याने प्रश्न केला–

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषत किमासीत व्रजेत किम् ।।५४।।

'समाधीयते चित्तम् यस्मिन् स आत्मा एव समाधिः'

ज्या ठिकाणी चित्ताला निरंतर समाधान प्राप्त होते तो आत्मा म्हणजेच समाधी होय. अनादि तत्त्वामध्ये जो समत्व प्राप्त करतो, समत्त्व बुद्धिने वागतो त्याला स्थितप्रज्ञ म्हणतात. अर्जुन म्हणाला, हे केशवा, समाधिस्थितीत असणाऱ्या, स्थिर बुद्धी असणाऱ्या महापुरुषाची काय लक्षणे आहेत? स्थितप्रज्ञ पुरुष कसा बोलतो? तो कसा बसतो? तो कसा चालतो? अर्जुनाने हे चार प्रश्न विचारले त्यावर स्थितप्रज्ञाची लक्षणे सांगताना श्रीकृष्ण पुढे म्हणतात–

श्रीभगवानुवाच-

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्ट स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ।।५५।।

हे पार्था, मनुष्य जेव्हा मनामध्ये असलेल्या सर्व ईच्छांचा त्याग करुन तो आपल्या स्वस्वरूपाच्या ठिकणी संतुष्ट असतो, अशा व्यक्तीला स्थितप्रज्ञ असे म्हणतात. सर्व वासनांचा त्याग केल्यानंतरच आत्म्याचे दर्शन होते, अशा स्थिर बुद्धीच्या पुरुषाला स्थितप्रज्ञ असे म्हणतात. मनामध्ये असलेल्या इच्छांचा त्याग केल्यानंतरच आत्म्याचा साक्षात्कार होत असतो. अशा आत्माराम, आत्मतृप्त, महापरूषाला स्थितप्रज्ञ म्हणतात.

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ।।५६।।

दैहिक, दैविक व भौतिक दु:खानी ज्याचे मन विषण्ण होत नाही, सुखे प्राप्त झाली असता जो त्यांच्याविषयी निरिच्छ असतो व ज्यांचे मोह, भय, क्रोध हे नष्ट झालेले असतात, मानसिक तर्क करण्याचा टप्पा ज्याने ओलांडलेला असतो, अशा पुरुषाला स्थितप्रज्ञ मुनी म्हणावे. स्थितप्रज्ञाची अन्य लक्षणे सांगताना श्रीकृष्ण म्हणतात.

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।५७।।

जो पुरुष सर्वत्र स्नेहरहित झालेला असतो म्हणजे जो सर्व गोष्टींत अनासक्त असतो, शुभ किंवा अशुभ प्राप्त झाले असता ज्याला आनंद किंवा विषाद होत नाही त्याची बुद्धी स्थिर झाली असे समजावे. जे परमात्मस्वरूप आहे, जे मनाला परमात्म्याची आस लावते, ते शुभ! आणि जे जड प्रकृतीकडे नेते,

मनाला आसक्त करते ते अशुभ आहे असे समजावे. परंतु स्थितप्रज्ञ पुरुष मात्र सानुकूल परिस्थितीने ना प्रसन्न होतो, ना प्रतिकूल परिस्थितीने तो विषण्ण बनतो. कारण प्राप्त होणाऱ्या वस्तू त्याला स्वतःपेक्षा भिन्न वाटत नाहीत. कारण त्याविषयी तो संपूर्ण निरीच्छ झालेला असतो; तर पतित करणारे विकारही त्याला विचलित करु शकत नाहीत. म्हणजेच साधनेचे त्याला आता काही प्रयोजन उरलेले नसते. अशा व्यक्तीलाच स्थितप्रज्ञ म्हणतात.

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।५८।।

ज्याप्रकारे कासव आपल्या अवयवांना आवरून घेवू शकते त्याप्रमाणे स्थितप्रज्ञ व्यक्ती स्थिर असल्यामुळे आपल्या चंचल इंद्रियांना सर्व बाजूंनी आवरून घेवू शकते. पुढे धोका दिसताच, संकट दिसताच कासव ज्याप्रमाणे आपले डोके व पाय आवरून घेते; त्या प्रकारे तो पुरुष विषयांमध्ये आसक्त होणाऱ्या आपल्या इंद्रियांना सर्व बाजूंनी आवरून घेऊन आपल्या हृदयरूपी देशात त्यांना बंदिस्त करून ठेवतो. त्यावेळी त्याची बुद्धी स्थिर असते. परंतु कासवाचे येथे फक्त उदाहरण आहे. कारण संकट टळताच कासव आपली इंद्रिये पुन्हा पसरून असते. मग स्थितप्रज्ञ महापुरुष पुन्हा विषयात आसक्त होतो का? यावर श्रीकृष्ण म्हणतात–

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ।।५९।।

विषयांपासून इंद्रियांचा निग्रह करणाऱ्या पुरुषाचे विषय निवृत्त होतात. कारण त्या विषयांचे तो ग्रहण करीत नाहीत. परंतु त्याची विषयांबद्दल असणारी गोडी मात्र नाहीशी होत नाही. ती मनात चळवळत असते. पण विषयांपासून सर्व इंद्रियांना आवरून घेणाऱ्या निष्कामी पुरुषाला '**परंदृष्टवा**' परमतत्त्व परमात्म्याचा साक्षात्कार होताच ही त्याची गोडीही नाहीशी होते.

महापुरुष कासवाप्रमाणे आपल्या इंद्रियांना आवरून पुन्हा पसरत नाहीत. एकदा इंद्रियांना आवरून घेतले की त्याची प्रवृत्तीच तेथे संपते. संस्कार संपतात. पुन्हा ते उद्‌भवत नाहीत. निष्काम कर्मयोगाच्या आचरणद्वारा परमात्म्याच्या परम साक्षात्कारा–बरोबरच त्या पुरुषाची विषयांबद्दल असणारी

ओढ नष्ट होत असते. साधारणतः ध्यानमार्गावर मार्गस्थ असणारा साधक हठयोगाने इंद्रियांचा निग्रह करुन तो विषयांपासून निवृत्त होत असतो; परंतु त्याच्या मनामध्ये त्याचे चिंतन सुरू असते. ही त्याची विषयांबद्दलची आसक्ती '**परं दृष्टवा**' परमेश्वराच्या साक्षात्कारानंतर नाहीशी होते. त्यापूर्वी ती नाहीशी होत नाही.

'पूज्य महाराज' या संबंधीची स्वतःच्या जीवनात घडलेली एक गोष्ट सांगत असत. गृह-त्याग करण्यापूर्वी तीन वेळा आकाशवाणी झाली होती. आम्ही विचारले- "महाराज, आपल्यासाठी आकाशवाणी का झाली? आमच्यासाठी कधी झाली नाही." तेव्हा महाराज उत्तरले '**हो! ई शंका मोडूं के भई रही**' म्हणजे माझ्याही मनात ही शंका आली होती. मग मला प्रत्यंतर आल्यावर समजले की गेल्या सात जन्मांपासून मी साधूच आहे. पहिल्या चार जन्मांत तर मी फक्त साधूचा वेष धारण केला होता. कपाळावर टिळा लावून, अंगाला विभूती फासून, हातात कमंडलू घेवून मी भ्रमण करीत असे. योगक्रियेची मला काहीच माहिती नव्हती. परंतु गेल्या तीन जन्मांपासून साधू जसा असायला हवा तसा मी साधू आहे. माझ्यात योगक्रिया जागृत होती. गेल्या जन्मापासून मन भवसागर पार होऊ लागले होते. विषयांबद्दलची आसक्ती नष्ट होऊ लागली होती. परंतु दोन इच्छा मनात जागृत होत्या स्त्री व गांजा यांचा उपभोग घेण्याची इच्छा अतृप्त राहिली होती. म्हणून मला जन्म घ्यायला लागला. जन्म घेतल्यानंतर थोड्या दिवसांनी देवाने माझ्या अतृप्त इच्छा पूर्ण करून मला निवृत केले. दोन-तीनदा इच्छित गोष्टींचा स्वाद चाखायला दिला आणि मग मला साधू बनवून टाकले.

हीच गोष्ट येथे श्रीकृष्ण सांगतात की, इंद्रियांच्याद्वारे विषयभोग ग्रहण न करणारे पुरुषसुद्धा विषयांपासून निवृत्त होतात; परंतु साधनेद्वारा परम पुरुष परमात्म्याचा साक्षात्कार करून घेतल्यानंतर विषयांबाबत मनात असणारी ओढ नाहीशी होते व म्हणून जोपर्यंत त्या परमेश्वराचा साक्षात्कार होत नाही तोपर्यंत 'कर्म' करावे लागते.

उर कछु प्रथम बासना रही ।
प्रभु पद प्रीति सरित सो बही ।।

(रामचरितमानस, ५/४८/६)

इंद्रियांना विषयांपासून परावृत्त करणे, आवरून घेणे कठीण आहे याबाबत श्रीकृष्ण म्हणतात–

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।

इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ।।६०।।

हे अर्जुना, बुद्धी स्थिर होण्यासाठी निग्रहाने प्रयत्न करीत असलेल्या विवेकी, ज्ञानी पुरषांच्या मनालाही ती उच्छृंखल इंद्रिये जबरदस्तीने ओढून नेतात तेव्हा त्यासाठी–

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत् मत्परः ।

वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।६१।।

अर्जुना, इंद्रियांचे दमन करून, योगयुक्त होऊन, चित्त माझ्या ठिकाणी समपर्ण करून तू मला शरण ये, कारण ज्या पुरुषांची इंद्रिये त्याच्या स्वाधीन असतात त्याची बुद्धी स्थिर आहे असे समज. या ठिकाणी योगेश्वर कृष्ण योगसाधनेत अडसररूप ठरणाऱ्या इंद्रियांचा निषेध करीत साधनेच्या विधायक पैलूवर भर देत आहेत. केवळ संयम व निषेध करून इंद्रिये संपूर्ण स्वाधीन राहत नाहीत, ती संपूर्ण वश होत नाहीत व म्हणून समर्पणाबरोबर त्या परमेश्वराचे इष्ट–चिंतनसुद्धा अत्यंत अनिवार्य आहे. इष्ट चिंतन नसेल तर मनात विषयांचे चिंतन केले जाईल व त्याचे दुष्परिणाम काय होतात ते श्रीकृष्णांच्याच शब्दात पाहू.

ध्यायतो विषयान्पुंसः सगस्तेषूपजायते।

संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।।६२।।

विषयांचे चिंतन करणाऱ्या पुरुषाला विषयाविषयी आसक्ती निर्माण होते. आसक्तीमुळे काम निर्माण होतो. व कामपूर्ती मध्ये जर काही व्यवधान आले, अडचण निर्माण झाली तर क्रोध निर्माण होतो. आता हा क्रोध कोणाला जन्म देतो.

क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।

स्मृतिभ्रंशाद्‌बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।।६३।।

क्रोधामुळे विवेकाची कास सुटून जाते. तेथे अविवेक निर्माण होतो. नित्य–अनित्य वस्तूचा विचार राहत नाही. कार्याविषयीचा विवेक राहत नाही.

संमोह निर्माण होतो. या संमोहापासून–अविवेकापासून स्मृतिभ्रंश होतो. विस्मरण होते. (जसे अर्जुनाला झाले 'भ्रमतीव च मे मनः। काय करू आणि काय नको याचा मी निर्णय घेऊ शकत नाही) विस्मरणाने, स्मृती भ्रमिष्ट होण्याने योग–परायण बुद्धी नष्ट होते आणि बुद्धिनाश झाल्याने त्या पुरुषाच्या सर्वस्वाचा नाश होतो.

येथे श्रीकृष्णांनी विषयांचे चिंतन करू नये यावर भर दिला आहे. साधकाने ईश्वराच्या नामरूपाचे, त्याच्या लीलांचे, ईश्वरधामाचे सतत चिंतन केले पाहिजे. आपले मन–बुद्धी त्याच्या ठिकाणीच समर्पित केली पाहिजे. जर ईश्वरसाधनेत टाळाटाळ केली, आळस केला तर चंचल मन पुन्हा विषयांकडे खेचले जाईल. या विषयांच्या चिंतनाने त्यांच्याविषयी पुन्हा आसक्ती निर्माण होईल. आसक्तीमुळे त्या विषयाची कामना साधकाच्या अंतर्मनात उत्पन्न होईल. या कामनापूर्तीमध्ये काही विघ्न, काही अडचण, निर्माण झाली तर मग क्रोध निर्माण होईल. क्रोधापासून अविचार, अविचारापासून स्मृतिभ्रंश आणि स्मृतिभ्रंशापासून बुद्धी नष्ट होते. निष्काम कर्मयोगालाच बुद्धियोग असे म्हंटले जाते. कारण मनात अभिलाषा निर्माण होऊ नये, फलाची अपेक्षा ठेवू नये, अभिलाषा निर्माण झाल्यानेच बुद्धियोग नष्ट होतो; या सर्व गोष्टींचा विचार बुद्धीच्या पातळीवर करावयाचा असतो– '**साधन करिय विचारहीन मन शुद्ध होय नहि तैसे। (विनयपत्रिका, पद संख्या ११५/३)** म्हणून विवेक असणे अत्यंत आवश्यक आहे. कारण विचारहीन पुरुष श्रेय साधनापासून भ्रष्ट होतो, त्याच्या सर्वस्वाचा नाश होतो.

विषयाभिमुख साधकाची अशी अवस्था होत असते, परंतु ज्याची इंद्रिये त्याच्या पुर्ण ताब्यात असतात त्यांना कोणती गती प्राप्त होते हे सांगताना श्रीकृष्ण म्हणतात–

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ।।६४।।

राग द्वेषरहित व पूर्णपणे स्वाधीन असलेल्या इंद्रियांनी विषयांचा उपभोग घेणारा व ज्याचे मन त्याच्या पुर्णपणे स्वाधीन आहे असा आत्मानंदात तल्लीन असणाऱ्या व शुद्ध आत्मस्वरुप होऊन राहणाऱ्या पुरुषाला मनाची प्रसन्नता प्राप्त होते. अशा महापुरुषाला कशाचाच विधि–निषेध असत नाही. त्याच्यासाठी कोणतीच गोष्ट अशुभ असत नाही की, जिच्यापासून त्याने स्वतःचा बचाव

करावा किंवा ज्या गोष्टीची त्याने अभिलाषा धरावी, अशी काही शुभ गोष्टही त्याच्यासाठी असत नाही.

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ।।६५।।

भगवतस्वरूप झालेल्या पुरुषाचे चित्त प्रसन्न झाले असता त्याच्या सर्व दुःखांचा नाश होतो. '**दुःखालयम अशाश्वतम**' त्याला संसार असार वाटतो– तुच्छा वाटतो आणि मग प्रसन्न चित्त पुरुषाची बुद्धी परमात्मस्वरुपी लवकर स्थिर होते. परंतु जो योगमुक्त असत नाही, त्याचे वर्णन करताना श्रीकृष्ण म्हणतात–

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ।।६६।।

योग–साधनरहित पुरुषाच्या अंतःकरणात निष्काम कर्मयुक्त बुद्धी असत नाही. त्याच्या अंतःकरणात भाव असत नाही. म्हणजे त्याचे मन आत्मस्वरूपी स्थिर असत नाही. जो असा भावनारहित आहे अशा पुरुषाला शांती कोठून मिळणार? आणि जो अशांत आहे, शांतिरहित आहे त्याला सुख कोठून प्राप्त होणार? योगसाधना केल्याने, काही प्रत्यंतर आल्यानंतरच स्थिर बुद्धिची इच्छा निर्माण होते. '**जाने बिनु न होइ परतीति**' भावनेशिवाय शांती मिळत नाही व शांतिरहित पुरुषाला सुखाची अर्थात शाश्वत सनातनची प्राप्ती होत नाही.

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ।।६७।।

ज्याप्रमाणे सोसाट्याच्या वाऱ्याने पाण्यातील नाव भलतीकडेच ओढून नेली जाते, त्याप्रमाणेच विषयांच्या मागे धावणाऱ्या इंद्रियांपैकी ज्या इंद्रियाबरोबर मन राहते ते एक इंद्रिय जरी स्वतःची तृप्ती करण्यात गुंतले असले; तरी बुद्धीला हरण करते. म्हणून साधकाने योगाचे आचरण अवश्य करावे. आचरणावर भर देताना श्रीकृष्ण म्हणतात–

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।६८।।

तेव्हा हे माहाबाहो अर्जुना, इंद्रियांच्या विषयांपासून ज्याची इंद्रिये सर्व बाजूंनी आवरून धरलेली असतात, त्याची बुद्धी स्थिर आहे असे समजावे. येथे 'बाहू' हे कार्यक्षेत्राचे-पराक्रमाचे प्रतीक आहे. परमेश्वराला 'महाबाहू' तसेच 'अजानुबाहू' असे म्हंटले आहे; पण ईश्वर हातापायांशिवाय सर्वत्र संचार करीत असतो. जो ईश्वरस्वरूप बनतो, त्यालाही महाबाहू असेच म्हंटले जाते. म्हणून येथे कृष्णाला व अर्जुनाला दोघांनाही महाबाहू म्हंटले आहे.

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।

यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ।।६९।।

सर्व प्राणिमात्रांसाठी तो परमात्मा रात्रीप्रमाणे आहे. कारण तो दिसत नाही, तेथे विचार काम करीत नाही म्हणून तो रात्र-सदृश आहे. त्या निशारूप परमात्म्यामध्ये संयमी पुरुष चांगल्याप्रकारे चालू शकतो, पाहू शकतो, जगू शकतो कारण तेथे त्याची पकड असते. योगी पुरुष इंद्रियांचे नियमन करुन त्या संयमाद्वारे त्याच्या ठिकाणी प्रवेश मिळवतो. ज्या नश्वर सांसारिक सुखभोगासाठी सर्व प्राणी रात्रंदिवस परिश्रम करतात तीच योग्यांसाठी रात्र असते.

रमा विलासु राम अनुरागी ।

तजत बमन जिमि जन बड़भागी ।।

(रामचरितमानस, २/३२३/८)

जो योगी परमार्थ मार्गात निरंतर दक्ष आणि भौतिक इच्छांमध्ये संपूर्णपणे निःस्पृह असतो तोच परमेश्वरस्वरूप होऊ शकतो. तो या जगात राहत असला तरी येथील भौतिक पाश त्याला बद्ध करू शकत नाहीत. महापुरुषाच्या आचरणाचे वर्णन करताना श्रीकृष्ण पुढे म्हणतात-

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं

समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।

तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे

स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ।।७०।।

ज्याप्रमाणे पाण्याने परिपूर्ण असलेल्या समुद्रात नद्यांचे पाणी सर्व बाजूंनी वेगात प्रवेश करते; पण समुद्रावर परिणाम होत नाही, त्याच प्रकारे परमात्मस्वरूपी स्थिर असणाऱ्या स्थितप्रज्ञ पुरुषामध्ये सर्व विकार त्याची शांती विचलित न

करता प्रवेश करतात. अशा पुरुषाला परमशांती प्राप्त होत असते. विषयभोगांची अभिलाषा राखणाऱ्याला अशा प्रकारची शांती प्राप्त होत नाही.

भयंकर वेगाने सुसाट वाहणाऱ्या नद्या शेते नष्ट करीत, अनेकांचा बळी घेत, गावे बुडवीत हाहाःकार माजवीत, अत्यंत वेगाने समुद्रात प्रवेश करतात, परंतु त्यामुळे समुद्राला भरती येत नाही किंवा तो क्षुब्ध होत नाही. तसेच उन्हाळ्यात नद्या आटून गेल्याने समुद्रात त्यांचे पाणी न येण्याने समुद्राला ओहटी लागत नाही. त्या प्रकारे स्थितप्रज्ञ मनुष्याचे मन विषयभोगांनी क्षुब्ध होत नाही, उलट ते भोग त्याच्या मनात सामावून जातात. ते त्याच्या मनात चांगला किंवा वाईट कोणत्याच भावना निर्माण करू शकत नाहीत. कारण योगयुक्त पुरुषाचे कर्म 'अशुक्ल' आणि 'अकृष्ण' असते. ज्या चित्तावर संस्कार होतात ते चित्तच परमात्मस्वरूप झालेले असते. मग आता संस्कारक्षम उरले काय? केवळ या एकाच श्लोकात श्रीकृष्णांनी अर्जुनाच्या अनेक प्रश्नांचे उत्तर दिले आहे. स्थितप्रज्ञ महापुरुषाचे लक्षण कोणते? तो कसा बोलतो? तो कसा चालतो? या सर्व गोष्टी अर्जुनाला जाणून घ्यायचा होत्या. तेव्हा ह्या सर्व प्रश्नांचे उत्तर श्रीकृष्णांनी येथे एका शब्दात दिले आहे. स्थितप्रज्ञ महापुरुष समुद्रासारखा असतो. अशाप्रकारे बसावे किंवा अशा प्रकारेच चालावे असा कसलाच विधीनिषेध त्याला नसतो. समुद्रवत तो संयमी असल्याने परमशान्ती त्याला प्राप्त होते. विषयभोगांची लालसा ठेवणाऱ्याला अशा प्रकारची शांती प्राप्त होत नाही. यावर भर देत श्रीकृष्ण म्हणतात–

विहाय कामान्यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति ।।७१।।

जो पुरुष सर्व इच्छांचा त्याग करून ममत्वशून्य, निराभिमानी व निरीच्छ होऊन आचरण करीत असतो, वागत असतो त्यालाच परमानंद देणारी परमशांती प्राप्त होते. यानंतर त्याला काहीही प्राप्त करण्याचे बाकी राहत नाहीत.

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।।३८।।
स्थित्वास्यामन्त-कालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ।।७२।।

पार्था, ही उपरोक्त अवस्था म्हणजेच ब्राह्मी स्थिती आहे. समुद्रवत् असणाऱ्या महापुरुषामध्ये विषय नदीप्रमाणे परमात्मदर्शी असतो. '**अहं ब्रह्मास्मि**' असे नुसते म्हणण्याने ही स्थिती प्राप्त होत नाही. साधना करुनच

ही स्थिती प्राप्त केली जाते. असा महापुरुष अंतकाळीदेखील या अवस्थेत स्थिर होऊन बह्मानंदाप्रत पोहचतो.

निष्कर्ष-

काही लोकांचे असे म्हणणे आहे की, साधारणतः दुसऱ्या अध्यायातच गीता पूर्ण होते. परंतु जर केवळ कर्माच्या उच्चारणाने जर कर्म पूर्ण होत असेल तर मग गीता इथे पूर्ण झाली म्हणता येईल. या अध्यायात योगेश्वर श्रीकृष्णाने सांगितले आहे की-अर्जुना निष्काम कर्मयोग म्हणजे काय ते ऐक, तो समजून घे. तो समजून घेतल्यावर तू संसार-बंधनातून मुक्त होशील. कर्म करण्याचा तुला अधिकार आहे, पण फल घेण्याचा अधिकार तुला मुळीच नाही. कर्मामध्ये तू अश्रद्ध असता कामा नये. ते करण्यास तू नेहमी तत्पर असला पाहिजेस. असे आचरण केलेस तर 'परं दृष्टवां' परमपुरुषाचा तुला साक्षात्कार होईल व तू स्थितप्रज्ञ बनशील. परमशान्ती तुला प्राप्त होईल. परंतु या अध्यायात कर्म म्हणजे काय? हे मात्र सांगितलेले नाही.

हा 'सांख्ययोग' नावाचा अध्याय नाही. हे नाव म्हणजे शास्त्रकारांची नव्हे पण टीकाकारांची देणगी आहे. ते आपल्या बुद्धीला अनुसरून ग्रहण करीत असतात. मग आश्चर्य कसले? या अध्यायात कर्माचे श्रेष्ठत्व, ते कर्म करीत असताना घ्यावयाची दक्षता आणि स्थितप्रज्ञाची लक्षणे सांगून श्रीकृष्णांनी अर्जुनाच्या मनात कर्माबद्दल उत्कंठा जागृत केली आहे. व त्याला सांगितले आहे की आत्मा शाश्वत आहे, सनातन आहे. त्याला तू जाण व तत्त्वदर्शी बन. त्याच्या प्राप्तीची दोन साधने आहेत '**ज्ञानयोग आणि निष्काम कर्मयोग**' आपली योग्यता समजून, हानी व लाभाचा स्वतः निर्णय घेऊन कर्मात प्रवृत्त होणे म्हणजे ज्ञानमार्ग आहे आणि परमेश्वरावर भार घालून स्वतःला त्याच्या ठायी समर्पित करुन तेच कर्म करण्यास प्रवृत्त होणे हाच निष्काम कर्म मार्ग किंवा भक्ति मार्ग आहे. गोस्वामी तुलसीदासांनी या दोन साधनांचे-योगांचे चित्रण पुढील प्रमाणे केले आहे.

मोरे प्रौढ तनय सम ग्यानी ।

बालक सुत सम दास अमानी ।।

जनहि मोर बल निजबल ताही ।

दुहु कहँ काम क्रोध रिपु आही ।।

(रामचरितमानस, ३/४२/८-९)

माझे दोन प्रकारचे भक्त आहेत. एक ज्ञानमार्गी व दुसरा भक्तिमार्गी. निष्काम कर्मयोगी किंवा भक्तिमार्गी मला शरण येऊन माझा आश्रय घेतात तर ज्ञानयोगी आपल्या शक्तीचा अंदाज घेवून, आपल्या लाभहानीचा विचार करून ते आपल्या भरवशावर, आत्मविश्वासावर चालतात. दोघांचा शत्रू मात्र एकच असतो. ज्ञानमार्गी भक्ताला काम-क्रोधादि शत्रूंवर विजय मिळवावा लागतो आणि जो कर्मयोगी आहे त्यालाही या शत्रूशी सामना करावा लागतो. इच्छांचा त्याग दोघेही करतात आणि दोन्ही मार्गात केले जाणारे कर्मही एकच असते. या कर्माच्या आचरणामुळे परमशान्ती प्राप्त होते. तथापि श्रीकृष्णांनी कर्म म्हणजे काय हे अद्याप सांगितले नाही. आपल्या समोरही कर्म म्हणजे काय हा प्रश्न उभा आहे. अर्जुनाच्या मनातही कर्माबद्दल जिज्ञासा निर्माण झाली आहे. त्यामुळे तिसऱ्या अध्यायाच्या आरम्भीच त्याने कर्मविषयक प्रश्न विचारण्यास सुरुवात केली.

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे 'कर्मजिज्ञासा' नाम द्वितीयोऽध्यायः।।२।।

या प्रमाणे श्रीमद्भगवद्गीतेमध्ये श्रीकृष्णांनी गायिलेल्या उपनिषदातील बह्मविद्यांतर्गत योगशास्त्रातील 'कर्म जिज्ञासा' म्हणजेच 'सांख्य प्रकरण' नावाचा दुसरा अध्याया समाप्त झाला!

इति श्रीमत्परमहंस परमानन्दस्य शिष्य स्वामी अड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्भगवद्गीतायाः 'यथार्थगीता' भाष्ये 'कर्मजिज्ञासा' नाम द्वितीयोऽध्यायः।।२।।

या प्रकारे श्रीमत्परमहंस परमानंद स्वामींचे शिष्य अड़गड़ानन्दकृत श्रीमद्भगवद्गीतेवरील भाष्य 'यथार्थ गीते' मधील 'कर्म जिज्ञासा' नावाचा दुसरा अध्याय पुर्ण होत आहे.

।। हरिः ॐ तत्सत् ।।

ॐ

श्री परमात्मने नमः

।। अथ तृतीयोऽध्यायः ।।

अध्याय तिसरा

दुसऱ्या अध्यायात भगवान श्रीकृष्णांनी अर्जुनाला सांगितले की, ही बुद्धी तुझ्यासाठी ज्ञानमार्गाच्या बाबतीत सांगितली गेली. कोणती बुद्धी? हीच की युद्ध कर. जिंकलास तर सर्वश्रेष्ठ परमात्म्याची स्थिती प्राप्त होईल व हरलास तरी देवत्व प्राप्त होईल. म्हणजे विजयात सर्वस्व आहे विजय आहे आणि हरण्यात पण देवत्व आहे. म्हणजे युद्ध करण्याने काही ना काही प्राप्ती तर होणारच आहे. या दृष्टीने लाभ आणि हानी दोन्हीमध्ये काही ना काही मिळतेच. किंचितही नुकसान किंवा क्षती नाही. नंतर ते म्हणाले आता तू कर्मबंधनातून चांगल्या प्रकारे सुटून जाशील. त्यानंतर त्याच्या वैष्ट्यिावर प्रकाश टाकला. कर्म करताना आवश्यक ती दक्षता घ्यायला हवी. यावर भर दिला की, फळाची वासना ठेवणारे कर्म नको. कामनांपासून रहित होऊन कर्मामध्ये प्रवृत्त हो पण अश्रद्ध होऊन कर्म करू नकोस, यामुळे तू कर्मबंधनातून मुक्त होशील. मुक्त तर होशील परंतु मार्गात आत्मपरीक्षण होणार नाही.

म्हणून अर्जुनाला निष्काम कर्मयोगापेक्षा ज्ञानमार्ग सरळ व प्राप्त होण्याजोगा वाटला. त्याने प्रश्न केला, हे जनार्दना, निष्काम कर्मापेक्षा ज्ञानमार्ग आपल्या दृष्टीने श्रेष्ठ आहे. तर मग मला भयंकर कर्मामध्ये रत होण्यास का आग्रह करता? प्रश्न तर स्वाभाविकच होता. समजा एक विवक्षित ठिकाणी जाण्यासाठी दोन मार्ग आहेत. आपल्याला खरोखर जायचे असेल; तर आपण आवश्य प्रश्न विचाराल की, या दोनपैकी सोपा रस्ता कोणता? जर असा प्रश्न विचारला नाहीत तर आपण वाटसरूच नाही. नेमका याच प्रकारे अर्जुनाने प्रश्न विचारला–

अर्जुन उवाच-

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।

तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव।।१।।

लोकांवर दया करणाऱ्या जनार्दना, जर निष्काम कर्मयोगापेक्षा आपल्याला ज्ञानयोग श्रेष्ठ वाटतो तर मग हे केशवा, मला तुम्ही भयंकर कर्मयोग का करायला लावत आहात? निष्काम कर्मयोग अर्जुनाला भयंकर-भयानक वाटत आहे कारण की, यात कर्म करण्याचाच अधिकार आहे. फळाचा अधिकार मुळीच नाही. कर्म करताना ते श्रद्धापूर्वक करावे आणि निरंतर योगावर दृष्टी ठेवून समर्पणासह कर्म करण्यास प्रवृत्त झाले पाहिजे.

जर ज्ञानमार्गात हरलास तर देवत्त्व आहे. विजय प्राप्त केल्यास महान परमात्म स्थितीची प्राप्ती आहे. आपला लाभ-हानी स्वतः बघत पुढे जायचे आहे. या प्रकारे अर्जुनाला निष्काम कर्मयोगापेक्षा ज्ञानमार्ग सरळ आहे-सुलभ आहे असे वाटले. व म्हणून त्याने निवेदन केले-

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।

तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्।।२।।

आपण या संमिश्र वचनांनी माझ्या बुद्धीला मोह पाडीत आहात. आपण तर माझ्या बुद्धीचा मोह दूर करण्यास प्रवृत्त झालेले आहात. म्हणून यातील जे श्रेय आहे, परम कल्याणकारी, मोक्ष प्राप्त करून देणारे आहे, असे एक निश्चित करून सांगा. यावर श्रीकृष्ण म्हणाले-

श्रीभगवानुवाच-

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।

ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्।।३।।

हे निष्पाप अर्जुना, या संसारात सत्यशोधाचे दोन प्रवाह माझ्याकडून पूर्वीच सांगितले गेले आहेत. पूर्वी म्हणजे कधी सत्ययुगात किंवा त्रेतायुगात नाही; परंतु ते दुसऱ्या अध्यायात सांगितले आहे. ज्ञानी लोकांसाठी

ज्ञानमार्ग व योग्यांसाठी कर्मयोग मी सांगितला आहे. दोन्ही मार्गांप्रमाणे कर्म तर करायलाच लागते. 'कर्म' अनिवार्य आहे.

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।

न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति।।४।।

अर्जुना, कर्माचा आरंभ न करता मनुष्याला नैष्कर्म्य प्राप्त होत नाही. तसेच आरंभ केलेल्या कार्याचा (क्रियेचा) त्याग केल्याने भगवत्प्राप्तिरूपी परमसिद्धी प्राप्त करता येत नाही. मग तुला ज्ञानमार्ग चांगला वाटो की निष्काम कर्म मार्ग, दोन्हींमध्ये तुला कर्म तर करावेच लागेल.

साधारणः लोक भगवत्पथाचा संक्षिप्त मार्ग व समर्थनासाठी विधाने शोधत बसतात, तेव्हा कर्माचा आरंभ केलाच नाही म्हणजे झाला निष्कर्मी, अशा प्रकारचा लोकांना भ्रम होऊ नये म्हणून श्रीकृष्ण भारपूर्वक सांगत आहेत, " कर्माचा आरंभ न केल्याने कोणालाही नैष्कर्म्य प्राप्त होत नाही". शुभाशुभ कर्मांचा जेथे अंत असतो– शेवट असतो ती परम निष्कर्मतेची– नैष्कर्म्याची परम स्थिती होय व ती कर्म करीतच प्राप्त करता येते. अशा प्रकारे पुष्कळसे लोक म्हणत असतात, "आम्ही तर ज्ञानमार्गी आहोत. ज्ञानमार्गात कर्मच नसते." असे समजून कर्माचा त्याग करणारे ज्ञानी होत नाहीत. ज्या क्रियेचा आरंभ केला आहे, तिचा त्याग केल्याने काही भगवंताची साक्षात्काररूपी परमसिद्धी प्राप्त होत नाही. कारण–

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।

कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।।५।।

कोणतीही व्यक्ती कोणत्याही समयी काही तरी कर्म केल्याशिवाय क्षणभरहीं राहत नाही. कारण प्रत्येक व्यक्ती प्रकृतिजन्य गुणांच्या आधीन असल्याने ते गुण प्रत्येकाकडून कर्म करवीतच असतात. प्रकृती आणि प्रकृतिजन्य गुण जोपर्यंत जिवंत आहेत, तोपर्यंत कोणीही व्यक्ती कर्म केल्याशिवाय राहत नाही.

चौथ्या अध्यायातल्या तेहतिसाव्या व अडतीसाव्या श्लोकांत श्रीकृष्ण

म्हणतात की, यावन्मात्र कर्म ज्ञानातच समाप्त होत असते. ज्ञानरूपी अग्नी संपूर्ण कर्मांना भस्म करून टाकीत असतो. येथे ते म्हणतात की कर्म केल्याशिवाय कोणीही राहू शकत नाही. शेवटी ते महापुरूष काय सांगतात? त्यांच्या सांगण्याचा आशय असा की, यज्ञ करता करता तिन्ही गुणांच्या पलीकडे गेल्यावर मनाचा परमात्म्यात विलय आणि साक्षात्काराबरोबर यज्ञाचा परिणाम दिसून येतो. म्हणजेच कर्म नाहीसे होते. म्हणजे त्या निर्धारित क्रिया पूर्ण झाल्याशिवाय कर्म संपत नाही. प्रकृती पिंड सोडत नाही.

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।।६।।

असे असूनही काही मूर्ख लोक जे कर्मेन्द्रियांचा निरोध करून मनात इंद्रिय भोगांचे, विषयांचे, चिंतन करीत राहतात, असे मूर्ख लोक ज्ञानी नसून ते ढोंगी व पाखंडी आहेत. याचा अर्थ असा की श्रीकृष्णाच्या काळात देखील अशा रूढी होत्या. ज्या क्रिया करण्यास योग्य असतात त्या करण्याचे सोडून इंद्रियांचा हट्टाने निग्रह करून स्वतःला 'मी ज्ञानी आहे', 'मी पूर्ण आहे' असे समजत असत. परंतु श्रीकृष्ण म्हणतात की, असे लोक धूर्त आहेत. तात्पर्य ज्ञानमार्ग चांगला वाटो की निष्काम कर्मयोग, दोन्ही मार्गांत कर्म तर करायलाच हवे.

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते।।७।।

हे अर्जुना, जो पुरुष मनाने इंद्रियांना वश करून- इंद्रियांचे नियमन करून, मनात वासनांचे स्फुरण न होईल, असे सर्वथा अनासक्त झालेल्या कर्मेंद्रियांनी कर्मयोगाचे आचरण करतो तो पुरुष श्रेष्ठ होय. ठीक आहे. आता समजले की, कर्माचे आचरण करायला पाहिजे; परंतु प्रश्न असा उभा राहतो की, कोणते काम करावे? यावर श्रीकृष्ण पुढे म्हणतात-

नियतं कुरू कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्य कर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः।।८।।

अर्जुना, तू निर्धारित विहित कर्म कर. अर्थात कर्मे तर अनेक प्रकारची असतात, पण त्यातून एक निवडले आहे ते नियत कर्म तू कर. कर्म न करण्यापेक्षा कर्म करणे चांगले कारण की, कर्म करीत थोडेसे अंतर पण कापलेत तर मागे सांगितल्याप्रमाणे ते कर्म मोठ्या जन्ममरणाच्या भयापासून मनुष्याला मुक्त करते. कर्म न केल्याने तुझी यात्रा सिद्ध होऊ शकणार नाही. या शरीरयात्रेचा अर्थ शरीर निर्वाह असे काही लोक लावतात. पण कसला शरीर निर्वाह? काय आपण स्वत: एक शरीर आहात? हा पुरुष जन्मांतरापासून, युगानुयुगे शरीराची यात्रा तर करीत आला आहे. ज्याप्रमाणे वस्त्र जीर्ण झाल्यानंतर दुसरे तिसरे धारण केले जाते, त्याप्रकारे किड्यामुंगीपासून मनुष्यापर्यंत, ब्रह्मापासून यावन्मात्र जगत हे परिवर्तनशील आहे. वरच्या-खालच्या योनीमधून हा जीव शरीराची जणू यात्राच करीत आहे. 'कर्म' ही अशी वस्तू आहे की जी या यात्रेला सफल-सिद्ध करविते- पूर्ण करून देते. समज एकच जन्म घ्यायला लागला तर ही यात्रा चालूच आहे. आता तर पथिक वाट चालतो आहे, तो दुसऱ्या शरीराची यात्रा करीत राहिला आहे. यात्रा पूर्ण होते तेव्हा इप्सित ठिकाण येते. परमात्मस्थिती प्राप्त झाल्यानंतर आत्म्याला शरीराची यात्रा करावी लागत नाही, '**मोक्ष्यसे अशुभात्** ' **(४/६)** अर्जुना, हे कर्म करून तू संसार बंधनातून सुटून जाशील. कर्म ही एकच अशी वस्तू आहे की, मनुष्याला संसारबंधनातून मुक्ती देवविते. आता प्रश्न उभा राहतो की ते निर्धारित कर्म काय आहे? यावर श्रीकृष्ण सांगतात-

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबंधनः।

तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर।।९।।

हे अर्जुना, यज्ञाची प्रक्रिया म्हणजे कर्म आहे.ज्यामुळे यज्ञ पूर्ण होतो ती क्रिया म्हणजे कर्म होय. हे तर सिद्ध आहे की, कर्म एक निर्धारित प्रक्रिया आहे. मग या व्यतिरिक्त जे कर्म असते ते कर्म नव्हे का? श्रीकृष्ण म्हणतात- नाही, ते कर्म नव्हे. '**अन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः** ' या कर्माच्या व्यतिरिक्त जगात जे काही केले जाते, ज्यामध्ये सारे जग रात्रंदिवस व्यस्त असते, ते

कर्म म्हणजे या लोकीचे बंधन आहे, ते कर्म नव्हे. कर्म ते असते **'मोक्ष्यसेऽशुभात्'** जे अशुभ अर्थात संसारबंधनातून मुक्त करते. फक्त यज्ञाची प्रक्रिया म्हणजे कर्म होय. व म्हणून हे अर्जुना, त्या यज्ञाच्या पूर्तीसाठी संगदोषापासून अलग-दूर राहून चांगल्या प्रकारे कर्माचे आचरण कर, संगदोषापासून दूर राहिल्याशिवाय म्हणजेच अनासक्त झाल्याशिवाय हे कर्म होतच नाही.

आता यज्ञाची प्रक्रिया म्हणजे कर्म होय हे समजले. परंतु येथे पुन्हा एक नवीन प्रश्न निर्माण झाला की, हा यज्ञ म्हणजे काय? तेव्हा श्रीकृष्णांनी प्रथम यज्ञ म्हणजे काय हे न सांगता हा यज्ञ येतो कोठून? तो देतो काय? त्याची विशेषता काय आहे यावर प्रकाश टाकला आहे व चौथ्या अध्यायात ज्या यज्ञाला आम्ही कार्यरूप देऊ व आमच्याकडून कर्म होऊ लागेल तो यज्ञ म्हणजे काय ते सांगितले आहे. योगेश्वर श्रीकृष्णांच्या शैलीवरून हे स्पष्ट होते की त्यांना ज्याचे चित्रण करावयाचे असते त्याची ते प्रथम विशेषता किंवा वैशिष्ट्ये सांगतात, ज्यामुळे त्या वस्तूविषयी मनात श्रद्धा निर्माण होईल. त्यानंतर त्याच्या बाबतीत घ्याव्या लागणाऱ्या दक्षतेबद्दल सांगतात. आणि शेवटी मुख्य सिद्धांत प्रतिपादन करतात.

इथे लक्षात ठेवावे की, या ठिकाणी श्रीकृष्णाने कर्माच्या दुसऱ्या अंगावर प्रकाश टाकून सांगितले आहे की, कर्म एक निर्धारित क्रिया आहे. जे काही केले जाते ते सर्व कर्म नसते.

दुसऱ्या अध्यायात प्रथमच कर्माचा उच्चार केला. कर्माच्या वैशिष्ट्यांवर भर दिला. त्याच्या बाबतीत घ्यावयाच्या दक्षतेवर प्रकाश टाकला. परंतु त्यांनी तेथे कर्म म्हणजे काय ते मात्र सांगितले नाही. येथे तिसऱ्या अध्यायात त्यांनी सांगितले की कोणीही काम केल्याशिवाय राहत नाहीत. प्रकृतीच्या गुणांनी विवश होऊन मनुष्य कर्म करीत असतो. तथापि जे लोक इंद्रियांचा हट्टाने निग्रह करून मनामध्ये मात्र विषयांचे चिंतन करतात ते लोक दांभिक आहेत. ढोंगी आहेत यासाठी हे अर्जुना, मनाने तू इंद्रियांना आवर घालून मग तू कर्म कर. परंतु मूळ प्रश्न जसाच्या तसाच राहिला की, कर्म खरे पण

कोणते कर्म करावे? यावर योगेश्वर श्रीकृष्णांनी सांगितले की निर्धारित केलेले कर्म कर.

आता पुन्हा प्रश्न उपस्थित होतो की निर्धारित कर्म म्हणजे काय? तेव्हा त्यांनी स्पष्ट केले की यज्ञाला कार्यरूप देणे म्हणजे कर्म होय. आता प्रश्न निर्माण होतो की तो यज्ञ तरी काय आहे? या अध्यायात यज्ञाची उत्पत्ती, वैशिष्ट्ये सांगून गप्प राहतील व पुढे चौथ्या अध्यायात यज्ञाचे स्पष्ट झालेले निखळ स्वरूप प्राप्त होईल की जे करणे म्हणजे कर्म होय.

कर्माची ही परिभाषा म्हणजे गीतेला समजून घेण्याची चावी आहे, मेख आहे. यज्ञाच्या व्यतिरिक्त जगात लोक काही ना काही करीत असतात. कोणी शेती करत असतात, तर कोणी व्यापार! कोणी अधिकारी आहेत, तर कोणी सेवक! कोणी स्वतःला बुद्धिजीवी समजतात तर कोणी श्रमजीवी! कोणी समाजसेवेला कर्म समजतात, तर कोणी देशसेवेला कर्म समजतात आणि या कर्मामध्ये लोक सकाम आणि निष्काम कर्माची भूमिका पण बजावतात. परंतु श्रीकृष्ण म्हणतात की, हे कर्म नाही. '**अन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः**' यज्ञाच्या प्रक्रियेशिवाय दुसरे कोणतेही केले गेलेले कर्म हे या लोकांचे बंधनकारक कर्म आहे. मोक्ष देणारे कर्म नव्हे. वास्तविक यज्ञाची प्रक्रिया हेच कर्म होय. आता यज्ञ म्हणजे काय ते सांगताना यज्ञ कोठून आला ते सांगत आहेत–

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।।१०।।

प्रजापति ब्रह्मदेवाने कल्पाच्या पूर्वी यज्ञासहित प्रजा निर्माण करून सांगितले की या यज्ञाद्वारा बुद्धी प्राप्त होवो. हा यज्ञ तुम्हा लोकांना '**इष्टकामधुक्**' अनिष्टकारक न होवो. विनाशरहित इष्ट संबंधी कामनांची पूर्ती करणारा होवो.

यज्ञासहित प्रजेची रचना कोणी केली? प्रजापति ब्रह्माने? ब्रह्मा कोण? चार तोंडे, आठ डोळे असणारी प्रचलित देवता म्हणजे ब्रह्मा आहे का? नाही, श्रीकृष्णाच्या मताप्रमाणे देवता नावाची कोणती अलग सत्ताच अस्तित्वात

नाही. मग प्रजापति कोण? वास्तविक ज्याने प्रजापतिचा मूळ उगम म्हणजे परमात्म्यामध्ये प्रवेश मिळविला आहे तो महापुरूष म्हणजे प्रजापती आहे. बुद्धीच ब्रह्म आहे. '**अहंकार शिव, बुद्धी, अज, मन शशि चित्त महान।**' (**रामचरितमानस**) ज्यावेळी बुद्धी यंत्राप्रमाणे असते, त्यावेळी त्या महापुरुषाच्या वाणीमधून परमात्माच बोलत असतो.

भजनाची वास्तविक क्रिया प्रारंभ झाल्यावर बुद्धीची उत्तरोत्तर उन्नती होते. सुरुवातीला ती बुद्धी ब्रह्मविद्येला जोडलेली असल्यामुळे 'ब्रह्मवित्' म्हंटली जाते. क्रमाक्रमाने विकारांचे शमन झाल्यावर ब्रह्मविद्येत श्रेष्ठ झाल्यावर हिला 'ब्रह्मविद्वर' म्हंटले जाते. उत्थान आणि सूक्ष्म झाल्यावर बुद्धी विकसित होते, तेव्हा तिला 'ब्रह्मविद्वरीयान' म्हंटले जाते. त्या अवस्थेमध्ये ब्रह्मविद्वेत्ता ब्रह्मज्ञानी पुरुष दुसऱ्यांनाही उच्च मार्गावर आणण्याचा अधिकार मिळवतो. बुद्धीची अत्युच्च स्थिती आहे–ब्रह्मविद्वरिष्ठ! अर्थात ब्रह्म जाणणाऱ्याची. ती अवस्था जिच्यात इष्ट प्रवाहित आहे अशी असते.

या प्रकारे परमात्मस्वरूपी स्थित महापुरुषांनी भजनाच्या प्रारंभी यज्ञासहित संस्कारांना सुसंघटित करून सांगितले की, या यज्ञाने तुमची भरभराट होवो; तुम्हाला समृद्धी प्राप्त होतो. कसली समृद्धी? काय कच्ची घरे पक्की बनून जातील? आर्थिक प्राप्ती अधिक होईल? नाही यज्ञ '**इष्टकामधुक्**' इष्ट म्हणजे भगवंतासंबंधीची कामना तृप्त करेल. यज्ञ परमात्म्यासंबंधीची कामना तृप्त करणारा आहे. मग सहजच प्रश्न येतो की यज्ञ सरळ सरळ भगवंताची प्राप्ती करून देईल की क्रमाक्रमाने?

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।।११।।

या यज्ञाचे द्वारे देवतांची उन्नती करा. अर्थात दैवी संपत्तीची उन्नती करा. त्या देवता तुमची उन्नती करतील. या प्रकारे परस्परांची वृद्धी करीत करीत परमश्रेय– की ज्यानंतर काहीच मिळवायचे शिल्लक राहत नाही अशा परमकल्याणाची प्राप्ती तुम्हाला होईल. जसजसे तुम्ही यज्ञात प्रवेश कराल (पुढे यज्ञाचा अर्थ होईल–आराधनेचा विधी) तसतसे हृयप्रदेशात दैवी संपत्ती वाढत राहील. ''परमदेव'' म्हणजे एकमात्र परमात्मा आहे, त्या परमदेवात

प्रवेश देणारी जी संपदा आहे, अंतःकरणाची जी सजातीय प्रवृत्ती आहे तिलाच "दैवी संपदा" असे म्हणतात. ती परमदेवाची प्राप्ती करून देणारी असल्यानेच तिला "दैवी संपदा" म्हंटले जाते. लोक कल्पना करतात तशा बाहेरील देवता म्हणजे पत्थर-पाणी नव्हे. श्रीकृष्णांच्या मते अशा वस्तूंचे अस्तित्वच नाही.

इष्टान्भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः।।१२।।

यज्ञाद्वारे संवर्धित झालेली देवता (दैवी संपदा) आपल्याला '**इष्टान् भोगान् हि दास्यन्ते**- इष्ट अर्थात आराध्यासंबंधी भोग देते. दुसरे काही नाही. '**तैः दत्तान**' ते एकमात्र देणारे आहेत. परमात्माप्राप्तीसाठी दुसरा कोणताही पर्याय नाही. या दैवी गुणांची वृद्धी न करता जो या स्थितीचा भोग घेतो तो निश्चितच चोर आहे. जे त्यांच्याकडून प्राप्त केलेले नाही ते भोगणार कसे? परंतु हे दांभिक लोक स्वतःला पूर्ण समजतात, तत्त्वदर्शी समजतात. खरोखर असा बढाया मारणारा या मार्गाला जाण्यास मुळीच योग्य नाही. तो निश्चतपणे चोरच आहे. भगवत्प्राप्ती करून घेणारा तो उत्तम साधक नव्हे परंतु मिळवणारे काय मिळवतात?

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।।१३।।

यज्ञातून उरलेले म्हणजे यज्ञशेष भक्षण करणारे संत सर्व पापांपासून मुक्त होतात. दैवी संपदेची वृद्धी करता परिणामतः प्राप्तिकाल हाच पूर्तिकाल ठरतो. जेव्हा यज्ञ पूर्ण होतो तेव्हा शिल्लक राहिलेले म्हणजेच ब्रह्म होय. हीच गोष्ट श्रीकृष्णांनी दुसऱ्या शब्दांत सांगितली आहे- '**यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्मसनातनम्**' - यज्ञ ज्याची सृष्टी करतो त्या अन्नाचे ग्रहण करणारा ब्रह्मात प्रविष्ट होऊन जातो. येथे ते म्हणतात, यज्ञशेष (ब्रह्मपीयूष) भक्षण करणारा सर्व पापांतून मुक्त होतो. परंतु पापी लोक पापच खातात. ते भजन करतात, आराधना करतात, स्वतःची प्रगतीही करतात पण हे सर्व करताना, याच्या मोबदल्यात मनात एक मधुर इच्छा ठेवतात ('**आत्मकारणाम्**')

की, शरीरासाठी म्हणजे शरीराला सुख होईल असे काही मिळावे. त्याला ते सुख प्राप्त तर होते परंतु तो भोग पूर्ण होताच तो पुन्हा पूर्वस्थितीला प्राप्त होईल; यापेक्षा अधिक नुकसान हानी आणखी काय असणार? जर शरीरच नश्वर आहे तर त्याचे सुखोपभोग त्याला कधी सहकार साथ देतील? ते भगवंताची आराधना तर करतात पण त्याच्या मोबदल्यात ते पाप खातात.

'**पलटि सुधा ते सठ विष लेहीं**' तो नष्ट तर होत नाही. परंतु पुढे प्रगतीही करू शकत नाही व म्हणूनच श्रीकृष्ण निष्काम भावाने कर्म (भजन) करण्यावर भर देत आहेत. आत्तापर्यंत श्रीकृष्णांनी सांगितले की यज्ञ 'परमश्रेय' देतो आणि त्याची रचना महापुरुषांद्वारे होते. परंतु ते महापुरुष प्रजेच्या निर्मितीला का प्रवृत्त होतात? यावर श्रीकृष्ण म्हणतात–

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः।।१४।।
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।।१५।।

अन्नापासून सर्व प्राणिमात्र उत्पन्न होतात व अन्नं ब्रह्म व्यजानात– अन्न म्हणजे परमात्मा, परब्रह्म होय. त्या ब्रह्मपीयूषाला आपला उद्देश बनवून मनुष्यप्राणी यज्ञाकडे पुढे चालू लागतो. अन्नाची उत्पत्ती पावसामुळे होते. ढगातून होणाऱ्या पावसामुळे नव्हे तर, कृपादृष्टीने होत असते. पूर्वसंचित यज्ञकर्मच कृपेच्या रूपाने बरसत असते. आजची आराधना उद्या कृपेच्या रूपाने प्राप्त होत असते. व म्हणून ही वृष्टी यज्ञाप्रमाणे असते. 'स्वाहा' म्हणण्याने व तीळ–जव अग्नीत समर्पण करण्यानेच वृष्टी होत असेल तर अधिकांश मरूभूमी रेताड – नापिक का राहिली आहे.? ती सुपीक झाली असती. ही कृपावृष्टी यज्ञाचीच देणगी आहे. हा यज्ञ कर्मापासूनच उत्पन्न होणारा आहे. कर्मानेच यज्ञ पूर्ण होत असतो.

ते कर्म वेदापासून निर्माण झाले आहे असे तू जाण. वेद म्हणजे ब्रह्मस्थित महापुरुषाची वाणी आहे. जे तत्त्व विदित नसते, माहित नसते; पण त्याची प्रत्यक्ष अनुभूती म्हणजे वेद होय. वेद म्हणजे श्लोकांचा संग्रह नव्हे. हे वेद

अविनाशी परमात्म्यापासून उत्पन्न झालेले आहेत असे तू जाण. वेद सांगितले होते महापुरुषांनी; पण ते महापुरुष परमात्म्यात तद्रूप झाले आहेत. त्यांच्या माध्यमातून परमात्माच बोलतो आहे. म्हणून वेदांना अपौरुषेय म्हंटले जाते. पण महापुरुषांना वेद कसे प्राप्त झाले? वेद अविनाशी परमात्म्यापासून उत्पन्न झाले आहेत व महापुरुष त्याच्याशी तद्रूप झालेले आहेत. ते फक्त यंत्र आहेत. त्यांच्याद्वारे परमात्मा बोलत असतो कारण की, यज्ञाच्या द्वारेच मनाच्या एकाग्रतेमध्येच वेद समजले जातात. यापासून सर्वव्यापी परम अक्षर परमात्मा सर्वथा यज्ञातच प्रतिष्ठित आहे. यज्ञ हाच परमात्मप्राप्तीचा एकमात्र उपाय आहे. यावर भर देताना श्रीकृष्ण म्हणतात–

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति।।१६।।

अरे पार्था, जो पुरुष या लोकी मनुष्यशरीर धारण करून आलेला आहे, तो जर साधन चक्राप्रमाणे वागत नाही– म्हणजेच दैवी संपदेचा उत्कर्ष, देवतांची वृद्धी आणि परस्परांच्या वृद्धीद्वारे अक्षयधाम प्राप्त करणे– या क्रमाने जो आचरण करीत नाही, तो इंद्रियसुखाची इच्छा करणारा 'पापी पुरुष' व्यर्थच जगत असतो.

बंधूनो, दुसऱ्या अध्यायात योगेश्वर श्रीकृष्णाने कर्माचा उच्चार केला आणि या अध्यायात त्यांनी सांगितले की, नियत कर्माचे आचरण कर. यज्ञाची प्रक्रिया म्हणजेच कर्म होय. या व्यतिरिक्त जे काही केले जाते ते या लोकीचे बंधन आहे. त्यासाठी संगदोषापासून दूर राहून त्या यज्ञाच्या पूर्तीसाठी कर्माचे आचरण कर. त्यांनी यज्ञाच्या वैशिष्ट्यांवर प्रकाश टाकला आणि सांगितले की यज्ञाची उत्पत्ती ब्रह्मदेवापासून झाली आहे. अन्न प्राप्त करण्याचा हेतू समोर ठेवून प्रजा तो यज्ञ करण्यास प्रवृत्त होते. यज्ञ कर्मापासून व कर्म अपौरुषेय वेदापासून उत्पन्न झाले आहेत. या वेदमंत्रांचा द्रष्टा महापुरुषच होते. त्यांचा पुरुष 'तिरोहित', निर्मोही होऊन गेला होता. प्राप्तीबरोबर अविनाशी परमात्मा बाकी राहिला होता. यासाठी वेद परमात्म्यापासून उत्पन्न झाले आहेत. सर्वव्यापी परमात्मा यज्ञामध्ये नेहमी प्रतिष्ठित असतो. व या साधनचक्रानुसार जो वागत नाही तो पापी पुरुष इंद्रियांच्या केवळ

सुखोपभोगासाठी हपापला आहे. त्याचे जीणे व्यर्थ आहे. यज्ञ हा असा विधी विशेष आहे की, ज्यात इंद्रियांना आराम नाही, परंतु अक्षय सुख प्राप्त होत असते. मात्र येथे इंद्रियांच्या संयमाबरोबर यात एकाग्र होणे आवश्यक असते. इंद्रियांचा आराम ज्यांना हवासा वाटतो ते पापी होत. अजूनपर्यंत श्रीकृष्णाने यज्ञ म्हणजे काय ते सांगितलेले नाही. परंतु सतत यज्ञ करीतच राहायचा की, याचा कधी शेवटही, अंतही आहे. यावर योगेश्वर म्हणतात–

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते।।१७।।

जो मनुष्य आत्म्याच्या ठिकाणी रत असतो, जो आत्मतृप्त असतो व आत्म्याच्या ठिकाणी संतुष्ट असतो, अशा साधकासाठी काही कर्तव्य शिल्लक राहत नाही. हेच तर लक्ष्य होते. जेव्हा अव्यक्त सनातन, अविनाशी, आत्मतत्त्व प्राप्त झाले, तेव्हा पुढे शोधायचे कोणाला? अशा पुरुषासाठी ना कर्माची आवश्यकता आहे ना कसली आराधनेची. आत्मा आणि परमात्मा हे एकदुसऱ्यांचे पर्याय आहेत. याचेच पुन्हा ते चित्रण करत आहे.

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः।।१८।।

या संसारात त्या पुरुषाने काही केल्याने त्याला काही लाभ होत नाही आणि करायचे सोडून दिल्याने त्याचे काही नुकसान होत नाही. त्याचा सर्व प्राण्यांमध्ये स्वार्थसंबंध असत नाही. आत्माच तर शाश्वत, सनातन, अव्यक्त, अपरिवर्तनशील आणि अक्षय आहे. जेव्हा त्यालाच प्राप्त केले, त्याच्यापासून संतुष्ट, त्याच्यात तृप्त, तसेच त्याच्यात ओतप्रत व स्थित झाल्यानंतर पुढे कोणतीही सत्ता नाही. मग शोधायचे कोणाला? व त्यामुळे मिळणार तरी काय? त्या पुरुषाने कर्म करण्याचे सोडून दिल्याने त्याचे काहीही नुकसान होत नाही कारण, विकार ज्याच्या अंकित असतात ते चित्तच रहात नाही. त्याला संपूर्ण भूतमात्रात, बाह्य जगत आणि आंतरिक संकल्पांच्या पूर्तीमध्ये लेशमात्र अर्थ राहत नाही. त्याचा सर्वात मोठा अर्थ होता परमात्मा! जेव्हा तोच त्याला उपलब्ध, प्राप्त झाला आहे, तर दुसऱ्यांसाठी त्याचे काय प्रयोजन असणार?

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।

असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः।।१९।।

तेव्हा ह्या स्थितीला प्राप्त करण्यासाठी तू अनासक्त होऊन, कर्तव्य असे जे कर्म ते तू चांगल्या प्रकारे कर, कारण अनासक्त होऊन कर्माचे आचरण करणारा पुरुष मोक्षपद मिळवतो. परमात्म्याला प्राप्त करून घेतो. नियत् कर्म व कार्य कर्म एकच आहे. कर्माची प्रेरणा देताना ते म्हणतात–

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।

लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ।।२०।।

जनक म्हणजे राजा जनक नव्हे. जन्मदात्याला जनक म्हणतात. योग म्हणजेच जनक होय. तो आपल्या स्वरूपाला जन्म देतो, प्रकटही करत असतो. योगाने युक्त असणारा प्रत्येक महापुरुष जनक असतो. असे योगयुक्त अनेक ऋषी '**जनकादयः**' जनक इत्यादी ज्ञानीजन महापुरुषांनी पण ('**कर्मणा एव संसिद्धिम**') कर्माच्या योगानेच परमसिद्धी प्राप्त केली आहे. परमसिद्धी म्हणजेच परमतत्त्व, परमात्म्याची प्राप्ती. जनक इत्यादी पूर्वी जेवढे महर्षी झाले आहेत ते सर्व '**कार्यम कर्मं**' च्या योगानेच जे कर्म म्हणजे यज्ञाची प्रक्रिया आहे– ते कर्म करीत '**सांसिद्धिम्**' परमसिद्धी प्राप्त करीत असतात. परंतु प्राप्तीनंतर लोकांसाठी समाजासाठी कर्म करीत राहतात. लाकहितासाठी ते कर्म करतात. तेव्हा तू देखील परमात्म्याच्या प्राप्तिसाठी व परमात्म्याच्या प्राप्तीनंतर लोकनायक होण्यासाठी कार्य करण्याला योग्य नाहिस का?

आताच श्रीकृष्णांनी सांगितले होते की प्राप्तीनंतर महापुरुषाने कर्म करण्याने ना काही लाभ किंवा न केल्याने ना काही नुकसान होत असते. परंतु लोकसंग्रहासाठी, लोकहिताच्या व्यवस्थेसाठी ते चांगल्या प्रकारे नियत कर्माचे आचरण करीत असतात.

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।

स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।।२१।।

श्रेष्ठ पुरुष जे व जसे आचरण करतात, अन्य लोकदेखील त्यानुसारच आचरण करतात. तो महापुरुष जे काही 'प्रमाण' 'आदर्श' करून ठेवतो– संसार, हे जग, त्याप्रमाणे त्याचेच अनुकरण करते.

श्रीकृष्णांनी प्रथमतः स्वरूपामध्ये स्थित, आत्मतृप्त महापुरुषाच्या राहणीवर प्रकाश टाकला की, त्याच्या कर्म करण्याने त्याला काही लाभ होत नसतो किंवा कर्म सोडल्याने त्याचे काही नुकसान होत असते. तरी देखील जनकादि महर्षी आपले कर्म उत्तम प्रकारे करीत होते. तेथे श्रीकृष्णांनी त्या महापुरुषांबरोबर आपली हळूच तुलना करून सांगितले आहे की मीही एक महापुरुष आहे.

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ।।२२।।

हे पार्था, या तिन्ही लोकांत मला कर्तव्य असे काहीही नाही. मागे त्यांनी सांगितले आहे की त्या महापुरुषाला समस्त प्राणिमात्रांशी कोणतेच कर्तव्य शेष राहिलेले नाही. येथे सांगतात की त्रैलोक्यात मला कर्तव्य शेष राहिलेले नाही. तसेच मला प्राप्त झाली नाही, अशी किंचितदेखील वस्तू शेष राहिलेले नाही. म्हणजे प्राप्त होण्यासारखी कोणतीही गोष्ट मला अप्राप्य राहिलेली नाही. तरी देखील मी कर्माचे उत्तम प्रकारे आचरण करीत असतो. असे का बरे?

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ।।२३।।

कारण जर मी सावध राहून कर्म केले नाही तर अन्य लोकदेखील माझ्या आचरणाप्रमाणे, त्यानुसार वागू लागतील. तर मग आपले अनुकरण करणे वाईट आहे का? श्रीकृष्ण म्हणतात- हो!

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ।।२४।।

जर मी सावधान होऊन कर्म केले नाही तर सर्व लोक भ्रष्ट होऊन जातील व मी '**संकरस्य**' वर्णसंकर करणारा होईन. तसेच या सर्व प्रजेचे हनन करणारा व मारणारा ठरेन. स्वरूपाच्या ठिकाणी स्थित असणारा महापुरुष सावध होऊन जागृत राहून जर आपल्या आराधनेमध्ये-साधनाक्रमात व्यस्त राहिला नाही, तर समाज त्याचे अनुकरण करीत, त्याची नक्कल करीत, भ्रष्ट

होऊन जाईल. महापुरुषाने तर आराधना पूर्ण करून नैष्कर्म्य स्थिती प्राप्त केलेली आहे. त्यामुळे त्याने कर्म केले नाही तर त्याचे नुकसान होणार नाही; परंतु समाजाने अद्याप आराधनेला प्रारंभच केला नाही. तेव्हा अशा या मागाहून येणाऱ्या लोकांच्या मार्गदर्शनासाठी महापुरुष कर्म करीत असतो. मीसुद्धा म्हणूनच कर्म करीत असतो. अर्थात श्रीकृष्ण एक महापुरुष होते. वैकुंठातून आलेले कोणी विशेष ईश्वर नव्हे. त्यांनी सांगितले की, महापुरुष लोकसंग्रहासाठी कर्माचरण करीत असतात. मी देखील लोकसंग्रहासाठीच कर्म करीत असतो. जर कर्माचरण केले नाही तर लोकांचे पतन होईल. सर्वजण कर्म करण्याचे सोडून देतील.

मनुष्याचे मन मोठे चंचल असते. त्याला सर्व काही हवे असते, फक्त त्याला भजन नको असते. जर स्वरूप स्थित महापुरुषाने कर्म केले नाही तर साहजिकच मागून येणारे लोकदेखील लगेच कर्म करण्याचे सोडून देतील. त्यांना एक सबब मिळेल की, हे महापुरुष असूनसुद्धा भजन करीत नाहीत, उलट पान खातात, अत्तर लावतात, सामान्य गोष्टींवर बोलतात. तरी देखील त्यांना महापुरुष म्हटले जाते– असा विचार करून तेसुद्धा आराधनेपासून दूर होतात व मग त्यामुळे त्यांचे अधःपतन होते. श्रीकृष्ण म्हणतात जर मी कर्म केले नाही तर सर्व लोक–समाज भ्रष्ट होईल व मी 'वर्णसंकरांचा कर्ता–निमित्त बनेन'.

स्त्रियांच्या दूषित होण्याने वर्णसंकर होतो असे पाहावयास मिळते– ऐकावयासही मिळते. अर्जुनाला सुद्धा हे भय होते की, स्त्रिया दूषित बनतील, तर वर्णसंकर निर्माण होईल. परंतु श्रीकृष्ण म्हणतात– जर मी सावधान राहून आराधना केली नाही, तर मी वर्णसंकराचा कर्ता ठरेन. वास्तविक आत्म्याचा शुद्ध वर्ण आहे परमात्मा. आपल्या शाश्वत स्वरूपाच्या मार्गावरून घसरणे म्हणजेच वर्णसंकरता होय. जर स्वरूपस्थित महापुरुष नियत कर्माचे योग्य प्रकारे आचरण न करेल, तर लोक त्याचे अनुकरण करून निष्क्रिय बनतील, आत्मपथावरून घसरतील, भरकटत जातील व त्यामुळे वर्णसंकर होईल, ती प्रकृतीमध्ये मिसळून जातील.

स्त्रियांचे स्त्रीत्व व शरीराची शुद्धी ही एक सामाजिक व्यवस्था आहे. समाजासाठी ते उपयुक्त पण आहे. परंतु माता-पित्यांच्या चुकांचा मुलांच्या साधनेवर काही प्रभाव पडत नाही. '**आपन करनी पार उतरनी**'- हनुमान, व्यास, वसिष्ठ, नारद, शुकदेव, कबीर, येशू ख्रिस्त इत्यादी उत्तम प्रकारचे महापुरुष जगात होऊन गेले; परंतु सामाजिक कुलीनतेशी त्यांचा काही एक संबंध नाही. आत्मा आपल्या पूर्वजन्मातील गुणधर्म घेऊन येत असतो. श्रीकृष्ण म्हणतात- '**मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।**' (१५/७)- मनासह इंद्रियांकडून जे कार्य या जन्मात होते त्यांचे संस्कार घेऊन जीवात्मा जुन्या शरीराचा त्याग करून नवीन शरीरात प्रवेश करतो. यात जन्मदात्याचा काय वाटा? काय भाग? त्यांच्या विकासात काही अंतर राहिले नाही. तेव्हा स्त्रिया दूषित किंवा भ्रष्ट होण्याने वर्णसंकर होत नाही. स्त्रियांचे भ्रष्ट होणे व वर्णसंकर यांचा काही एक संबंध नाही. शुद्ध स्वरूपाकडे न जाता प्रकृतीमध्येच मिसळले जाणे, विखुरले जाणे म्हणजेच वर्णसंकर होय.

जर महापुरुष सावधान होऊन नियत कर्माचे आचरण करीत लोकांकडून तसे कर्म करून न घेतील तर, तो प्रजेचे हनन करणारा व मारणारा ठरेल. साधना क्रमानुसार चालून मूळ अविनाशी तत्त्वाची प्राप्ती हेच जीवन आहे; व प्रकृतीमध्ये विखुरले जाणे, हरवून बसणे हा मृत्यू आहे. परंतु त्या महापुरुषाने जर या सर्व प्रजेला मार्गभ्रष्ट होण्यापासून रोखून सत्पथावर आणले नाही तर त्या सर्व प्रजेचे हनन करणारा, हत्या करणारा व हिंसक ठरेल व क्रमशः चालत असताना जो चालवून घेतो ती शुद्ध अहिंसा आहे. गीतेच्या प्रमाणे शरीराचे निधन, नश्वर कलेवरांचे निधन हे फक्त परिवर्तन आहे, हिंसा नाही.

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ।।२५।।

हे भारता, ज्याप्रमाणे कर्मामध्ये आसक्त झालेले अज्ञानी लोक जसे कर्म करतात, तसेच लोकांच्या कल्याणाची इच्छा करणाऱ्या अनासक्त झालेल्या विद्वानाने आपले कर्म करावे. ज्ञान म्हणजे प्रत्यक्ष जाणणे. जोपर्यंत परमात्म्यापासून आम्ही लेशमात्र अलग आहोत, आराध्य अलग आहे तोपर्यंत अज्ञान शिल्लक असते आणि जोपर्यंत अज्ञान आहे तोपर्यंत

कर्मामध्ये आसक्ती राहते. अज्ञानी जितक्या आसक्तीने आराधना करतो त्याच प्रकारे अनासक्त! ज्याला कर्माशी काही प्रयोजन नाही त्याला आसक्ती कशी होईल? अशा पूर्ण ज्ञानी महापुरुषाने पण लोकहितासाठी कर्म करावे, दैवी संपत्तीची वृद्धी-उत्कर्ष करावा की ज्यामुळे समाज त्यांचे अनुकरण करेल.

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ।।२६।।

ज्ञानी पुरुषांनी कर्माच्या ठिकाणी आसक्त असलेल्या अज्ञानी लोकांचा बुद्धिभेद करू नये. अर्थात, स्वरूपस्थित महापुरुषाने हे लक्षात ठेवावे की, त्यांच्या कोणत्याही आचरणाने पाठीमागून येणाऱ्यांच्या मनात कर्माबद्दल अश्रद्धा उत्पन्न होणार नाही. परमात्म-तत्त्वाने युक्त असणाऱ्या महापुरुषाने स्वतः चांगल्या प्रकारे नियत कर्म करावे व त्यांच्याकडूनही करवून घ्यावे.

या कारणामुळेच पूज्य महाराजश्री पण वृद्धावस्थेमध्ये रात्री दोन वाजता उठून बसत. खोकायला लागत. तीन वाजता सर्वांना हाक मारून म्हणत, "उठा, मातीच्या पुतळयांनो, उठून चिंतनाला लागा." सर्वजण उठून चिंतनात मग्न झाले की पुन्हा थोडे पडत, थोड्या वेळाने पुन्हा उठून बसत व म्हणत- "तुम्हा लोकांना असे वाटत असेल की, महाराज झोपले आहेत; परंतु मी झोपलेलो नाही. मी श्वास घेत आहे. वृद्धावस्थेतील शरीर आहे. बसायला त्रास होत असतो. त्यामुळे मी पडून राहतो. परंतु तुम्ही मात्र स्थिर आणि सरळ बसून चिंतन करावे. जोपर्यंत तेलाच्या धारेप्रमाणे श्वासाची लय लागत नाही, क्रम तुटत नाही, अन्य संकल्प मध्ये मध्ये कोणतेही व्यवधान उत्पन्न करू शकत नाही, तोपर्यंत सतत चिंतनात राहणे हा साधकाचा धर्म आहे. माझा श्वास तर ह्या अवस्थेतही बासरीप्रमाणे स्थिर उभा आहे" हेच कारण आहे की अनुयायांकडून करवून घेण्यासाठी तो महापुरुष चांगल्या प्रकारे आचरण करतो. "**जिस गुन को सिखावै, उसे करके दिखावै।**"

या प्रकारे स्वरूपात स्थित महापुरुषांनी स्वतः कर्म करीत करीत साधकानांही आराधनेसाठी उद्युक्त करावे. साधकाने पण श्रद्धापूर्वक आराधना करावी. परंतु तो ज्ञानयोगी असो अगर समर्पणाचा भाव असणारा निष्काम

कर्मयोगी असो, साधकात साधनेचा अहंकार असता कामा नये. कर्म कशाच्या द्वारे होते? ते होण्यासाठी कोण कारणीभूत आहे? यावर प्रकाश टाकताना श्रीकृष्ण म्हणतात–

प्रकृतेः क्रियमाणिनि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ।।२७।।

आरंभापासून पूर्तीपर्यंत सर्व कर्मे प्रकृतीच्या गुणांनी केली जातात. तरीही अहंकारामुळे मोहित झालेला मूर्ख मनुष्य 'मीच कर्ता आहे' असे मानतो. पण हे कसे मानायचे की आराधना प्रकृतीच्या गुणांद्वारे होत असते? असे कोणी पाहिले? यावर श्रीकृष्ण म्हणतात–

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्म विभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ।।२८।।

हे महाबाहो, गुण आणि कर्म यांच्या विभागाचे तत्त्व 'तत्त्ववित्' परमतत्त्व परमात्म्याला जाणणाऱ्या महापुरुषांनी पाहिले. सर्व गुण म्हणजेच इंद्रिये गुणांच्या (विषयांच्या) ठिकाणी प्रवृत्त होतात असे मानून ते गुण आणि कर्म यांच्या कर्तेपणात ते आसक्त होत नाहीत.

येथे तत्त्व म्हणजे परमतत्त्व परमात्मा असा अर्थ आहे. पांच किंवा पंचवीस तत्त्वे असे अनेक लोक समजतात, तसे नाही. योगेश्वर श्रीकृष्णांच्या शब्दांत तत्त्व म्हणजे एकमात्र परमतत्त्व परमात्मा आहे. अन्य कोणते तत्त्व अस्तित्त्वात नाही. गुणांच्या पलीकडे गेलेले परमतत्त्व परमात्म्यात स्थित असणारे महापुरुष गुणांनुसार कर्माचे विभाजन– कर्माची विभागणी पाहू शकतात. समजा तामसी गुण असेल तर त्याचे कार्य असते– आळस, निद्रा, प्रमाद कर्मामध्ये प्रवृत्त न होण्याचा स्वभाव! जर राजस गुणांचे प्राबल्य असेल तर आराधनेपासून मागे न हटण्याचा स्वभाव– शौर्य, स्वामीनिष्ठेने कर्म करणे, व सात्त्विक गुण कार्यरत असताना ध्यान, समाधी, अनुभव प्राप्त होणे, सातत्याने चिंतन करणे, स्वभावाने सरलता हे गुण असतात. गुण परिवर्तनशील असतात. गुणांना अनुरूप कर्माचा उत्कर्ष किंवा अधःपतन होत असते ही गोष्ट फक्त प्रत्यक्ष साक्षात्कारी ज्ञानीच पाहू शकतो. गुण

आपले कार्य करून घेत असतात. अर्थात् गुण गुणांच्या ठिकाणीच प्रवृत्त होत असतात. असे समजून तो प्रत्यक्ष द्रष्टा, कर्मामध्ये आसक्त होत नाही. परंतु जो गुणांच्या पलीकडे गेला नाही, जो अजून रस्त्यावरच आहे, त्याने तर कर्मात आसक्त राहायलाच हवे–

प्रकृतेगुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ।।२९।।

प्रकृतीच्या गुणांनी मोहित झालेले पुरुष गुण आणि कर्मांमध्ये क्रमशः निर्मल गुणांकडे उन्नती पाहून त्यात आसक्त होतात. त्या परमात्म्याला चांगल्याप्रकारे जाणणाऱ्या ज्ञानी पुरुषाने '**मन्दान्**' शिथिल प्रयत्न करणाऱ्या साधकांना चंचल करू नये. त्यांना चाळवू नये. त्यांना निरूत्साही करू नये. उलट त्यांना प्रोत्साहन द्यावे कारण की, कर्म करत करतच त्यांना परम नैष्कर्म्य स्थिती प्राप्त करावयाची आहे. आपली स्थिती शक्तीचे आकलन करून कर्माला प्रवृत्त होणाऱ्या ज्ञानमार्गी साधकांनी कर्माला गुणांची देणगी समजावे. स्वतःला कर्ता समजून त्यांनी अभिमानी–अहंकारी बनू नये. निर्मल गुणांची प्राप्ती झाल्यानंतरसुद्धा त्यात त्यांनी आसक्त होऊ नये. परंतु निष्काम कर्मयोग्याला कर्म व गुणांच्या विश्लेषणासाठी वेळ देण्याची काही आवश्यकता नाही. त्याने तर फक्त समर्पणासह कर्म करीत रहायचे आहे. कोणते गुण येत आहेत व जात आहेत हे पाहणे इष्टदेवाची जबाबदारी आहे. गुणांचे परिवर्तन आणि क्रमाक्रमाने उत्थान ही इष्टदेवाची देणगी आहे असे तो मानतो आणि हातून कर्म होणे हे ही इष्टदेवाचीच देणगी आहे असे तो समजतो. त्यामुळे कर्तेपणाचा अहंकार किंवा गुणांमध्ये आसक्त होण्याचा त्याला प्रश्नच येत नाही. कारण तो सतत चिंतनात मग्न असतो. यावर आणि युद्धाचे स्वरूप दाखवीत श्रीकृष्ण पुढे म्हणतात–

मयि सर्वाणि कर्माणि सन्न्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ।।३०।।

यासाठी हे अर्जुना, तू '**अध्यात्मचेतसा**' अंतरात्म्यात चित्ताचा निरोध–निग्रह करून, ध्यानस्थ होऊन, सर्व कर्म मला अर्पण करून निरिच्छ, ममतारहित व संतापरहित होऊन तू युद्ध कर. जेव्हा चित ध्यानामध्ये मग्न

आहे, स्थित आहे, यत्किंचितही कसली अपेक्षा नाही, कर्मामध्ये ममत्व नाही, अपयशाबद्दल संताप अगर दुःख नाही, असा पुरुष कोणते युद्ध करेल? जेव्हा सर्व बाजूंनी चित्ताला आवरून त्याला हृदयरूपी देशात स्थित केले जाते तेव्हा असा पुरुष कशासाठी व कोणाबरोबर लढेल? कोण लढेल? प्रत्यक्षात जेव्हा आपण ध्यानात प्रवेश कराल, तेव्हाच युद्धाचे खरे स्वरूप पुढे उभे राहते. तेव्हा काम-क्रोध, राग-द्वेष, आशा-तृष्णा इत्यादी विकारांचा समूह, विजातीय प्रवृत्ती, ज्यांना 'कुरू' म्हंटले जाते, त्या संसारात, प्रवृत्तीमध्ये उद्युक्त करतात. विघ्नरूप बनून साधकावर भयंकर आक्रमण करतात, बस्स! त्यांच्या पलीकडे जाणे म्हणजेच युद्ध होय. या सर्व विकारांच्या पलीकडे जाणे म्हणजेच युद्ध होय. त्यांना वश करीत अंतरात्म्याच्या ठिकाणी रोखून धरणे, संकुचित करणे व ध्यानस्थ होत जाणे म्हणजेच युद्ध होय. यावर भर देत ते पुन्हा म्हणतात-

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ।।३१।।

जे लोक दूषित दृष्टी रहित होऊन आपली श्रद्धा भगवंताच्या ठिकाणी समर्पित करून, जे नेहमी माझे मत- म्हणजे युद्ध कर- हे मत अनुसरतात, ते पुरुष सर्व कर्मापासून मुक्त होतात. योगेश्वरांचे हे आश्वासन केवळ कोणा हिंदु, मुसलमान किंवा ख्रिस्ती मनुष्यासाठी नाही तर ते अखिल मानवमात्रांसाठी आहे. त्यांचे मत आहे की युद्ध कर. यावरून असे वाटते की, त्यांचा हा उपदेश युद्ध करणाऱ्यांसाठी होता. अर्जुनाच्यासमोर सौभाग्याने विश्वयुद्धाची व्यूहरचना होती. आपल्यासमोर तर कोणतेही युद्ध नाही. मग आपण गीतेच्या मागे का लागलो आहोत? कर्मातून सुटण्याचा उपाय तर युद्ध करणाऱ्यांसाठी आहे परंतु असे काही नाही. वास्तविक ही लढाई मानवाच्या अंतरदेशातील आहे. क्षेत्र व क्षेत्रज्ञाचा, विद्या आणि अविद्याचा, धर्मक्षेत्र व कुरूक्षेत्राचा हा संघर्ष आहे. आपण जो जो ध्यानामध्ये चित्ताचा निरोध कराल, तो तो विजातीय प्रवृत्ती विघ्नरूपाने प्रत्यक्ष येते व भयंकर आक्रमण करीत असते. त्यांचे शमन करीत चित्ताचा निग्रह करणे म्हणजे तर युद्ध आहे. जो दूषित दृष्टीने रहित होऊन, अत्यंत श्रद्धेने या युद्धात सहभागी होतो तो कर्मबंधनातून,

पापी आचरणातून पूर्णतः मुक्त होतो. जो युद्धामध्ये प्रवृत्त होत नाही त्याची काय गती होते? यावर श्रीकृष्ण म्हणतात–

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ।।३२।।

जे दूषित दुष्टी असणारे '**अचेतसः**' मोहनिद्रेमध्ये गढून गेलेले लोक माझ्या या मतानुसार आचरण करीत नाहीत, म्हणजेच ध्यानस्थ होऊन आशा, ममता, संतापरहित होऊन समर्पण वृत्तीने युध्द करीत नाहीत, '**सर्वज्ञान विमूढान**' ते ज्ञानपथावर संपूर्णपणे मोहपाशात अडकतात, त्या लोकांना तू कल्याणापासून भ्रष्ट झालेले जाण. जर हेच बरोबर आहे तर लोक त्याचे आचरण का करीत नाही? यावर श्रीकृष्ण म्हणतात–

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ।।३३।।

सर्व प्राणी आपल्या प्रकृतीला प्राप्त होतात. आपल्या स्वभावाच्या आधीन होऊन कर्मामध्ये प्रवृत्त होतात. साक्षात्कारी ज्ञानी मनुष्यदेखील आपल्या प्रकृतीनुसार कार्य करतो. मनुष्य प्राणी आपल्या कर्मात मग्न राहतात; तर ज्ञानी स्वस्वरूपात एकरूप होऊन जगतात. जसा ज्याच्या प्रकृतीचा प्रभाव असेल तसा तो कार्य करतो. हे स्वयंसिद्ध आहे. यात कोण काय निराकरण करणार? याच कारणामुळे सर्व लोक माझ्या मतानुसार कर्मात प्रवृत्त होऊ शकत नाहीत. ते आशा, ममता, संतापाचा म्हणजेच रागद्वेषाचा त्याग करू शकत नाहीत. त्यामुळे कर्माचे व्यवस्थित आचरण होऊ शकत नाही. हे पुढे अधिक स्पष्ट करतात व दुसरे कारण दाखवतात.

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ।।३४।।

इंद्रिय व इंद्रियभोगात रागद्वेषांचा वास असतो. या दोघांना वश होता कामा नये. या कल्याणकारक मार्गामध्ये कर्मांपासून मुक्त होण्याच्या पद्धतीमध्ये राग आणि द्वेष हे कट्टर शत्रू आहेत. ते आराधनेचे अपहरण

करतात. जर शत्रू आत आहे तर बाहेर कोण कोणाशी लढेल? शत्रू तर इंद्रिय व भोगांच्या संसर्गात आहे– अंत:करणात आहे. तेव्हा हे युद्धदेखील अंत:करणातील आहे, कारण शरीरच क्षेत्र आहे. ज्यात सजातीय व विजातीय अशा दोन्ही प्रवृत्ती, विद्या व अविद्या तेथे राहतात; जी मायेची दोन अंगे आहेत. या प्रवृत्तींच्या पलीकडे पोहचणे, सजातीय प्रवृत्तींना साध्य करून विजातीय प्रवृत्तींचा अंत करणे हेच युद्ध आहे. विजातीय प्रवृत्ती समाप्त झाल्यावर सजातीयाचा उपयोग देखील समाप्त होतो. स्वरूपाचा स्पर्श करून सजातीयाचा पण त्यांच्या अंतरंगात विलय होणे, या प्रकारे प्रकृतीच्या पलीकडे पोहचणे, हेच युद्ध आहे.

रागद्वेषांचे शमन होण्यास वेळ लागतो. म्हणून बरेचसे साधक क्रिया सोडून साधारणत: महापुरुषांची नक्कल करायला लागतात. श्रीकृष्ण यापासून सावध करीत आहेत.

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।।३५।।

एक साधक दहा वर्षांपासून साधनेत मग्न आहे व दुसरा साधक साधनेत प्रवेश करीत असेल; तर दोघांचीही क्षमता एकासारखी असत नाही. नवीन प्रवेश करणारा साधक जर जुन्या साधकाची नक्कल करेल–अनुकरण करेल तर तो नष्ट होईल. यावर श्रीकृष्ण म्हणतात की–

चांगले आचरण असणाऱ्या दुसऱ्याच्या धर्मापेक्षा आपला धर्म गुणहीन असला तरी तो अधिक उत्तम आहे असे समजावे. स्वभावत: उत्पन्न होणाऱ्या कर्मात प्रवृत्तं होण्याची क्षमता म्हणजेच स्वधर्म होय. आपल्या क्षमतेप्रमाणे कर्म करण्यास उद्युक्त होण्याने साधक एक ना एक दिवस पार पोहोचू शकतो. म्हणून स्वधर्माचे आचरण करीत मरणे हे परमकल्याणकारी आहे. जेथून साधना तुटेल, नवीन शरीर प्राप्त होताच तेथूनच पुन्हा प्रारंभ होईल. आत्मा तर मरत नाही. (शरीर) वस्त्र बदलण्याने आपली बुद्धी, विचार बदलत तर नाहीत? पुढे असणाऱ्या, चालणाऱ्या प्रमाणे सोंग घेतल्यास साधक भयभीत होईल. भय प्रकृतींमध्ये असते. परमात्म्यात नसते. प्रकृतीचे आवरण अधिक घट्ट व जाड होईल–

या भगवत्पथामध्ये नकलेचे, अनुकरणाचे प्राबल्य आहे. 'पूज्य महाराजश्रींना एक दिवस आकाशवाणी झाली की 'अनुसुईया' जंगलात जाऊन राहा. तेव्हा ते जम्मूहून चित्रकूट आले व 'अनुसुईया'च्या घोर जंगलात रहायला लागले. बरेचसे महात्मा तेथून येत जात होते. एकाने पाहिले की, परमहंसजी दिगंबर बनून रहात आहेत व त्यांचा सर्वांकडून सन्मान होत आहे, तेव्हा त्याने आपले कौपीन फेकून दिले. दंड-कमंडलू एका दुसऱ्या महात्म्याला देऊन टाकले आणि तो दिगंबर बनला. काही दिवसांनी तो पुन्हा परमहंसजींच्या दर्शनाला आला तेव्हा त्याला दिसले की परमहंसजी लोकांशी गप्पा मारीत आहेत, त्यांना शिव्याही देत आहेत. महाराजश्रींना आदेश झाला होता की भक्तांच्या कल्याणासाठी त्यांना थोडा दम देत जावा, त्यांना ताडनही करावे, पण या मार्गावरील पथिकांवर लक्ष ठेवावे. त्यामुळे महाराजश्री लोकांना शिव्या देत होते. त्या महात्म्याने ते पाहिले व तोही शिव्या देऊ लागला. परंतु त्याच्या शिव्या ऐकून लोकही त्याला अद्वातद्वा बोलू लागले. महात्मा मनात म्हणाला तेथे महाराजांच्या शिव्या खातात- त्यांना कोणी बोलत नाही आणि येथे मला उलटून उत्तरे देतात.

दोन वर्षानंतर तो महात्मा पुन्हा तेथे परतला, तेव्हा त्याने पाहिले की परमहंसजी गादीवर बसले आहेत आणि लोक पंख्याने त्यांना वारा घालीत आहेत व चवऱ्या ढाळीत आहेत. तेव्हा त्या महात्म्याने लगेच जंगलातल्या एका पडक्या वास्तूत तख्त मागविले, गादी बिछवली, दोन माणसांना चवऱ्या ढाळण्यासाठी नियुक्त केले. दर सोमवारी गर्दीही जमवायला लागले. मुलगा पाहिजे असेल तर पन्नास रुपये, मुलगी पाहिजे असेल तर पंचवीस रुपये; परंतु '**उघरे अन्त न होइ निबाहू**' एक महिन्यातच कवडी किंमतीचे बनून तेथून निघून जावे लागले. तात्पर्य या भगवत्पथावर अनुकरण साथ देत नाही. त्याला स्वधर्मांचेच आचरण करायला हवे.

पण स्वधर्म काय आहे? दुसऱ्या अध्यायात श्रीकृष्णाने स्वधर्माचे नाव घेतले होते की तुझा स्वधर्म पाहताही तू युध्द करणेच योग्य आहे. क्षत्रियासाठी यापेक्षा अधिक कल्याणकारक मार्ग दुसरा कोणताही नाही. स्वधर्मामध्ये अर्जुन क्षत्रिय मानला जातो. पुढे ते अर्जुनाला म्हणाले, ब्राह्मणाला वेदांचा

उपदेश क्षुल्लक जलाशयाप्रमाणे वाटतो. तू वेदांपेक्षा श्रेष्ठ हो आणि ब्राह्मण बन. म्हणजेच स्वधर्मामध्ये परिवर्तन शक्य आहे. येथे पुन्हा सांगितले की, रागद्वेषाच्या काबूत जाऊ नकोस. त्यांना कापून टाक. स्वधर्म श्रेयस्कर आहे. अर्थात येथे त्यांचा असा आशय नाही की, अर्जुनाने कोण्या ब्राह्मणाची नक्कल करून त्याच्यासारखी वेषभूषा करावी.

एकाच कर्मपथाला महापुरुषाने चार भागात वाटून टाकले– निकृष्ट, मध्यम, उत्तम व अति उत्तम या श्रेणीच्या साधकांना क्रमशः शुद्र, वैश्य, क्षत्रिय व ब्राह्मण ही संज्ञा दिली. शुद्र म्हणजेच कमी क्षमतेच्या कर्मापासून आरंभ होतो आणि क्रमशः उन्नत होत तोच साधक ब्राह्मण बनू शकतो. याच्याही पुढे जेव्हा तो परमात्म्यामध्ये प्रवेश मिळवतो तेव्हा तो '**न ब्राह्म न क्षत्रियः न वैश्यो न शूद्राः चिदानन्दरूपः शिवः केवलोऽहम**'. तो वर्णाच्या वर जातो हेच श्रीकृष्णदेखील सांगतात की '**चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं**' चार वर्णांची रचना मी केली आहे तर मग जन्माच्या आधाराने मनुष्यांची विभागणी केली काय? नाही, '**गुण कर्म विभागशः**' गुणांच्या आधारे कर्माची वाटणी केली. कोणते कर्म? सांसारिक कर्म? श्रीकृष्ण म्हणतात नाही, नियत कर्म? नियत् कर्म म्हणजे काय? नियत कर्म म्हणजे यज्ञाची प्रक्रिया ज्यात होते. श्वासाचे उच्छ्‌श्वासात हवन व उच्छ्‌श्वासाने श्वासात हवन, इंद्रिय संयम, इत्यादी ज्याचा शुद्ध अर्थ आहे– योग साधना, आराधना! आराध्य देवापर्यंत पोहचवणारा विधी विशेष म्हणजेच आराधना होय, या आराधनाकर्माचीच चार श्रेणीत विभागणी केली आहे. ज्याच्यामध्ये ज्या प्रकारची क्षमता असेल त्याने त्याच क्षमतेपासून आरंभ केला पाहिजे. हाच सर्वांचा आपला आपला स्वधर्म आहे. जर तो पुढच्यांची नक्कल, अनुकरण करेल तर त्याला ते भयावह होईल. अर्थात तो सर्वथा नष्ट तर होणार नाही कारण यात बीजाचा नाश कधीच होत नाही. हो! तो प्रकृतीच्या दबावामुळे हीन–दीन भयभीत अवश्य होईल. बाल वर्गातील विद्यार्थी स्नातक कक्षेत बसू लागला तर तो काय स्नातक होईल? नाही तो तर आरंभीच्या मूळाक्षरांनाही तो वंचित होऊन जाईल. पुढे अर्जुन प्रश्न ठेवतो की मनुष्य स्वधर्माचे आचरण का करीत नाही?

अर्जुन उवाच-

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ।।३६।।

हे श्रीकृष्णा, मग स्वतःची इच्छा नसतानाही बळजबरीने करावयास लावल्याप्रमाणे हा पुरुष कोणाच्या प्रेरणेने पापाचे आचरण करतो? आपल्या मतानुसार तो का वागत नाही? यावर योगेश्वर श्रीकृष्ण म्हणतात–

श्रीभगवानुवाच-

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ।।३७।।

अर्जुना, रजोगुणापासून उत्पन्न होणारा हा काम आणि क्रोध अग्नीप्रमाणे भोग भोगण्याने कधीही तृप्त न होणारे मोठे पापी आहेत. काम, क्रोध हे रागद्वेषाला पूरक आहेत. आता मी ज्याची चर्चा केली होती, या विषयात तू यांनाच शत्रू आहेत असे जाण. पुढे त्यांचा प्रभाव दाखवीत आहेत.

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ।।३८।।

ज्याप्रमाणे धुराने अग्नी व धुळीने आरसा झाकला जातो, अथवा ज्याप्रमाणे वारेने गर्भ वेष्टिला जातो, त्याप्रमाणे कामक्रोध विकारांनी हे ज्ञान झाकलेले आहे. ओले लाकूड जाळल्यानंतर जसा धूरच धूर होतो. अग्नी असूनसुद्धा लपेटण्याचे रूप घेऊ शकत नाही. धुळीने झाकलेल्या आरशावर ज्याप्रमाणे प्रतिबिंब स्पष्ट दिसत नाही, वारेमुळे गर्भ ज्याप्रमाणे झाकलेला असतो त्याप्रमाणे या विकारांमुळे परमात्म्याचे प्रत्यक्ष ज्ञान होत नाही.

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानितो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ।।३९।।

हे कौन्तेया, अग्नीप्रमाणे भोगांनी तृप्त न होणारे, ज्ञानी लोकांचा कायमचा शत्रू, अशा या कामाने ज्ञान झाकलेले आहे. आताच श्रीकृष्णांनी काम आणि क्रोध हे दोन शत्रू सांगितले. प्रस्तुत श्लोकात ते केवळ एकाच शत्रूचे–

कामाचे नाव येथे घेतले आहे. वास्तविक कामात क्रोधाचा अंतर्भाव आहेच. कार्य पूर्ण झाल्यावरच क्रोध समाप्त होऊन जातो. परंतु कामना संपत नाही. कामना पूर्तीमध्ये व्यत्यय येताच क्रोध पुन्हा जागा होतो. म्हणजेच कामाच्या अंतरंगात क्रोध पण समाविष्ट आहे. या शत्रूचे घर कोठे आहे? याला शोधायचे कोठे? त्याचा वास कोठे असतो हे समजल्यावर त्याला समूळ नष्ट करण्याची सोय होईल. यावर श्रीकृष्ण म्हणतात–

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ।।४०।।

इंद्रिये, मन आणि बुद्धी ही कामाची निवासस्थाने म्हंटली जातात. हा काम मन, बुद्धी व इंद्रियांच्या द्वारेच ज्ञानाला झाकून जीवात्म्याला मोहात पाडतो.

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ।।४१।।

यासाठी हे अर्जुना, तू प्रथम इंद्रियांचे नियमन करून संयम कर कारण की, शत्रू तर यांच्या अंतरंगात लपलेला आहे. तो तुमच्या शरीराच्या आत आहे. बाहेर शोधून तो कोठेही मिळणार नाही. ही हृदयरूपी देशातील अंतर्विश्वाची लढाई आहे. इंद्रियांना ताब्यात ठेवून ज्ञान व विज्ञानाचा नाश करणाऱ्या या पापी कामालाच तू मारून टाक. काम सरळ पकडता येत नाही. म्हणून विकारांच्या निवासस्थानालाच घेराव घाल. इंद्रियांनाच संयत कर.

परंतु इंद्रियांना आणि मनाला आवरणे खूप कठीण आहे. काय हे काम आम्ही करू शकू? यावर श्रीकृष्ण आपले सामर्थ्य दाखवित प्रोत्साहन देत आहेत.

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ।।४२।।

अर्जुना, या शरीरापेक्षा तू इंद्रियांना मोठे म्हणजेच सूक्ष्म व बलवान जाण. इंद्रियांपेक्षा वर मन आहे. ते यांच्याहीपेक्षा बलवान आहे. मनाच्यापेक्षा

वर बुद्धी आहे आणि या बुद्धीपेक्षाही अत्यंत वर व श्रेष्ठ असा तुमचा आत्मा आहे. तेच तर तुम्ही आहात आणि इंद्रिये, मन, बुध्दीचे नियमन करण्यास तुम्ही सक्षम आहात.

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।

जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ।।४३।।

या प्रकारे बुद्धीच्या वर अर्थात सूक्ष्म व बलवान असा आपल्या आत्म्याला जाणून, आपल्या आत्मबलाला समजून, बुद्धीच्या द्वारे आपल्या मनाला वश करून या कामरूपी, जिंकण्यास कठीण अशा शत्रूला मार. काम एक दुर्जय शत्रू आहे. इंद्रियाद्वारे तो आत्म्याला मोहात पाडतो. तेव्हा आपले सामर्थ्य ओळखून, आत्म्याला बलवान समजून, कामरूपी शत्रूला ठार मार. अर्थात हा शत्रू अंतरंगातील आहे हे सांगायची काही आवश्यकता नाही.

निष्कर्ष-

अनेक गीताप्रेमी व्याख्यात्यांनी या अध्यायाला 'कर्मयोग' असे नाव दिले आहे. परंतु हे सुसंगत नाही. दुसऱ्या अध्यायात योगेश्वरांनी कर्माचा प्रथम उच्चार केला. त्यांनी कर्माचे महत्त्व प्रतिपादन करून त्यामध्ये कर्मजिज्ञासा जागृत केली. आणि-

या अध्यायामध्ये त्यांनी कर्माला परिभाषित केले- व्याख्याबध्द केले की, यज्ञाची प्रक्रिया म्हणजेच कर्म होय. स्पष्टच आहे की यज्ञ ही एक निर्धारित दिशा आहे. त्याच्या व्यतिरिक्त जे काही केले जाते ते या लोकीचे बंधन आहे. श्रीकृष्ण ज्याला कर्म म्हणतात ते कर्म **'मोक्ष्यसेऽशुभात्'** संसारबंधनातून सुटका करविणारे कर्म आहे.

श्रीकृष्णांनी यज्ञाची उत्पत्ती येथे सांगितली तो काय देतो? त्याची वैशिष्ट्ये कोणती? यांचे येथे चित्रण केले आहे व यज्ञ करण्यावर भर दिला आहे. त्यांनी सांगितले या यज्ञाची प्रक्रिया म्हणजे कर्म आहे. जे हे कर्म करीत नाहीत ते पापी, आरामाचा हव्यास असणारे, असून ते व्यर्थ जगत असतात. पूर्वी होऊन गेलेल्या महर्षींनी देखील हे कर्म करूनच परम नैष्कर्म्य सिद्धी

प्राप्त करून घेतली होती. ते आत्मतृप्त आहेत. त्यांना कर्म करण्याची आवश्यकता नाही. तरीही मागावून येणाऱ्यांच्या मार्गदर्शनासाठी ते देखील आपले कर्म उत्तम प्रकारे करीत होते. त्या महापुरुषांबरोबर श्रीकृष्णाने आपली तुलना केली व म्हंटले की खरे म्हणजे मलाही आता कर्म करण्याची काही आवश्यकता नाही. परंतु मागून येणाऱ्या लोकांच्या हितासाठीच मी कर्म करीत आहे. येथे श्रीकृष्णांनी आपला स्पष्ट परिचय देऊन सांगितले की, ते देखील एक योगी होते.

त्यांनी कर्मामध्ये प्रवृत्त झालेल्या साधकांनी विचलित होऊ नये, मन चंचल ठेवू नये असे सांगितले कारण कर्म करूनच साधकाला परमोच्च स्थिती प्राप्त करावयाची आहे. जर त्यांनी नियत कर्म केले नाही तर ते नष्ट होतील. या कर्मासाठी ध्यानस्थ होऊन त्यांना युद्ध करावयाचे आहे. डोळे बंद आहेत, इंद्रियांना काबूत ठेवून चित्ताचा निरोध होत असेल तर युद्ध कसले? त्यावेळी काम–क्रोध, राग–द्वेष हे बाधा आणतात. या विजातीय प्रवृत्तीच्या पलीकडे पोहचणे हेच युद्ध होय. आसुरी संपत्तीला–कुरुक्षेत्र, विजातीय प्रवृत्तींना हळूहळू छाटून टाकत, ध्यानस्थ होत जाणे, हे युध्द आहे. खरे पाहता ध्यानातच युद्ध आहे. हाच या अध्यायाचा सारांश आहे. या अध्यायात ना कर्माविषयी सांगितले, ना यज्ञाविषयी. जर यज्ञाचे स्वरूप नीट समजेल तर कर्म चांगले समजले जाईल. अजूनपर्यंत त्यांनी कर्म म्हणजे काय हे समजावलेच नाही.

या अध्यायात फक्त स्थितप्रज्ञ महापुरुषाच्या प्रशिक्षणात्मक पैलूंवर भर दिला आहे. हा तर गुरुजनांसाठी निर्देश आहे. त्यांनी कर्म केले नाही तरी त्यांचे काहीही नुकसान होणार नाही किंवा कर्म केल्याने त्यांना काही लाभ आहे असेही नाही. परंतु ज्या साधकांना परमगती प्राप्त करावयाची आहे, त्यांच्यासाठी खास काही सांगितलेच नाही. तर मग हा 'कर्मयोग' कसा? कर्माचे स्वरूप पण स्पष्ट नाही, की जे नीट करता येईल. कारण की 'यज्ञाची प्रक्रियाच कर्म आहे'. आत्तापर्यंत त्यांनी एवढेच सांगितले. यज्ञाविषयी तर काही सांगितलेच नाही. मग कर्माचे स्वरूप कुठे स्पष्ट झाले? मात्र गीतेमधील युद्धाचे यथार्थ चित्रण येथेच वाचायला मिळते.

संपूर्ण गीतेवर नजर फिरवली तर दुसऱ्या अध्यायात सांगितले की शरीर नाशवंत आहे म्हणून युद्ध कर. गीतेमध्ये युद्धाचे हेच एक ठोस कारण सांगितले आहे. पुढे ज्ञानयोगाच्या संदर्भात क्षत्रियासाठी युध्द हेच कल्याणाचे एकमात्र साधन दाखविले आहे आणि पुढे सांगितले की ही बुद्धी तुझ्यासाठी ज्ञानयोगाच्या विषयात सांगितली गेली. कोणती बुद्धी? तर युद्धातील हार किंवा जीत या दोन्हींमध्ये साधकाला लाभच मिळणार आहे, असे समजून युद्ध कर. नंतर अध्याय चौथ्यामध्ये सांगितले की योगामध्ये मग्न राहून हृदयात असलेल्या आपल्या संशयाला ज्ञानरूपी तलवारीने कापून टाक. ही तलवार योगस्थितीत आहे. मग अध्याय पाच ते दहापर्यंत युद्धाची चर्चासुध्दा केली नाही. अकराव्या अध्यायात केवळ एवढेच सांगितले की, हे शत्रू माझ्याकडून पूर्वीच मारले गेले आहेत. तू फक्त निमित्तमात्र होऊन उभा रहा व यश प्राप्त कर. ते तुझ्याशिवाय मारले गेले आहेत. प्रेरक सर्व करवून घेईल. सध्या तू ह्या मेलेल्यानाच मार.

पंधराव्या अध्यायात हा संसार मूळ असणाऱ्या पिंपळाच्या वृक्षासारखा आहे असे सांगितले असंगतरूपी शस्त्राने कापून त्या परमपदाला शोधण्याचा निर्देश श्रीकृष्णांनी दिला. पुढील अध्यायात युद्धाचा उल्लेख नाही.हो ! सोळाव्या अध्यायात असुरांचे चित्रण आहे, जे नरकाला नेणारे आहे. तिसऱ्या अध्यायात युद्धाचे पूर्ण चित्रण आहे. श्लोक ३० ते ४३ पर्यंत युद्धाचे स्वरूप, त्याची अनिवार्यता, युद्ध न करणाऱ्यांचा विनाश, युद्धात मारले जाणाऱ्या शत्रूंची नावे, त्यांना मारण्यासाठी आपल्या शक्तीला आव्हान व त्यांना कापून फेकण्यावर भर दिला आहे. या अध्यायात शत्रू व शत्रूचे आंतरिक स्वरूप स्पष्ट केले आहे. त्यांच्या विनाशासाठी प्रेरणा दिली आहे. म्हणून–

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे 'शत्रु विनाश प्रेरणा' नाम तृतीयोऽध्यायः ।।३।।

याप्रमाणे श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषदातील ब्रह्मविद्यांतर्गत योगशास्त्रातील श्रीकृष्ण आणि अर्जुन यांच्या संवादातील 'शत्रू विनाश प्रेरणा' नावाचा तिसरा अध्याय समाप्त झाला.

इति श्रीमत्परमहंस परमानंदस्य शिष्य स्वामी अड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्भवदगीतायाः 'यथार्थ गीता' भाष्ये 'शत्रु विनाश प्रेरणा' नाम तृतीयोऽध्यायः ।।३।।

अशा प्रकारे श्रीमत्परमहंस परमानन्दजींचे शिष्य स्वामी अडगडानन्दकृत श्रीमद्भगवद्गीतेवरील भाष्य 'यथार्थ गीता' यामधील 'शत्रू विनाश प्रेरणा' नावाचा तिसरा अध्याय समाप्त झाला.

।। हरिः ॐ तत्सत् ।।

ॐ

श्री परमात्मने नमः

।। अथ चतुर्थोऽध्यायः ।।

अध्याय चौथा

तिसऱ्या अध्यायात योगेश्वर श्रीकृष्णाने असे आश्वासन दिले होते की, जो कोणी मानव दोषदृष्टिरहित, अविकल्प होऊन श्रद्धायुक्त भावाने मी सांगितल्याप्रमाणे चालेल तो कर्मबंधनातून चांगल्या प्रकारे मुक्त होईल. कर्म-बंधनातून मुक्ती देण्याची क्षमता योगामध्ये (ज्ञानयोग व कर्मयोग या दोन्हीत) आहे. योगामध्येच युद्ध-संचार समाविष्ट आहे. प्रस्तुत अध्यायात या योगाचा प्रणेता कोण आहे? त्याचा क्रमशः विकास कसा होतो? हे योगेश्वर श्रीकृष्णाने सांगितले आहे.

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्।।१।।

भगवान श्रीकृष्ण म्हणाले, हे अर्जुना, हा अविनाशी योग कल्पाच्या पूर्वी मी विवस्वानाला (सूर्याला) सांगितला होता. विवस्वानाने तो मनूला सांगितला. मनूने इश्वाकू याला हा योग सांगितला. म्हणजे हा योग सर्वप्रथम श्रीकृष्णांनी सांगितला होता. कारण श्रीकृष्ण स्वतः एक महायोगी होते. तद्रूप असणाऱ्या महापुरुष श्रीकृष्णांनी कल्पाच्या आरंभी म्हणजे आराधनेच्या आरंभी विवस्वानाला विवश प्राणिमात्राला अविनाशी योग सांगितला. सूर्य एक प्रतीक आहे. येथे सूर्य म्हणजे श्वास व त्या श्वासाच्या ठिकाणी या योगाचा संचार होतो. म्हणजेच सूर्याच्या ठिकाणी भगवान-परमात्म्याच्या प्रकाश स्वरूपात स्थित आहेत. परमात्मप्राप्तीचे ते एक दिव्य स्थळ आहे, कारण प्रकाशदाता सूर्य म्हणजेही परमात्माच होय.

हा योग अविनाशी आहे. श्रीकृष्णाने प्रारंभी सांगितले होते की या योगात आरंभाचा नाश होत नाही. म्हणून या योगविद्येच्या आचरणाचा प्रारंभ म्हणजे हा योग तुला पूर्णत्वाची प्राप्ती करून देईल. शरीराचा कल्प औषधांनी होतो, परंतु आत्म्याचा भजनाने होतो. भजनाचा आरंभ म्हणजे आत्मकल्पाचे मूळ आहे. हे साधन-भजन हेही कोण्या महापुरुषाचीच देणगी आहे. ज्यात भजनाचा काही संस्कार नाही अशा मोहनिद्रेमध्ये अचेत, आदिम मानव योगविद्येविषयी कधी विचारही करू शकत नाही. असा मनुष्य जेव्हा त्या महापुरुषाला पाहतो तेव्हा त्याच्या केवळ दर्शनाने, त्याच्या वाणीने, त्याच्या सान्निध्याने, त्याच्या थोड्यबहुत सेवेने योगाचा संस्कार त्या अचेत, अज्ञानी मनुष्यात संक्रमित होतो. गोस्वामी तुलसीदासजी याला म्हणतात- **'जे चितये प्रभु जिन्ह प्रभु हेरे','ते सब भये परम पद जोगू' । (रामचरितमानस्)**

श्रीकृष्ण म्हणतात, हा योग आरंभी मी सूर्याला सांगितला.**'चक्षोः सूर्यो अजायत'** । महापुरूषाच्या केवळ दृष्टिनिक्षेपाने योगविद्येचे संस्कार श्वासामध्ये प्रसारित होतात. स्वयंप्रकाशी, स्ववशी परमेश्वराचा निवास सर्वांच्या हृदयात असतो. श्वासाच्या निरोधानेच त्याची प्राप्ती होते. श्वासामध्ये संस्कारांचे सृजन म्हणजेच भगवंताचे सूर्याला सांगणे- उपदेश करणे होय. वेळ आली की हे संस्कार मनात स्फुरतात. हेच सूर्याचे मनूला सांगणे आहे. संस्कार मनात स्फुरले की महापुरुषाच्या उपदेशाची इच्छा जागृत होईल. जर मनात काही गोष्ट असेल तर ती प्राप्त करण्याची मनाला निश्चितपणे इच्छा होईल. हेच मनूचे इक्ष्वाकूला सांगणे आहे. आणि मग जे अविनाशी आहे, कर्मबंधनातून मुक्ती देणारे आहे ते नियत कर्म करण्याची लालसा मनात जागृत होईल व मग असे हे मोक्ष देणारे कर्म करावे असे वाटते व मग आराधनेलाही गती येते. गती आली की हा योग कोठे पोहचतो यावर श्रीकृष्ण म्हणतात-

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप।।२।।

कालेनेहै या प्रकारे एखाद्या महापुरूषाकडून संस्काररहित पुरूषांच्या श्वासात, श्वासातून मनात, मनातून इच्छेमध्ये व इच्छा तीव्र झाली की, मग

आचरणात येऊन हा योग क्रमशः राजर्षी श्रेणीपर्यंत पोहचतो. या अवस्थेत गेल्यानंतर तो तेथे ज्ञात होतो– सूचित होतो. या स्तरावरील साधकांच्यात ऋद्धिसिद्धींचा संचार होतो व मग या महत्त्वपूर्ण काळामध्ये हा योग शरीरातच लुप्त होतो. या सीमारेषेला कसे पार करता येईल? या सीमारेषेपर्यंत येऊन सर्व असेच नष्ट होतात का? श्रीकृष्ण म्हणतात–नाही जो माझा भक्त आहे, जो मला शरण आलेला आहे, जो माझा जिवलग मित्र आहे तो नष्ट होत नाही.

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्।।३।।

तोच हा पुरातन योग मी आज तुला सांगत आहे. कारण तू माझा परम मित्र आहेस म्हणून. हा उत्तम व रहस्यपूर्ण योग तुला सांगत आहे. अर्जुन हा क्षत्रिय श्रेणीचा साधक होता व जेथे ऋद्धिसिद्धींच्या मोहात अडकल्याने साधक नष्ट होतो त्या राजर्षी अवस्थेमध्ये तो होता. या काळामध्येसुध्दा योग हा कल्याण स्वरूपातच असतो, परंतु साधारणतः साधकच या अवस्थेपर्यंत आले की विचलित होतात. अर्जुन याच म्हणजे नष्ट होण्याच्या अवस्थेत होता व म्हणूनच श्रीकृष्णाने त्याला त्या अवस्थेतून बाहेर काढण्यासाठी हा अविनाशी व रहस्यमय असा योग सांगितला. का सांगितला? कारण अर्जुना, तू माझा भक्त आहेस, अनन्य भावाने तू मला शरण आलेला आहेस व तू माझा प्रिय सखा आहेस.

अध्यायाच्या प्रारंभीच भगवंतानी सांगितले की हा अविनाशी योग कल्पाच्या प्रारंभीच मी सूर्याला सांगितला होता. सूर्याकडून मनुला हीच गीता मिळाली. मनुने ती आपल्या स्मृति (स्मरणा) मध्ये जपून ठेवली. मनुकडून हीच स्मृति इक्ष्वाकुला प्राप्त झाली आणि राजर्षिंना तीचे ज्ञान झाले. परंतु ह्या महत्वपूर्ण काळापासून हा योग विस्मृतीत गेला. हेच प्राचीन स्मृतिज्ञान भगवंतांनी अर्जुनाला सांगितले. थोडक्यात सांगायचे तर मनुला ज्या ज्ञानाची प्राप्ति झाली होती, तेच ही गीता आहे. मनुला ते वारशाने (परंपरेने) मिळाले होते. या शिवाय आणखी कुठली स्मृति त्यांनी स्वीकारली असती! गीता ज्ञान ऐकल्यानंतर अठराव्या अध्यायाच्या अखेरीस अर्जुन

म्हणाला, मला स्मृति प्राप्त झाली आहे, जशी मनुला झाली होती. असो, ही श्रीमद्भगवतगीता हीच विशुद्ध मनुस्मृति आहे.

ज्या परमात्म्याच्या प्राप्तीची आम्हांला आस आहे, तो (सद्गुरू) परमात्मा आत्म्यामध्ये तद्रूप होऊन जेव्हा दिशा दाखवू लागतो, मार्गदर्शन करू लागतो तेव्हाच वास्तविक भजनाला प्रारंभ होत असतो. येथे प्रेरक अवस्थेमध्ये परमात्मा व सद्गुरू एक दुसऱ्यांचे पर्याय असतात. ज्या स्थितीत आम्ही उभे आहोत त्या स्थरावर येऊन स्वयं प्रभू हृदयात येऊन बसतात, शांत करतात, समजवतात, विचलित होणाऱ्याला सावरतात तेव्हा मन काबूत येते. "**मन बस होइ तबहि, जब प्रेरक प्रभु बरजे।**" जोपर्यंत परमात्मा सारथी होऊन, आत्म्याशी तद्रूप होऊन प्रेरक स्वरूपात उभे राहत नाहीत तोपर्यंत खऱ्या अर्थाने या भगवत पथावर प्रवेश मिळवता येत नाही.

'पूज्य गुरूदेव' म्हणत– "आम्ही कितीतरी वेळा नष्ट होता होता वाचलो आहोत. भगवंतानेच आम्हांला वाचवले आहे. भगवंताने आम्हांला त्यावेळी समजावले, उपदेश केला." यावर आम्ही विचारले, "महाराजश्री, परमेश्वर ही बोलतो का? आपल्याशी गप्पा मारतो का?" त्यावर ते म्हणाले, 'हो, तुझ्याशी आता मी बोलत आहे तसा परमेश्वर माझ्याशी बोलतो. तासन तास आखंड बोलतो.' हा अनुभव आम्हांला न आल्याने आम्हांला थोडे दुःख झाले, पण जास्त तर आश्चर्य वाटले. कारण ही अगदी नवलाची आश्चर्य करण्यासाठी गोष्ट होती. थोड्या वेळाने महाराज म्हणाले, – "काय घाबरतोस तुला सांगतो सगळे." महाराजांचे म्हणणे अक्षरशः खरे होते आणि हाच सख्य भाव होय. एखाद्या मित्राप्रमाणे ते निराकरण करत गेले. सद्गुरूच्या अशा कृपेनेच साधक अशा भ्रामक नष्टवत स्थितीतून पार होऊ शकतो.

इथपर्यंत श्रीकृष्णाने एखाद्या महापुरुषाद्वारा योगाचा आरंभ, त्यात येणाऱ्या अडचणी आणि त्या अडचणी पार करण्याचा रस्ता सांगितला. यावर अर्जुनाने प्रश्न केला–

अर्जुन उवाच–

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति।।४।।

अर्जुन म्हणाला, भगवन्, आपला जन्म तर '**अपरम**' अलीकडचा आहे व माझ्या आतील श्वासाचा संचार तर अत्यंत प्राचीन आहे. तेव्हा हा योग तुम्हीच आराधनेच्या प्रारंभी सांगितला होता, यावर मी कसा विश्वास ठेवावा? यावर योगेश्वर श्रीकृष्ण म्हणाले-

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।

तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप।।५।।

श्री भगवान म्हणाले, अर्जुना, तुझे व माझे पुष्कळ जन्म होऊन गेलेले आहेत. हे शत्रुतापना, ते सर्व जन्म मी आठवू शकतो; पण तू आठवू शकत नाहीस. अरे साधकाला ते जन्म आठवत नाहीत किंवा तो ते जन्म जाणतही नाही. परंतु स्वरूपामध्ये स्थित असणारा महापुरुष ते जाणत असतो, अव्यक्त स्थितीत असणारा जाणत असतो. याचा अर्थ जसे सर्व जन्माला येतात तशा प्रकारे तुम्हीही जन्माला येता का? श्रीकृष्ण म्हणतात नाही. शरीरप्राप्तीपेक्षा स्वरूपप्राप्ती भिन्न आहे. माझा जन्म तुमच्या साध्या डोळयांना दिसू शकत नाही. मी अजन्मा, अव्यक्त व शाश्वत असूनही शरीराचा आधार घेणारा आहे.

"अवधू जीवत में कर आसा।

मुए मुक्ति गुरु कहे स्वार्थी, झूठा दे विश्वासा।।"

शरीराच्या अस्तित्वासह परमतत्त्वात प्रवेश मिळवता येतो. मात्र त्यात लेशमात्र त्रुटी राहिली तरी पुन्हा जन्म घ्यावा लागतो. अद्यापपर्यंत अर्जुन श्रीकृष्णाला आपल्यासारखा देहधारी समजत होता, म्हणून त्याने प्रश्न विचारला - जसा सर्वांचा जन्म होतो तसा तुमचा जन्म झाला आहे का? तुम्हीही शरीरधारी आहात का? श्रीकृष्ण म्हणतात-

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया।।६।।

मी विनाशरहित, जन्मरहित आणि सर्व प्राणिमात्रांच्या ठिकाणी अधिष्ठित असूनही स्वकीय मायेला वश करून आत्म-मायेच्या योगाने जन्म घेतो.

एक माया म्हणजे अविद्या, जी प्रकृतीच्या ठिकाणी विश्वास ठेवते आणि नीच योनीचे कारण बनते; निमित्त बनते. दुसरी माया म्हणजे आत्ममाया! ती आत्म्यामध्ये प्रवेश मिळवून देते व स्वरूपाच्या – परमात्म्याच्या जन्माचे कारण बनते. हिलाच योगमायाही म्हणतात, पण आम्ही तिच्यापासून दूर आहोत. ही आत्ममाया शाश्वत स्वरूपाशी आमचे मिलन घडवून आणते. त्या आत्मिक प्रक्रियेच्या द्वारा मी त्रिगुणमयी प्रकृतीला वश करून प्रकट होतो.–जन्म घेतो.

साधारणतः लोक म्हणतात की परमेश्वराचा अवतार झाला तर त्याचे दर्शन घेऊ. श्रीकृष्ण म्हणतात दुसरे कोणी प्रत्यक्ष पाहू शकेल असा अवतार वगैरे काही नसतो. स्वरूपाचा जन्म पिंडाच्या ठिकाणी होत नाही. श्रीकृष्ण म्हणतात साधनेद्वारा, आत्ममाया द्वारा आपल्या त्रिगुणमयी प्रकृतीला वश करून मी प्रकट होत असतो. परंतु कोणत्या परिस्थितीत?

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।७।।

हे भावरत अर्जुना, जेव्हा जेव्हा परमधर्म परमात्म्यासाठी हृदय ग्लानीने भरून जाते, जेव्हा अधर्माच्या वृद्धीमुळे भाविक जन पैलतीर पोहचू शकत नाहीत; तेव्हा मी स्वरूपाची रचना करू लागतो. अशाच प्रकारची ग्लानी मनूला आली होती.

हृदय बहुत दुख लाग, जनम गयउ हरि भगति बिनु।

(रामचरितमानस)

जेव्हा प्रेमस्वरूप अशा भक्ताचे हृदय प्रेमाने भरून येते, त्या शाश्वत धर्मासाठी '**गदगद गिरा नयन बह नीरा**' अशी त्याची स्थिती होते व जेव्हा प्रयत्न करूनही भक्त अधर्मावर मात करू शकत नाही– अशी जेव्हा स्थिती होते म्हणजे धर्माला जेव्हा ग्लानी येते– तेव्हा मी माझ्या स्वरूपाची रचना करीत असतो. अर्थात भगवंताचे हे प्रकटीकरण फक्त त्याच्या प्रेमळ भक्तांसाठीच असते.

सो केवल भगतन हित लागी।

(रामचरितमानस १/१२/५)

आणि मग हा अवतार एखाद्या भाग्यवान साधकाच्या अंतरंगात होतो. पण परमात्मा प्रकट होऊन काय करतो?

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।।८।।

हे अर्जुना, '**साधूनां परित्राणाय**' साधकांचे परमसाध्य फक्त परमात्म्याची प्राप्ती हेच असते व ते साध्य झाल्यावर त्यांना कोणतीही साधना करण्याचे शेष राहत नाही. ते साध्य प्राप्त होण्यासाठी आवश्यक असणारे विवेक, वैराग्य शम-दम इत्यादी दैवी संपदेचे गुण साधकांमध्ये निर्विघ्नपणे प्रवाहित करण्यासाठी तसेच '**दुष्कृताम्**' ज्यामुळे कार्य दूषित होते अशा काम-क्रोध, राग- द्वेषादि विजातीय प्रवृत्तींचा समूळ नाश करण्यासाठी तसेच धर्माची संस्थापना करण्यासाठी मी युगायुगाच्या ठिकाणी अवतार घेतो.

येथे युग म्हणजे सत्य युग, त्रेता, द्वापर युग असा अर्थ नाही. युगधर्मांचा चढ-उतार मनुष्य स्वभावावर अवलंबून आहे. युग-धर्माचे अस्तित्व सदैव असते.

नित जुग धर्म होहिं सब केरे। हृदय राम माया के प्रेरे।

रामचरितमानस (७/१०/१)

युगधर्म सर्वांच्या हृदयात नित्य वसत असतात. त्यांचा वास तेथे अविद्येमुळे नसतो; परंतु विद्येमुळे, राममायेच्या प्रेरणेमुळे असतो. या श्लोकात जिला आत्ममाया म्हंटले आहे तीच राममाया होय. हृदयात रामस्थिती निर्माण करणारी, रामाकडून प्रेरित झालेली जी विद्या ती राममाया तीच आत्ममाया. पण कोणता युगधर्म सुरू आहे हे समजावे कसे? '**शुद्ध सत्व समता विग्याना । कृत प्रभाव प्रसन्न मन जाना ।।**' **(मानस ७/१०३/२)** जेव्हा हृदयात शुद्ध सात्त्विक गुण कार्यरत असेल तर राजस व तामस हे दोन गुण तेथे शांत असतात, विषमता नावालाही राहिलेली नसते, द्वेषभाव नष्ट झालेला असतो, जेथे विज्ञानाचे अस्तित्व असते म्हणजेच

परमेश्वराकडून आदेश घेऊन त्याप्रमाणे आचरण करण्यास जे समर्थ असतात, तशी ज्यांच्यात क्षमता असते. तेव्हा त्या साधकाला सत्युगात प्रवेश मिळाला असे समजावे. त्यानंतर इतर दोन युगांचे त्यांनी विवरण केले व शेवटी

तामस बहुत रजोगुन थोरा।

कलि प्रभाव विरोध चहुँ ओरा।।

जेव्हा हृदयात तामस गुणांचे प्राबल्य असते, राजस गुण अगदी नाममात्र असतो, चोहो बाजूंनी वैर आणि विरोध अधिक असतो तेव्हा ती व्यक्ती कलीयुगीन समजावी. जेव्हा तामस अधिक प्रमाणात कार्यरत असतो तेव्हा त्या मनुष्यात आळस, निद्रा व प्रमादाचे प्राबल्य असते. त्यांचे कर्तव्य काय आहे हे माहीत असूनही ते कर्तव्य करायला प्रवृत्त होत नाहीत व अमुक निषिद्ध कर्म आहे हे जाणत असूनही ते केल्यावाचून ते राहत नाहीत. अशा प्रकारे युगधर्माचा चढ-उतार मनुष्याच्या आंतरिक योग्यतेवर अवलंबून असतो. या योग्यतेला कोणी चार युग म्हणतात, तर कोणी यांना चार वर्णांचे नाव देतात, तर कोणी अति उत्तम, उत्तम, मध्यम आणि निकृष्ट असे चार श्रेणींचे साधक समजतात. प्रत्येक युगात भगवंताची साथ असते. उच्च श्रेणीत त्याची प्रतीती भरपूर येते तर निम्न श्रेणीत भगवंताचा सहयोग नाममात्र जाणवतो.

सारांश, श्रीकृष्ण म्हणतात साध्य वस्तू देणारे विवेक, वैराग्य इत्यादींना निर्विघ्नपणे प्रवाहित करण्यासाठी तसेच दूषणकारक काम-क्रोध, राग-द्वेष यांचा विनाश करण्यासाठी परमधर्म परमात्म्यामध्ये स्थिर होण्यासाठी मी युगा-युगात म्हणजेच प्रत्येक परिस्थितीत, प्रत्येक श्रेणीत मी प्रकट होत असतो. जोपर्यंत परमात्म्याचे सहाय्य नसते, तोपर्यंत विकार नष्ट झाले की थोडे बाकी आहेत हे तुम्हाला समजू शकत नाही. परमात्म्याची साथ असेल तर प्रत्येक श्रेणीत, प्रत्येक क्षमतेत तो तुम्हाला सहाय्य करतो. वत्सल भक्ताच्या हृदयात परमेश्वर प्रकट होतो. मग भगवान प्रकट झाल्यावर तर सर्वजण त्याचे दर्शन घेऊ शकतील पण श्रीकृष्ण म्हणतात, नाही-

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन।।९।।

हे अर्जुना, अधर्माच्या वृद्धीमुळे दुःखाने (ग्लानीने) मन भरून आल्यावर मी माझ्या स्वरूपाची जी रचना करतो तो माझा जन्म व साधकांना विघ्नरूप ठरणाऱ्या कामक्रोधादि दुष्कृतींचा नाश करणे व परमात्म्याचा प्राप्तीचे लक्ष्य ठेवून साधना करणाऱ्या साधकांच्यात त्या साध्यप्राप्तीची क्षमता संचारित करणे व धर्माची संस्थापना करणे, धर्मला स्थैर्य देणे, हे माझे कर्म होय. माझे हे कर्म व जन्म दोन्ही दिव्य व अलौकिक आहेत. ते लौकिक नाहीत. चर्मचक्षूंनी मनुष्य ते पाहू शकत नाही. मन-बुद्धीने त्याला मापता येत नाही. मग परमात्म्याचे स्वरूप जर इतके गूढ आहे, तर त्याला कोण पाहू शकते? केवळ '**यो वेत्ति तत्त्वतः**' तत्त्वदर्शी लोकच माझे या प्रकारचे दिव्य जन्म व कर्म बरोबर जाणतो आणि माझा साक्षात्कार त्याला झाल्यानंतर तो पुन्हा जन्माला न येता मलाच येऊन मिळतो.

जर तत्त्वदर्शी लोकच जर परमेश्वराचा जन्म व कार्य पाहू शकतात तर लाखो लोक परमेश्वराच्या दर्शनासाठी का व्याकूळ होऊन उभे आहेत? ते काय तत्त्वदर्शी आहेत का? महात्म्याचे सोंग घेऊन-वेष करून स्वतः भगवंताचा अवतार आहोत असे लोकांना भासवीत फिरत असतात व त्यांचे भोंदू शिष्यरूपी दलाल त्यांचा प्रचार करीत भटकत असतात. आणि लोक तो अवतार पाहायला गर्दी करतात. पण श्रीकृष्ण म्हणतात की केवळ तत्त्वदर्शी माझे स्वरूप पाहू शकतात. मग तत्त्वदर्शी कोणाला म्हणतात?

दुसऱ्या अध्यायात सत् व असत् यांचे विवरण करताना योगेश्वर श्रीकृष्णांनी सांगितले होते की, असत् वस्तूचे अस्तित्व नसते व सत्चा तिन्ही कालात अभाव नसतो. तर आपल्याला असे म्हणावयाचे आहे का? त्यांनी सांगितले- "नाही, तत्त्वदर्शी लोकांनीच त्याला पाहिले". ना कोणत्या भाषाविशारदाने त्याचे स्वरूप पाहिले ना कोणत्या धनवानाने पाहिले. ते पुनःपुन्हा सांगतात की फक्त तत्त्वदर्शी व्यक्तीने पाहिले. म्हणजे तत्वदर्शी हा एक प्रश्न आहे. पाच व पंचवीस तत्त्वे मोजल्याने किंवा त्यांचा अभ्यास केल्याने तत्त्वदर्शी होत नाही. श्रीकृष्ण म्हणतात आत्मा हेच परमतत्त्व आहे. आत्मा परममध्ये तद्रूप झाल्यावर तो परमात्मा होतो. आत्म-साक्षात्कार ज्यांना होतो तोच हा आविर्भाव समजू शकतात. जो परमेश्वराच्या विरहाने व्याकूळ होतो अशा उत्कट भक्ती असणाऱ्या भक्ताच्या ठिकाणीच परमेश्वर

अवतार घेत असतात. त्या भक्ताला सुरुवातीला आपल्याला कोण संकेत देत आहे, कोण मार्गदर्शन करीत आहे, हे समजत नाही. परंतु परमतत्त्व परमात्म्याचे दर्शन झाल्यावर तो त्या दिव्यभव्य रूपाचे दर्शन घेऊ शकतो व त्याला समजू शकतो व त्यानंतर तो आपल्या शरीराचा त्याग करून त्या स्वरूपातच मिसळून जातो. त्याला मग पुनर्जन्म प्राप्त होत नाही.

श्रीकृष्णांनी सांगितले की माझा जन्म दिव्य आहे. माझे दर्शन करू शकरणारेच मला प्राप्त करू शकतात. तेव्हा लोकांनी त्यांची मूर्ती बनवली, तिची पूजा करू लागले, भगवंताचा निवास आकाशात आहे अशी कल्पना केली. परंतु हे सर्व व्यर्थ आहे. त्या महापुरुषाच्या सांगण्याचे तात्पर्य एवढेच होते की, जर तुम्ही निर्धारित कर्म कराल तर तुम्ही स्वतःच दिव्य आहात. म्हणजेच दिव्यत्व तुमच्यात आहे हे जाणाल व मग मी आपल्यासारखाच बनलो आहे. मी आपली संभावना आहे. मी आपले भविष्य आहे असा आपल्या अंतरंगात ज्या दिवशी पूर्णतेचा साक्षात्कार तुम्हाला होईल त्या दिवशी तुम्ही तसेच बनाल जसे श्रीकृष्ण आहेत. अवतार कोठे बाहेर होत नाही. जर तुमचे हृदय प्रेमाने ओतप्रोत असेल तर आपल्या अंतरंगातही अवताराचा अनुभव शक्य आहे. श्रीकृष्ण येथे तुम्हाला प्रोत्साहन देत सांगत आहेत की अनेक लोक या मार्गावरूनच माझ्याप्रत येऊन मला त्यांनी प्राप्त करून घेतले आहे.

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।

बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः।।१०।।

राग (आसक्ती व विराग अनासक्ती) यातून मुक्त होऊन तसेच भय-अभय, क्रोध-अक्रोध यातून मुक्त होऊन अहंकाररहित होऊन म्हणजेच मत्परायण होऊन माझ्या आश्रयास आलेले अनेक लोक ज्ञानरूप तपाने पावन होऊन, माझ्या स्वरूपाला येऊन मिळालेले आहेत. माझ्या स्वरूपाला ते प्राप्त झाले आहेत. कोणत्या प्रकारे? तर ज्यांचे ज्यांचे हृदय अधर्माच्या वृद्धीने परमात्म्यासाठी दुःखाने भरून येते, तशा अवस्थेत मी माझ्या स्वरूपाची रचना करीत असतो व तसे प्रेमळ भक्त माझ्या स्वरूपाला प्राप्त करून घेतात. ज्याला योगेश्वर कृष्णांनी तत्त्वदर्शन म्हंटले होते त्यालाच

त्यांनी येथे ज्ञान म्हटले आहे. परमतत्त्व म्हणजेच परमात्मा. त्याचे दर्शन, प्रत्यक्ष दर्शन घेऊन त्याला जाणणे, ईश्वराचे ज्ञान करून घेणे होय. असे मला जाणणारे जे ज्ञानी आहेत, ते माझ्या स्वरूपात येतात. येथे हा प्रश्न पूर्ण झाला. आता पुढे श्रीकृष्णांनी त्यांना भजणाऱ्यांचे त्यांच्या योग्यतेच्या, क्षमतेच्या आधारावर श्रेणीमध्ये विभाजन केले आहे.

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।।११।।

हे पार्था, जे मला जितक्या उत्कटतेने भजतात मीही त्याच प्रमाणात त्यांना भजत असतो, म्हणजे तसे त्यांना फल देत असतो. त्याच प्रमाणात त्यांना सहकार देत असतो. साधकाची श्रध्दाच कृपा बनून त्याला प्राप्त होत असते. हे रहस्य जाणून ज्ञानी लोक अनन्य श्रद्धेने माझाच मार्ग अनुसरतात. मी जसे आचरण करतो, जे जे मला प्रिय आहे, ते ते सर्व ते करतात. माझ्या इच्छेप्रमाणे ते वागतात, त्याप्रमाणे सर्व गोष्टी करतात.

भगवान भक्ताला कसे भजतात? ते भक्ताच्या जीवनरथाचा सारथी बनतात व सतत भक्ताबरोबर राहतात. हे ईश्वराचे भक्ताला भजणे आहे. भक्ताला क्लेश देणाऱ्या ज्या ज्या दूषित-निंद्य गोष्टी आहेत त्यांचा ते विनाश करण्यास तत्पर असतात. सत्य स्वरूपात प्रवेश देणाऱ्या सद्‌गुणांचे ते रक्षण करतात. जोपर्यंत ईश्वर अशा भक्तासाठी सारथी बनत नाही, प्रत्येक पावलागणिक भक्ताला सावध करण्यास तत्पर असत नाही, तोपर्यंत परमेश्वराच्या भजनादि आराधनेत मग्न असणारा कोणी कितीही मोठा भक्त असो, किंवा त्याने लाख वेळा डोळे बंद केले किंवा लाख प्रयत्न केले तरी तो या प्रकृतीच्या द्वंद्वापासून पार होऊ शकत नाही. परंतु आपण या मार्गात किती अंतर कापले आहे? अजून किती अंतर कापावयाचे बाकी आहे? हे साधकाला कसे समजणार? जेव्हा इष्टदेव आत्म्याशी तद्रूप होऊन उभे राहतात तेव्हा ते साधकाला सतत मार्गदर्शन करतात की तुम्ही आता येथे आहात, आता असे करा, असे वागा, असे चला. अशा प्रकारे दरी ओलांडत, हळूहळू पुढे जात भक्ताला ते स्वरूपात प्रवेश मिळवून देतात. भजन-आराधना तर साधकालाच करावी लागते; परंतु त्याच्याद्वारा जे अंतर कापले जाते ती 'इष्ट'

ची देणगी आहे असे जाणून सर्व लोक अत्यंत श्रद्धापूर्वक माझेच अनुसरण करतात. ते कशा प्रकारे वागतात?

कड्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा।।१२।।

कर्मफळाची इच्छा करणारे ते लोक या लोकी देवतांची पूजा करतात. येथे कोणते कर्म अभिप्रेत आहे? श्रीकृष्णांनी अर्जुनाला "तू नियत कर्म कर" असे सांगितले. हे नियत कर्म म्हणजे कसले कर्म? यज्ञाची प्रक्रिया म्हणजे कर्म. पण यज्ञ म्हणजे काय? यज्ञ म्हणजे साधनेचा विधी– ज्यामध्ये श्वास–उच्छवासाचे हवन केले जाते. याचा परिणाम असतो, परमात्म्याची प्राप्ती! म्हणजे कर्माचा खरा अर्थ आहे आराधना! तिचे स्वरूप याच अध्यायात पुढे पाहावयास मिळेल. या आराधनेचा परिणाम काय असतो? संसिद्धिम –परमसिद्ध परमात्म्याची प्राप्ती! '**यान्ति ब्रह्म सनातनम्**' शाश्वत ब्रह्मामध्ये प्रवेश. परम नैष्कर्म्याची स्थिती. श्रीकृष्ण म्हणतात– माझ्याप्रमाणे आचरण करणारे म्हणजे मला अनुसरणारे लोक या लोकात कर्मफल, जे नैष्कर्म्य सिद्धी, ती प्राप्त करण्यासाठी देवतांची पूजा करतात. अर्थात दैवी संपदा सामर्थ्यवान बनवतात.

तिसऱ्या अध्यायात श्रीकृष्णांनी सांगितले होते की, या यज्ञाच्या द्वारे तुम्ही देवतांची वृद्धी करा. दैवी संपदा सामर्थ्यवान बनवा. हृदयरूपी देशात ही दैवी संपदा जो जो उन्नत होईल तो तो तुमचीही अन्नती होइल. या प्रकारे परस्परांशी उन्नती करत परमश्रेयाची प्राप्ती करून घ्या. शेवटपर्यंत उन्नती करीत राहण्याची ही अंतःक्रिया आहे. यावर भर देत श्रीकृष्ण म्हणतात की मला अनुसरून वागणारे लोक या मनुष्य शरीरात कर्मफलाची इच्छा करीत दैवी संपदेला बलवान बनवतात. नैष्कर्म्य सिद्धी शीघ्रतेने प्राप्त होते. म्हणजे ते कर्मफल प्राप्त करून घेण्यांत त्यांना यश मिळते. शीघ्र म्हणजे काय? कर्म करताच लगेच परमसिद्धी प्राप्त होते का? नाही– नाही. तसे होत नाही. परमात्म्याच्या प्राप्ती कडे जाण्याचा तो सोपान आहे. तो क्रमशः चढतच इच्छित प्राप्ती होत असते. एकदम वरच्या पायरीवर उडी मारण्याने भावातीत ध्यानासारखा चमत्कार होत नाही.

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्धयकर्मारमव्ययम्।।१३।।

अर्जुना, '**चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं**' चार वर्णांची रचना मी केली. याचा अर्थ मानवाची चार भागात विभागणी केली असा होतो का? श्रीकृष्ण म्हणतात– असा याचा अर्थ नाही, तर '**गुण कर्म विभागशः**' मनुष्यामध्ये असणाऱ्या स्वभावजात गुणांच्या माध्यमातून कर्माची चार भागात विभागणी केली. गुण हा एक मापदंड आहे– प्रमाणे आहे. जर मनुष्यामध्ये तामसी गुणाचे प्राबल्य असेल तर आळस, निद्रा, प्रमाद, कर्म न करण्याची वृत्ती, निषीध्द कर्म माहीत असूनही त्याचा त्याग न करण्याची विवशता, हे गुण तेथे जास्त असतात. अशा अवस्थेत साधक साधनेला आरंभ कसा करू शकेल? तो दोन तास आराधनेला बसतो. तो कर्म करू इच्छितो; परंतु दहा मिनिटेही तो स्वतःच्या इच्छेप्रमाणे आराधना करू शकत नाही, कारण त्याचे चंचल मन! त्याचे शरीर दोन तास अवश्य बसले आहे; पण ज्या मनाला स्थिर बैठक घ्यायला पाहिजे ते मात्र हवेत उडत आहे. तर्क–वितर्कांचे जाळे ते विणत आहे. नाना विचारांच्या तरंगाबरोबर ते विहार करीत आहे. मग त्या बसण्याचा अर्थ काय? कशासाठी वेळेचा अपव्यय करायचा? अशा वेळी '**परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्**' अव्यक्त स्थितीत असणाऱ्या व अविनाशी तत्त्वात स्थित असणाऱ्या या भगवतपथावर अग्रेसर असणाऱ्या आपल्यापेक्षा उच्च अशा लोकांची त्याने सेवा करावी. यामुळे मनातील दूषित संस्कारांचे शमन होईल व साधनेला उपयुक्त असणारे संस्कार दृढ होतील.

अशा सेवेमुळे तामसी गुणांचे प्राबल्य कमी होऊन राजसी गुणांची वाढ होते, सात्त्विक गुणांचाही थोडा संचार होतो व त्यामुळे साधकाची क्षमता वैश्य श्रेणीची बनते. अशा वेळी साधक स्वतः इंद्रिय संयमन व आत्मिक संपत्तीचा संग्रह करू लागतो. कर्म करता करता त्याचे तामसी गुण शांत होतील, राजसी गुण ही कमी होतील व त्याच्या ठिकाणी सात्त्विक गुणांचे प्राबल्य वाढेल. अशा वेळी साधक क्षत्रिय श्रेणीत प्रवेश मिळवेल व तेव्हा वीरता, कर्मात प्रवृत्त राहण्याची क्षमता, मागे न हटण्याची जिद्द, स्वामीत्ववृत्ती,

प्रकृतीच्या तिन्ही गुणांना छाटण्याची क्षमता हे गुण त्याच्या ठिकाणी वाढीस लागतील. तेच कर्म अधिक सूक्ष्म झाल्यानंतर त्या साधकाच्या ठिकाणी फक्त सात्त्विक गुणांचेच प्राबल्य राहील व मग त्या साधकाच्या ठिकाणी मनाचे नियमन, इंद्रियांचे दमन, एकाग्रता, सरळता, ध्यान, समाधी, ईश्वरीय निर्देश, आस्तिकता इ. ब्रह्मामध्ये प्रवेश देऊ शकणारी क्षमता त्याला प्राप्त होते व मग साधकाला ब्राह्मण श्रेणीचा समजले जाते. ब्राह्मण श्रेणीच्या कर्माची ही सर्वात परम सीमा आहे. हाच साधक जेव्हा ब्रह्माच्या ठिकाणी स्थित होतो तेव्हा त्या अंतिम स्थितीत तो स्वतः ना ब्राह्मण राहत, ना क्षत्रिय, ना वैश्य, ना शुद्र. परंतु दुसऱ्यांच्या मार्गदर्शनासाठी तो ब्राह्मण आहे. कर्म एकच असते- नियत कर्म, आराधना! निरनिराळया स्वभावधर्मानुसार व गुणांनुसार या कर्माची चार भागांत वाटणी केली. योगेश्वर श्रीकृष्णांनी केली. अव्यक्त स्थितीत असणाऱ्या महापुरुषाने केली. म्हणून येथे श्रीकृष्ण सांगतात या कर्माचा जरी कर्ता असलो, तरी मी अविनाशी आहे व अकर्ता आहे असे तू जाण, असे का?

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते।।१४।।

कारण कर्मफलाविषयी माझी आसक्ती नाही. पण कर्मफल म्हणजे काय? श्रीकृष्णांनी यापूर्वी सांगितले आहे की, यज्ञ ज्याने पूर्ण होतो त्या क्रियेला कर्म असे म्हणतात. आणि क्रिया समाप्त झाल्यावर यज्ञ ज्याची रचना करतो त्या ज्ञानामृताचे पान करणारा शाश्वत, सनातन ब्रह्मामध्ये प्रवेश मिळवतो. कर्माचा परिणाम म्हणजे परमात्मा! त्या परमात्म्याची आसही आता मला नाही. कारण तो माझ्याहून भिन्न नाही. मी अव्यक्त आहे. परमात्म्याचीच स्थिती मला प्राप्त झालेली आहे. आता ज्यासाठी या कार्यात आसक्ती ठेवू, असे आता माझ्यासाठी काही उरलेले नाही. त्यामुळे कोणतेही कर्म मला बध्द करू शकत नाही. अशा प्रकारच्या (म्हणजे मी अकर्ता, अव्यक्त, आत्मरूप आहे असा) मला जो जाणतो म्हणजेच जो परमात्म्याला प्राप्त करून घेतो, तोहि कर्मबद्ध होत नाही. कर्मफल त्याला बद्ध करीत नाही.

एवं ज्ञात्वां कृतं कर्म पूर्वैःरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैःतरं कृतम्।।१५।।

हे अर्जुना, पूर्वी मोक्षाची इच्छा करणाऱ्या महापुरुषांनी अशा प्रकारच्या मला जाणून कर्म केले. काय जाणून? हेच की कर्माचा परिणाम म्हणजे परमात्म्याशी अभिन्नत्व. असे अभिन्नत्व प्राप्त झाल्यावर त्या परमात्म्याची स्पृहाही राहत नाही व त्यामुळे त्याला कर्म बद्ध करीत नाही. श्रीकृष्ण असे आहेत व म्हणून त्यांना कर्मे बद्ध करीत नाहीत व त्याच स्तरावरून जर आम्ही भगवंताला जाणले, तर ते कर्म आम्हालाही बद्ध करीत नाही. आता श्रीकृष्ण 'भगवान', 'महात्मा', 'अव्यक्त', योगेश्वर किंवा महायोगेश्वर कोणत्याही स्वरूपात असले तरी ते स्वरूप सर्वांसाठी आहे. हे जाणून पूर्वीच्या मुमुक्षू पुरुषांनी– मोक्षाची इच्छा करणाऱ्या पुरुषांनी कर्म केले व म्हणून हे अर्जुना, तू देखील पूर्वीच्या मुमुक्षूनी परंपरागत केलेले कर्म तू कर. हा कल्याणाचा एकमात्र मार्ग आहे.

आतापर्यंत योगेश्वर श्रीकृष्णांनी कर्म करण्यावर भर दिला; परंतु कर्म म्हणजे काय हे स्पष्ट केले नाही. दुसऱ्या अध्यायात त्यांनी कर्माचे फक्त नाव घेतले, नंतर त्या कर्माची विशेषता सांगितली की ते साधकाचे जन्म–मरणाच्या महान भयापासून रक्षण करते. नंतर कर्म करताना घ्यायच्या दक्षतेचे वर्णन केले; परंतु कर्म म्हणजे काय हे मात्र सांगितले नाही. तिसऱ्या अध्यायात त्यांनी सांगितले की, तुम्हाला ज्ञानमार्ग आवडो किंवा निष्काम कर्मयोग, कोणत्याही मार्गाचे आचरण केलेत तरी कर्म तर करावेच लागेल. कर्माचा त्याग केल्याने कोणी ज्ञानी होत नाही किंवा कर्माचा आरंभ केल्याने कोणी नैष्कर्मी होत नाही. जे नुसता हठयोग करून कर्मेन्द्रिये फक्त आवरतात, ते दांभिक आहेत. त्यासाठी तू मनाने इंद्रियांना वश करून कर्म कर. कोणते कर्म करावे? तर नियत कर्म करावे. आता हे निर्धारित कर्म कसे असते? तर त्यांनी सांगितले की, यज्ञाची प्रक्रिया म्हणजे नियत कर्म. पण यज्ञ म्हणजे काय की जो केल्याने कर्म होते? त्यावर त्यांनी यज्ञाची उत्पत्ती सांगितली. यज्ञाची विशेषता सांगितली, पण यज्ञ म्हणजे काय ते सांगितले नाही. येथपर्यंत कर्म म्हणजे काय ते स्पष्ट झाले नाही. आता ते सांगत आहेत की, अर्जुना,

कर्म कोणते व अकर्म कोणते याबाबतीत ज्ञानी लोकांनाही भ्रम पडतो. तेव्हा ते चांगल्या प्रकारे समजून घेतले पाहिजे.

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।

तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।।१६।।

कर्म कोणते व अकर्म कोणते याबाबतीत बुध्दिमान लोकदेखील मोहित झालेले आहेत. तेव्हा मी या कर्माविषयी तुला विस्तारपूर्वक सांगतो. म्हणजे ते जाणल्याने तू '**अशुभात माक्ष्यसे**' अशुभ अशा संसारापासून मुक्त होशील. कर्म ही एकच अशी वस्तू आहे की जी संसार-बंधनापासून मुक्ती देऊ शकते. हे कर्म चांगले जाणून घेण्यासाठी त्यावर पुन्हा भर देऊन श्रीकृष्ण म्हणतात-

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।

अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः।।१७।।

कर्म म्हणजे काय हे जाणले पाहिजे. अकर्माचे स्वरूपही समजून घेतले पाहिजे. तसेच विकर्म म्हणजे विकल्पशून्य विशेष कर्म जे आत्मपुरुषांद्वारे होते ते कर्मही जाणले पाहिजे. कारण कर्माचे तत्त्व समजण्यास फार गहन आहे. काही लोक विकर्माचा अर्थ 'निषिद्ध कर्म', 'मन लावून केले गेलेले कर्म' इत्यादी अर्थ करतात. वास्तविक येथे 'वि' उपसर्ग विशिष्टतेचा द्योतक आहे. परमात्म्याच्या प्राप्तीनंतर महापुरुषांचे कर्म विकल्पशून्य होत असते. आत्मस्थित, आत्मतृप्त, आत्मकाम महापुरुषांना कर्म करण्याने त्यांना ना काही लाभ होतो किंवा, कर्म करण्याचे सोडून दिले तर ना त्यांची काही हानी होते. तरीही मागाहून येणाऱ्या लोकांच्या हितासाठी ते कर्म करीत असतात. असे कर्म विकल्पशून्य असते, विशुद्ध असते व याच कर्माला विकर्म असे म्हंटले जाते.

उदाहरणार्थ, गीतेमध्ये जेथे एखाद्या कार्यासाठी 'वि' उपसर्ग लावला गेला तेथे तो विशषतेचा द्योतक आहे. निकृष्टतेचा नाही. जसे- 'योगयुक्तो विशुद्धात्मा जितेंद्रियः' (५/७)- निष्काम कर्मयोगाने युक्त असणारा शुद्ध अंत:करणाचा, अत्यंत आत्मसंयमी व ज्याने आपली इंद्रिये उत्तम प्रकारे

जिंकली आहेत असा. याप्रकारे 'वि' हा उपसर्ग विशेषतेचा द्योतक आहे. या प्रकारे गीतेत 'वि' चा उपयोग केला गेला आहे जो पूर्णतेचा द्योतक आहे. या प्रकारे 'विकर्म' म्हणजे विशेष कर्म असा घ्यावा. जे परमात्म्याच्या प्राप्तीनंतर महापुरुषांद्वारा केले जाते ते कर्म की, ज्यामुळे शुभाशुभ परिणाम होत नाही असे कर्म.

विकर्म म्हणजे अशा प्रकारे विशेष कर्म! कर्म व अकर्म ज्याचे स्पष्टीकरण पुढच्या श्लोकात केले आहे. जर तेथे कर्म व अकर्माचा अर्थ समजला नाही तर मग तो कधीच समजला जाणार नाही.

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्।।१८।।

कर्म म्हणजे आराधना. ही आराधना करीत असताना ती मी करत नसून माझ्या ठिकाणी असणारे गुणच ते करवून घेत आहेत. 'माझ्याकडून करविणारा तो परमदेव आहे', हे जो जाणतो आणि कर्मामध्ये अकर्म पाहण्याची ज्याच्यामध्ये क्षमता येते व नंतर निरासक्त वृत्तीने सतत त्याच्याकडून कर्म केले जाते तेव्हा ते कर्म योग्य प्रकारे होत आहे असे समजावे. असे कर्म करणारा पुरुष सर्व मनुष्यात बुद्धिमान आहे, तोच योगी आहे. तो सर्व कर्मे करणारा व योगयुक्त असा महापुरुष आहे. त्याच्याकडून जे कर्म केले जाते त्यात लेशमात्र त्रुटी राहत नाही.

सारांश, आराधना म्हणजेच कर्म होय. ते कर्म करीत असताना त्यात अकर्म पाहणे म्हणजेच माझ्याकडून कर्म करवून घेणारा परमेश्वर आहे– मी एक यंत्रवत आहे. माझ्यात असणाऱ्या गुणांनुसार मी कर्म करीत असतो. जेव्हा अशा प्रकारे साधकाला नैष्कर्म्य अवस्था प्राप्त होते व अशा प्रकारे अनासक्त होऊन, कृष्णभावनाभावित कर्म त्याच्याकडून होत राहते, तेव्हा परम कल्याणकारी असे कर्म घडते. पूज्य महाराज नेहमी म्हणत की "जोपर्यंत ईश्वर आपला सारथी बनत नाही, जोपर्यंत तो आपल्याला आवरत नाही, रोकत नाही, तोपर्यंत खऱ्या अर्थाने साधनेला प्रारंभच होत नाही." यापूर्वी जे काही केले जाते ते सर्व कर्ममार्गात प्रवेश करण्याचा एक फक्त प्रयत्न आहे; यापेक्षा अधिक काही नाही. नांगराचा सर्व भार बैलांच्या खांद्यावर

असतो, परंतु तरीही शेत नांगरल्याचे श्रेय नांगरणाऱ्याला दिले जाते. तशा प्रकारे साधनेचा सर्व भार साधकावर असतो; परंतु ती साधना–आराधना–कर्म तो करीत नसून त्याला मार्गदर्शन करणारा, त्याच्यामागे उभा असणारा ईश्वर करीत असतो. जोपर्यंत ईश्वर निर्णय देत नाही तोपर्यंत तुमच्याकडून कोणते कर्म घडले हे तुम्हाला समजूही शकणार नाही. तुम्ही प्रकृतीत भटकत आहात की परमात्म्यामध्ये हेही तुम्हाला समजणार नाही. या प्रकारे ईश्वराच्या आदेशानुसार जो साधक या आत्मपथावर मार्गक्रमण करतो, आपल्याला अकर्ता समजून विहित कर्मे करतो तोच साधक बुद्धिमान आहे, तोच योगी आहे असे समजावे. पण सतत कर्म करीतच राहावयाचे की त्यातूनही कधी मुक्ती मिळू शकतो? हा प्रश्न मनात निर्माण होणे स्वाभाविक आहे.

श्रीकृष्णांच्या मते जे आपल्याकडून सतत होत असते–घडत असते ते सर्व कर्म नसते. कर्म एक निर्धारित केली गेलेली क्रिया असते. अर्जुना– '**नियतं कुरु कर्म त्वं**' तू नियत, निर्धारित कर्म कर. पण निर्धारित कर्म म्हणजे काय? तेव्हा श्रीकृष्ण म्हणतात '**यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः**' यज्ञाला कार्यरूप देणे म्हणजेच कर्म होय. या व्यतिरिक्त जे केले जाते ते मग कर्म नसते का? यावर श्रीकृष्ण म्हणतात, '**अन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः**' या यज्ञाच्या प्रक्रियेशिवाय जे काही केले जाते, ते या लोकीचे बंधन असते. ते कर्म नव्हे '**तदर्थं कर्म**' तेव्हा अर्जुना, त्या यज्ञाच्या पूर्तीसाठी चांगल्या प्रकारे आचरण कर. यज्ञ म्हणजे आराधनेचा शुद्ध विधी; की ज्यामुळे साधक आराध्यदेवापर्यंत पोहचतो व त्यातच तद्रूप होतो.

या यज्ञामध्ये इंद्रियांचे दमन केले जाते, मनाचे शमन केले जाते, दैवी संपदांची प्राप्ती होते. तर काही योगी प्राण व अपान यांच्या गतीचा निरोध करून प्राणायामात इतके तल्लीन होतात की, त्यावेळी ना आत कसला विचार– विकल्प मनात निर्माण होतो, ना बाहेरून काही आत शिरते. अशा स्थितीमध्ये चित्ताचा सर्वार्थाने निरोध केला जातो व मग '**यान्ति ब्रह्म सनातन्**' साधकाला शाश्वत सनातन ब्राह्मी स्थिती प्राप्त होते. हाच तो यज्ञ की ज्याला कार्यरूप देणे म्हणजे कर्म करणे होय. तेव्हा कर्म म्हणजे 'आराधना' कर्म म्हणजे 'भजन'. कर्म म्हणजे 'योग साधना' आणि ते योग्य प्रकारे संपादन करणे आवश्यक असते. ते कसे संपादन करावे त्याचे विवेचन

याच अध्यायात पुढे केले आहे. येथे फक्त कर्म व अकर्म यांचे विभाजन केले आहे की, ज्यामुळे कर्म करताना साधकाला योग्य दिशा मिळावी व साधकाला योग्य मार्गावर चालण्यासाठी मार्गदर्शन मिळावे.

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।।१९।।

अर्जुन, '**यस्य सर्वे समारम्भाः**' ज्या पुरुषाकडून आरंभिलेले संपूर्ण कर्म (कर्मात अकर्मता पाहण्याची क्षमता असणाऱ्या पुरुषाची कर्मे संपूर्ण असतात. त्यात लेशमात्र त्रुटी नसते; हे मागील श्लोकात आपण पाहिले.)'**कामसंकल्पवर्जिताः**' हळूहळू विकसित होऊन इतके सूक्ष्म होते की, मन भोगेच्छा व संकल्पविरहित होते. (भोगेच्छा व संकल्प यांचा निरोध होणे म्हणजेच मनावर विजय मिळवणे आहे. म्हणजे कर्म ही एक अशी वस्तू आहे की जी मनाला कामनारहित व संकल्प-विकल्परहित बनवते.) अशा वेळी '**ज्ञानग्निदग्धकर्माणं**' ज्याला आम्ही जाणत नाही; परंतु ज्याला जाणण्यासाठी आम्ही तळमळत असतो अशा परमात्म्याचा त्याला साक्षात्कार होतो. कर्मयोगाचे अशा प्रकारे आचरण करीत प्रत्यक्ष ईश्वराला प्राप्त करणे म्हणजेच 'ज्ञान' होय व या ज्ञानप्राप्तीबरोबरच '**दग्धकर्माणंः**' सर्व कर्मे कायमची दग्ध होतात. ज्याला प्राप्त करावयाचे होते त्याला प्राप्त केल्यानंतर आता त्यापुढे प्राप्त करण्यासारखे दुसरे काहीही नाही. तेव्हा कर्म करीत कोणाचा शोध घेणार? परमेश्वरप्राप्तीनंतर कर्माची आवश्यकताच संपत असते. अशी नैष्कर्म्य स्थिती प्राप्त झालेल्या बोधस्वरूप महापुरुषालाच 'ज्ञानी' म्हणतात, 'पंडित' म्हणतात. असा महापुरुष काय करतो? कसा राहतो? याबाबत बोलताना श्रीकृष्ण म्हणतात-

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्ं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः।।२०।।

अर्जुना, ज्या पुरुषाचा सांसारिक आश्रय संपलेला आहे म्हणजे जो निराश्रय झालेला असतो, जो परमेश्वराच्या ठिकाणी रत असल्याने नित्यतृप्त असतो, ज्याने कर्मफलाच्या आसक्तीचा त्याग केलेला असतो; तो कर्मास प्रवृत्त झाला तरी वस्तुतः काहीच करीत नसतो.

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्।।२१।।

ज्याने हृदय व शरीरावर विजय मिळवला आहे, सर्व प्रकारच्या भोगेच्छाचा ज्याने त्याग केला आहे, अशा निरिच्छ पुरुषाने शरीरमात्रेकरून कर्म केले, तरी वस्तुतः तो काहीच करीत नसतो. त्यामुळे त्याला पाप लागत नाही. तो पूर्णत्वाप्रत पोहचलेला असल्याने त्याचे अधःपतन होत नाही.

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते।।२२।।

सहजगत्या जे मिळेल त्यावर संतुष्ट असणारा, सुख-दुःख, राग-द्वेष आणि हर्ष-शोकादि द्वंद्वाच्या जो पलीकडे गेला आहे, **विमत्सरः-** जो मत्सररहित आहे, यशापयशाविषयी समभाव ठेवतो, अशा पुरुषाने कर्मे केली तरी देखील त्याला बद्धकारक नसतात. जी त्याला प्राप्त करावयाची होती, ती सिद्धी आता त्याच्यापासून भिन्न राहिली नाही व ती आता त्याच्यापासून कधी अलगही होणार नाही. त्यामुळे त्याला असिद्धीचे भय उरलेले नाही. अशा प्रकारचा सिद्ध पुरुष कर्माच्या सिद्धी-असिद्धीविषयी म्हणजेच यशापयशाविषयी उदासीन असतो- दोहोंविषयी बद्ध होत नाही. त्याचे हे कर्म कशा प्रकारचे असते? तर ते नियत कर्म असते. हीच गोष्ट पुन्हा सांगताना श्रीकृष्ण म्हणतात-

गतसंग्डस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञयाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते।।२३।।

अर्जुना, **'यज्ञायाचरतः कर्म'** यज्ञाकरता केलेले आचरण म्हणजे कर्म आहे आणि ईश्वराचा साक्षात्कार म्हणजे ज्ञान होय. या यज्ञाचे आचरण करून ईश्वराचा साक्षात्कार प्राप्त करून घेणारा महापुरुष ज्ञानामध्ये, म्हणजेच परमात्म्याच्या ठिकाणी स्थित असतो, विषयवासना व कर्मफलाच्या आसक्तीपासून ते अलिप्त असतात, तो मुक्त झालेला असतो. त्याच्या या कर्मापासून काहीही फल किंवा परिणाम उत्पन्न होत नाही कारण, कर्मांचे फल जो परमात्मा आता त्याच्यापासून भिन्न राहिलेला नसतो. पुरुषाला कर्म करण्याची काही आवश्यकताच नसते. तरीही लोकसंग्रहासाठी तो

कर्म करीत असतो परंतु तरीही त्या कर्मापासून अलिप्तच असतो. कर्म करून त्यापासून तो अलिप्त कसा राहतो? यावर श्रीकृष्ण म्हणतात–

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना।।२४।।

असा मुक्त पुरुष जे अर्पण करतो ते ब्रह्म असते, ज्याची तो आहुती देतो ते ब्रह्म. ज्या अग्नीत आहुती देतो तो अग्नीही ब्रह्मच असतो. तसेच स्वतः आहुती देणारा महापुरुषही ब्रह्मच आहे आणि तो ज्याप्रत जाणार तेही ब्रह्मच असते. कारण '**ब्रह्मकर्म समाधिना**' ज्याचे कर्म ब्रह्मस्पर्श झाल्याने समाधिस्थ झाले आहे, ब्रह्मात विलीन झाले आहे, अशा महापुरुषाला जे प्राप्त करावयाच असते तेही ब्रह्मच असते. त्यामुळे तो जरी लोकसंग्रहासाठी कर्म करीत असला तरी तो त्या कर्माचा कर्ताधर्ता असत नाही.

ज्यांना ब्रह्मस्थिती प्राप्त झाली त्यांचे हे लक्षण झाले. परंतु कर्ममार्गात जे प्रवेश करतात त्यांना प्रथम मागील अध्यायात सांगितल्याप्रमाणे नियत–निर्धारित कर्म करावयास भगवंतानी सांगितले आहे. हे निर्धारित कर्म म्हणजे यज्ञाची प्रक्रिया. या व्यतिरिक्त जे कर्म केले जाते ते बंधनकाराक असते. तेव्हा त्या यज्ञाच्या पूर्तीसाठी वासना व कर्मफलाची आसक्तीविरहित होऊन कर्म करावे. पण हा यज्ञ म्हणजे काय? तो येतो कोठून? देतो काय? त्या सर्वांचे त्यांनी विवरण करून यज्ञाची विशेषता काय आहे ते सांगितले. परंतु अद्याप यज्ञ म्हणजे काय ते सांगितलेले नाही. आता येथून पुढे यज्ञ म्हणजे काय त्याचे स्पष्टीकरण केले आहे.

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति।।२५।।

या आधीच्या श्लोकात योगेश्वर श्रीकृष्णाने परमात्म–स्थित महापुरुषाच्या यज्ञाचे निरूपण केले आहे. परंतु जे योगी अद्याप त्या परमस्थितीप्रत पोहचले नाहीत, ज्यांनी नुकताच हा मार्ग आक्रमण्यास सुरुवात केली आहे, त्यांनी कोठून आरंभ करावा? यावर श्रीकृष्ण म्हणतात की, दुसरे योगी दैवयज्ञाची उपासना करतात म्हणजे दैवी संपदांना हृदयात बलवान करण्याच्या हेतूने,

म्हणजेच आत्मसुखाच्या हेतुने, यज्ञ करतात कारण ब्रह्मानेच सांगितलेले आहे की, या यज्ञाद्वारे तुम्ही देवतांची उन्नती करा. तुमच्या हृदयात जो जो दैवी संपदा निर्माण होईल, तो तो तुमची प्रगती होईल व मग क्रमशः परस्परांची उन्नती करीत परमश्रेय प्राप्त होईल. म्हणजे हृदयदेशात दैवी संपदाना बलवान बनवणे हाच योगमार्गाला प्रारंभ करणाऱ्या योग्यांचा यज्ञ आहे.

या दैवी संपत्तीचे वर्णन श्रीकृष्णांनी १६ व्या अध्यायातील पहिल्या तीन श्लोकांमध्ये केले आहे. त्या दैवी सद्‌गुणांना महत्त्वपूर्ण कर्तव्य समजून त्यांची उन्नती करीत त्यांचे योग्य आचरण करीत परमश्रेयाप्रत योगी जाऊ शकतो. येथे तीच गोष्ट अर्जुनाला सांगताना श्रीकृष्ण म्हणतात, तुला दैवी संपत्ती प्राप्त झालेली असल्याने तू वृथा शोक करू नकोस. कारण ही दैवी संपदा मनुष्याच्या परम कल्याणासाठीच असते व त्यामुळे या संपदेद्वारा तू माझ्यात निवास करून राहशील, माझे शाश्वत स्वरूप प्राप्त करशील व मग अधम योनीचे कारण असणाऱ्या आसुरी संपत्तीचे हवन होऊ लागेल. म्हणून हा यज्ञ आहे आणि येथूनच आरंभ होत असतो.

दुसरे योगी '**ब्रह्माग्नौ**'–परब्रह्म परमात्मारूप अग्नीमध्ये यज्ञाद्वारेच यज्ञाचे अनुष्ठान करतात. श्रीकृष्णांनी पुढे सांगितले की या शरीरात 'अधियज्ञ' मी आहे. यज्ञ ज्यात विलय पावतात तो यज्ञाचा अधिष्ठाता पुरुष मी आहे. श्रीकृष्ण एक योगी होते, ते सद्‌गुरु होते. याप्रमाणे दुसरे योगी ब्रह्मरूपी अग्नीमध्ये यज्ञ म्हणजे यज्ञरूप सद्‌गुरुला उद्देश बनवून यज्ञाचे अनुष्ठान करतात; सारांश सद्‌गुरुच्या स्वरूपाचे ध्यान करतात.

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्ददीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति।।२६।।

अन्य योगीजन श्रोत्रादि (श्रोत, नेत्र, त्वचा, जिव्हा, नासिका) इंद्रियांचे संयमरूपीचे अग्नीत हवन करतात. म्हणजेच इंद्रियांना त्यांच्या विषयांपासून आवरून त्यांचे नियमन करतात. ज्याप्रमाणे अग्नीमध्ये घातलेली प्रत्येक वस्तू जळून भस्मसात होते त्याप्रमाणे संयमरूपी अग्नीत कामक्रोधादि विकार दग्ध होतात. दुसरे योगी शब्दादि (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध) विषयांचे इंद्रियरूपी अग्नीत हवन करतात. म्हणजेच त्यांना साधनामय बनवतात.

साधकाला या संसारात राहूनच आराधना करावयाची असते. सांसारिक लोकांचे बरे वाईट शब्द त्याच्या कानावर आदळत असतात. परंतु विषयोत्तेजक शब्द कानावर पडताच साधक त्यांच्या आशयास वैराग्य सहाय्य व वैराग्य उत्तेजक अशा भावामध्ये बदलून इंद्रियरूपी अग्नीमध्ये त्यांची आहुती देतो. अर्जुनाचेच एक उदाहरण घ्या. एकदा तो आपल्या चिंतनात मग्न होता. एकदम त्याच्या कानावर संगीताचे मादक स्वर पडले. त्याने वर मान करून पाहिले, तो पुढे उर्वशी उभी होती. उर्वशी ही एक वेश्या होती. अत्यंत लावण्यावती होती. तिचे रूप बघून सर्व मुग्ध व्हायचे. परंतु अर्जुनाने आपल्या स्नेहाळ दृष्टीने तिच्यात मातृरूप पाहिले. म्हणजे त्या मादक सुरांनी निर्माण झालेले विकार असे विलीन पावले. इंद्रियांच्या अंतरंगातच समाविष्ट होऊन गेले.

इथे इंद्रिये हाच जणू एक अग्नी आहे व अग्नीमध्ये टाकलेली वस्तू जशी भस्मसात होऊन जाते, त्याप्रकारे आशय बदलून त्या इष्टानुरूप बनवल्याने विषयोत्तेजक–रूप, रस, गंध, स्पर्श आणि शब्दही भस्म होऊन जातात. ते साधकावर कोणताही दुष्परिणाम करू शकत नाहीत. साधक या शब्दादिकांमध्ये रस घेत नाही, त्यांना ग्रहण करीत नाही.

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते।।२७।।

आतापर्यंत योगेश्वर श्रीकृष्णांनी ज्या यज्ञाची चर्चा केली त्या यज्ञात प्रथम दैवी संपत्ती प्राप्त केली जाते, इंद्रियांचा संयम केला जातो, विषयोत्तेजक शब्द कानावर आदळले तरी त्यांचा आशय बदलून त्या उत्तेजक शब्दांपासून बचाव केला जातो. यापेक्षा उन्नत अवस्था असणारे दुसरे योगी इंद्रियांची व प्राणांची सर्व कर्मे ज्ञानाने प्रदीप्त झालेल्या आत्मसंयमरूपी अग्नीत हवन करतात. जेव्हा संयम आत्म्याबरोबर तद्रूप होतो, तेव्हा प्राण व इंद्रियांची सर्व कर्मे शांत होतात. अशा वेळी विषयांना उद्दीप्त करणाऱ्या व परमात्म्याच्या ठिकाणी प्रवृत्ती देणाऱ्या दोन्ही गोष्टी आत्मसात केल्या जातात व ते परमात्म्याच्या स्थितीप्रत जातात. परमात्म्याशी ते तद्रूप होतात. हीच यज्ञाची परमसीमा होय. ज्या परमतत्त्वाला प्राप्त करावयाचे होते ते प्राप्त झाल्यानंतर काही शिल्लक उरतच नाही. पुढील श्लोकात यज्ञाबद्दल अधिक विवेचन करताना म्हणतात–

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।

स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः।।२८।।

काही द्रव्य-यज्ञ करतात, म्हणजे महापुरुषांच्या सेवेमध्ये पत्र-पुष्प अर्पण करतात. त्यांच्या सेवेमध्ये आपल्या जवळील संपत्तीचे विविध दानरूपाने यजन करतात. श्रीकृष्ण म्हणतात की भक्तिभावाने पत्र-पुष्प, जल, फल म्हणजे जे देतील ते मी सेवन करतो आणि त्या देणाऱ्याचे कल्याण करतो. हा एक प्रकारचा यज्ञच आहे. आपल्या दानाने इतरांची सेवा करून अनेक आत्म्यांना आनंद देणे आणि मार्ग चुकलेल्याला आत्मपथाच्या मार्गावर आणणे हाही द्रव्य-यज्ञच होय.

याच प्रकारे काही पुरुष '**तपोयज्ञ**' करतात. स्वधर्माचे पालन करीत असताना आपली अधिक उन्नती व्हावी या हेतूने अनेक प्रकारच्या तपोरूप क्रियांचे आचरण करणे म्हणजे तपोयज्ञ होय. मनुष्याच्या स्वभावजन्य क्षमतेनुसार इंद्रियांकडून नानाविध कडक व्रतांचे आचरण करवले जाते. या मार्गावर प्राथमिक श्रेणीचा साधक सेवेद्वारा, वैश्य दैवी संपत्तीच्या संग्रहाद्वारा, क्षत्रिय काम-क्रोधादि विकारांचे उन्मूलनद्वारा आणि ब्राह्मण ब्रह्मामध्ये प्रवेश मिळवण्याच्या क्षमतेद्वारा इंद्रियांकडून आचरण करून घेतात; म्हणजेच तपोरूप क्रिया करून घेतात. कोणत्याही प्रकारचे तपाचरण केले तरी सर्वांना सारखेच परिश्रम पडतात. वास्तवात यज्ञ एकच असतो. साधकाची जशी स्थिती किंवा क्षमता त्याप्रमाणे उच्च-नीच श्रेणीमध्ये तो फिरत असतो.

पूज्य महाराजश्री म्हणत की, "मनासहित इंद्रिये व शरीर यांच्याकडून लक्ष्याला अनुरूप असे तपाचरण करवून घेणे म्हणजेच तप होय. ते दूर जाण्याचा प्रयत्न करतील, पण त्यांचे नियमन करून त्यांच्याकडून तपाचरण करून घ्या."

तर काही साधक योग-यज्ञाचे आचरण करतात. आत्म्याला प्रकृतीपेक्षा श्रेष्ठ असणाऱ्या परमात्म्यामध्ये तद्रूप करणे, आत्म्याचे व परमात्म्याचे मिलन घडवून आणणे म्हणजे योगच होय. सहाव्या अध्यायात (श्लो.२३) योगाला 'द्रष्टव्य' असे म्हंटले आहे. साधारणतः दोन वस्तूंचे मिलन म्हणजे योग, मग कागदाला लेखणी मिळाली किंवा टेबलाला थाळी मिळाली म्हणजे योग

झाला का? नाही, हे तर पंचमहाभूतांपासून निर्माण झालेले पदार्थ आहेत. प्रकृतीमध्ये असणारा आत्मा आपले शाश्वत रूप जे परमात्मा त्यात प्रवेश मिळवतो तेव्हा प्रकृती पुरुषामध्ये विलीन होते. यालाच योग म्हणतात. अनेक साधक या योगाचे आचरण करताना शम, दम इत्यादी नियमांचे सहाय्य घेतात. त्यांच्या या आचरणाला योग- यज्ञ असे म्हणतात. योग-यज्ञ करणारे तसेच अहिंसादी तीक्ष्ण व्रते करणारा यत्नशील पुरुष '**स्वाध्याय ज्ञान-यज्ञाश्च**' स्वतःचे, स्वस्वरूपाचे अध्ययन करणारा ज्ञानयज्ञाचा कर्ता असतो. येथे योगाच्या अष्टांगाना (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान व समाधी) अहिंसादी तीक्ष्ण व्रते म्हणून म्हंटले आहे. अनेक लोक स्वाध्याय करतात. पुस्तक वाचणे म्हणजे स्वाध्यायाची पहिली पायरी आहे. परंतु शुध्द स्वाध्याय म्हणजे स्वतःचे अध्ययन ज्यात स्वतःच्या स्वरूपाची प्राप्ती असते. त्यामुळे साक्षात्कार होतो व हेच खरे ज्ञान असते.

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपाने तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः।।२९।।

अनेक योगी अपानवायूच्या ठिकाणी प्राणवायूचे हवन करतात (म्हणजे पूरक नावाचा प्राणायाम करतात) व प्राणवायूच्या ठिकाणी अपानवायूचे यजन करतात (म्हणजे रेचक नावाचा प्राणायाम करतात). यामुळे सूक्ष्म अवस्था प्राप्त होते. ती प्राप्त झाल्यावर योगीजन प्राण व अपान दोन्ही वायूंचा निरोध करून प्राणायामात ते तल्लीन होतात.

श्रीकृष्ण ज्याला प्राण-अपान म्हणतात त्यालाच महात्मा बुध्द 'अनापान' म्हणतात. यालाच त्यांनी श्वास-प्रश्वास असेही म्हंटले आहे. ज्याला आत ओढले जाते त्याला प्राणवायू म्हणतात व ज्याला बाहेर सोडले जाते त्याला अपानवायू म्हणतात. योग्यांच्या अनुभूतीनुसार श्वास घेताना वातावरणातील संस्कारही त्याच्याबरोबर आत जातात आणि प्रश्वासाबरोबर आतील बरे-वाईट विचार बाहेर टाकले जातात. परंतु वातावरणातील संस्कार ग्रहण न करणे म्हणजेच प्राणांचे हवन करणे होय व आतल्या विचारांचे स्फुरण होऊ न देणे म्हणजे अपानवायूचे हवन करणे होय. जेव्हा अशा प्रकारे प्राण-अपानाचे योगी हवन करतो तेव्हा प्राण व अपान यांची गती सम होते व

प्राणांचा याम म्हणजेच निरोध केला जातो. यालाच प्राणायाम असे म्हणतात. हीच मनाची विजितावस्था आहे. प्राणांचे थांबणे व मनाचे थांबणे एकच गोष्ट आहे.

प्रत्येक महापुरुषाने यावर विचार केलेला आहे. वेदांमध्येही याचा उल्लेख आहे. **'चत्वारि वाक् पारमिता पदानि' (ऋग्वेद १/१६४/४५ अथर्ववेद ९/१०/२७)** पूज्य महाराजश्री म्हणत, "एकाच नामाचा वैखरी, मध्यमा, पश्यंती व परा अशा चतुर्विध वाणीमध्ये जप केला जातो. जी व्यक्त होते तिला वैखरी असे म्हणतात. यामध्ये भगवंताच्या नामाचा जप उच्चारण अशा प्रकारे केले जाते की ते आपणही ऐकू शकू आणि बाहेरचाही ऐकू शकेल. मध्यमा म्हणजे मध्यम स्वरात केलेला जप, जो जप फक्त आपण ऐकू शकतो, बाजूला बसलेली व्यक्तीही तो ऐकू शकत नाही. हा उच्चार– हा जप कंठामधून होत असतो. हळूहळू या नामजपाची एक लय बनते व मग ती लय सुरूच राहते. साधना आणखी सूक्ष्म झाल्यावर पश्यंती म्हणजे नाम पाहण्याची अवस्था प्राप्त होते, मग नाम जपले जात नाही ते श्वासातच तद्रूप होते– एकजीव बनून श्वासात मिसळून जाते. मग मनाला द्रष्टा बनवून उभे करा व बघत रहा की श्वास म्हणतो काय? श्वास येतो केंव्हा? तो बाहेर पडतो केंव्हा? महापुरुषांचे असे म्हणणे आहे की, हा श्वास ईश्वरनामाशिवाय दुसरे काही सांगत नाही. साधक ईश्वरनामाचा जप करीत नाही तर त्या जपातून नामजपाची धून ऐकत राहतो, श्वासाकडे नुसता पाहत राहतो म्हणून नामजपाच्या या श्रेणीला पश्यंती असे म्हणतात.

पश्यंतीमध्ये मनाला द्रष्टयाच्या रूपात उभे करावे लागते, परंतु साधना अधिक उन्नत–सूक्ष्म झाल्यावर ऐकण्याचे प्रयासही करावे लागत नाहीत. शरीराच्या अणूरेणूमध्ये–रंध्रारंध्रामध्ये ईश्वरनाम भरले गेले की, ते आपोआप ऐकायला येईल. **'जपै न जपावै, अपनै से आवै'** स्वतः जपू नका, मनाला ऐकण्याचे प्रयास देऊ नका. जप अविरत सुरूच राहील– यालाच अजपा असे म्हणतात. जपाला प्रारंभ न करणे म्हणजे अजपा नव्हे. जर जप करायला प्रारंभच केला नाही तर जप नावाची कोणती वस्तूच त्याच्याजवळ राहणार नाही. अजपा म्हणजे आम्ही त्याचा जप केला नाही तरी जप आमची साथ सोडत नाही. तो अविरत सुरूच असतो. शरीराच्या रोमारोमांत नामजप

अखंड सुरू असतो– प्रवाहासारखा निरंतर–सतत! या स्वाभाविक जपालाच अजपा म्हणतात व हाच 'परावाणीचा जप' होय. या जपामुळे साधकाला प्रकृतीमधून परम तत्त्व परमात्माकडे प्रवेश मिळत असतो. अशी ही परमात्म्यात प्रवेश मिळवून देणारी वाणी आहे. तिच्यानंतर वाणीमध्ये कोणतेही परिवर्तन होत नाही. कारण परमात्म्याचे दर्शन घडवून त्या परमतत्त्वातच ती विलीन होते व म्हणूनच तिला 'परा' असे म्हंटले आहे.

प्रस्तुत श्लोकात योगेश्वर श्रीकृष्णांनी केवळ श्वासावर ध्यान केंद्रित करायला सांगितले असले तरी पुढे ते स्वतः ओऽमच्या जपावर भर देतात. गौतम बुद्धानेही अनापान सतीमध्ये श्वास– प्रश्वासाची चर्चा केली आहे. शेवटी या महापुरुषांना काय सांगावयाचे आहे? वस्तुतः सुरुवातीला वैखरी, नंतर मध्यमा आणि नंतर त्याचा विकास होत होत पश्यन्ती अवस्थेमध्ये श्वास काबूत येतो. त्यावेळी जप श्वासात मिसळून जातो– विलीन होतो; मग जपणार काय? नंतर तर केवळ श्वासाकडे पाहण्याचेच असते. म्हणून प्राण–अपान म्हंटले आहे. 'नाम जपा' असे म्हंटले नाही, कारण सांगण्याची आवश्यकताच नाही. जर तसे सांगितले तर साधकाची दिशाभूल होऊन साधक पुन्हा खालच्या श्रेणीवर येईल. महात्मा बुद्ध, 'गुरुदेव भगवान' तसेच प्रत्येक महापुरुष– जे या मार्गाने गेले आहेत– ते सर्व एकच गोष्ट सांगतात की वैखरी आणि मध्यमा हे नामजपाचे केवळ प्रवेशद्वार आहे. पश्यन्तीमधूनच नामात प्रवेश मिळतो आणि परामुळे ते नाम शरीरात प्रवाहाप्रमाणे अविरत चालू राहते. या अवस्थेत नामजप साधकाची साथ सोडत नाही.

मन श्वासाबरोबर जोडलेले असते. जेव्हा श्वासावरच केवळ दृष्टी असते, श्वासामध्ये नाम तद्रूप होते तेव्हा आतून ना कसल्या विचार–विकल्पांचे स्फुरण होते; ना बाह्य वातावरणातील संस्कार आत प्रवेश करतो. हीच मनाची विजितावस्था आहे. हेच मनावर विजय प्राप्त करणे होय. आणि ही अवस्था प्राप्त झाल्यावरच यज्ञाचा परिणाम दिसून येतो.

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः।।३०।।

दुसरे नियमित आहार घेणारे योगीजन प्राणांचे प्राणाच्या ठिकाणी हवन करतात. म्हणजे प्राणांनीच प्राणाचा लय करतात. 'पूज्य महाराजश्री' म्हणत असत की, "योग्याचा आहार, आसन व निद्रा ही दृढ असली पाहिजे, म्हणजेच नियमित असली पाहिजे. त्या योग्याच्या ताब्यात असल्या पाहिजेत, योग्याचे त्यांवर नियंत्रण असले पाहिजे." आहार-विहारावर अशा प्रकारचे नियंत्रण असणे खूप आवश्यक असते. असेच योगी प्राणांचे प्राणाच्या ठिकाणी हवन करतात. म्हणजे श्वास घेण्यावरच लक्ष केंद्रित करतात; ते प्रश्वासावर ध्यान केंद्रित करीत नाहीत. प्रत्येक श्वासागणिक ते ओऽम शिवाय-ओंकार ध्वनिशिवाय दुसरे काही ऐकतच नाहीत. अशाप्रकारे यज्ञाच्या द्वारा ज्यांचे पाप नष्ट झाले आहे ते सर्व साधक यज्ञ जाणणारे असतात. यज्ञाच्या निर्दिष्ट विधीपैकी कोठूनही ते विधी करू शकतात कारण ते सर्व यज्ञ जाणणारे आहेत.

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम।।३१।।

कुरुश्रेष्ठ अर्जुना, '**यज्ञशिष्टामृतभुज**' यज्ञ करून जे शेष राहते तेच अमृत असते व ते जाणून घेणे म्हणजेच ज्ञान होय. ते ज्ञानामृत सेवन करणारे योगीजन '**यान्ति ब्रह्म सनातनम्**' शाश्वत, सनातन ब्रह्माप्रत पावतात. यज्ञ ही एक अशी वस्तू आहे की, जी पूर्ण होताच सनातन ब्रह्मामध्ये प्रवेश देते. समजा यज्ञ केला नाही तर काय होईल? श्रीकृष्ण म्हणतात की यज्ञ न करणाऱ्याला मनुष्यलोकसुद्धा सुलभतेने प्राप्त होत नाही. मग परलोकप्राप्ती कोठून होणार? अशा मनुष्याला तिर्यक योनीच बरोबर आहे. तेव्हा ज्ञानामृत व परमपदाच्या प्राप्तीसाठी प्रत्येक मनुष्यमात्राला यज्ञ करणे अत्यंत आवश्यक आहे.

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे।।३२।।

असे पुष्कळ प्रकारचे यज्ञ वेदवाणीतून सांगितले गेले आहेत व ब्रह्ममुखातून त्यांचा विस्तार झालेला आहे. परब्रह्माच्या प्राप्तीनंतर महापुरुषांचे

शरीराला स्वतः परब्रह्म धारण करत असते. अशा प्रकारे ब्रह्माशी एकरूप झालेल्या त्या महापुरुषांची बुध्दी यंत्रवत बनत असते. त्यांच्याद्वारे ब्रह्मच बोलत असते. त्यांच्या वाणीमधूनच यज्ञाचा विस्तार झालेला आहे.

हे सर्व कर्म तू '**कर्मजान् विद्धि**'- कर्मापासून उत्पन्न झालेले आहेत हे जाणून घे. यापूर्वीही श्रीकृष्णांनी सांगितले आहे की '**यज्ञः कर्मसमुद्भवः**' **(३/१४)** यज्ञ अशा प्रकारे कर्मानेच संपादन झालेले आहेत हे तू जाणून घेतल्यानंतर (या आधीच्या श्लोकात सांगितले होते की यज्ञाने ज्यांचे पाप नष्ट झाले आहे तेच यज्ञाला यथार्थपणे जाणत असतात) हे अर्जुना तू '**विमोक्ष्यसे**' या संसारबंधनापासून मुक्त होशील. येथे योगेश्वर श्रीकृष्णांनी कर्म म्हणजे काय ते स्पष्ट केले आहे की यज्ञाची पूर्ती ज्या विधींनी, कृतीनी, क्रियांनी होते ती कृती-क्रिया म्हणजे कर्म होय.

दैवी संपत्तीची प्राप्ती, सद्‌गुरुचे ध्यान, इंद्रियांचा संयम, श्वासात प्रश्वासाचे हवन, प्रश्वासाचे श्वासात हवन, या गोष्टी प्राण-अपान यांचा निरोध केल्यानेच साधत असतात. नोकरी, व्यापार किंवा राजनीतीत रस घेण्याने हे साधत नाही. यज्ञ ही अशी क्रिया आहे की पूर्ण होताच तत्क्षणी परब्रह्मामध्ये प्रवेश देते. कोणत्याही बाह्य कार्यापासून तत्क्षणी ब्रह्मामध्ये प्रवेश मिळत नाही. जर तसा प्रवेश मिळत असेल तर तुम्ही अवश्य तशी बाह्य कर्मे करा.

वास्तविक या सर्व क्रिया म्हणजे यज्ञचिंतनाच्या अंतःक्रिया आहेत, ज्यामुळे आराध्य देवतेचे दर्शन होते; त्या आराधनेचे ते चित्रण आहे. यज्ञ म्हणजे आराध्य देवतेपर्यंत पोहचण्याची निर्धारित प्रक्रिया आहे. श्वास-प्रश्वास, प्राणायाम इत्यादी अंतःक्रियानी यज्ञ केला जातो. ती कार्य-प्रणाली म्हणजेच कर्म होय. व कर्माचा शुध्द अर्थ आहे आराधना, चिंतन.

साधारणतः लोकांना असे वाटत असते की आपण जे जे करतो ते सर्व कर्म असते आणि फलेच्छारहित कोणतेही काम करणे म्हणजे कर्मयोग होय. अधिक फायद्यासाठी विदेशी वस्त्रांची विक्री करणे म्हणजे कोणाला ते सकाम कर्म वाटते; पण देशसेवेसाठी जर स्वदेशी वस्त्रांची विक्री केली तर त्यांना ते निष्काम कर्म वाटते. किंवा निष्ठापूर्वक नोकरी करणे, लाभ-हानीचा विचार न करता व्यापार करणे म्हणजे कोणाला निष्काम कर्म

केल्यासारखे वाटते. त्यांना हा निष्काम कर्मयोग वाटतो. जय-पराजयाच्या भावनेतून मुक्त होऊन युद्ध करणे किंवा निवडणूक लढणे म्हणजे निष्काम कर्म करून आपण निष्काम कर्मयोगी झालो आहोत असे अनेकजण समजतात वास्तविक असे काहीही नाही. याला निष्काम कर्म म्हणत नाहीत. योगेश्वर श्रीकृष्णांनी स्पष्ट शब्दात सांगितले आहे की निर्धारित क्रिया-कृती म्हणजे कर्म- '**व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन**'। त्यांनी अर्जुनाला सांगितले की, अर्जुना, तू निर्धारित कर्म कर यज्ञासाठी केलेली जी प्रक्रिया जी कृती ते कर्म आहे; आणि यज्ञ म्हणजे काय ते स्पष्ट करताना त्यांनी सांगितले की, श्वास-प्रश्वासाचे हवन, इंद्रियांचा संयम, यज्ञस्वरूप महापुरुषाचे ध्यान, प्राणायाम-प्राणांचा निरोध करून त्या परमात्म्याच्या ठिकाणी विलीन होणे म्हणजे यज्ञ! मनाचा विस्तार, म्हणजेच जग होय. श्रीकृष्णांच्याच शब्दांत सांगावयाचे तर '**इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः**' **(५/१९)** समदृष्टीमध्ये जयांचे मन स्थिर झाले आहे, त्यांनी या लोकीच संसाराला जिंकले आहे. पण मनाचे समत्व आणि जगाचा काय संबंध आहे? जगाला जर त्याने जिंकले असेल तर त्याने कशासाठी थांबावे? याचे स्पष्टीकरण करताना श्रीकृष्ण म्हणतात ते ब्रह्म निर्दोष व समत्वस्थितीचे आहे. इकडे मनही निर्दोष व समत्व स्थितीचे झाले म्हणजेच ते ब्रह्मात स्थित झाले असे समजावे.

तात्पर्य म्हणजे मनाचा विस्तार म्हणजेच जग होय. चराचर जगत ही हवन सामग्री आहे. मनाचा सर्वार्थाने निरोध करणे म्हणजेच जगाचा निरोध करणे होय. मनाच्या निरोधाबरोबरच यज्ञाची पूर्ती होते व यज्ञपूर्ती होताच शेष राहिलेला प्रसाद ज्ञानामृत समजून भक्षण करणारा पुरुष सनातन ब्रह्म प्रविष्ट होतो. हे सर्व यज्ञ ब्रह्मस्थित महापुरुषांच्या वाणीद्वारा सांगितले गेले आहेत. सर्व संप्रदयातील साधकांचे यज्ञ अलग अलग नसतात, त्यांचा यज्ञ एकच असतो. फक्त साधकांच्या क्षमतेनुसार त्यांच्या अवस्था उच्च-नीच असतात. हा यज्ञ जे करतात त्यांची कृती किंवा त्यांची ती क्रिया म्हणजे कर्म होय. संपूर्ण गीतेत एकाही श्लोकात सांसारिक कार्य-व्यापाराचे समर्थन केलेले नाही. साधारणतः यज्ञ म्हटले की एक होमकुंड तयार करून त्यात तीळ, जव, तूप इ. सामग्री घेऊन 'स्वाहा' म्हणून अर्पण केली जाते. पण हा

खरा यज्ञ नव्हे. हे तर साधकासाठी उलट संकट आहे. श्रीकृष्णांनी अनेकदा सांगितलेला द्रव्य-यज्ञ वेगळा आहे. पशुबली, वस्तुदाह इत्यादी गोष्टींशी त्या द्रव्य यज्ञाचा काही संबंध नाही.

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।।३३।।

हे अर्जुना, द्रव्यांनी सिद्ध होणाऱ्या यज्ञापेक्षा ज्ञानयज्ञ (ज्याचा परिणाम ज्ञान (साक्षात्कार) आहे, यज्ञ ज्याची सृष्टी आहे, त्या अमृततत्त्वाला जाणणे म्हणजेच ज्ञान होय. असा यज्ञ) श्रेयस्कर आहे. परम कल्याणकारी आहे. संपूर्ण कर्म ज्ञानात विलीन होऊन जाते. **परिसमाप्यते** ज्ञानात समाहित होऊन जाते. ज्ञान ही यज्ञाची पराकाष्ठा आहे. **तत् पश्चात्** कर्म केल्याने ना काही लाभ होतो किंवा न केल्याने ना काही नुकसान होत असते.

या प्रकारे भौतिक द्रव्यांनी होणारे यज्ञ हे यज्ञच असतात; परंतु त्या ज्ञान यज्ञाच्या तुलनेत की ज्या यज्ञाचा परिणाम हा साक्षात्कार असतो, अत्यंत कमी प्रतीचे असतात. अशा भौतिक द्रव्यांनी सिद्ध अशा शेकडो यज्ञवेदी तुम्ही बनवल्यात, त्यात रुपयांचे हवन केलेत, चांगल्या गोष्टीसाठी पैसे खर्च केलेत, साधू, संत व महापुरुषांच्या सेवेसाठी मुक्त हस्ताने पैसे खर्च केलेत तरी त्या ज्ञानयज्ञाच्या तुलनेत हे यज्ञ कमी प्रतीचे आहेत. वास्तविक यज्ञ हा श्वास-प्रश्वासाचा असतो, इंद्रियांच्या संयमाचा असतो, मनाचा निरोधाचा-नियमनाचा असतो, श्रीकृष्णांनी सांगितलेला हा यज्ञ कसा प्राप्त केला जाईल? तो मंदिरात, मशीदित, चर्चमध्ये की पुस्तकात मिळेल? श्रीकृष्ण म्हणतात- नाही तो अशा प्रकारे प्राप्त होणार नाही. त्याचा तर एकच स्त्रोत आहे. आणि तो म्हणजे परमतत्त्वाच्या ठिकाणी स्थित असणारा तत्त्वस्थित महापुरुष! व म्हणून-

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।।३४।।

यासाठी हे अर्जुना, तू तत्त्वदर्शी महापुरुषाच्या जवळ जाऊन त्याला अत्यंत विनम्रपणे नमस्कार करून, (अहंकाराचा त्याग करून, त्याला शरण जाऊन, दंडवत घालून) त्याची चांगल्या प्रकारे सेवा करून, त्याला निष्कपट

भावाने प्रश्न करून, त्याच्या ज्ञानाला जाणून घेण्याचा प्रयत्न कर. ते तत्त्वदर्शी ज्ञानयोगी तुला त्या ज्ञानाचा उपदेश करतील, तुला साधनेचा योग्य मार्ग दाखवतील, योगीजनांची समर्पित भावांनी सेवा केल्यानंतरच हे ज्ञान शिकण्याची-ग्रहण करण्याची क्षमता प्राप्त होत असते. तत्त्वदर्शी महापुरुष परमतत्त्व परमात्म्याचे प्रत्यक्ष दर्शन घडवून आणणारे आहेत. ते यज्ञाचे सर्व विधी विशेष जाणणारे असते, तर ज्ञानयोग्यांची, तत्त्वदर्शी महापुरुषांची, आवश्यकताच कशाला भासली असती?

वास्तविक अर्जुन प्रत्यक्ष भगवंतांच्या समोर तर उभा होता. मग भगवंत त्याला तत्त्वदर्शी योग्याकडे तू जा, असे का सांगत आहेत? श्रीकृष्ण स्वतः एक योगी होते. मग त्यांनी अर्जुनाला असे का सांगितले? कारणा आज अर्जुन माझ्यापुढे उभा आहे परंतु भविष्यात जर अर्जुनासारखाच कोण अनुरागी भक्ताला संभ्रम निर्माण झाला तर त्याला असे वाटता कामा नये की, श्रीकृष्ण तर निघून गेले, आता मी कोणाकडे जाऊ? कोणाला शरण जाऊ? म्हणून श्रीकृष्णांनी येथे स्पष्ट केले की तू परमतत्त्व जाणणाऱ्या योग्याकडे म्हणजेच तत्त्ववेत्त्याकडे तू जा. तो ज्ञानयोगी तुला उपदेश करेल आणि मग-

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि।।३५।।

आत्मज्ञानी अशा महापुरुषाकडून तुला हे आत्मज्ञान प्राप्त झाल्यानंतर तू असा परत कधीही मोहात पडणार नाहीस. त्या ज्ञानप्राप्तीनंतर संपूर्ण प्राणिमात्रांना तू स्वतःच्या ठायी पाहशील. म्हणजेच सर्व प्राणिमात्रांच्या ठिकाणी एकच आत्मा आहे किंवा आपल्याच आत्म्याचा अंश सर्व प्राणिमात्रांमध्ये आहे हे तू पाहशील व जाणशील. जेव्हा सर्वत्र एकच आत्मस्वरूप पाहण्याची क्षमता-सामर्थ्य तुला प्राप्त होईल, तेव्हाच तू माझ्यामध्ये प्रवेश करशील व मग तुला कळेल की सर्व जीव माझेच अंश आहेत, ते माझ्यात आहेत आणि ते माझेच आहेत.

या प्रकारे परमात्म्याला जर प्राप्त करावयाचे असेल तर तत्त्वस्थित महापुरुषांनाच शरण गेले पाहिजे. त्यांच्याद्वाराच ईश्वर स्वरूपाची प्राप्ती होते व म्हणून श्रीकृष्ण सांगत आहेत की, ज्ञानासंबंधी धर्म व शाश्वत सत्यासंबंधी

काही शंका असतील तर साधकाने तत्त्वदर्शी ज्ञानयोग्यांनाच विचारावे, त्यांचेच मार्गदर्शन घ्यावे, त्यांनाच शरण जावे.

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि।।३६।।

अरे अर्जुना, सर्व पातक्यांहून अधिक पातकी असलास, अत्यंत पापी असलास तरी ज्ञानाच्या अंगी इतके सामर्थ्य आहे की त्या ज्ञाननौकेने तू सर्व पातके तरून जाशील. याचा अर्थ असा नव्हे की, आपण कितीही भयंकर पातके केली तरी कधीही तरून जाऊ शकू. श्रीकृष्णांच्या सांगण्याचे तात्पर्य एवढेच आहे की कोणत्याही साधकाने असा गैरसमज करून घेऊ नये की, 'मी अत्यंत पापी आहे', 'मी हा सागर पार करू शकणार नाही' म्हणून श्रीकृष्ण साधकांना प्रोत्साहन व आश्वासन देत आहेत की तुम्ही जरी पापांचे आगर असलात, पापाचा महासागर असलात तरी देखील परमतत्त्वस्थित महापुरुषाने दिलेल्या ज्ञानरूपी नौकेने तुम्ही निश्चितपणे सर्व पातके पार करून जाऊ शकाल. पण कशा प्रकारे?

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।।३७।।

अर्जुना, ज्या प्रकारे प्रज्ज्वलित झालेला अग्नी जसा काष्ठांचे भस्म करून टाकतो तशाच प्रकारे ज्ञानरूप अग्नी सर्व भौतिक-प्राकृत कर्मे जाळून भस्मसात करून टाकतो. आत्मदर्शी महापुरुषांकडून मिळालेले यज्ञाचे ज्ञान म्हणजे ज्ञानाचे प्रवेशद्वार नव्हे. हे ज्ञान म्हणजे साक्षात्काराच्या पराकाष्ठेचे चित्रण आहे की ज्यात प्रथम भौतिक कर्मे भस्म होतात आणि मग परमात्म्याच्या प्राप्तीबरोबर चिंतन कर्मांचाही त्यातच विलय होतो. ज्याला प्राप्त करावयाचे होते त्या परमतत्त्वाला प्राप्त केल्यानंतर आता कोणाचे चिंतन करायचे व कोणाला शोधत भटकायचे? असा साक्षात्कारी ज्ञानयोगी आपल्या सर्व शुभाशुभ कर्माचा अंत आणीत असतो, ती समाप्त करीत असतो. परंतु हा साक्षात्कार कोठे होईल? बाहेर होईल की आत? यावर श्रीकृष्ण म्हणतात

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।

तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति।।३८।।

या जगात ज्ञानासारखी पवित्र करणारी दुसरी कोणतीही वस्तू नाही. योगाच्या परिपक्व अवस्थेत (प्रारंभी नाही) तू स्वतःया ज्ञानाचा साक्षात्कार स्वतःच्या आत्म्याच्या ठिकाणी, तुझ्या हृदय देशी अनुभवू शकशील, प्राप्त करू शकशील. हा अनुभव तुला तुझ्या अंतरंगातच घेता येईल. बाहेर घेता येणार नाही. परंतु या ज्ञानप्राप्तीसाठी कोणती योग्यता आवश्यक असते? योगेश्वर श्रीकृष्ण म्हणतात–

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।

ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।।३९।।

जो श्रद्धावान आहे, तत्पर आहे व जितेंद्रिय आहे अशा पुरुषाला ज्ञान प्राप्त होत असते. जर भावपूर्व, श्रद्धापूर्व जिज्ञासा नसेल तर ज्ञानयोग्यापाशी जाऊनही साधकाला ज्ञान प्राप्त होत नाही. अर्थात केवळ श्रद्धा असून भागत नाही. कारण श्रद्धावान नेहमीच कठीण परिश्रम करणारा, दृढ प्रयत्नशील असतोच असे नाही, तेव्हा श्रद्धेबरोबरच तो ज्ञान प्राप्त करण्याबाबत अत्यंत तत्पर असला पाहिजे. म्हणजेच महापुरुषाने निर्दिष्ट केलेल्या ज्ञानपथावर तत्परतेने त्याने चालले पाहिजे, तशी जिद्द त्याच्याजवळ असली पाहिजे. जो कामवासनांपासून विरक्त झालेला नाही त्याला साक्षात्कार (ज्ञान प्राप्ती) प्राप्त करून घेणे कठीण आहे. जो अत्यंत श्रद्धावान आहे, आचरणात तत्पर आहे व जो आपल्या इंद्रियांना ताब्यात ठेवू शकतो असा मुमुक्षूच ज्ञान प्राप्त करून घेऊ शकतो. असे आत्मज्ञान प्राप्त झाल्याबरोबर त्याला परम शांतीही लगेच प्राप्त होते. यानंतर प्राप्त करण्याजोगे दुसरे काहीही त्याच्यासाठी शिल्लक रहात नाही हीच परम आध्यात्मिक अन्तिम शांती आहे. तो यानंतर मात्र कधीही अशांत किंवा अस्वस्थ बनत नाही आणि जेथे ही श्रद्धा असत नाही तेथे–

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।

नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।।४०।।

जो ज्ञानहीन आहे म्हणजे यज्ञाच्या विधीविशेषतेबद्दल जो अनभिज्ञ आहे, जो अश्रद्ध आहे तसेच जो अत्यंत संशयखोर आहे असा पुरुष परमार्थपथापासून च्यूत होतो, त्याचे अध:पतन होते, तो अधोगतीला जातो. त्यातूनही जो संशयखोर आहे त्याला ना इहलोक मिळतो, ना परलोक, ना कसले सुख! तेव्हा साधकाने ज्ञानयोगी महापुरुषाजवळ जाऊन या मार्गावरील सर्व संशयाचे निराकरण करून घेतले पाहिजे. नाहीतर त्यांना आत्मज्ञानाची प्राप्ती कधीही होणार नाही. मग हे आत्म-ज्ञान कोण प्राप्त करू शकतो?

योगसंन्यस्त कर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय।।४१।।

हे धनंजया, योगद्वारा ज्याने आपली कर्मे म्हणजे कर्मबंधने नष्ट केली आहेत, परमात्म्याच्या दिव्य ज्ञानाने ज्याचे संशय संपूर्ण नष्ट झाले आहेत अशा आत्मज्ञानी पुरुषाला कर्मे बद्ध करीत नाहीत. योगद्वारेच कर्मांचे शमन होईल- कर्मबंधने नष्ट होतील व परमात्म्याच्या दिव्य ज्ञानानेच संशय नष्ट होईल. म्हणून श्रीकृष्ण म्हणतात-

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत।।४२।।

तेव्हा हे भरतवंशी अर्जुना, तू योगामध्ये स्थिर होऊन अज्ञानापासून उत्पन्न झालेल्या व स्वत:च्या हृदयाच्या ठिकाणी असलेल्या संशयाचा ज्ञानरूपी खड्गाने छेद करून आपल्या क्षात्रधर्माला उचित अशा कर्मयोगाचा अवलंब कर व युद्धाला सिद्ध हो. जेव्हा साक्षात्कारात विघ्न उत्पन्न करणारा संशयरूपी शत्रू मनामध्ये लपलेला आहे, मग बाहेर कोण कोणाबरोबर लढणार? वास्तविक जेव्हा तुम्ही चिंतनाच्या मार्गावर मार्गस्थ होता, तेव्हा संशयातून निर्माण होणाऱ्या बाह्य प्रवृत्ती विघ्नरूप बनून मार्गात आड येतात. त्या शत्रूप्रमाणे तुमच्यावर भयंकर आक्रमण करतात. इंद्रियांचा संयम करून व यज्ञविधींचे आचरण करीत या विकाररूपी शत्रूंचा नाश करणे म्हणजेच युध्द होय. यामुळेच परमशांती प्राप्त होईल आणि हाच अंतिम विजय आहे. यानंतर पुढे पराजयाचे नावच राहत नाही.

निष्कर्ष–

या अध्यायाच्या प्रारंभी योगेश्वर श्रीकृष्णांनी सांगितले की हा अविनाशी योग त्यांनी प्रथम सूर्याला सांगितला. सूर्याने मनूला व मनूने इश्वाकूला सांगितला व परंपरेने चालत आलेला हा योग राजर्षींनी जाणला. अव्यक्त अशा मी हा योग सांगितला. महापुरुषही अव्यक्त स्वरूपातच असतो. शरीर म्हणजे त्याच्या राहण्याचे ठिकाण आहे. अशा महापुरुषाच्या वाणीमध्ये परमात्म्याचा वास असतो. अशा कोणा महापुरुषाकडून हा योग सूर्यद्वारा संचारित होत असतो. त्या परम प्रकाशाचा संचार श्वासामध्ये होतो, म्हणून हा योग प्रथम सूर्याला सांगितला कारण सूर्य म्हणजेच श्वास होय. श्वासात संचारित होऊन मग तो संस्काराच्या रूपात येतो. श्वासात संचित स्वरूपात राहिल्यानंतर वेळ येताच तो मनात संकल्प बनून येतो. त्याची महानता समजल्यावर मनात त्याच्याविषयी जिज्ञासा जागृत होते आणि मग योग कार्यरूप धारण करतो. क्रमशः विकास करीत करीत योग ऋद्धी-सिद्धींच्या राजर्षी श्रेणीपर्यंत पोहचून नष्ट होण्याच्या मार्गावर आहे, पण जो भगवंताचा प्रिय भक्त असतो, अनन्य सखा असतो त्याची महापुरुष काळजी घेतात.

आपला जन्म तर आता झाला मग तुम्ही हा योग सूर्याला सांगितला हे कसे? या अर्जुनाच्या प्रश्नाला उत्तर देताना श्रीकृष्ण म्हणाले की मी अव्यक्त, अविनाशी, जन्मरहित आणि सर्व प्राणिमात्रांच्या ठिकाणी अधिष्ठित असूनही योग प्रक्रियेद्वारा आपल्या स्वकीय त्रिगुणमयी प्रकृतीला वश करून मी प्रकट होत असतो. प्रकट होऊन ते काय करतात? साध्य गोष्टींचे रक्षण करण्यासाठी आणि ज्यातून दोष निर्माण होतात त्या दोषांचा समूळ नाश करण्यासाठी प्रारंभापासून मी युगायुगामध्ये प्रकट होत असतो. माझा जन्म व कर्म दिव्य आहे. फक्त तत्त्वदर्शी लोकच मला जाणू शकतात. ईश्वराचा अविर्भाव कलियुगाच्या अवस्थेतूनच होत असतो. साधकाच्या प्रारंभिक अवस्थेत त्याला भगवंताचे स्वरूप नीट समजत नाही. तो गोंधळलेला असतो. 'पूज्य महाराजश्री' म्हणत की जेव्हा भगवंताची कृपा होते, जेव्हा भगवान आत्म्याचे सारथी बनतात तेव्हा खांबातून, वृक्षातून, पानातून, शून्यातून

सारांश प्रत्येक ठिकाणाहून ईश्वराचा आवाज ऐकू येतो. साधकाचा विकास होत होत जेव्हा तो परमात्म्याला जाणतो, तेव्हा स्पर्शाने तो त्याला स्पष्ट जाणतो. यासाठी अर्जुना, माझ्या त्या स्वरूपाला तत्त्वदर्शी लोक पाहतात व माझे स्वरूप जाणून ते तत्क्षणी माझ्यात प्रविष्ट होतात. तेथून ते मग कधीच परतत नाहीत.

पुढे श्रीकृष्ण म्हणाले की, मी प्रेमळ भक्ताच्या हृदयात असतो. बाहेर कधीही असत नाही. त्यांनी पुढे सांगितले की कर्म त्यांना बद्ध करू शकत नाही व जे माझ्यात प्रविष्ट होतात, त्यांनाही कर्म बंधनकारक ठरत नाही. हे जाणूनच मुमुक्षू लोक कर्म करत असतात. यानंतर यज्ञाचे स्वरूप सांगितले. यज्ञ परमतत्त्वाची व परमशांतीची प्राप्ती करून देणारा आहे. तथापि या यज्ञाचे ज्ञान कुठे प्राप्त होईल? यावर श्रीकृष्णांनी हे ज्ञान प्राप्त करण्यासाठी ज्ञानयोग्याजवळ जायला सांगितले आहे. येथे योगेश्वर श्रीकृष्णांनी स्पष्ट केले आहे की, हे ज्ञान तू स्वतः नम्र आचरणाने व दृढनिश्चयाने प्राप्त करू शकशील. दुसऱ्याच्या आचरणाने ते तुला प्राप्त होणार नाही व ते ज्ञान प्रारंभी प्राप्त होणार नाही, तर योग सिद्ध झाल्यावरच प्राप्त होईल. तसेच हे ज्ञान म्हणजेच परमात्म्याचा साक्षात्कार हृदयात-अंतरंगात होतो, बाहेर होत नाही. श्रद्धावान, तत्पर, इंद्रियांचा संयम करणारे व संशयरहित पुरुषच हे ज्ञान प्राप्त करू शकतात. तेव्हा हृदयात असणाऱ्या संशयाला वैराग्याच्या खड्गाने कापून टाक. ही हृदयातील लढाई आहे. बाह्य युद्धाशी गीतोक्त युद्धाचे काहीही प्रयोजन नाही.

या अध्यायात योगेश्वर श्रीकृष्णांनी मुख्यतः यज्ञाचे स्वरूप स्पष्ट करून सांगितले आहे की, यज्ञ ज्या विधीनी पूर्ण होत असतो त्या विधींना, क्रियांना (कार्य प्रणालीला) कर्म असे म्हणतात या प्रकारे या अध्यायात कर्म म्हणजे काय ते चांगल्या प्रकारे स्पष्ट केले आहे.

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे 'यज्ञकर्म-स्पष्टीकरण' नाम चतुर्थोऽध्यायः।।४।।

याप्रमाणे श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषदातील ब्रह्मविद्यांतर्गत

योगशास्त्रातील श्रीकृष्ण आणि अर्जुन यांच्या संवादातील 'यज्ञकर्म स्पष्टीकरण' नावाचा चौथा अध्याय समाप्त झाला.

इति श्रीमत्परमहंस परमानन्दस्य शिष्य स्वामी अड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्‌भगवद्‌गीतायाः 'यथार्थ गीता' भाष्ये 'यज्ञकर्म-स्पष्टीकरण' नाम चतुर्थोऽध्यायः।।४।।

या प्रकारे श्रीमत्परमहंस परमानन्दजींचे शिष्य स्वामी अड़गडानन्दकृत श्रीमद्भगवद्‌गीतेवरील भाष्य जे 'यथार्थ गीता' यामधील 'यज्ञकर्म स्पष्टीकरण' नावाचा चौथा अध्याय समाप्त झाला.

।।हरिः ॐ तत्सत्।।

ॐ

श्री परमात्मने नमः

।। अथ पञ्चमोऽध्यायः ।।

अध्याय पाचवा

तिसऱ्या अध्यायात अर्जुनाने भगवान श्रीकृष्णांना प्रश्न विचारला होता की भगवान, जर ज्ञानयोग आपल्याला श्रेष्ठ वाटतो तर मग मला हा महा कठीण कर्मयोग आचरण्यास का सांगत आहात? अर्जुनाला कर्मयोगापेक्षा ज्ञानयोग सोपा व आचरण्यास सरळ आहे असे वाटले, कारण ज्ञानयोगात पराजय झाला तर देवत्व व विजय प्राप्त झाला तर 'परमपद प्राप्ती' – म्हणजे दोन्ही गोष्टीमध्ये लाभच आहे असे त्याला वाटले. परंतु नंतर त्याला समजले की दोन्ही मार्गात कर्म तर करावेच लागते. (आणि योगेश्वर श्रीकृष्णांनी त्याला संशयरहित होऊन साक्षात्कारी महापुरषाला शरण जायला सांगितले आहे, कारण संशयनिराकरणाचे व समजून घेण्याचे तेच एक योग्य स्थान आहे) परंतु दोन्ही मार्गांपैकी एक मार्ग निवडण्यापूर्वी अर्जुन श्रीकृष्णाला म्हणाला–

अर्जुन उवाच

सन्न्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्।।१।।

हे कृष्णा, तुम्ही एकदा कर्मसंन्यासाची व पुन्हा एकदा निष्काम वृत्तीने केल्या जाणाऱ्या कर्मयोगाची प्रशंसा करता. पण या दोन्हींपैकी तुमच्या मते जो श्रेयस्कर व परम कल्याणकारी मार्ग असेल तो मला सांगा. एखाद्या विवक्षित ठिकाणी जायला दोन मार्ग असतील, तर कोणता मार्ग सुखकारक व सुलभ आहे असे नक्कीच आपण विचारू. जर विचारले नाही तर मग आपल्याला जायचेच नाही असा त्याचा अर्थ होईल. यावर योगेश्वर श्रीकृष्ण म्हणाले–

श्रीभगवानुवाच

सन्न्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसन्न्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते।।२।।

अर्जुना, संन्यास माध्यमातून केलेले कर्म म्हणजेच कर्मसंन्यास किंवा ज्ञानमार्ग! आणि निष्काम भावनेने केले जाणारे कर्म म्हणजे कर्ममार्ग! हे दोन्ही मार्ग मोक्षदायक आहेत. परंतु या दोन्हीं मार्गांमध्ये ज्ञानमार्गापेक्षा निष्काम कर्मयोग अधिक श्रेष्ठ आहे. मग प्रश्न असा उपस्थित होतो की कर्मयोग श्रेष्ठ का?

ज्ञेयः स नित्यसन्न्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते।।३।।

हे महाबाहो अर्जुना, जो मनुष्य कोणाचा द्वेष करीत नाही किंवा जो कशाचीही इच्छा करीत नाही असा कर्मयोगी नित्य संन्यासीच समजावा. मग तो योगी ज्ञानयोगाचे आचरण करणारा असा की कर्मयोगाचे आचरण करणारा असो. जो रागद्वेषादि द्वंद्वरहित बनतो तो पुरूष भवबंधनातून अनायास मुक्त होतो.

साङ्ख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्।।४।।

निष्काम कर्मयोग किंवा ज्ञानयोग हे भिन्न भिन्न आहेत असे अज्ञानी-मूर्ख लोक म्हणतात; परंतु ज्ञानी लोक, पंडित लोक असे समजत नाहीत. कारण या दोन मार्गापैकी कुठल्या एका मार्गाचे जरी योग्य अनुष्ठान केले, तरी ते करणाऱ्याला त्याचे फलरुप परमात्म्याची प्राप्ती होते. म्हणजे दोन्ही मार्गांचे फल एक सारखेच असते-समान असते. म्हणून दोन्ही मार्ग सारखेच श्रेयस्कर आहेत.

यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं साङ्ख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति।।५।।

सांख्यमार्गाने जाणाऱ्यांना जे मोक्षरुपी स्थान प्राप्त होते तेच निष्काम कर्ममार्गाचे अनुष्ठान करणाऱ्यांनाही प्राप्त होते. तेव्हा सांख्यमार्ग व कर्मयोग

फलदृष्ट्या एकच आहेत असे जो सांगतो तोच खरा ज्ञानी होय. जर दोहोंचे फळ एकच म्हणजे मोक्षप्राप्ती हे आहे, तर निष्काम कर्मयोग श्रेयस्कर आहे हे कसे? यावर श्रीकृष्ण म्हणतात–

सन्न्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति।।६।।

हे माहाबाहो अर्जुना, निष्काम कर्मयोगाचे आचरण केल्याशिवाय '**संन्यास**' कर्मसंन्यासाची प्राप्ती होणे दुर्घट आहे. जो कर्मयोगाच्या आचरणाला प्रारंभच करीत नाही त्याला कर्मसंन्यास कोठून प्राप्त होणार? पण जो भगवत्स्वरूपाचे चिंतन करतो, ज्याची मनासहित इंद्रिये ज्याच्या ताब्यात आहेत, अशा कर्मयोगयुक्त मुनीला ब्रह्मप्राप्ती अल्पकालात होते.

म्हणजे ज्ञानयोगात निष्काम कर्मयोगाचे आचरण करावेच लागते; कारण दोन्ही मार्गात यज्ञ प्रक्रिया म्हणजेच ईश्वराची आराधना हा मूळ हेतू एकच आहे. फक्त करणाऱ्याच्या दृष्टिकोनात फरक आहे. एक आपल्या क्षमतेला जाणून व लाभहानीचा विचार करून कर्म करण्यास प्रवृत्त होतो; तर दुसरा निष्काम कर्मयोगी ईश्वरावर प्रगाढ श्रद्धा ठेवून त्याच्याच आराधनेत मग्न होतो. आधुनिक भाषेत सांगावयाचये असेल तर एक प्रायव्हेटमध्ये शिक्षण घेतो व दुसरा नॉमिनेटमध्ये. दोघांचा अभ्यासक्रम एकच आहे, परीक्षाही एकच आहे. परीक्षक व निरीक्षकही एकच आहेत. तसेच दोघांचेही सद्गुरू तत्त्वदर्शी आहेत व दोघांची प्राप्त करावयाची पदवीही एकच आहे. फक्त दोघांच्या अभ्यासाची पद्धत– त्यांचा दृष्टीकोन भिन्न आहे.

मागे श्रीकृष्णांनी सांगितले आहे की, काम व क्रोध हे साधकाचे भयंकर शत्रू आहेत. तेव्हा अर्जुना त्यांना प्रथम तू ठार कर. अर्जुनाला वाटले की ही गोष्ट तर फारच कठीण आहे. परंतु श्रीकृष्ण म्हणाले अरे, शरीरापेक्षा इंद्रिये श्रेष्ठ आहेत, इंद्रियापेक्षा तुझे मन श्रेष्ठ आहे, मनापेक्षा बुद्धी श्रेष्ठ व बुद्धीपेक्षा तुझे स्वरुप श्रेष्ठ आहे व तुला त्या स्वरुपात जावयाचे आहे. तेव्हा या प्रकारे आपल्या क्षमतेला ओळखून, आपले सामर्थ्य ओळखून, स्वावलंबी बनून कर्ममार्गाचे आचरण करणे म्हणजेच 'ज्ञानयोग' आहे. यापूर्वी श्रीकृष्णांनी अर्जुनाला सांगितले होते की चित्त माझ्या ठिकाणी ठेवून, सर्व कर्मे मला

अर्पण करुन, आशा, ममता व सत्ता यांचा मोह सोडून, तू युद्ध कर. समर्पणाबरोबर ईश्वरावर प्रगाढ श्रद्धा ठेवून कर्म करणे म्हणजेच निष्काम कर्मयोग आहे. म्हणजेच दोन्ही मार्गात कृती एकच आहे व परिणामही एक आहे.

यावर भार देऊन योगेश्वर श्रीकृष्ण येथे म्हणत आहेत की कर्मयोगाचे आचरण केल्याशिवाय कर्मसंन्यास म्हणजेच शुभाशुभ कर्मत्याग प्राप्त होणे असंभव आहे. श्रीकृष्णांच्या मते असा कोणताच योगी नाही की जो स्वस्थ बसून सांगतो की– "मी परमात्मा आहे, मी शुद्ध आहे, मी बुद्ध आहे माझ्यापाशी ना कसले कर्म आहे, ना कसले बंधन! माझ्या हातून ज्या बऱ्यावाईट क्रिया घडत आहेत त्या मी करीत नसून माझी इंद्रिये करीत असतात". अशा प्रकारचे पाखंडी विचार श्रीकृष्णांनी कधीच सांगितले नाहीत. साक्षात योगेश्वर श्रीकृष्ण सुध्दा आपल्या परममित्र अर्जुनाला कर्म न करता ही स्थिती प्राप्त करून देऊ शकले नाहीत. जर ते असे करु शकले असते, तर गीता सांगण्याची आवश्यकताच काय होती? कोणत्याही योगमार्गात कर्म तर करावेच लागते. कर्म करीतच संन्यास अवस्था प्राप्त केली जाते व मग अशा योगयुक्त पुरुषाला परमात्म्याची प्राप्ती सुगमतेने व शीघ्रतेने होते. आता अशा योगयुक्त पुरुषाची लक्षणे सांगताना श्रीकृष्ण म्हणतात–

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते।।७।।

'**विजितात्मा**'**-** ज्याने आपल्या शरीरावर विजय मिळवला आहे, '**जितेन्द्रिय**' ज्याने आपली इंद्रिये जिंकली आहेत. व '**विशुद्धात्मा**' – ज्याचे अंतःकरण शुद्ध आहे, '**सर्वभूतात्मभूतात्मा**' सर्वभूतांच्या ठिकाणी असणारा जो आत्मा, त्याच्याशी एकरुप झाला आहे असा पुरुष कर्म करीत असला तरी–कर्मापासून अलिप्त असतो. मग तो कर्म का करतो? पाठीमागून येणाऱ्यांमध्ये परमकल्याणकारी बीजाचा संग्रह करण्यासाठी तो कर्म करतो. पण मग त्यापासून तो अलिप्त कसा राहतो? त्यात तो अडकून का राहत नाही? कारण सर्व प्राणिमात्रांचा मूल उद्‌गम असणारा जो परमात्मा, त्यात तो स्थित झालेला असतो, तद्रूप झालेला असतो, म्हणून यापुढे ज्याचा शोध

घ्यावा अशी कोणतीच वस्तू बाकी राहिलेली नसते. मागील सर्व गोष्टी त्याला आता इतक्या क्षुद्र वाटतात की त्यांच्याविषयी त्याच्या मनात आसक्ती निर्माण होत नाही. त्यामुळे त्या कर्मांमध्ये तो लिप्त होत नाही. हे योगयुक्त पुरुषाच्या परमसीमेचे चित्रण आहे. योगमुक्त पुरुष कर्मांमध्ये लिप्त का होत नाही याचे, अधिक स्पष्टीकरण पुढील श्लोकात केले आहे.

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्।।८।।
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्।।९।।

परमतत्त्व परमात्म्याचा ज्याला साक्षात्कार झालेला आहे, जो त्याच्या ठिकाणी चिद्रूप झालेला आहे, 'मी देह' आहे ही आठवणसुध्दा ज्याला राहिलेली नसते, अशा योगयुक्त पुरुषाला आपण काही कर्म करीत आहोत, असे वाटत नाही. अर्थात, ही काही नुसती कल्पना नाही, परंतु कर्म करुन त्याने प्राप्त केलेली स्थिती आहे. असा दिव्य योगयुक्त पुरुष सर्व काही ऐकत असता, स्पर्श करीत असता, वास घेत असता, बोलत असता, देत असता, घेत असता, डोळयांची उघडझाप करीत असता, प्राकृत इंद्रिये आपापल्या विषयात वावरत आहेत असे तो समजतो. परमात्म्याहून श्रेष्ठ असे दुसरे या जगात काहीही नाही,आणि मग त्या दिव्यत्वात जो स्थित झाला, तद्रूप झाला आहे, तो दुसऱ्या कोणत्याही सुखाची कामना कशाला करेल? जर परमात्म्याहून अधिक श्रेष्ठ वस्तू कोणती असती तर तिच्याविषयी त्याला आसक्ती वाटली असती पण इथे प्राप्त करण्यासारखे काहीही राहिले नाही व म्हणूनच ज्याला परम परमात्म्याचा साक्षात्कार झालेला असतो, तो आता जाणार कुठे? आणि त्यागेल तरी काय? व म्हणूनच योगयुक्त पुरुष त्याच्या कर्मात लिप्त होत नाही. ही गोष्ट श्रीकृष्ण पुढे उदाहरणाने स्पष्ट करीत आहेत.

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।।१०।।

कमल चिखलात उगवत असते. रात्रंदिवस ते पाण्यातच असते; परंतु तरीही त्याच्या पाकळया पाहाल, तर त्या तुम्हाला कोरडयाच दिसतील. पाण्याचा एक थेंबही त्याच्यावर टिकत नाही. म्हणजे दलदलीत व पाण्यात राहूनही ते त्यांच्यापासून अलिप्त असते. तसेच जो ब्रह्माच्या ठिकाणी आपली सर्व कर्मे अर्पण करुन (साक्षात्कार झाल्याबरोबर त्या योगयुक्त पुरुषाची कर्मेही परमात्म्यात विलीन होत असतात.) फलाची आसक्ती सोडून (परमात्म्याची प्राप्ती झाल्यावर ज्याची आसक्ती करावी असे काही शिल्लक राहत नाही) कर्मे करतो, तो कमलपत्र जसे पाण्यापासून अलिप्त असते तसा पापापासून अलिप्त असतो.

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये।।११।।

कर्मयोगी केवळ इंद्रिये मन, बुद्धी आणि शरीरद्वारा फलासक्ती टाकून आत्मशद्धीसाठी कर्म करीत असतात. जेव्हा सर्व कर्मे ब्रह्मामध्ये विलीन होतात, तेव्हाही आत्मा अशुद्ध असतो का? नाही. ते '**सर्वभूतात्मभूतात्मा**' झालेले असतात. सर्व प्राणिमात्रांमध्ये आपल्या आत्माचा विस्तार झालेला ते पाहतात. त्या सर्व आत्म्यांच्या शुद्धीसाठी, आपल्या सर्वांच्या मार्गदर्शनासाठी ते कर्मयोगी कर्म करीत असतात. वास्तविक ते बाहेरुन सक्रीय दिसले; परंतु अंतर्यामी मात्र ते स्थिर असतात– शांत असतात. दोरी जळून गेल्यावर तिची राख शिल्लक असली, तरी ती बद्ध करु शकत नाही.

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते।।१२।।

'योगयुक्त' म्हणजेच योगमार्गाचे फल–जे परमात्माप्राप्ती ती ज्याने प्राप्त करुन घेतली आहे असा पुरुष, सर्व प्राणिमात्रांच्या आत्म्यामध्ये स्थित असणाऱ्या परमात्म्यामध्ये निरंतर स्थित असतो. असा कर्मयोगी कर्मफलाचा त्याग करुन (कर्माचे फल जो परमात्मा, जाम आता भिन्न राहिलेला नाही. तेव्हा आता कर्मफलाचा त्याग करुन) '**नैष्ठिकीम् शान्तिम आप्नोति**' अत्यंत श्रेष्ठ अशी शांती मिळवतो की, जिच्यापुढे आता कोणतीच दुसरी शांती प्राप्त करण्याचे शिल्लक राहिले नाही. अशी श्रेष्ठ शांती प्राप्त झाल्यानंतर

तो योगी पुन्हा कधीही अस्वस्थ किंवा अशांत बनत नाही. परंतु जो अजून योगरहित आहे, तो पुरुष कामनेच्या योगाने फळाच्या ठायी आसक्त होणे आवश्यकच आहे. परंतु त्यात आसक्त होऊनही (कामनेमुळे) '**कामकारेण निबध्यते**' पापपुण्यामुळे बद्ध होतो, कारण परमेश्वरप्राप्तीपर्यंत कामना जागृत असतात व म्हणून साधकाला मोक्षप्राप्ती होईपर्यंत सावधान राहिले पाहिजे. दक्ष राहिले पाहिजे. महाराजश्री म्हणत असत "जर एक क्षणभर जरी आम्ही भगवंतापासून वेगळे झालो, तर माया आपले जाळे टाकण्यात सफल होत असते. भले उद्या त्याला मोक्ष प्राप्त होणार असेल, पण आज तर साधक अजून अज्ञानीच आहे व म्हणून साधनापूर्तीपर्यंत, मोक्षप्राप्तीपर्यंत साधकाने किंचितही असावध राहू नये" यापुढे ते म्हणतात–

सर्वकर्माणि मनसा सन्न्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्।।१३।।

जो जितेंद्रिय आहे, म्हणजे ज्याने शरीरस्थित इंद्रिये, बुद्धी व मन यांना आपल्या ताब्यात ठेवले आहे व जो दिव्यस्वरूप अशा परमात्म्यामध्ये स्थित आहे, असा पुरुष कोणतेही कर्म करीत नसतो किंवा करवून घेत नसतो. मागाहून येणाऱ्यांकडून कर्म करुन घेण्यानेही त्याची आंतरिक शांती भंग होत नाही. असा स्वरूपस्थितपुरूष शब्दादि विषय निर्माण करणाऱ्या नऊ द्वार (दोन कान, दोन नेत्र, दोन नाकपुडया, एक मुख व गुद्द्वारे) असणाऱ्या शरीररुपी घरामध्ये सर्व कर्मांचा मनाने त्याग करून स्वरूपानन्दामध्ये राहत असतो. तात्पर्य तो काहीही करत नसतो, ना कोणाकडून काही करवून घेत असतो.

हीच गोष्ट श्रीकृष्ण दुसऱ्या शब्दात सांगताना म्हणतात की, तो प्रभू ना काही करत, ना कोणाकडून काही करवून घेत. सदगुरू, भगवान, प्रभू स्वरूपस्थ महापुरूष, योगयुक्त पुरुष हे एक दुसऱ्यांचे पर्याय आहेत. प्रत्यक्ष परमेश्वर काहीही करण्यासाठी येत नसतो. तो जेव्हा काही करतो तेव्हा या स्वरूपस्थ योग्यांच्याकडून, महापुरुषांकडूनच, करीत असतो. अशा महापुरूषांसाठी शरीर म्हणजे राहण्यासाठी असणारे घर मात्र आहे व म्हणून परमात्म्याची सेवा करणे किंवा महापुरूषांची सेवा करणे दोन्ही

एकच आहे. कारण ईश्वर त्यांच्यात स्थित असतो. त्यांच्या द्वारे प्रकट होत असतो व म्हणून असा योगी (प्रभू) सर्व करुनही कर्ता नसतो.

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते।।१४।।

प्राणिमात्रांची कतृत्वशक्ती, त्यांची कर्मे व कर्माशी होणारी फळाची जोड ह्या गोष्टी सर्वेश्वर प्रभू स्वतः करीत नाही, तर त्या त्या मनुष्याच्या स्वभावात स्थित असणारी जी प्रकृती तिच्या प्रेरणेने तो मनुष्य सर्व काही करत असतो. जशी ज्याची प्रकृती– सात्त्विक, राजसी, तामसी तिच्या प्रभावाप्रमाणे तो वर्तन करीत असतो. प्रकृती लांबलचक असते; परंतु आपला स्वभाव जेवढा विकृत किंवा प्रगल्भ असेल, तेवढाच तिचा प्रभाव आपल्यावर पडत असतो. साधारणतः लोक असे म्हणतात की, करणारा व करवणारा परमेश्वर असतो आम्ही त्याच्या हातातले फक्त बाहुले असतो, एक यंत्र असतो. आमच्याकडून जी बरी–वाईट कृती होते ती करविणारा ईश्वरच असतो. परंतु योगश्वर श्रीकृष्ण म्हणतात की, स्वतः परमेश्वर ना काही करीत असतो, ना काही करवीत असतो. आपल्या स्वभावास्थित प्रकृतीच्या प्रभावानुसार लोक वागत असतात. मग परमेश्वर कर्ता–करविणार आहे असे लोक का म्हणतात? यावर योगेश्वर सांगतात–

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।।१५।।

ज्याला आता प्रभू म्हंटले आहे, त्यालाच येथे विभूत म्हंटले आहे, कारण तो संपूर्ण वैभवाने युक्त आहे. प्रभुत्व व वैभवाने युक्त असणारा परमात्मा प्राणिमात्रांचे पाप किंवा पुण्य ग्रहण करीत नाही. मग लोक ईश्वराला कर्ता–करविणारा का म्हणतात? कारण त्याचे ज्ञान अज्ञानाने आच्छादिलेले आहे. म्हणून त्यांना साक्षात्कारयुक्त ज्ञान अद्याप झालेले नाही. ते जीव अजून अज्ञानी आहेत. मोह पावल्यामुळे ते काहीही बोलत असतात. ज्ञान प्राप्त झाल्याने काय होते? हे सांगताना श्रीकृष्ण म्हणतात–

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्।।१६।।

ज्याच्या अंत:करणातील असले अज्ञानं (की ज्याने ज्ञान झाकून टाकले आहे) आत्मज्ञानाने नष्ट झाले आहे, म्हणजेच ज्यांना ज्ञान प्राप्त झाले आहे, त्यांचे ज्ञान सूर्याप्रमाणे परमतत्त्व परमात्म्याला प्रकाशित करते. मग परमेश्वर म्हणजे अंधाराचे नाव आहे का? नाही तो तर '**स्वयं प्रकाश रूप दिन राती**' स्वयं प्रकाशरूप आहे. परंतु तो कधी दिसत तर नाही किंवा तो आमच्या काही उपयोगी पडत नाही; हे कसे? जेव्हा ज्ञानाच्या द्वारे अज्ञानाचे आवरण नष्ट होते, तेव्हा ते ज्ञान सूर्य जसा सर्व वस्तूंना प्रकाशित करतो तसे परमार्थतत्त्व प्रकाशित करते, म्हणजे स्वत:मध्ये ते ज्ञान प्रवाहित करते. मग त्या पुरूषाला कोठेही अंध:कार दिसत नाही. सर्वत्र प्रकाशच प्रकाश दिसतो. त्या ज्ञानाचे स्वरूप काय आहे?

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः।।१७।।

परमतत्त्व परब्रह्माच्या ठिकाणी ज्यांची बुद्धी रंगली आहे, मन त्यात प्रवाहित झाले आहे, परमात्मस्वरूपी जे निरंतर स्थित झाले आहेत व जे तदाकार म्हणजेच ईश्वरपरायण झाले आहेत, त्यालाच ज्ञान म्हणतात. ज्ञान म्हणजे पोकळ बडबड नाही किंवा ज्ञान म्हणजे रुक्ष वादविवाद नाही. हे ज्ञान प्राप्त झालेला पुरुष पापरहित होऊन जन्ममरणरहित परमगती त्याला प्राप्त होते. ज्याला परमगती प्राप्त झालेली आहे व ज्यांना त्याविषयीचे पूर्ण ज्ञान प्राप्त झाले आहे, अशा पुरुषालाच पंडित म्हणतात. पुढे पहा–

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।।१८।।

ज्ञान प्राप्त झाल्यामुळे ज्यांच्या पापाचे पूर्ण शमन झाले आहे, ज्यांना 'अपुनरावर्ती परमगती' प्राप्त झाली आहे, असे ज्ञानीजन विद्या व विनय संपन्न असलेला ब्राह्मण, चांडाळ तसेच गाय, कुत्रा आणि हत्ती या सर्वांकडे समदृष्टीने पाहतात. विद्याविनय संपन्न ब्राह्मणामध्ये कोणती विशेष गोष्ट त्यांना दिसत नाही किंवा चांडाळामध्ये त्यांना कसली हीनता दिसत नाही. त्यांच्या दृष्टीने दोघेही सारखेच असतात. तसेच गाय धर्मशील आहे किंवा कुत्रा धर्मभ्रष्ट आहे किंवा हत्ती विशालकाय आहे, असे त्यांना वाटत नाही.

त्यांच्याकडेही ते समदृष्टीनेच पाहतात. असे ज्ञाते पंडित समदर्शी व समवर्ती असतात. त्यांची दृष्टी बाह्य स्वरूपाकडे नसते; परंतु आत्म्याकडे असते. फरक एवढाच असतो की विद्याविनयसंपन्न पुरुष परमेश्वराच्या समीप असतात व बाकीचे थोडे दूर असतात. शरीर म्हणजे ज्ञानीजनांच्या मते आत्म्याचे बाह्य वस्त्र आहे. त्यांची दृष्टी, बाह्य वस्त्राला महत्त्व देत नाही; तर हृदयामध्ये वसत असणाऱ्या आत्म्याला ते पाहत असतात. त्यामुळे ते कोणताही भेद ठेवत नाहित.

वास्तविक श्रीकृष्णांनी गो-सेवा पुष्कळ केली होती. त्यामुळे त्यांना वास्तविक गाई बद्दल चांगले बोलायला हवे होते; परंतु त्यांनी तसे केले नाही. श्रीकृष्णांनी धर्मामध्ये गाईला कोणतेही स्थान दिलेले नाही. इतर जिवात्म्यांप्रमाणे गाय हा एक जिवात्मा आहे एवढेच त्यांनी गाईमध्ये पाहिले. गाईचा उपयोग, आर्थिक महत्त्व ही गोष्ट अलग आहे. परंतु धार्मिक दृष्टया गाईला जे महत्त्व देण्यात आले आहे ते अविवेकी लोकांचे कृत्य आहे. श्रीकृष्णांनी मागे सांगितले आहे की अविवेकी लोकांची बुद्धी अनंत शाखांनी युक्त असते व म्हणून ते अनेक विधींचा विस्तार करत असतात व आपल्या मधुर वाणीने लोकांवर त्यांची अशी छाप पाडतात की लोकांची बुद्धी भ्रष्ट होते व त्यांना शेवटी कशाचीही प्राप्ती होत नाही उलट ते नष्ट होतात. परंतु निष्काम कर्मयोगामध्ये निर्धारित असे एकच कर्म असते व ते म्हणजे यज्ञप्रक्रिया म्हणजे भगवंताची आराधना! गाय, हत्ती, कुत्रा, पिंपळ, नदी यांना जे धार्मिक दृष्ट्या महत्त्व देण्यात आले आहे ते अविवेकी लोकांचे कृत्य आहे. जर त्यांचे काही धार्मिक महत्त्व असते तर श्रीकृष्णांनी अवश्य सांगितले असते. मात्र मंदिर, मशीद इत्यादी धार्मिक स्थळांचे आरंभ काळात महत्त्व अवश्य असते. कारण तेथे प्रेरणादायक सामूहिक उपदेश होत असेल तर त्यांची उपयुक्तता अधिक असते. ही धर्मोपदेशक केंद्र असतात.

प्रस्तुत श्लोकात दोन पंडितांची चर्चा आहे. यात एक पंडित आहे जो पूर्ण ज्ञाता आहे व दुसरा पंडित आहे जो विद्या-विनयसंपन्न आहे. ते दोन कसे? वस्तुतः प्रत्येक श्रेणीमध्ये दोन सीमारेखा असतात- एक तर अधिकतर सीमा- परमोच्च सीमा व दुसरी प्रवेशिका- सर्वांत खालची सीमा. उदाहरणार्थ भक्तीची सर्वात खालची म्हणजे सुरूवातीची सीमा म्हणजे जेथून भक्तीला

सुरुवात केली जाते. विवेक, वैराग्य आणि सातत्याने भगवंताची आराधना केली जाते आणि भक्तीची परमोच्च सीमा म्हणजे भक्ती जेव्हा परिणामदायक स्थितीत येते. बरोबर अशाच प्रकारची ब्राह्मण श्रेणी असते. जेव्हा ब्राह्ममध्ये प्रवेश देण्याची क्षमता प्राप्त होते तेव्हा विद्या असते, विनय असतो, मनाचे शमन, इंद्रियांचे दमन, अनुभवी सुत्रपाताचा संचार, चिंतन, सातत्य, ध्यान आणि समाधी अंतरंगात कार्यरत असते. ही ब्राह्मणत्वाची प्रारंभिक सीमा होय. जेव्हा ती स्वतःचा विकास करीत करीत बह्मचा साक्षात्कार प्राप्त करुन त्याच्यातच विलीन होतो तेव्ही ती ब्राह्मणत्वाची उच्चतम सीमा आहे. ज्याला जाणून घ्यायचे होते त्याला जाणल्यानंतर तो पूर्णज्ञानी बनतो. ज्याचे जन्ममरण संपले आहे अशा महापुरुषाच्या दृष्टीने विद्या-विनयसंपन्न ब्राह्मण, चांडाळ, कुत्रा, हत्ती व गाय हे सर्व समानच असतात. कारण त्यांची वृत्ती हृदयस्थित आत्मस्वरूपावरच असते. अशा महापुरुषाला परमगतीस काय मिळाले आणि कसे? यावर प्रकाश टाकताना योगेश्वर श्रीकृष्ण म्हणतात-

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।

निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः।।१९।।

अशा समदृष्टीमध्ये ज्याचे मन स्थिर झाले आहे त्यांनी या लोकीच संसाराला जिंकले. मनाच्या समत्वाचा संसार जिंकण्यासाठी काय संबंध? संसार जर नष्ट झाला तर तो महापुरूष कसा राहणार? श्रीकृष्ण म्हणतात, '**निर्दोषं हि समं ब्रह्म**' हे सर्व भूतांच्या ठिकाणी सम व निर्दोष असते त्याप्रमाणे समदृष्टी असणाऱ्या कर्मयोग्याचे मन दोषरहित व समस्थितीचे बनते. '**तस्माद ब्रह्मणि ते स्थिताः**' व म्हणून तो ब्रह्मामध्ये स्थिर होतो. यालाच जन्ममरणरहित परमगती म्हणतात. ही परमगती होय. ही केव्हा प्राप्त होते? जेव्हा संसाररुपी शत्रूवर विजय मिळवला जातो तेव्हा ती परमगती प्राप्त होते. या संसारावर कसा विजय प्राप्त करता येतो? जेव्हा मनाचा निरोध केला जातो व समदृष्टी प्राप्त होते तेव्हा (कारण मनाचा विस्तार म्हणजेच हे जगत आहे). जेव्हा तो महापुरुष ब्रह्मामध्ये स्थिर होतो, तेव्हा त्या ब्रह्मविद महापुरुषाचे लक्षण काय असते? यापुढे श्रीकृष्ण आता त्याची राहणी कशी असते, ती सांगताना म्हणतात-

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः।।२०।।

त्याच्याजवळ प्रिय-अप्रिय असे काही असतच नाही. त्यामुळे लोक ज्याला प्रिय वस्तू म्हणतात, ती प्राप्त झाल्यानंतर जो हर्षित होत नाही आणि लोक ज्याला अप्रिय समजतात ते प्राप्त झाल्यानंतरही जो उद्विग्न होत नाही, असा '**असंमूढ**'- संशयरहित '**ब्रह्मविद्**' ब्रह्माच्या ठिकाणी स्थिर बुद्धी असणारा बह्मवेत्ता '**ब्रह्मस्थितः**' ब्रह्माच्या ठायी सदैव स्थिर असतो.

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते।।२१।।

संसारातील बाह्य सुखोपभोगाविषयींची ज्याची आसक्ती नष्ट झाली आहे, अशा परुषाला अन्तरात्म्यामध्ये जे सुख आहे ते प्राप्त होते. तो पुरुष '**ब्रह्मयोगयुक्तात्मा**' परब्रह्म परमात्म्याशी समस्त झालेला असतो व म्हणून असा योगी अक्षय सुखाचा अनुभव घेतो. या आनंदाचा-सुखाचा कधी होत नाही. या आनंदाचा उपयोग कोण घेऊ शकतो? जो बाह्य विषयभोगांविषयी अनासक्त झालेला असतो असा पुरुष अशा अक्षय सुखाचा उपयोग घेऊ शकतो. भोग बाधक असतात का? यावर भगवान श्रीकृष्ण म्हणतात.

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः।।२२।।

केवळ त्त्वचाच नव्हे तर सर्व इंद्रिये स्पर्श करीत असतात. पाहणे-हा डोळयाचा स्पर्श आहे, ऐकणे-हा कानाचा स्पर्श आहे. याप्रकारे इंद्रिये व विषयांच्या संयोगाने उत्पन्न झालेले सर्व सुखपभोग जरी अत्यंत सुखावह वाटले, तरी ते निःसंदेह '**दुःखयोनय**' दुःखालाच कारण होतात एवढेच नव्हे तर त्यांना उत्पत्ती व नाश असतो. त्यामुळे हे कौन्तेय, विवेकी पुरुष म्हणजे ज्ञानी परुष त्यात रमत नाहीत. इंद्रियांच्या या स्पर्शामध्ये काय असते? तर काम आणि क्रोध. यावर श्रीकृष्ण म्हणतात-

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः।।२३।।

जो मनुष्य देहत्यागापूर्वी कामक्रोधापासून उत्पन्न होणारा वेग सहन

करण्यास(म्हणजेच त्यांना नष्ट करण्यास) सक्षम असतो तोच मनुष्य त्यात न रमणारा असतो. तोच या लोकात खरा योगी आहे, तोच खरा सुखी आहे. ज्यामध्ये दु:खाचा लवलेशही नाही, असे सुख प्राप्त करणारा परमात्म्यात स्थिर झालेला असतो. जिवंतपणीच अशा सुखाची प्राप्ती होत असते, मरणानंतर नव्हे, संत कबीरांनी ही गोष्ट स्पष्ट केली आहे–'**अवधू! जीवत में कर आशा**' तर मग मरणानंतर मुक्ती असत नाही का? ते म्हणतात – '**मुए मुक्ति गुरु कहे स्वार्थी, झूठा दे, विश्वासा ।** ' येथे योगेश्वर श्रीकृष्णांनी सांगितले आहे की, शरीर असतानाच म्हणजे मरण्यापूर्वी जो काम- क्रोधांचा वेग नष्ट करण्यास सक्षम बनला आहे, ज्याने कामक्रोधांना आपल्या वश करुन ठेवले आहे, असाच पुरुष खरा योगी आहे, खरा सुखी आहे, काम-क्रोध, बाह्यस्पर्श हेच खरे शत्रू आहेत. त्यांना तुम्ही जिंकायला शिका. अशा योगी पुरुषाची लक्षणे सांगताना श्रीकृष्ण पुन्हा पुढे सांगतात,

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति।।२४।।

जो पुरुष अंत:सुखी म्हणजे आत्मस्वरूप बनल्यामुळे अंतरआत्म्यात सुख मानतो. म्हणजे आत्मसंतोष हेच ज्याचे सुख असते, '**अन्तरारामः**' अंतरात्म्यात जो आराम करतो, म्हणजे आत्मानंद हे ज्याचे विश्रामस्थान आहे आणि ज्याच्या आत आत्मप्रकाश पडला आहे म्हणजे तो साक्षात्कारी आहे, असा योगी '**ब्रह्म निर्वाणम्**' वाणीहून श्रेष्ट असणाऱ्या, शाश्वत असणाऱ्या ब्रह्माची प्राप्ती करुन घेतो. तो ब्रह्मस्वरुप योगी ब्रह्मनिर्वारण मोक्ष प्राप्त करून घेतो. म्हणजे प्रथम विकारांचा अंत (काम क्रोधांचा) नंतर दर्शन प्राप्त होतो. आता पुढे पाहू–

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः।।२५।।

परमब्रह्माचा साक्षात्कार झाल्यामुळे ज्याची सर्व पापे नष्ट झाली आहेत, ज्याचे सर्व संशय फिटले आहेत, जो सर्व प्राणिमात्रांच्या हितामध्ये रत आहे, (ज्याला ब्रह्मनिर्वारणरूप मोक्ष प्राप्त झाला आहे, तोच असे आचरण करु शकतो. जो स्वत: खड्ड्यामध्ये पडला आहे तो दुसऱ्याला काय बाहेर काढणार? त्यामुळेच करुणा हा महापुरुषाचा स्वभाविक गुण बनून जातो.)

तसेच **यतात्मान:-** जो जितेंद्रिय व ब्रह्मवेत्ता आहे, अशा परुषाला ब्रह्मनिर्वाणरुप मोक्ष प्राप्त होत असतो. अशा महापरुषाविषयी सांगताना श्रीकृष्ण पुढे म्हणतात–

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्।।२६।।

जे कामक्रोधरहित आहेत, ज्यांचे चित्त त्यांच्या स्वाधीन आहे, ज्यांना परमात्म्याचा साक्षात्कार झाला आहे अशा आत्मज्ञान प्राप्त झालेल्या पुरुषांना शांत पर ब्रह्माची (मोक्षाची) प्राप्ती होत असते. योगेश्वर श्रीकृष्ण साक्षात्कारी पुरुषाच्या आचरणावर सारखे भार देत आहेत कारण अशा महापुरुषांकडून सर्वांना काही प्रेरणा मिळावी म्हणून येथे प्रश्न जवळजवळ पूर्ण झाला आहे. आता ते पुन्हा सांगत आहेत की, अशी ब्रह्मरूप स्थिती प्राप्त करण्यासाठी 'श्वास-प्रश्वासाचे' चिंतन आवश्यक आहे. यज्ञाच्या प्रक्रियेमध्ये प्राणाचे अपानामध्ये हवन आणि अपानाचे प्राणामध्ये हवन, प्राण-अपान या दोहोंच्या गतीचा विरोध यावर त्यांनी भर दिला होता. तीच गोष्ट ते पुन्हा समजावताना म्हणतात.

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ।।२७।।
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः।।२८।।

हे अर्जुना, बाह्य विषयांना दृश्याच्या चिंतनाला दूर ठेवून, दोन भुवयांमध्ये दृष्टी स्थिर करुन- **'भ्रुवोः अन्तरे'-** याचा अर्थ डोळयांच्यामध्ये किंवा भुवयांमध्ये काही पाहण्याच्या हेतूने दृष्टी स्थिर करणे असा नाही. दोन भुवयांमध्ये दृष्टी स्थिर करणे याचा अर्थ एवढाच आहे की सरळ बसून दृष्टी भुवयांमधून सरळ पुढे स्थिर करणे, डाव्या-उजव्या बाजूला किंवा इकडे तिकडे दृष्टी न फिरवणे- नाकाच्या शेंडयावर नजर ठेवून, नाकाच्या आत विचरण करणाऱ्या प्राण व अपान वायूंचा वेग सम करुन अर्थात दृष्टी नाकाच्या शेंडयावर स्थिर करून तुमचे लक्ष श्वासावर केंद्रित करा व पाहा की श्वास केव्हा आत गेला? तेथे किती वेळ राहिला? यावर लक्ष केंद्रित करा. मग श्वासामध्ये निर्माण होत असणारा नामध्वनी तुम्हाल

ऐकू येईल. अशा प्रकारे श्वास-प्रश्वासावर लक्ष-ध्यान स्थिर झाले की, हळूहळू श्वास अचल, स्थिर व सम होईल, अशा स्थितीत ना आत काही विचार-विकल्प निर्माण होतील ना बाहेरचे विचार-संस्कार आत येतील, बाह्य विषयांचे चिंतन तर बाहेरच सोडून दिले होते, आता आत सुद्धा कसले विकल्प कसले विकल्प जागृत होणार नाही. मग ध्यान तैलधारेप्रमाणे सातत्याने होत राहील. तेलाची धार पाण्याप्रमाणे टपटप गळत नाही. जेव्हा ती तुटते तेव्हा संपूर्ण धारच खाली कोसळते- तुटून जाते. या प्रकारे प्राण व अपान वायूंची गती सम ठेवून, इंद्रिये मन व बुद्धी यांचे नियमन करुन, इच्छा, भय व क्रोध यांच्यापासून अलिप्त होऊन जो मननशीलतेच्या परम सीमेवर पोहचला आहे, असा मुनी सदा 'मुक्त' च असतो. मुक्त झाल्यावर तो कोठे जातो? त्याला काय प्राप्त होते? यावर श्रीकृष्ण म्हणतात-

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।।२९।।

यज्ञ व तप यांचा भोक्ता, सर्व लोकांचा महेश्वर व प्राणिमात्रांचा स्वार्थरहित मित्र-हितैषी मी आहे, अशा प्रकारे मला जो जाणतो त्याला शांती प्राप्त होते. श्रीकृष्ण म्हणतात की, अशा पुरुषाच्या श्वास-प्रश्वासाचा, यज्ञ आणि तपाचा भोक्ता मी आहे. यज्ञ व तप ज्यात विलीन होतात, तो मी आहे. ते सर्व मलाच प्राप्त होत असते. यज्ञाच्या शेवटी जी प्राप्त होते व जिचे नाव शांती आहे ते माझेच स्वरूप आहे. तो मुक्त पुरुष मला अशा प्रकारे जाणत असतो व तो मला अशा प्रकारे जाणतो, तेव्हा तो माझ्याप्रत येतो. मला प्राप्त करतो. हीचेच नाव शांती आहे. ज्या प्रकारे मी ईश्वराचा ईश्वर म्हणजे महेश्वर आहे त्या प्रकारे तो मुक्त असणारा मुनीही आहे असे समज.

निष्कर्ष-

या अध्यायाच्या सुरूवातीला अर्जुनाने भगवान श्रीकृष्णांना प्रश्न केला होता की, भगवन, तुम्ही कधी निष्काम कर्मयोगाची प्रशंसा करता,तर कधी संन्यास मार्गाने कर्म करण्याची म्हणजे कर्मसंन्यासमार्गाची प्रशंसा करता. तेव्हा दोन्हीपैकी कोणता मार्ग श्रेयस्कर आहे ते सांगा. तेव्हा श्रीकृष्णांनी सांगितले की अर्जुना, अरे परमकल्याण तर दोन्ही मार्गात आहे. दोन्ही मार्गात निर्धारित यज्ञाची प्रक्रिया केली जाते. तरीही निष्काम कर्मयोग विशेष

श्रेष्ठ आहे. कारण निष्काम कर्म केल्याशिवाय कर्म संन्यास (शुभाशुभ कर्मांचा अंत) होत नाही. संन्यास हा मार्ग नाही, ध्येयाचे नाव आहे. योगमुक्त पुरुषच संन्यासी असतो. मग योगयुक्ताचे लक्षण सांगताना ते म्हणाले की, हा योगमुक्त महापुरुषही ईश्वर असतो. तो काही करत नाही किंवा करवून घेत नाही. परंतु स्वभावस्थित प्रकृतीच्या प्रभावाप्रमाणे सर्वजण आचरण करीत असतात. जो मला जाणतो तोच ज्ञाता असतो, तोच पंडित असतो. यज्ञाच्या शेवटी लोक मला जाणतात. श्वास-प्रश्वासाचा जप आणि यज्ञ-तप ज्यामध्ये विलीन होते, तो मी आहे. यज्ञाचा परिणामस्वरुप असणाऱ्या मला जाणून जी शांती ते मिळवतात, ती शांती म्हणजे मी आहे. अर्थात श्रीकृष्णासारखे, महापुरुषासारखे, स्वरूप त्यालाही प्राप्त होते व तो योगयुक्त परुष ईश्वरांचा ईश्वर, आत्म्याचे आत्मस्वरुप तो बनतो. त्या परमात्म्याशी तो तद्रूप होतो. (असे बह्मैक्य होण्याला वाटेल तेवढे जन्म घ्यायला लागो.) या अध्यायात योगेश्वरांनी हे स्पष्ट केले आहे की यज्ञतापाचा भोक्ता म्हणजे महापुरुषांच्या आत वसत असणारी महाशक्ती महेश्वर आहे.

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे 'यज्ञभोक्तामहापुरुषस्थमहेश्वरः' नाम पञ्चमोऽध्यायः।।५।।

यापमाणे श्रीमद्‌भगवद्‌गीतारुपी उपनिषदातील ब्रह्मविद्यांतर्गत योगशास्त्रातील श्रीकृष्ण आणि अर्जुन यांच्या संवादातील 'यज्ञभोक्ता महापुरुषस्थ महेश्वर' नावाचा पाचवा अध्याय समाप्त झाला.

इति श्रीमत् परमहंसपरमानन्दस्य शिष्य स्वामीअड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्भगवद्गीतायाः 'यथार्थगीता' भाष्ये 'यज्ञभोक्तामहापुरुषस्थमहेश्वरः' नाम पञ्चमोऽध्यायः।।५।।

अशा प्रकारे श्रीमत्परमहंस परमानंन्दर्जींचे शिष्य स्वामी अड़गड़ानन्दकृत श्रीमदभगवदगीतेवरील भाष्य 'यर्थाथ गीता' यामधील 'यज्ञभोक्ता महापुरुषस्थ महेश्वरः' नावाचा अध्याय समाप्त झाला.

।।हरिः ॐ तत् सत्।।

ॐ

श्री परमात्मने नमः

।। अथ षष्ठोऽध्यायः ।।

अध्याय सहावा

या जगात जेव्हा धर्माच्या नावावर खोटे रीती-रिवाज, विविध प्रकारचे पूजाविधी व विविध संप्रदायांचे बाहुल्य वाढते, तेव्हा दुष्ट रूढींचे दमन करुन ईश्वराची स्थापना व त्याची प्राप्ती करून घेण्याची पद्धती-मार्ग व्यवस्थित करण्यासाठी महापुरुषाचा अवतार होत असतो. कृष्णकालामध्ये अशाच प्रकारे कर्तव्यकर्म न करता निष्क्रिय बसून राहणे व स्वतःला ज्ञानी म्हणवून घेण्याची रूढी फार वाढली होती व म्हणून या अध्यायाच्या प्रारंभी श्रीकृष्णांनी चौथ्यांदा ज्ञानयोग व निष्काम कर्मयोग या दोन्ही मार्गात कर्म करावेच लागते हे सांगितले आहे.

दुसऱ्या अध्यायात त्यांनी सांगितले होते की, अर्जुना, क्षत्रियासाठी युद्धाशिवाय दुसरा कोणताही कल्याणकारी व श्रेयस्कर मार्ग नाही. या युद्धात हरलास तरी देवत्वाची प्राप्ती आणि जिंकलास तर महामहीम पदाची प्राप्ती तुला होणार आहे; तेव्हा हे जाणून तू युद्ध कर. ज्ञानयोगाचे विवेचन करताना तू युद्ध कर ही गोष्ट तुला मी सांगितली. हातावर हात ठेवून स्वस्थ बसणे म्हणजे ज्ञानयोग नव्हे. ज्ञानयोगात आपल्या लाभहानीचा विचार करून, आपल्या क्षमतेला ओळखून कर्म करण्यास प्रवृत्त व्हायचे असते. ज्ञानयोगात युद्ध हे अनिवार्य असते. अर्थात याची प्रेरणा देणारा महापुरुष असतो.

तिसऱ्या अध्यायात अर्जुनाने श्रीकृष्णांना विचारले की, भगवन, निष्काम कर्मयोगापेक्षा आपल्याला जर ज्ञानयोग श्रेष्ठ वाटतो तर तुम्ही मला ही घोर कर्मे करायला का सांगत आहात ? अर्जुनाला निष्काम कर्मयोग फार कठीण वाटला. यावर श्रीकृष्णांनी सांगितले की, दोन्ही मार्ग मीच सांगितले आहेत;

परंतु दोन्ही मार्गात कर्म हे अनिवार्य आहे. कर्मत्याग करण्यास मी कोठेच सांगितले नाही. मुळीच कर्म न करता कोणीही नैष्कर्म्य सिद्धी प्राप्त करू शकत नाही. तसेच प्रारंभ केलेली कर्मप्रक्रिया मध्येच सोडून तिचा त्याग करून कोणीही परमसिद्धी प्राप्त करू शकत नाही. दोन्ही मार्गांत यज्ञ प्रक्रिया म्हणजेच नियत् कर्म करावेच लागते.

यानंतर अर्जुनाला स्पष्टपणे कळले की, ज्ञानमार्ग किंवा कर्ममार्ग यापैकी कोणताही मार्ग निवडला तरी कर्म हे दोन्ही मार्गात अनिवार्यच आहे. तरीही पाचव्या अध्यायात त्याने पुन्हा विचारले की, भगवन, फलप्राप्तीच्या दृष्टीने या दोन्ही मार्गांपैकी कोणता मार्ग श्रेष्ठ व सुकर आहे ? अर्जुना, दोन्ही मार्ग परमश्रेयाची प्राप्ती करून देणारे आहेत. दोन्ही मार्ग एकाच ठिकाणी पोहचवत असतात. तरीही सांख्याच्यामते निष्काम कर्मयोग हा श्रेष्ठ आहे. कारण निष्काम कर्म केल्याशिवाय कोणताही साधक संन्यासी होऊ शकत नाही. शिवाय दोन्ही मार्गात कर्म एकच आहे. तेव्हा निर्धारित कर्म केल्याशिवाय ना कोणी संन्यासी होऊ शकत, ना कोणी योगी बनू शकत. या दोन मार्गांचे अनुसरण करणाऱ्या साधकांचा दृष्टिकोन फक्त वेगवेगळा असतो.

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स सन्न्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः।।१।।

श्रीकृष्ण म्हणाले, हे अर्जुना, कर्मफलाचा आश्रय न करता म्हणजेच कर्म करताना कोणताही हेतू न ठेवता जो '**कार्यम् कर्म** ' कर्तव्य कर्म करतो तोच खरा संन्यासी व तोच खरा योगी होय. कर्मे अनेक प्रकारची आहेत. त्यामध्ये '**कार्यम् कर्म** ' करण्यास योग्य असे कर्म म्हणजेच '**नियत कर्म** ', निर्धारित कर्म करावयाचे असते. ते कर्म म्हणजेच 'यज्ञाची प्रक्रिया', ज्याचा अर्थ आहे ती आराधना ! म्हणजेच आराध्य देवाची प्राप्ती करून देणारे विधी-विशेष-त्यांना कार्यरूप देणे म्हणजे कर्म होय. ते कर्तव्यकर्म जो करतो तोच खरा संन्यासी असतो, तोच खरा योगी असतो. केवळ अग्निहोत्राचा त्याग करणारा '**आम्ही अग्नीला स्पर्श करीत नाही**' असे म्हणणारा किंवा कर्म न करणारा '**माझ्यासाठी काही कर्म करायला राहिलेले नाही, मी**

तर आत्मज्ञानी आहे' असे म्हणून कार्याला प्रारंभ न करणारा, कर्तव्य कर्म न करणारा संन्यासीही नव्हे व योगीही नव्हे.

यं सन्न्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।

न ह्यसन्न्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन।।२।।

अर्जुना ज्याला '**संन्यास**' म्हणतात, तोच कर्मयोग आहे असे तू जाण. कारण कर्मफलाविषयींच्या संकल्पाचा त्याग केल्याशिवाय कोणीही पुरुष योगी होत नाही. अर्थात फलाशेचा त्याग दोन्ही मार्गांत आवश्यक आहे. मग तर सरळ आहे की, आम्ही कसला संकल्प-हेतू ठेवीतच नाही असे म्हंटले की बनला योगी किंवा संन्यासी! श्रीकृष्ण म्हणतात हे मात्र कदापि शक्य नाही.

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।

योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते।।३।।

योगसिद्धी प्राप्त व्हावी अशी इच्छा करणाऱ्या साधकाला निष्काम कर्म हे साधन सांगितले आहे. आणि योगाचे अनुष्ठान करता करता जेव्हा योगप्राप्ती होते तेव्हा '**शमःकारणम् उच्चते**', शम हे कारण सांगितले आहे. म्हणजेच सर्व संकल्पांचा त्याग हे कारण सांगितले आहे. त्यापूर्वी संकल्प पिंड सोडत नाहीत.

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।

सर्वसङ्कल्पसन्न्यासी योगारूढस्तदोच्यते।।४।।

इंद्रियांच्या विषयांच्या ठिकाणी आणि कर्माच्या ठिकाणी जेव्हा तो आसक्त होत नाही (योगाच्या परिपक्व अवस्थेत पोहचल्यानंतर कर्म करून पुढे शोधायचे कोणाला? तेव्हा या अवस्थेत नियत कर्म, जी आराधना, तिचीही आवश्यकता राहत नाही व म्हणून तो आता कर्मातही आसक्त होत नाही) तेव्हा '**सर्व संकल्प संन्यासी**' त्याचे सर्व संकल्प सुटलेले असतात. हाच खरा संन्यास होय. हीच खरी योगारूढता आहे. संन्यास नावाची कोणती वस्तू नाही की जी रस्त्यात सापडेल. ती कर्मफलाची आसक्ती नसलेल्या, सर्व संकल्पांचा त्याग केलेल्या योग्यालाच प्राप्त होत असते. अशी ही योगारूढता प्राप्त होण्यापासून काय लाभ होतो ?

उद्धरेदात्मनाऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्।

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।।५।।

अर्जुना, मनुष्याने स्वतःच स्वतःचा उद्धार करावा. आपणच आपला नाश करून घेऊ नये. कारण हा जिवात्मा स्वतःच आपला मित्र आहे व तोच आपला शत्रूही आहे. परंतु तो आपला कधी शत्रू होतो व कधी मित्र बनतो? यावर श्रीकृष्ण म्हणतात –

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।

अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्।।६।।

ज्या जिवात्म्याने मन व इंद्रियांसहित शरीराला वश केले आहे त्याला ताब्यात ठेवले आहे, त्याचा जिवात्मा मित्र आहे आणि ज्या जिवात्म्याने मन व इंद्रियांसहित शरीराला ताब्यात ठेवले नाही, वश केले नाही, त्याचा जिवात्मा शत्रू आहे. त्याच्याशी तो शत्रूप्रमाणे वैर करतो.

वरील दोन श्लोकांत श्रीकृष्णांनी एकच गोष्ट सांगितली आहे की, आपणच आपल्या आत्म्याचा उद्धार करावा. आपणच त्याला अधोगतीकडे नेऊ नये; कारण आत्माच आपला मित्र आहे. या जगात त्याच्याशिवाय आपला ना दुसरा कोणी मित्र आहे, ना कोणी शत्रू ज्याने मनासहित इंद्रियांना जिंकले आहे, त्याच्यासाठी आत्मा मित्र बनून मित्रासारखे आचरण करतो. तो त्याचे परमकल्याण करतो. जो मनासहित इंद्रियांना जिंकू शकत नाही, त्याच्याशी आत्मा शत्रूसारखा वागतो आणि तो त्याला नीच योनीकडे व यातनांकडे घेऊन जातो– अधोगतीच्या मार्गाकडे नेतो. पढीक पंडित मोठ्या अभिमानाने म्हणतात **'मी तर आत्मा आहे !'** गीतेमध्ये आत्म्याचे स्वरूप सांगताना म्हंटले आहे – " या आत्म्याला शस्त्राने कापता येत नाही, अग्नी त्याला जाळू शकत नाही, वायू त्याला सुकवू शकत नाही. तो नित्य आहे, अमृतस्वरूप आहे, न बदलणारा आहे, शाश्वत आहे आणि असा आत्मा माझ्यात आहे. " असे पंडित गीतेमधील 'आत्मा अधोगतीकडेही जाऊ शकतो' या ओळींकडे लक्षच देत नाहीत. जो **'कार्यम् कर्म'** करण्यास योग्य असे कर्म, म्हणजेच नियत कर्म करतो, त्याच्या आत्म्याचा उद्धार होतो. अशा योग्याचे ठिकाणी आत्म्याचे स्वरूप कसे असते ते पहा.

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः।।७।।

ज्याने आपले मन जिंकले आहे, असा योगी शीत-उष्ण, सुख-दुःख आणि मान-अपमान इत्यादी द्वंद्वामध्ये अत्यंत शांत व स्थिर असतो. तो परमात्म्याच्या ठिकाणी स्थित असतो. त्याच्याशी तद्रूप झालेला असतो. '**जितात्मा**' म्हणजेच ज्याने आपले मन इंद्रियांसहित जिंकले व जो अत्यंत शांत आहे, ज्याची वृत्ती परमशांतीत प्रवाहित झालेली आहे. (ही आत्म्याच्या उद्धाराची अवस्था आहे) पुढे ते म्हणतात -

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः।।८।।

ज्याचे चित्त ज्ञान व विज्ञान यांच्या योगाने तृप्त आहे, जो निश्चल, स्थिर आणि विकाररहित आहे, जो जितेंद्रिय आहे, मातीचे ढेकूळ, दगड आणि सोने जो समान लेखतो - अशा गुणांनी 'युक्त' असणाऱ्यालाच योगी म्हणतात. 'युक्त' म्हणजे योगसहित. हीच योगाची पराकाष्ठा होय. ज्याची चर्चा योगेश्वर कृष्णांनी पाचव्या अध्यायात पाचव्या श्लोकापासून बाराव्या श्लोकापर्यंत केली आहे. परमतत्त्व परमात्म्याचा साक्षात्कार आणि त्याबरोबरच त्याचे होणारे ज्ञान यालाच ज्ञान म्हणतात. किंचित जरी परमतत्त्वापासून साधक दूर असेल, अजून ते तत्त्व त्याने पूर्णपणे जाणले नसेल, तर तो अज्ञानीच आहे असे समजावे आणि परमतत्त्वप्राप्तीची प्रेरणा देणारा प्रेरक कसा सर्वव्यापी आहे? तो कशी प्रेरणा देतो? तो अनेक आत्म्यांना एकाच वेळी कसे मार्गदर्शन करतो? तो भूत भविष्य व वर्तमानाचा कसा ज्ञाता आहे? प्रेरकाची ही सर्व कार्यप्रणाली जाणून घेणे म्हणजेच 'विज्ञान' होय. हृदयात ईश्वराचा प्रवेश झाला की, त्या क्षणापासून तो योग्याला निर्देश करत असतो; सुरूवातीला साधकाच्या ती गोष्ट लक्षात येत नाही. पण अंतिम टप्प्यात ईश्वराची आंतरिक कार्य-प्रणाली तो पूर्णपणे समजून घेऊ शकतो. हे समजणे म्हणजेच विज्ञान होय. योगारूढ किंवा योगयुक्त पुरुषाचे चित्त-ज्ञान विज्ञानाने सदैव तृप्त असते. अशा प्रकारे योगयुक्त पुरुषाच्या अवस्थेचे निरूपण करताना श्रीकृष्ण पुढे म्हणतात.

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते।।९।।

परमात्म्याची प्राप्ती झालेला महापुरुष समदर्शी व समवर्ती असतो. पाचव्या अध्यायातील अठराव्या श्लोकात जसे श्रीकृष्णांनी सांगितले की, आत्मज्ञानी विद्या-विनयसंपन्न ब्राह्मण, चांडाळ, गाय, कुत्रा, हत्ती या सर्वांकडे समदृष्टीने पाहत असतो. त्याच अर्थाचा हा श्लोक आहे. हितचिंतक, मित्र, शत्रू, तटस्थ, अप्रिय, नातलग, तसेच सज्जन आणि दुर्जन या सर्वांच्या ठिकाणी समदृष्टी ठेवणारा योगयुक्त पुरुष अत्यंत श्रेष्ठ होय. तो या सर्वांच्या वागण्याकडे - त्यांच्या कृतीकडे लक्ष देत नाही, तर त्यांच्या आत संचार करणाऱ्या आत्म्यावर त्यांची दृष्टी असते. त्या सर्वांमध्ये त्याला फक्त एवढाच फरक दिसतो की, कोणी खालच्या शिडीवर उभा आहे तर कोणी निर्मलतेच्या समीप; परंतु ती क्षमता मात्र सर्वांमध्ये आहे. याठिकाणी श्रीकृष्णाने योगयुक्त पुरुषाचे लक्षण पुन्हा सांगितलेले आहे.

मनुष्य योगयुक्त कसा बनतो? तो यज्ञ कसा करतो? यज्ञस्थळ कसे असावे? बसण्याची जागा कशी असावी? त्या वेळी कसे बसावे? यज्ञकर्त्याने कोणत्या नियमांचे पालन करावे? त्याचा आहार-विहार, त्याच्या झोपण्यावर व जागण्यावर ठेवायचे नियंत्रण किंवा त्याचे कर्म कसे असावे? या सर्व गोष्टींचे पुढील पाच श्लोकांत श्रीकृष्णांनी विवेचन केले आहे. ते विवेचन इतके स्पष्ट आहे की तुम्हीसुद्धा तशा प्रकारचा यज्ञ करू शकाल.

तिसऱ्या अध्यायात त्यांनी यज्ञाचा उच्चार केला आणि सांगितले की यज्ञाची प्रक्रिया म्हणजेच नियत कर्म होय. चौथ्या अध्यायात यज्ञाचे स्वरूप त्यांनी विस्तारपूर्वक सांगितले की, यात प्राणाचे अपानामध्ये हवन, अपानाचे प्राणामध्ये हवन, प्राण-अपानाच्या गतीचे नियंत्रण करून मनाचा निरोध इत्यादी क्रिया केल्या जातात. या सर्व क्रियांसह केल्या जाणाऱ्या यज्ञाचा अर्थ आराधना असा आहे. आराध्य देवापर्यंतचे अंतर नाहीसे करणारी प्रक्रिया म्हणजेच यज्ञ, म्हणजेच आराधना ! पाचव्या अध्यायातही हेच सांगितले व आता या अध्यायात यज्ञासाठी लागणारे आसन, भूमी, यज्ञाचा विधी हे सांगण्याचे बाकी राहिले होते, ते आता येथे सांगितले आहे.

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः।।१०।।

योग्याने मन, इंद्रिये व शरीर यांचे संयमन करून – त्यांना वश करून, निरिच्छ एकाकी व अपरिग्रहशून्य होऊन एकांतात आपल्या चित्ताला योगाभ्यासात लावावे. म्हणजेच आत्मानुभवात तल्लीन व्हावे. त्यासाठी स्थान कसे असावे? आसन कसे असावे?

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्।।११।।

पवित्र व शुद्ध अशा भूमीवर प्रथम दर्भ, त्यावर मृगाजिन, त्यावर वस्त्र (रेशमी वा लोकरीचे) अंथरूण फार खाली नव्हे व फार उंच नव्हे असे आपले आसन योग्याने स्थापन करावे. शुद्ध भूमी याचा अर्थ झाडून पुसून ती जागा स्वच्छ करावी असा याचा अर्थ आहे. जमिनीवर काही अंथरावे याचा अर्थ मृगाजिन, चटई, कोणतेही वस्त्र किंवा पाटासारखे आसन याची तेथे व्यवस्था करावी. आसन हलणारे नसावे, म्हणजे स्थिर असावे. ते जमिनीपासून फार उंच नसावे व अगदी जमिनीलगतही असू नये. 'पूज्य महाराजश्री' साधारणतः पाच इंच उंचीच्या आसनावर बसत होते. एकदा एका भक्ताने त्यांच्यासाठी पाच फूट उंची संगमरवराचे सुंदर आसन आणले. महाराजश्री एक दिवस त्यावर बसले. नंतर म्हणाले – "हे आसन मला नाही चालायचे; ते फार उंच झाले आहे. साधून इतक्या उंच आसनावर बसता कामा नये. यामुळे मनात अहंकार निर्माण होतो. अगदी जमिनीवर बसल्याने मनात हीनता निर्माण होते, स्वतःबद्दल मनात घृणा पैदा होते." त्यांनी ते आसन तेथून हालवायला सांगितले आणि जंगलात एक बाग होती तेथे ठेवण्यास सांगितले, जेथे महाराजश्री कधीच जात नव्हते. आजही तेथे कोणी जात नाही. हेच त्या महापुरुषाचे आचरणपूर्ण शिक्षण! तेव्हा अशा प्रकारे साधकाने उंच आसनावर कधीही बसू नये; नाहीतर भजनपूजन बाजूला राहील व प्रथम अहंकार मनात ठाण मांडून बसेल.

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये।।१२।।

त्या आसनावर बसून, (बसूनच ध्यान करावयाचे असते) मनाला एकाग्र करून, चित्त व इंद्रिये यांच्या क्रियांचे नियमन करून, चित्तशुद्धीसाठी योगाभ्यास करावा. आता कशा प्रकारे बसावे ते पुढील श्लोकात सांगितले आहे.

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्।।१३।।

शरीर म्हणजे येथे पाठ, मान व डोके समान रेषेत, निश्चल व स्थिर करून सरळ व दृढ होऊन बसावे आणि स्वतःच्या नाकाच्या अग्रभागाकडे दृष्टि लावून नाकाच्या शेंडयाकडे पाहणे याचा अर्थ सरळ व ताठ बसून नाकाच्या समोर जेथे नजर जाईल, तेथे ती स्थिर करणे. इकडे तिकडे पाहू नये. इतरत्र न बघता शरीर व दृष्टी अत्यंत स्थिर करून बसावे.

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः।।१४।।

ब्रह्मचर्यव्रतामध्ये स्थिर रहावे. साधारणतः लोकांना वाटते की, जननेन्द्रियाचा संयम म्हणजे ब्रह्मचर्य होय; परंतु मनात विषयांचे स्मरण करून, डोळयांनी कामोत्तेजक दृश्ये पाहून, स्पर्शसुखाचा अनुभव घेऊन, कामोत्तेजक शब्द ऐकून जननेंद्रियाचा संयम कधीच होणार नाही. ब्रह्मचारी याचा खरा अर्थ आहे '**ब्रह्म आचरति स ब्रह्मचारी**' - ब्रह्माचे आचरण आहे नियत कर्म, यज्ञाची प्रक्रिया जे जे करतात ते '**यान्ति ब्रह्म सनातनम्**' सनातन ब्रह्मामध्ये प्रवेश मिळवतात. ही प्रक्रिया करीत असताना '**स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यान्**' बाह्य स्पर्श, मनाचे व सर्व इंद्रियांचे स्पर्श यांचा बाहेरच त्याग करून चित्त ब्रह्मचिंतनात, श्वास-प्रश्वासामध्ये व ध्यानात लावायचे असते. मन जर ब्रह्मामध्ये तल्लीन असेल तर बाह्य गोष्टींचे स्मरण ते का करेल? आणि जर बाह्य स्मरण सुरू असेल तर मन ब्रह्मामध्ये कसे तल्लीन होईल? विकार हे शरीरात नाही पण मनातील विचारांत-भावनांत असतात. जर मन ब्रह्मचरणाशी तद्रूप होईल तर केवळ जननेन्द्रियाचा संयमच नव्हे तर सकल इंद्रियांचा संयम करणे शक्य असते. भीतीरहित आणि अंतःकरण शांत ठेवून, मनाचे संयमन करून, माझ्या ठिकाणी चित्त ठेवून, मत्परायण होऊन आसनावर बसावे.

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति।।१५।।

या प्रकारे मनाला परब्रह्माच्या चिंतनात सतत युक्त ठेवणारा, मनाचे नियमन केलेला योगी माझ्या ठायी असणारी मोक्षरूप परमशांती प्राप्त करून घेतो. यासाठी स्वतःला निरंतर त्याच्या ध्यानात तल्लीन ठेवावे. येथे हा प्रश्न पूर्ण झाला. आता पुढील दोन श्लोकांमध्ये त्यांनी सांगितले आहे की, परमानन्द शांती प्राप्त करण्यासाठी शारीरिक संयम, युक्ताहार, विहार हे सुद्धा आवश्यक आहे.

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन।।१६।।

हे अर्जुना, अतिशय खाणाऱ्याला किंवा मुळीच न खाणाऱ्याला, अति झोपणाऱ्याला किंवा अति जागरण करणाऱ्याला हा योग साधत नाही. मग हा योग कोणाला साध्य होतो ?

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।।१७।।

दुःखाचा नाश करणारा हा योग ज्याचे खाणे व हिंडणे परिमित आहे, जो सर्व कामे अत्यंत मापून व नियमितपणे करतो, ज्याची निद्रा व जागर परिमित आहे, त्यालाच साध्य होतो. अति खाण्याने आळस, निद्रा आणि प्रमादाने माणूस घेरला जाईल. तेव्हा त्याच्या हातून साधना होणार नाही. भोजन घेण्याचे सोडून देण्याने सर्व इंद्रिये क्षीण होतील आणि निश्चल, स्थिर बसण्याची क्षमता शरीरात राहणार नाही. पूज्य महाराजश्री म्हणत असत की, तुम्ही जो आहार घेता त्यापेक्षा दीड दोन पोळया कमी खा. जसे साधन असेल तसा विहार करावा. मात्र रोज थोडे श्रम तर करायलाच हवेत. काही ना काही कार्य करत रहायला हवेत. अन्यथा शरीरातील रक्ताचे वहन शिथिल पडेल. शरीर रोगग्रस्त बनेल. वयाप्रमाणे, आहार व अभ्यासाप्रमाणे झोपणे व जागणे कमी जास्त होऊ शकते. 'महाराजश्री' म्हणत – "योग्याने चार तास झोपले पाहिजे आणि उरलेला वेळ सतत चिंतन करीत राहिले पाहिजे.

हठाग्रहाने अति जागरण केले तर तो वेडा बनतो. कर्मे करतानाही अनुरूप निरंतर कर्मरत राहावे. बाह्य विषयांचे स्मरण न करता सदैव परमतत्त्व परमात्म्याच्या ठिकाणी ध्यानमग्न होणाऱ्या योग्याचाच योग साध्य होतो.''

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा।।१८।।

या प्रकारे विशेष अभ्यास करून वश केलेले चित्त जेव्हा आत्म्याच्या ठिकाणी स्थित होते, तेव्हा ते आत्म्यात विलीन होऊन जाते. आणि जेव्हा सर्व प्रकारच्या इच्छांविषयी साधक निरिच्छ बनतो तेव्हा तो योगमुक्त झाला किंवा त्याला योगसिद्ध झाला असे म्हणतात. आता विशेष रूपाने ज्याने चित्ताला वश केले आहे अशा योग्याचे लक्षण काय आहे ?

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः।।१९।।

वायुरहित ठिकाणी म्हणजेच निवाऱ्याच्या जागी ठेवलेला दिवा ज्याप्रमाणे अगदी निश्चल राहतो, ज्योत अगदी सरळ तेवत राहते, ती हलत नाही, तीच उपमा परमात्म्याचे निरंतर अनुष्ठान करणाऱ्या योग्याच्या नियमन केलेल्या चित्ताला दिली आहे. येथे दिव्याचे तर फक्त उदाहरण आहे. आजकाल दिव्याचा वापर शिथिल झाला आहे. जर वारा फार नसेल तर प्रज्वलित केलेल्या अगरबत्तीचा धूर सरळ वर जातो. ज्याने आपले चित्त ताब्यात ठेवले आहे त्या योग्याच्या चित्ताचे हे एक उदाहरण आहे. त्या अवस्थेत चित्ताला जिंकलेले असेल, चित्ताचा विरोध केलेला असला तरी अद्याप चित्त आहे ते विलीन झालेले नाही. जेव्हा निरोध केलेल्या चित्ताचा विलय होतो तेव्हा कोणती विभूती प्राप्त होते ते पाहू –

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति।।२०।।

ज्या स्थितीत योगाभ्यासाने (अभ्यास-सराव केल्याशिवाय चित्ताचा निरोध होणार नाही; म्हणून योगाभ्यासाने) नियमन केलेले चित्त शांत होते, आत्मस्वरूपी विलीन होते, तद्रूप होते तेव्हा **आत्मना –** आपल्या आत्म्याद्वारे

'आत्मानम्' परमात्म्याला पाहून 'आत्मनि एव' आपल्या आत्म्यातच योगी संतुष्ट होतो. कारण प्राप्तिकाळामध्ये तर परमात्म्याचा साक्षात्कार होतो; परंतु दुसऱ्याच क्षणी तो आपल्या आत्म्याला त्या शाश्वत ईश्वरीय विभूतीमध्ये ओतप्रोत झालेला पाहतो. ब्रह्म अजर, अमर, शाश्वत, अव्यक्त आणि अमृतस्वरूप आहे तर आत्माही अजर, अमर, शाश्वत, अव्यक्त आणि अमृतस्वरूपच आहे. परंतु तो अचिन्त्यही आहे. जोपर्यंत चित्त व चित्तातले विचारतरंग आहेत, तोपर्यंत तो आपल्याला उपभोग्य नसतो. चित्ताचे नियमन व नियमन केलेल्या चित्ताचा परमात्म्यात विलय होतो, तेव्हा परमात्म्याचा साक्षात्कार होतो आणि साक्षात्कारानंतर लगेच त्यास स्वस्वरूपाची ओळख पटते व ते चित्त चैतन्याच्या भेटीस जाते व म्हणून तो योगी आपल्या आत्म्यातच संतुष्ट होतो. हे त्याचे स्वरूप आहे. हीच पराकाष्ठा आहे. यालाच पूरक असणारा पुढचा श्लोक पाहा.

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः।।२१।।

जे इंद्रियांना अगोचर आहे, अत्यंत शुद्ध झालेल्या बुद्धीनेच ग्रहण करण्यास जे योग्य आहे असे निरातिशय, सर्वोत्कृष्ट (असा आनंद) असे सुख ज्या स्थितीत हा योगी अनुभवतो, ज्या स्थितीत स्थित असणारा तो आपल्या स्वरूपाला जाणतो; तो त्या तत्त्वापासून कधीच ढळत नाही. नेहमी त्याच अवस्थेत तो राहतो.

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।।२२।।

परमेश्वरप्राप्तीरूप लाभ म्हणजेच परमोच्च शांती प्राप्त झाल्यानंतर तिच्याहून दुसरा कोणताही लाभ त्याला अधिक वाटत नाही व या भगवतप्राप्तीच्या सुखामध्ये तो स्थिरावला म्हणजे कितीही मोठे दुःख सामोरे आले तरी तो डगमगत नाही. त्या दुःखाचे त्याला भानच नसते. कारण सुखदुःखादि भावनांचे भान असणारे चित्तच तेथे नसते ते परमात्म्यात विलीन झालेले असते. तसेच –

तं विद्याद्दु:खसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा।।२३।।

संसारातील दु:खाच्या संयोग-वियोगापासून अलिप्त असणाऱ्या सुखाला योग असे म्हणतात. आत्यंतिक-परमोच्च सुखाशी मीलन म्हणजे योग होय. ज्याला परमतत्त्व परमात्मा म्हणतात त्याच्याशी होणाऱ्या मीलनाचे नाव योग असे आहे. हा योग मन कंटाळू न देता निश्चयपूर्वक आचरणे हे योग्याचे कर्तव्य आहे. धैर्यपूर्वक योगाचे अनुष्ठान करणाराच या योगामध्ये सफल होतो.

सङ्कल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषत:।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्तत:।।२४।।

म्हणून साधकाने विषयचिंतनापासून संकल्पापासून उत्पन्न होणाऱ्या सर्व कामनांचा वासना व आसक्तीसहित त्याग करून, सर्व इंद्रियांचे सर्व बाजूंनी मनाने नियमन करावे.

शनै: शनैरूपरमेद्‌बुद्‌ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मन: कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।।२५।।

क्रमाक्रमाने अभ्यास केल्याने वैराग्य प्राप्त होईल. तदनंतर चित्ताचे नियमन व नंतर परमतत्त्वाशी ते तद्रूप होईल. यानंतर धैर्ययुक्त बुद्धीने हळूहळू मनाला आत्म्याच्या ठिकाणी स्थित करून दुसऱ्या कशाचेही चिंतन करू नये. निरंतर चिंतनात राहिल्याने परमात्मप्राप्ती होते. परंतु आरंभी मन चिंतनात स्थिर होत नाही. यावर श्रीकृष्ण म्हणतात -

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्।।२६।।

हे चंचल व अस्थिर असणारे मन ज्या ज्या कारणांमुळे सांसारिक गोष्टीमध्ये मग्न असते, त्या त्या कारणांपासून त्याचे नियमन करून त्याला वारंवार आत्म्याच्याच ताब्यात आणावे. साधारणत: लोक म्हणतात की मन कोठेही भरकटले तरी त्याला भटकू द्या. ते जाऊन जाऊन प्रकृतीमध्येच जाणार ना? आणि प्रकृती तर ब्रह्माच्या अंतर्गत आहे. प्रकृतीमध्ये भटकणे

म्हणजे ब्रह्माच्या बाहेर जाणे नव्हे. परंतु श्रीकृष्णांच्या मते असे समजणे चुकीचे आहे. गीतेमध्ये या प्रकारच्या विचारसरणीला किंचितही स्थान नाही. श्रीकृष्णाच्या मते, मन जेथे जेथे जाईल, ज्या ज्या माध्यमातून जाईल त्या त्या माध्यमाला रोकून त्याला परमात्म्याच्या ठिकाणी लावावे. मनाचा निरोध करणे शक्य आहे. मनाचा असा निरोध केल्याने काय घडेल ?

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्।।२७।।

अशा प्रकारच्या अभ्यासाने ज्याच्या मनाला उत्तम शांती मिळाली आहे, जो पापरहित झाला आहे, ज्याचा रजोगुण शांत झाला आहे व जो ब्रह्मस्वरूप झाला आहे अशा योग्याला सर्वोत्तम सुख प्राप्त होते. याच्यापेक्षा उत्तम दुसरे काहीही नसते. यावरच पुन्हा भर देऊन ते पुढे म्हणतात -

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते।।२८।।

अशा प्रकारे पापरहित झालेला योगी आत्म्याला निरंतर परमात्म्याच्या ठिकाणी ठेवून अनायासे परब्रह्म परमात्म्याच्या प्राप्तीचा आनंद उपभोगत असतो. तो '**ब्रह्म संस्पर्श**' अर्थात ब्रह्माशी संयोग आणि त्यात प्रवेशाचा म्हणजेच साक्षात्काराचा आत्यंतिक आनंद अनुभवतो. त्यासाठी भजन अत्यंत आवश्यक आहे. याच-बाबत ते पुढे म्हणतात -

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।।२९।।

ज्याचे चित्त योगयुक्त झाले आहे व जो सर्वत्र समदृष्टीने-समभावाने पाहतो असा योगी स्वतःला सर्व प्राणिमात्रांमध्ये पाहतो व सर्व प्राणिमात्रांना स्वतःच्या ठिकाणी पाहतो. असे समदृष्टीने पाहण्याने योग्याला काय लाभ मिळतो ?

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।।३०।।

जो पुरुष सर्व प्राणिमात्रांमध्ये मला पाहतो, आणि सर्व प्राणिमात्रांना माझ्या ठिकाणी पाहतो त्याच्यासाठी मी अदृश्य नसतो व माझ्यासाठीही तो अदृश्य नसतो. हे योगयुक्त साधकाचे व माझे प्रत्यक्ष मीलन आहे. सख्यभाव आहे. सामीप्य आहे, मुक्ती आहे.

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।।३१।।

अनेकतेच्या पलीकडे असणाऱ्या एकत्व भावाला जाणून जो मला भजतो, तो योगी सर्व प्रकारचे काम करीत असला तरी तो माझ्याच ठिकाणी राहतो. कारण माझ्याशिवाय त्याच्याजवळ दुसरे काहीही शिल्लक राहिलेले नसते. त्याने सर्व काही मला अर्पण केलेले असल्याने उठता-बसता तो प्रत्येक गोष्ट माझ्यासाठी करतो.

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः।।३२।।

हे अर्जुना, जो योगी सर्व भूतमात्रांमध्ये आपल्या प्रमाणे समत्व पाहतो, आपल्याप्रमाणेच त्यांना पाहतो, त्यांचे सुख अथवा दुःख हे ही जो आपल्यासारखे पाहतो तो योगी (ज्याचा भेदभाव संपला आहे) परमश्रेष्ठ समजला जातो. श्रीकृष्णांच्या बोलण्यावर अर्जुन म्हणाला -

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्।।३३।।

हे मधुसूदना, तू जो हा समत्वभाव दृष्टीचा योग सांगितलास, तो मनाच्या चांचल्यामुळे माझ्या ठिकाणी बराच वेळ स्थिर राहील असे मला वाटत नाही.

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।।३४।।

हे कृष्णा, हे मन मोठे चंचल आहे, ते क्षोभक, बलयुक्त तसेच वळवण्यास कठीण आहे. त्याचा निग्रह करणे वायूच्या निग्रहाप्रमाणेच अत्यंत दुष्कर

आहे. सोसाट्याच्या वाऱ्याप्रमाणे त्याचा निग्रह करण्यास अत्यंत कठीण आहे. यावर योगेश्वर श्रीकृष्ण म्हणतात –

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।।३५।।

महान कार्य करण्यासाठी प्रयत्नशील असणाऱ्या महाबाहो अर्जुना, मन खरोखर फार चंचल आहे. त्याचा निग्रह करणे, त्याला वश करणे कठीण आहे; परंतु हे कौन्तेया, अभ्यासाने व वैराग्याने त्याला वश करता येते. ज्याठिकाणी त्याला केंद्रित करावयाचे आहे त्या ठिकाणी स्थिर करण्याचा सतत प्रयत्न करणे म्हणजेच अभ्यास होय आणि जे पाहिले जाते, ऐकले जाते (म्हणजेच संसारातील किंवा स्वर्गातील सुखभोगांच्या) त्यांच्या आसक्तीचा त्याग करणे म्हणजे वैराग्य होय. श्रीकृष्ण म्हणतात की मनाचा निग्रह करणे कठीण आहे, परंतु अभ्यास आणि वैराग्याच्या सहाय्याने त्याला स्वाधीन ठेवता येते – त्याला वश करता येते.

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः।।३६।।

हे अर्जुना, मनाचा निग्रह न करू शकणाऱ्या पुरुषाला योग प्राप्त होणे कठीण आहे; परंतु ज्याने मनाला वश केले आहे अशा पुरुषाला तो प्रयत्नाने साधणे सहज शक्य आहे असे माझे मत आहे. तुला हा योग जितका कठीण वाटतो तितका कठीण तो नाही. तो आचरण्यास फार कठीण आहे असे समजून तू तो सोडून देऊ नकोस. प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करून तू तो योग प्राप्त करून घे कारण मनाला स्वाधीन ठेवल्यानंतरच योग प्राप्त होत असतो. यावर अर्जुनाने प्रश्न विचारला –

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति।।३७।।

अर्जुन म्हणाला, हे कृष्णा, मनुष्य श्रद्धेने युक्त असला व त्या श्रद्धेने तो योगाचे आचरण करीत असताना, त्याचे मन योगापासून विचलित झाल्याने त्याचा प्रयत्न सुटला व त्या कारणाने त्याला योगसिद्धी प्राप्त झाली नाही तर तो कोणत्या गतीला जातो?

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।

अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि।।३८।।

महाबाहो श्रीकृष्णा, भगवतसिद्धीच्या मार्गापासून विचलित झालेला मोहित पुरुष इतर ढगांपासून वेगळया झालेल्या ढगाप्रमाणे नाश पावत नाही ना? इतर ढगांपासून तुटून वेगळा झालेला ढग ना वर्षाव करीत, ना पुन्हा त्या ढगाला जाऊन मिळत. उलट वाऱ्यामुळे तो इकडे तिकडे फिरत फिरत नष्ट होतो. तशा प्रकारे ज्याचा प्रयत्न शिथिल पडला व ज्याने योगसाधना काही दिवस करून मध्येच सोडून दिली तर तो नष्ट तर पावत नाही ना? तो ना आपल्यामध्ये प्रवेश करू शकत, ना सुखपभोगांचा भोग घेऊ शकत. अशा पुरुषाला कोणती गती प्राप्त होते?

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।

त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते।।३९।।

हे कृष्णा, माझी ही शंका पूर्णतेने दूर करण्यास तुम्हीच समर्थ आहात. आपल्याशिवाय दुसरा कोणीही माझी ही शंका दूर करू शकणार नाही. यावर योगेश्वर श्रीकृष्ण म्हणाले –

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।

न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति।।४०।।

पार्थिव शरीराला रथ बनवून लक्ष्याकडे घोडदौड करणाऱ्या हे अर्जुना, अशा पुरुषाला इहलोकी किंवा परलोकीही विनाश असत नाही; कारण परमकल्याणकारी कर्म करणारा, सत्कर्म करणारा कोणीही अधोगतीला जात नाही. मग त्याचे काय होते?

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।।४१।।

मन विचलित झाल्याने योगभ्रष्ट झालेला पुरुष पुण्यकर्म करणाऱ्यांच्या लोकाला जाऊन तेथे पुष्कळ वर्षे वास करून इच्छित सुखे प्राप्त करून (ज्या कामनासक्तीमुळे तो योगभ्रष्ट झाला होता त्या त्याच्या इच्छा परमेश्वर थोडयाच दिवसात तेथे पूर्ण करतो.) **'सुचीनां श्रीमतां'** शुद्धाचरणी व वैभवशाली अशा कुलामध्ये तो जन्म घेतो (जे शुद्धाचरणी असतात तेच वैभवशाली असतात).

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्।।४२।।

किंवा शुद्धाचरणी श्रीमतांच्या घरी त्याला जन्म नाही मिळाला; तर स्थिर बुद्धीच्या योगी लोकांच्या कुळात त्याला प्रवेश मिळतो. शुद्धाचरणी श्रीमंतांच्या घरात पवित्र संस्कार लहानपणापासूनच प्राप्त होतात. परंतु तशा घरात जन्म झाल्याने त्याला योग्याच्या कुळात (घरात नव्हे) म्हणजेच शिष्य परंपरेत प्रवेश मिळतो. कबीर, तुलसीदास, रैदास, वाल्मीकी इत्यादींना शुद्धाचरणी श्रीमंतांच्या घरात जन्म नाही मिळाला; परंतु योग्यांच्या कुळात प्रवेश मिळाला. सद्‌गुरूंच्या कुलामध्ये संस्काराचे परिवर्तन हाही एक जन्म आहे. अशा प्रकारचा जन्म या लोकी मिळणे अत्यंत दुर्लभ आहे. योग्यांच्या या जन्माचा अर्थ त्यांच्या पोटी जन्म घेणे असा नव्हे. त्याच्या पोटी जन्म घेतलेली मुलं (गृहत्यागापूर्वी) महापुरुषाला भले आपले वडील मानत असले, तरी त्या महापुरुषाला घराविषयी व आप्तजनांविषयी काहीही आसक्ती-प्रेम वाटत नाही. जो शिष्य महापुरुषाच्या आज्ञांचे पालन करतो, त्यांची सेवा करतो तो शिष्य स्वतःच्या पुत्रांपेक्षा त्यांना अधिक प्रिय असतो. तोच त्यांचा खरा पुत्र बनतो.

जे योगाच्या संस्कारांनी युक्त नसतात, अशा शिष्यांना महापुरुष शिष्य म्हणून स्वीकारीत नाहीत. 'पूज्य महाराजश्री' नी अशा सर्वांना शिष्य केले असते तर हजारो विरक्त त्यांचे शिष्य बनले असते. परंतु कोणाला गाडी भाडे देऊन, कोणाच्या दारी निरोप पाठवून, कोणाच्या घरी पत्र पाठवून,

कोणाला समजावून असे अनेकांना (योगयुक्त संस्कार नसलेल्यांना) त्यांनी घरी पाठवून दिले. अनेक हट्ट करू लागले की त्यांना आतून सूचना मिळे की, याच्यामध्ये साधू बनण्याचे एकही लक्षण नाही, याला ठेवून घेण्यात काही फायदा नाही. हा योगमार्ग पार करू शकणार नाही. तेव्हा महाराजश्रींनी त्यांना स्वीकारले नाही. तर एक-दोघांनी निराश होऊन पर्वतावरून खाली उडी टाकून जीवही दिला; परंतु महाराजश्रींनी त्यांना आपल्याजवळ ठेवून घेतले नाही. त्यांना मागाहून ही गोष्ट समजल्यावर ते म्हणत "हा मार्ग आचरण्यास तो पूर्णपणे असमर्थ आहे हे मी जाणल्याने त्याला ठेवून घेतले नाही; परंतु हा असा आत्मघात करेल हे समजले असते; तर ठेवला असता जवळ; शेवटपर्यंत पतीतच राहिला असता. दुसरे काय ! जीवाने तर वाचला असता." "महाराजश्रींचेजवळ असे ममत्वही खूप होते, परंतु तरीही त्यांनी संस्कारहीन शिष्यांचा स्वीकार केला नाही. सहा-सात जणांच्या बाबतीत त्यांना आदेश मिळाला होता "आज एक योगभ्रष्ट पुरुष तुमच्याकडे येत आहे. अनेक जन्म भटकत आहे. त्याचे अमुक नाव आहे व असे रूप आहे तेव्हा त्याचा स्वीकार करावा. व त्याला ब्रह्मविद्येचा उपदेश करून त्याला पुढे न्यावे." केवळ अशा शिष्यांचाच महाराजश्रींनी स्वीकार केला. आजही त्यातील एक महापुरुष धारकुण्डीमध्ये बसले आहेत. एक अनुसुयामध्ये आहेत व दोन-तीन अन्यत्र आहे. त्यांना सद्गुरुच्या कुळात प्रवेश मिळाला. अशा महापुरुषांची प्राप्ती होणे अत्यंत दुर्लभ असते.

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।

यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन।।४३।।

हे अर्जुना, पूर्वजन्माच्या देहातील बुद्धिसंस्काराचा नव्या देहामध्ये त्याला लाभ होतो. त्याच्याठिकाणी ते बुद्धिसंस्कार उपजतच असतात. त्यामुळे हे कुरूनन्दना, त्यांच्या प्रभावामुळे तो पुन्हा '**संसिद्धौ**' भगवत्प्राप्तीसाठी योगसिद्धीसाठी प्रयत्न करतो.

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।

जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते।।४४।।

श्रीमंताच्या घरी तो विषयांच्या आधीन झाला तरी पूर्वजन्मीच्या अभ्यासाने तो भगवत्मार्गाकडे-कर्मयोगाकडे आकर्षिला जातो आणि मग या मार्गात

त्याचे प्रयत्न शिथिल असले तरी, योगमार्गाचा तो जिज्ञासू शब्दब्रह्माला पार करून निर्वाण पदाची प्राप्ती करून घेतो त्याच्या प्राप्तीचा हाच मार्ग आहे. एका जन्मात कोणालाही निर्वाणपद प्राप्त होत नाही.

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।।४५।।

अनेक जन्मे प्रयत्न करणारा योगी परमसिद्धी प्राप्त करतो. प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करणारा योगी सर्व पापांपासून चांगल्याप्रकारे शुद्ध होऊन मोक्षाप्रत जातो. मोक्षप्राप्तीचा हाच क्रम आहे. प्रथम शिथिल प्रयत्नाने योगाचा आरंभ होतो. मन योगापासून चलित होते. त्यामुळे जन्म घ्यावा लागतो. त्या जन्मात सद्गुरूच्या कुलात त्याचा प्रवेश होतो आणि मग प्रत्येक जन्मात अभ्यास करत करत तो परमगतीला पावतो. श्रीकृष्णांनी सांगितले होते की या योगामध्ये बीजाचा नाश होत नाही. आपण या मार्गात दोन पावले चाललात तरी त्या साधनेचा कधी नाश होत नाही. प्रत्येक परिस्थितीत मनुष्य थोडी फार साधना करू शकतो. कारण मनुष्याला वेळ थोडा असतो, त्यामुळे त्याच्याकडून थोडी फार साधना होत असते. आपण काळे आहात की गोरे आहात, किंवा आपण कुठचेही असलात तरी गीता सर्वांसाठी आहे. आपल्यासाठीही ती आहे. उत्कट प्रयत्न करणारा कोणीही असू शकतो परंतु शिथिल प्रयत्न करणारा गृहस्थच असतो. गीता गृहस्थ-विरक्त, शिक्षित-अशिक्षित थोडक्यात सर्वसाधारण मनुष्य मात्रांसाठी आहे. कोणा 'साधू' नावाच्या विचित्र प्राण्यासाठी नाही. शेवटी योगेश्वर श्रीकृष्ण निर्णय देताना म्हणतात-

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन।।४६।।

तपस्व्यांपेक्षा योगी श्रेष्ठ आहे. ज्ञानी लोकांपेक्षाही योग्याला श्रेष्ठ समजले जाते. सकाम कर्मे करणाऱ्या कर्मनिष्ठांपेक्षाही योगी श्रेष्ठ आहे. म्हणून हे अर्जुना तू योगी हो.

तपस्वी-

स्वरूपप्राप्तीसाठी तपस्वी लोक मनासहित इंद्रियांना योगामध्ये उतरवून तापवीत असतात. योग त्यांच्यात अद्याप संपूर्ण उतरलेला नसतो.

कर्मी-

कर्मनिष्ठ लोक नियत कर्म म्हणून त्यात प्रवृत्त होतात. परंतु ते आपली क्षमता ओळखून त्यात प्रवृत्त होत नाहीत किंवा समर्पण भावाने ते कर्म करत नाहीत. फक्त कर्म करायचे म्हणून करीत असतात.

ज्ञानी-

ज्ञानमार्गी तेच नियत कर्म, यज्ञाच्या प्रकियेला चांगल्या प्रकारे जाणून आपल्या शक्तीचा अंदाज घेऊन कर्म करण्यास प्रवृत्त होतात. त्याच्या लाभहानीचे उत्तरदायित्व त्यांच्यावरच असते. लाभहानीवर नजर ठेवून ते कर्म करतात.

योगी-

निष्काम कर्मयोगी मात्र ईश्वरावर श्रद्धा ठेवून, समर्पण भावाने त्या नियत कर्मामध्ये – 'योग साधने' मध्ये प्रवृत्त होतो. अशा योग्याच्या योगक्षेमाची जबाबदारी परमेश्वर घेत असतो. पतन होण्याची स्थिती निर्माण झाली तरी त्याला पतनाचे भय नसते. कारण ज्या परमतत्त्वाची तो अभिलाषा धरतो, ध्यास घेतो तो परमात्माच त्याला सांभाळण्याची जबाबदारी घेत असतो.

म्हणजे तपस्वी योग प्राप्त करण्यासाठी अद्याप प्रयत्नशील आहे. कर्मनिष्ठ केवळ कर्म करणेच जाणतो. त्यांचे पतनही होऊ शकते कारण त्या दोन्हींमध्ये ना समर्पणाची भावना असते ना आपली लाभहानी पाहण्याची क्षमता; परंतु ज्ञानी योग्याच्या अवस्थेला जाणत असतो, त्याला आपल्या शक्तीचा अंदाज असतो व त्याची सर्व जबाबदारी त्याच्यावरच असते; आणि निष्काम कर्मयोगी तर स्वत:ला परमेश्वराच्या आधीन करतो. त्यामुळे त्याला ईश्वर सांभाळतो. परमकल्याणाच्या मार्गावर हे दोन साधक योग्य प्रकारे चालत असतात. परंतु ज्याची जबाबदारी ईश्वर घेतो तो साधक सर्वांत श्रेष्ठ होय, कारण ईश्वराने त्याला स्वीकारलेले असते. त्याच्या लाभहानीचा विचार ईश्वरच करीत असतो. म्हणून कर्मयोगी श्रेष्ठ आहे. यासाठी हे अर्जुना, तू कर्मयोगी बन आणि समर्पणासहित योगाचे आचरण कर.

कर्मयोगी श्रेष्ठ खरा; पण त्यामध्येही जो अन्तरात्म्यामध्ये लीन असतो तो योगी श्रेष्ठ होय.

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः।।४७।।

सर्व निष्काम कर्मयोग्यामध्ये जो श्रद्धाशीलतेने, अंतःकरणापासून अन्तर्चिन्तनातून निरंतर मलाच भजतो तो योगी मला श्रेष्ठ वाटतो. भजन ही काही देखावा करण्याची गोष्ट नाही. अशा भजनाला समाजाने भले माना डोलावल्या तरी ईश्वराचा अशा भजनाला विरोध असतो. भजन हे अत्यंत गोपनीय असते, आणि ते अंतःकरणापासून गायले जात असते. त्याचे कमीजास्त होणे हे अंतःकरणावर अवलंबून असते.

निष्कर्ष–

या अध्यायाच्या आरंभी योगेश्वर श्रीकृष्णांनी सांगितले की कर्मफलाचा आश्रय न घेता '**कार्यम् कर्म**' म्हणजे जो कर्तव्य कर्म करतो तोच खरा संन्यासी होय आणि ते कर्म करणारा योगी आहे. केवळ कर्माचा व अग्निहोत्राचा त्याग केल्याने कोणीही योगी किंवा संन्यासी होत नाही. संकल्पांचा त्याग केल्याशिवाय कोणीही पुरुष संन्यासी अथवा योगी होत नाही. आम्ही इच्छा-अपेक्षा-संकल्प करत नाही असे केवळ म्हणण्याने संकल्प पिण्ड सोडत नाहीत. योगामध्ये आरूढ होऊ इच्छिणाऱ्या पुरुषाने '**कार्यम् कर्म**' कर्तव्य कर्म करता करता योगारूढ होण्याने सर्व संकल्प नष्ट होतात. त्यापूर्वी नष्ट होत नाहीत. सर्व संकल्प नाहीसे होणे यालाच संन्यास म्हणतात.

योगेश्वर श्रीकृष्णांनी सांगितले की, आत्मा अधोगतीला जाऊ शकतो आणि पुन्हा त्याचा उद्धारही होऊ शकतो. जो पुरुष मनासहित इंद्रियांना जिंकतो त्याचा आत्मा त्याचा मित्र बनून त्याचे परमकल्याण करतो. जो इंद्रियांना जिंकू शकत नाही, त्याचा आत्मा त्याचा शत्रू बनून शत्रुसारखा त्याच्याशी वागतो व अनेक यातनांचे तो कारण बनतो. म्हणून मनुष्याने आपल्या आत्म्याला अधोगतीला जाऊ देता कामा नये. मनासहित इंद्रियदमन करून आपणच आपल्या आत्म्याचा उद्धार करावा.

त्यानंतर त्यांनी योग प्राप्त करणाऱ्या योग्याची राहाणी सांगितली आहे – 'यज्ञस्थळी' बसण्याचे आसन व बसण्याची पद्धत सांगताना सांगितले की, यज्ञस्थल शांत व स्वच्छ असावे. रेशमी वस्त्र, मृगाजिन, किंवा दर्भाची चटई यापैकी कोणतेही एक आसन, पसंत करावे. कर्माला अनुरूप असा

आहार, विहार, निद्रा या बाबतीत संयम असावा. योग्याच्या निग्रही चित्ताला त्यांनी निवाऱ्याच्या ठिकाणी स्थिर रहाणाऱ्या दीपकाची उपमा दिली आहे; आणि मग जेव्हा निग्रह केलेल्या मनाचाही परमतत्त्वात विलय होतो त्यासमयी योगी पराकाष्ठेचा परमानंद सुखाचा अनुभव घेतो. संसारातील संयोग व वियोग यांनी रहित असे जे सुख, त्यालाच मोक्ष असे म्हणतात. योग म्हणजे परमार्थाशी मिलन. जो योगी परमार्थाची प्राप्ती करून घेतो तो सर्व भूतमात्रांकडे समदृष्टीने पाहतो. जसा आपला आत्मा तशाच प्रकारे सर्वांच्या आत्म्याकडे तो पाहतो त्याला मग परमोच्च शांती प्राप्त होते व म्हणून योग साधणे आवश्यक आहे. मन जेथे भरकटत जाईल तेथून त्याला निग्रहाने आणून त्याचे नियमन केले पाहिजे. मन हे मोठे चंचल असून त्याला ताब्यात ठेवणे कठीण आहे असे श्रीकृष्णांनी कबूल केले आहे. परंतु अभ्यास आणि वैराग्याने त्याला स्वाधीन करता येते. ज्याचे प्रयत्न शिथिल आहेत असा मनुष्यही अनेक जन्मातील अभ्यासाने परमगती प्राप्त करू शकतो. तपस्वी, ज्ञानमार्गी व कर्मनिष्ठांपेक्षा योगी श्रेष्ठ असतो व म्हणून हे अर्जुना, तू योगी बन. समर्पणाच्या बरोबर अंतर्मनाने योगाचे आचरण कर. प्रस्तुत अध्यायात श्रीकृष्णांनी योगाच्या प्राप्तीसाठी अभ्यासाची नितान्त आवश्यकता आहे. या गोष्टीवर अधिक भर दिला आहे.

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्‌गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे 'अभ्यासयोगो' नाम षष्ठोऽध्यायः।।६।।

याप्रमाणे श्रीमद्‌भगवद्‌गीतारुपी उपनिषदातील ब्रह्मविद्यांतर्गत योगशास्त्रातील श्रीकृष्ण आणि अर्जुन यांच्या संवादातील 'अभ्यास योग' नावाचा सहावा अध्याय समाप्त झाला.

इति श्रीमत्परमहंसपरमानन्दस्य शिष्य स्वामीअड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्भगवद्गीतायाः'यथार्थगीता' भाष्ये 'अभ्यासयोगो' नाम षष्ठोऽध्यायः।।६।।

अशा प्रकारे श्रीमत्परमहंस परमानंदजींचे शिष्य स्वामी अडगडानंदकृत श्रीमद्‌भगवद्‌ गीतेवरील भाष्य यथार्थ गीता यामधील 'अभ्यास योग' या नावाचा सहावा अध्याय समाप्त झाला.

।।हरिः ॐ तत् सत्।।

ॐ

श्री परमात्मने नमः

।। अथ सप्तमोऽध्यायः ।।

अध्याय सातवा

मागील सर्व अध्यायांमध्ये गीतेमधील मुख्य प्रश्नांबद्दलची चर्चा पूर्ण झाली आहे. निष्काम कर्मयोग, ज्ञानयोग, कर्म आणि यज्ञाचे स्वरूप व त्याचे क्रियाविधी, योगाचे वास्तव स्वरूप आणि त्याचा होणारा परिणाम, तसेच अवतार, वर्णसंकर, सनातन, आत्मस्थित महापुरुषाने लोकहितासाठी कर्म करावे यावर भर, युद्ध इत्यादी विषयांवर सविस्तर चर्चा केली गेली आहे. पुढील अध्यायांमध्ये योगेश्वर श्रीकृष्णांनी या विषयांच्या संदर्भात अनेक पूरक असे प्रश्न चर्चेला घेतले आहेत. त्या प्रश्नांची समाधानकारक उत्तरे आराधनेला सहाय्यक होतील.

सहाव्या अध्यायातील शेवटच्या श्लोकात योगेश्वर श्रीकृष्णांनी सांगितले आहे की, जो योगी '**मद्‌गतेनान्तरात्मना**' माझ्या ठिकाणी अंतःकरण ठेवून श्रद्धेने मला निरंतर भजतो तो योगी मला सर्वांत श्रेष्ठ वाटतो. श्रीकृष्णांनी या श्लोकात स्वतःच एका प्रश्नाचे बीजारोपण केले आहे की, परमेश्वराच्या ठिकाणी उत्तम प्रकारे अंतःकरण ठेवणे म्हणजे काय? अनेक योगी परमात्म्याला प्राप्त तर करुन घेतात; पण तरीही त्यांना काही तरी खटकत राहते, कशाची तरी उणीव भासत राहते. यत्किंचितही उणीव राहणार नाही अशी उत्तम अवस्था कधी प्राप्त होईल? परमेश्वराची संपूर्ण ओळख केव्हा होईल? म्हणजेच त्यांचे संपूर्ण ज्ञान कधी प्राप्त होईल? ते कधी प्राप्त होते? यावर योगेश्वर श्रीकृष्ण म्हणतात –

श्रीभगवानुवाच-

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।

असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ।।१।।

हे पार्था, माझ्या ठिकाणी ज्याचे मन आसक्त झाले आहे असा तू '**मदाश्रयः**' माझा आश्रय करून योगाभ्यास करीत कोणत्या प्रकाराने मला पूर्णत्वाने आणि शंका न राहता जाणशील ते ऐक. ते जाणल्यानंतर तुला यत्किंचितही संशय राहणार नाही. यानंतर श्रीकृष्णांनी त्या महान परमात्म्याची–महातत्त्वाची संपूर्ण ओळख–ज्ञान करून दिले आहे.

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ।।२।।

मी हे ज्ञान तुला विज्ञानासहित पूर्णत्वाने सांगेन. स्वरूपज्ञानाच्या प्राप्तिकाळात यज्ञ ज्याची सृष्टी करतो, त्या अमृततत्त्वाबरोबर जे प्राप्त होते, त्याचे नाव ज्ञान आहे. परमतत्त्व परमात्म्याला जाणण्याचे नाव ज्ञान आहे. या महापुरुषाला अफाट विश्वात सर्व ठिकाणी कार्य करण्याचे जे सामर्थ्य प्राप्त झालेले असते, त्याला विज्ञान म्हणतात. तो महाप्रभू एकाच वेळेस सर्वांच्या हृदयात कशा प्रकारे कार्य करीत असेल? तो कशा प्रकारे उठतो? कशा प्रकारे बसतो? प्रकृतीच्या द्वंद्वातून बाहेर काढून स्वरूपप्राप्ती पर्यंतचे अंतर कशा प्रकारे कापून तेथपर्यंत पोहचवतो? या त्याच्या सर्व कार्य प्रणालीचे नाव विज्ञान आहे. हे विज्ञानासहित संपूर्ण ज्ञान मी तुला सांगेन की जे जाणल्यावर (किंवा ऐकल्या नंतर) या लोकी आणखी काही जाणण्यासारखे उरत नाही. परंतु हे ज्ञान प्राप्त करून घेणाऱ्यांची संख्या फार कमी आहे.

मनुष्याणां सहस्त्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ।।३।।

सहस्त्रावधी मनुष्यांमध्ये एखादाच मनुष्य माझ्या प्राप्तीसाठी प्रयत्न करीत असतो आणि त्या प्रयत्न करणाऱ्यांमध्ये एखादाच योगी तत्त्वासहित माझ्या स्वरूपाला जाणतो. परंतु हे तत्त्व कोठे आहे ? एका ठिकाणी ते पिंडरूपाने आहे की सर्वत्र व्यापून राहिलेले आहे ? यावर श्रीकृष्ण म्हणतात –

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ।।४।।

हे अर्जुना, पृथ्वी, आप, तेज, वायू, आकाश, मन, बुद्धी आणि अहंकार अशा आठ प्रकारांनी माझी प्रकृती विभागलेली आहे. हीच अष्टधा मूळ प्रकृती आहे.

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।

जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ।।५।।

हे अर्जुना, 'इयम्' म्हणजे आठ प्रकारची माझी 'अपरा' म्हणजे जड प्रकृती आहे. महाबाहो अर्जुना, जिच्या योगाने हे सर्व जग धारण केले गेले आहे अशी माझी हिच्याहून दुसरी जीवभूता 'परा' प्रकृती म्हणजेच चेतना प्रकृती आहे, असे समज. तोच जीवात्मा आहे. हे आठ प्रकार त्याच्या ठिकाणी असतात व म्हणून तोही प्रकृतीच आहे.

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ।।६।।

अर्जुना, सर्व प्राणिमात्र एतद्योनीनि या महा प्रकृतींपासून म्हणजेच माझ्या परा व अपरा या दोन प्रकृतींपासून उत्पन्न झालेले आहेत, हे तू जाण. या दोन प्रकृती म्हणजे एकमात्र योनी आहेत. म्हणून अखिल जगाचे उत्पत्तिस्थान तसेच विलयस्थान मीच आहे. या सर्व जगाचा आदि व अंत मीच आहे. मीच जगाच्या आदिअंताचे मूळ कारण आहे. जोपर्यंत ही सर्व सृष्टी विद्यमान आहे, तोपर्यत मीच उत्पत्तिस्थान आहे व जेव्हा एखादा महापुरुष या प्रकृतीच्या पलीकडे जातो तेव्हा महाप्रलय मीच आहे.

सृष्टीच्या उत्पत्ती व विलयाच्या प्रश्नाबाबत मनुष्याचे नेहमीच कुतूहल असते. जगातील अनेक शास्त्रांमध्ये याबद्दल विविध गोष्टी प्रचलित आहेत. कोणाच्या मते प्रलयाच्या वेळी सर्व जग त्यात बुडून जाते; तर कोणाच्या मते सूर्य इतका खाली येतो की त्याच्या उष्णतेने अवघी पृथ्वी जळून जाते. कोणी यालाच कल्पांत असे म्हणतात; त्यांच्या मते या दिवशी सर्वांचा निवाडा केला जातो; तर काही जण नित्य प्रलय, नैमित्तिक प्रलय असे प्रलयाचे प्रकार मोजण्यात व्यस्त आहेत. परंतु योगेश्वर श्रीकृष्णाच्या अनुसार प्रकृती अनादि आहे. प्रकृतीमध्ये परिवर्तन होत असते; परंतु ती कधी नष्ट झालेली नाही.

भारतीय धर्मग्रंथांच्या मते मनूने प्रलय पाहिला होता. त्याच्यासह अकरा ऋषींनी एका मोठ्या माशाच्या शिंगाला नाव बांधून त्यातून ते हिमालयाच्या एका उत्तुंग शिखरावर गेले होते व तेथे प्रलय ओसरेपर्यंत ते राहिले होते; असे त्या धर्मग्रंथात म्हंटले आहे. श्रीकृष्णांचे उपदेश व त्यांच्या जीवनसंबंधी ज्यामध्ये वर्णन आहे त्या भागवतामध्ये मृकण्डु मुनींचे पुत्र मारकण्डेय यांनी प्रत्यक्ष पाहिलेल्या प्रलयाचे वर्णन दिलेले आहे. ते हिमालयाच्या उत्तरेस पुष्पभद्रा नदीच्या किनारी राहत होते.

भागवताच्या बाराव्या स्कंधातील आठव्या व नवव्या अध्यायात शौनकादि ऋषींनी सूतजीना विचारले आहे की, मार्कण्डेय मुनींनी महाप्रलयामध्ये वडाच्या एका पानावर बाल मुकुंदाचे दर्शन घेतले होते असे म्हटले जाते; पण ते तर आमच्याच वंशातील होते व आमच्यापेक्षा काही वर्षच ते आधी होऊन गेलेले आहेत. त्यांच्या जन्मानंतर ना प्रलय झाला आहे ना सृष्टी डुबली आहे. सर्व काही यथास्थित आहे. मग त्यांनी कोणता प्रलय पाहिला?

यावर सूतजींनी सांगितले की मार्कण्डेय मुनींच्या प्रार्थनेने प्रसन्न होऊन नरनारायणाने त्यांना दर्शन दिले. तेव्हा मार्कण्डेय मुनींनी भगवंताला प्रार्थना केली की आपली ती माया मी पाहू इच्छित आहे की जिच्यामुळे प्रेरित होऊन हा आत्मा अनंतः योनींमध्ये भ्रमण करीत राहतो. भगवंताने ते कबूल केले व एक दिवस जेव्हा मार्कण्डेय आपल्या आश्रमात भगवतचिंतनात तन्मय झाले होते तेव्हा त्यांना दिसले की, चारी बाजूंनी समुद्र उफाळत होता. त्यात मोठ मोठ्या 'मगरी' दिसत होत्या. स्वतः मार्कण्डेय त्या क्रोधित मगरींच्या कचाट्यात सापडले होते व आपला जीव वाचवण्यासाठी इकडे तिकडे धावत होते. आकाश, सूर्य, पृथ्वी, चंद्र, स्वर्ग, ज्योतिष-मंडल हे सर्व त्या समुद्रात बुडून गेले. इतक्यात मार्कण्डेय मुनींना एक वडाचे झाड आणि त्याच्या पानावर बाल मुकुंदाचे दर्शन झाले. नंतर त्याच्या श्वासाबरोबर मार्कण्डेय मुनी त्याच्या पोटात गेले आणि आपला आश्रम, सूर्यमंडलासहित सृष्टी सजीव झालेली तेथे दिसली. त्यानंतर त्याच्या श्वासाबरोबर ते त्या शिशुच्या उदरातून बाहेर आले. त्यांनी जेव्हा डोळे उघडले तेव्हा मार्कण्डेय मुनींनी स्वतःला आश्रमात आसनावर बसलेल्या अवस्थेत पाहिले.

याचा अर्थ अनेक वर्षांच्या तपस्येनंतर मार्कण्डेय मुनींनी ते ईश्वरीय दृश्य आपल्या हृदयात पाहिले, त्याचा अनुभव घेतला. त्यावेळी बाह्य जग मात्र तसेच्यातसे – यथास्थित होते. तेव्हा प्रलय म्हणजे योग्याच्या हृदयात ईश्वराशी मीलन घडवून आणणारी एक दिव्य अनुभूती आहे. आराधनेच्या पूर्तीकाळात योग्याच्या हृदयात संसाराचा प्रवाह नाहिसा होतो व अव्यक्त परमात्मा तेथे प्रकट होतो. हाच प्रलय होय. म्हणजे प्रलय हा बाहेर असत नाही. तर शरीराच्या आत वसत असणाऱ्या हृदयात तो असतो. हा प्रलय म्हणजे अद्वैताची अनिर्वचनीय स्थिती आहे. ही एक क्रियाशील अनुभूती आहे. केवळ बुद्धीने निर्णय घेणारे भ्रम निर्माण करतात. मग तेथे आम्ही असो की तुम्ही! तेथे भ्रमच निर्माण होतो.

हीच गोष्ट पुढे स्पष्ट करताना श्रीकृष्ण म्हणतात –

मत्तः परतरं नान्यकिञ्चिदस्ति धनंजय ।

मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।।७।।

हे धनंजया, माझ्याहून वेगळे असे दुसरे काही नाही. हे सर्व जग दोऱ्यात ओविलेल्या मण्यांप्रमाणे माझ्या ठायी ओविलेले आहे. हे खरे असले तरी त्याला जाणायचे कधी? या अध्यायाच्या पहिल्या श्लोकानुसार जेव्हा साधक अनन्य भक्तीने युक्त होऊन माझ्या, भगवंताच्या ठिकाणी परायण होतो, आसक्त होतो तेव्हाच ईश्वराचे दर्शन घडते. योगामध्ये आसक्त झाले पाहिजे, त्याशिवाय ईश्वराचे दर्शन अप्राप्य आहे.

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशि-सूर्ययोः ।

प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ।।८।।

हे धनंजया, उदकातील रस मी आहे. चंद्र-सूर्यांमधील प्रभा मी आहे, सर्व वेदांमधील ओंकार मी आहे, (ओ + अहं + कार) स्वतःचा आकार मी आहे, आकाशातील शब्द आणि पुरुषामधील पौरुष-पराक्रम मीच आहे.

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चामि विभावसौ ।

जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चामि तपस्विषु ।।९।।

पृथ्वीतील पवित्र गंध आणि अग्नीमधील तेज मी आहे. सर्व प्राणिमात्रांचे जीवन आणि तपस्व्यांचे तप मी आहे.

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।।१०।।

हे पार्था, सर्व प्राणिमात्रांचे शाश्वत व अनादि बीज-कारण मीच आहे, असे जाण. बुध्दिमंतांची बुद्धी मी आहे व तेजस्वी लोकांचे तेजही मीच आहे. याच क्रमात ते पुढे सांगत आहेत.

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।।११।।

काम आणि राग (आसक्ती) या दोहोंनी विरहित असे बलवंताचे बल मी आहे. या जगात अनेक जण बलवान बनत असतात. कोणी दंड-बैठका काढतात, कोणी परमाणू जमवतात परंतु श्रीकृष्ण म्हणतात, काम आणि राग यांनी विरहित असलेले, त्यांच्या पलीकडे असणारे बल मी आहे आणि तेच वास्तव बल आहे. सर्व प्राणिमात्रांच्या ठिकाणी धर्माला अनुसरून असणारा काम मी आहे. परब्रह्म परमात्माच एकमेव धर्म आहे. त्याने अखिल विश्व धारण केलेले आहे. तोच शाश्वत आत्मा आहे, तोच धर्म आहे. त्या धर्माच्या विरुद्ध न जाणारी जी इच्छा ती मी आहे. तोच धर्म आहे. पुढे श्रीकृष्ण अजुर्नाला म्हणाले की, हे अर्जुना, माझ्या प्राप्तीची तू इच्छा कर. एरव्ही साधकाला सर्व कामना वर्ज्य आहेत; परंतु परमात्म्याला प्राप्त करून घेण्याची इच्छा अत्यंत आवश्यक आहे, अन्यथा तुम्ही कर्मयोगामध्ये प्रवृत्तच होणार नाही. ही इच्छादेखील माझीच देणगी आहे.

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि।।१२।।

तसाच तो सत्त्वगुणापासून उत्पन्न झालेला भाव आहे, तसेच रजोगुण व तमोगुणापासून उत्पन्न झालेला भाव आहे ते सर्व भाव माझ्यापासून उत्पन्न झाले आहेत, असे तू जाण. परंतु मी त्यांच्यात किंवा ते माझ्यात नाहीत, कारण ना मी त्यांच्यामध्ये गुंतलो गेलो आहे, ना ते भाव माझ्या ठिकाणी! ते माझ्या ठिकाणी प्रवेश करु शकत नाहीत, कारण मला कर्माची स्पृहा-इच्छा कधीच नसते व ते भावही माझ्या ठिकाणी प्रवेश करू शकत नाहीत. मी

निर्लेप आहे. मला त्यांच्याकडून काहीही प्राप्त करावयाचे नाही व म्हणून ते माझ्या ठिकाणी प्रवेश करू शकत नाहीत.

ज्याप्रमाणे शरीरात आत्मा असेल तरच शरीराला तहान-भूक लागत असते; परंतु आत्म्याला अन्न अथवा जलाचे काहीच प्रयोजन नसते. त्याच प्रकारे प्रकृती परमात्म्याच्या उपस्थितीतच आपले कार्य करु शकते; परंतु परमात्मा तिच्या गुणांपासून, कार्यापासून अलिप्त असतो.

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ।।१३।।

सत्त्व, रज आणि तम या त्रिगुणात्मक भावांनी, मायेने, या जगाला भुरळ पाडली आहे. त्यामुळे या तीन गुणांच्या पलीकडे असणारा निर्गुण व अविनाशी असो जो मी, त्याला लोक जाणत नाहीत. मी या तीन गुणांच्या पलीकडे असणारा आहे. त्यामुळे या गुणांपैकी अंशमात्रही गुण शिल्लक असेल, वसत असेल तर तो साधक मला जाणत नाही. त्याला माझ्याप्रत येण्यासाठी अजून मार्ग आक्रमावा लागणार आहे. तो अजून परमात्ममार्गावरील पथिक आहे.

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ।।१४।।

ही माझी त्रिगुणातीत अद्‌भुत अशी माया पार करणे अत्यंत दुस्तर आहे, अत्यंत कठीण आहे. परंतु जे साधक मला निरंतर भजतात, मला शरण येतात, तेच ह्या मायेला पार करू शकतात, तेच ह्या मायेला तरून जातात. ही माया दैवी असली तरी अगरबत्ती लावून तिची पूजा करत बसू नका. तिला पार करण्याचा प्रयत्न करा.

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ।।१५।।

जे मला निरंतर भजतात, तेच मला जाणत असतात. परंतु तरीही लोक मला शरण येत नाहीत. मायेमुळे ज्यांचे ज्ञान नष्ट झाले आहे, त्यामुळे ज्यांनी आसुरी मार्गाचा अवलंब केला आहे असे अधम, कामक्रोधांनी युक्त असणारे मूढ लोक मला भजत नाहीत. मग मला कोण भजते ?

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ।।१६।।

हे भरत श्रेष्ठ अर्जुना, '**सुकृतिनः**' नियत कर्म करणारे (ज्यामुळे श्रेयाची प्राप्ती होते), **अर्थार्थी** म्हणजे द्रव्याची इच्छा करणारे, **आर्तः** म्हणजे दुःखापासून मुक्त होण्याची इच्छा करणारे '**जिज्ञासू**' म्हणजे परमेश्वराला जाणण्याची इच्छा करणारे आणि '**ज्ञानी**' म्हणजे ज्यांना ब्रह्मज्ञान प्राप्त झाले आहे असे चार प्रकारचे भक्तजन मला भजतात.

'अर्थ ' म्हणजे द्रव्य ही अशी वस्तू आहे की ज्यामुळे आमच्या शरीराच्या किंवा तत्संबंधी गोष्टींची-गरजांची पूर्ती होत असते. त्यामुळे द्रव्याची इच्छा प्रथम ईश्वराकडूनच पूर्ण होत असते. श्रीकृष्ण म्हणतात की मीच ही इच्छा पूर्ण करतो. परंतु एवढाच त्याचा वास्तविक 'अर्थ ' नाही. आत्मिक संपत्ती ही स्थिर संपत्ती आहे- हा त्याचा अर्थ आहे.

सांसारिक 'अर्था ' ची पूर्ती करीत करीत भगवंत भक्ताला आत्मिक संपत्तीकडे आकर्षित करतात. कारण त्यांना माहित आहे की केवळ ह्या बाह्य संपत्तीने माझा भक्त सुखी होणार नाही व म्हणून ते त्याचे मन आत्मिक संपत्तीकडे लावून देतात. आपल्या भक्ताच्या सुखासाठी अशा प्रकारे भगवंत त्याला आत्मिक संपत्तीही देतात. '**लोक लाहु परलोक निबाहू**' या लोकी लाभ आणि परलोकात निर्वाह या दोन्ही गोष्टी भगवंताच्या आहेत. भगवंत आपल्या भक्ताला कधीही रिक्त ठेवीत नाहीत.

'आर्त ' म्हणजे जे दुःखी आहेत ते. ते दुःखापासून मुक्ती मिळवण्यासाठी भगवंताला भजतातच. तिसरा 'जिज्ञासू '! माझे स्वरूप समग्रपणे जाणण्याची इच्छा करणारा तो जिज्ञासू मला भजतो; आणि ज्यांची साधना परिपक्व झालेली आहे, ज्यांनी भगवंताचे प्रत्यक्ष दर्शन घेऊन आत्मज्ञान प्राप्त केले ते ज्ञानीही मला भजतात. अशा प्रकारे चार प्रकारचे लोक मला भजत असतात. त्यामध्ये ज्ञानी श्रेष्ठ आहे. अर्थात ज्ञानी पण माझा भक्तच असतो.

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ।।१७।।

अरे अर्जुना, त्या चार भक्तांमध्ये जो नित्य माझ्यामध्ये स्थित असतो, जो मद्रूप होऊन माझी अनन्य भक्ती करतो तो ज्ञानी अत्यंत श्रेष्ठ आहे. कारण साक्षात्कारामुळे माझे स्वरूप तो जाणत असल्याने त्या ज्ञानी भक्ताला मी अत्यंत प्रिय असतो आणि मलाही तो अत्यंत प्रिय असतो. तो ज्ञानी म्हणजे माझेच स्वरूप आहे.

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितंः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ।।१८।।

वास्तविक चारी प्रकारचे भक्त उत्कृष्ट आहेत. ते उदार आहेत (त्यांनी कोणती उदारता दाखवली? भगवंताची भक्ती केल्याने भगवंताला काही प्राप्त होते का? की भगवंतामध्ये काही उणीव आहे, जी या भक्तांनी पूर्ण केली ? नाही. उदारचा असा अर्थ नाही. तर आपल्या आत्म्याला अधोगतीला जाऊ न देता त्याचा विकास करण्यात, त्याचा उद्धार करण्यात जे अग्रेसर असतात, ते. या अर्थाने इथे त्या चार भक्तांना उदार म्हंटले आहे). परंतु ज्ञानी तर केवळ माझेच स्वरूप आहे, तो माझा आत्माच आहे, असे मला वाटते. कारण स्थिरबुद्धी असणारा तो सर्वोत्तम, गतिस्वरूप अशा माझ्यामध्ये स्थिर झालेला आहे. अर्थात तो ज्ञानी म्हणजे मीच आहे व तो माझ्यामध्ये आहे. माझ्यात व त्याच्यात काहीही अंतर नाही. यावरच भर देत ते पुढे म्हणतात –

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ।।१९।।

अभ्यास करता करता अनेक जन्मांच्या शेवटच्या जन्मामध्ये म्हणजे ज्या जीवनात ईश्वराची प्राप्ती होणार असते त्या जन्मात ईश्वराचा साक्षात्कार झाल्यानंतर 'हे सर्व विश्व वासुदेव होय' असे ज्ञान प्राप्त होऊन तो ज्ञानी माझी उपासना करतो, तो मला येऊन मिळतो. तथापि असे जाणणारा महात्मा दुर्लभ आहे. हा ज्ञानी वासुदेवाचा फोटो करून किंवा मूर्ती बनवून तिची उपासना करीत नाही तर तो वासुदेवाला स्वतःच्या हृदयात पाहत असतो व त्याला भजत असतो. अशा या ज्ञानी महात्म्याला श्रीकृष्ण तत्त्वदर्शी असेही म्हणतात. अशा महापुरूषांमुळेच समाजाचे कल्याण होते. अशा प्रकारचे तत्त्वदर्शी महापुरूष अत्यंत दुर्लभ असतात, असे श्रीकृष्ण म्हणतात.

जेव्हा श्रेय व प्रेय म्हणजे मुक्ती आणि भोग दोन्ही परमेश्वराला मिळतात, तेव्हा सर्वांनी खरोखर भगवंताचे भजन केले पाहिजे. त्याची उपासना केली पाहिजे. परंतु लोक तसे करीत नाहीत. असे का? श्रीकृष्ण म्हणतात –

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।

तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ।।२०।।

तो तत्त्वदर्शी महात्मा अथवा परमात्माच सर्व काही आहे ही गोष्ट लोक समजू शकत नाहीत. कारण वासनांच्या अभिलाषेमुळे त्यांची विवेकबुद्धी नष्ट झालेली आहे. त्यामुळे आपल्या जन्मजात प्रकृतीप्रमाणे म्हणजेच जन्म-जन्मांतरीच्या संस्कारांमुळे प्राप्त झालेल्या स्वभावाप्रमाणे माझ्याहून अन्य अशा देवतांचा आणि त्यांच्यासाठी प्रचलित असणाऱ्या नियमांचा –व्रतांचा ते आश्रय घेतात.

या श्लोकात अन्य देवतांबद्दल प्रथमच उल्लेख आलेला आहे.

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।

तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ।।२१।।

सकाम हेतूने उपासना करणारा जो जो भक्त ज्या ज्या देवतेची श्रद्धापूर्वक उपासना करू इच्छितो, त्या त्या भक्ताची त्या त्या देवतेवरील श्रद्धा मी स्थिर करतो. मीच स्थिर करतो कारण देवता नावाची दुसरी कोणती वस्तू असती तर तिनेच भक्ताची श्रद्धा स्थिर केली असती. परंतु त्या देवतांविषयी भक्तांची भिन्न भिन्न समजूत असते. सर्व देवदेवतांमध्ये मीच भरलेला असतो, ही गोष्ट त्या भक्तांनी जाणलेली नसते.

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।

लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ।।२२।।

तो पुरुष श्रद्धेने युक्त होऊन त्या देवतेची उपासना करतो आणि त्या देवतेच्या माध्यमातून मग मीच निर्माण केलेली फळ त्याला प्राप्त होतात. ते इच्छित फळ त्यांना कोण देते? मीच देत असतो. आणि ते त्यांच्या श्रध्देचे फळ असते. ते कोणत्याही देवतेने दिलेली भेट किंवा फळ नसते. अर्थात तो

कोणत्याही देवतेला भजून इच्छिलेले फळ तर प्राप्त करुन घेतो. मग त्यात वाईट काय आहे? यावर श्रीकृष्ण म्हणतात –

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ।।२३।।

परंतु त्या अल्पबुध्दी असणाऱ्या लोकांना मिळणारे फळ हे अल्प काळ टिकणारे, म्हणजे नाशवंत असते. आज ते फळ आहे; पण ते भोगता भोगता नष्ट होते म्हणून ते नाशवंत आहे. जे लोक देवतांची उपासना करतात ते त्या देवतांप्रत पोहचतात; तथापि या देवतांही नाशवंत असतात. अर्जुना, या देवतांसह यावन्मात्र जग परिवर्तनशील व मर्त्य आहे. तथापि परमतत्त्व मात्र शाश्वत तत्त्व आहे. जे भक्त मला भजतात, ते मजप्रत येतात म्हणजेच परमतत्त्व प्राप्त करतात जे अव्यक्त आहे, '**नैष्ठिकीम परमशान्ति**' ते प्राप्त करतात.

तिसऱ्या अध्यायात योगेश्वर श्रीकृष्णांनी सांगितले की, या यज्ञाद्वारा तुम्ही देवतांची म्हणजेच दैवी संपदेची उन्नती करा. जसजशी दैवी संपदेची उन्नती होईल, तसतशी तुमचीही उन्नती होईल, क्रमशः उन्नती करत करत परम श्रेयाची प्राप्ती करून घ्या. इथे देवता त्या दैवी सम्पदेचा समूह आहे की, जिच्यापासून परमदेव परमात्म्याचे देवत्त्व प्राप्त केले जाते. दैवी संपदा मोक्षासाठी असते. या संपदेच्या चोवीस लक्षणांचे निरूपण गीतेतील सोळाव्या अध्यायात केलेले आहे.

हृदयाच्या अंतरंगातील परमदेव परमात्म्याचे देवत्त्व प्राप्त करुन देणाऱ्या सद्‌गुणाचे नाव 'देवता' असे आहे. म्हणजे 'देवता' या अंतरंगात वास करणाऱ्या असतात, परंतु कालांतराने लोकांनी आतील वस्तूचे बाहेर प्रदर्शन करण्यास सुरुवात केली. देवतांच्या मूर्ती बनवल्या, कर्मकांड रचले आणि वास्तवतेपासून दूर उभे राहिले. श्रीकृष्णांनी वरील चार श्लोकांमध्ये या भ्रांतीचे निराकरण केले आहे. भ्रमनिरास केला आहे. गीतेमध्ये पहिल्यांदा 'अन्य देवतांचा' उल्लेख करुन त्यांनी सांगितले की, देवतांचे बाह्य अस्तित्व असतच नाही. लोकांची श्रध्दा जिकडे झुकते तिथे मी उभा राहतो आणि त्यांची श्रध्दा दृढ करुन मीच त्यांच्या श्रध्देचे फळ त्यांना देतो. ते फलही अल्पकाळ टिकणारेच

असते. त्यामुळे अल्पकाळात फळ नष्ट होते, देवता नष्ट होतात आणि त्या देवतांची उपासना करणारा ही नष्ट होतो. ज्यांचा विवेक भ्रष्ट झाला आहे, ते मूढबुद्धीचे लोकच अन्य देवतांची पूजा करतात. श्रीकृष्ण नवव्या अध्यायात तर म्हणतात की, अन्य देवतांचे पूजन करणे हेच अयोग्य आहे. (९/२३)

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ।।२४।।

देवतांचे बाह्य जगतात कोठे अस्तित्व नसताना देवतांच्या नावावर जे फळ मिळते ते नाशवंत असते. तरीही सर्व लोक माझी उपासना करीत नाहीत. कारण बुद्धिहीन पुरुष (वासनांच्या अभिलाषेमुळे ज्यांचे ज्ञान भ्रष्ट झाले आहे असे लोक) सर्वोत्तम, अविनाशी आणि परमप्रभावी अशा मला चांगल्या प्रकारे जाणत नाहीत. त्यामुळे अव्यक्त दशेतून व्यक्त अशा स्वरुपात मी प्रकट झालो आहे असे ते समजतात. अर्थात श्रीकृष्णही मनुष्य म्हणजे शरीरधारी योगी होते. योगेश्वर होते. जे स्वतः योगी आहेत आणि दुसऱ्यांना योगप्रदान करण्याची क्षमता ज्यांच्यात आहे, त्यांना योगेश्वर म्हणतात. योग्य प्रकारे साधना करीत स्वतःचा क्रमशः विकास करीत करीत, महापुरुषही त्या परमभावामध्ये स्थिर होतात. तरी देखील वासनांनी विवश झालेले मंद बुद्धीचे लोक त्याला सामान्य समजतात. त्यांना असे वाटते की, माझ्याप्रमाणे तर तो जन्माला आला आहे, मग तो भगवान कसा असू शकेल? अर्थात, त्या बिचाऱ्यांचा काय दोष? डोळे उघडताच शरीर तर दिसते. परंतु ते महापुरुषांचे बाह्य स्वरूप पाहतात. ते त्याचे वास्तविक स्वरूप का पाहू शकत नाहीत? यावर योगेश्वर श्रीकृष्ण म्हणतात.

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ।।२५।।

ज्या मायेमुळे परमात्मा झाकला गेला आहे, ती माया सामान्य मनुष्याला पडद्याप्रमाणे असते. सामान्य मनुष्य तिलाच योग-साधना समजून तीमध्ये प्रवृत्त होतो. यानंतर योगमायेचे म्हणजे योगक्रियेचेही एक आवरण असते. योगाचे अनुष्ठान करत करत साधकाला जेव्हा योगरूढता प्राप्त होते, तेव्हा

मायेने झाकला गेलेल्या त्या परमात्म्याला तो जाणतो. योगेश्वर म्हणतात की मी आपल्या योगमायेने झाकलेलो आहे. ज्यांनी योगरुढता प्राप्त केली आहे असे योगीच मला यथार्थपणे पाहू शकतात. मी सर्वांना दिसू शकत नाही व म्हणूनच अज्ञानी मनुष्य जन्मरहित (ज्याला जन्म घ्यायचा नसतो), अविनाशी (ज्याचा नाश होत नाही), अव्यक्त (ज्याला पुन्हा व्यक्त व्हायचे नसते) असे मला जाणत नाही. अर्जुन सुध्दा श्रीकृष्णाला आपल्याप्रमाणेच मनुष्य समजत होता; परंतु जेव्हा श्रीकृष्णांनी त्याला दिव्य दृष्टी दिली तेव्हा तो प्रार्थना करू लागला, क्षमेची याचना करू लागला, करुणा भाकू लागला; खरोखर आमच्या डोळयावर मायेचे झापड असल्याने, मायेमुळे आम्ही आंधळे बनल्यामुळे अव्यक्त अशा महापुरुषाला आम्ही ओळखू शकत नाही. श्रीकृष्ण पुढे म्हणतात –

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ।।२६।।

हे अर्जुना, मागे होऊन गेलेल्या, सध्या असलेल्या व पुढे होणाऱ्या सर्व प्राण्यांना मी जाणतो; पण मला कोणी जाणत नाही. मला का जाणू शकत नाही?

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वद्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ।।२७।।

भरतवंशी अर्जुना, इच्छा आणि द्वेषामुळे म्हणजेच रागद्वेषादि द्वन्द्वरूपी मोहामुळे या जगातील सर्व प्राणी मोहवश होतात; त्यामुळे ते मला जाणत नाहीत. तर मग मला कोणीच जाणू शकणार नाही का ? यावर योगेश्वर श्रीकृष्ण म्हणतात.

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ।।२८।।

परंतु पुण्यकर्म (जो संस्कारांचा अंत करणारा आहे, ज्याचे नाव कार्यम् कर्म, नियत कर्म, यज्ञप्रक्रिया असे आहे असे कर्म) करणाऱ्या ज्या भक्तांचे पाप नष्ट झालेले असते, असे ते रागद्वेषादि द्वन्द्वरूपी मोहातून मुक्त होऊन,

दृढव्रत होऊन माझी उपासना करतात. ते माझी उपासना कशासाठी व का करतात?

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्।।२९।।

जे माझा आश्रय करुन जरा व मरण यांच्यापासून मुक्त होण्याकरता प्रयत्न करतात, ते त्या परब्रह्माला, संपूर्ण अध्यात्माला व संपूर्ण कर्माला जाणतात. तसेच –

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः।।३०।।

जे अधिभूतासह, अधिदैवतासह आणि अधियज्ञासह सर्व मीच आहे अशा प्रकारे मला जाणतात, ते माझ्या ठिकाणी युक्तचित असणारे पुरुष अंतकाळीदेखील मला जाणतात. माझ्या ठिकाणी स्थित असतात व ते सदैव माझ्या स्वरूपाशी एकरूप झालेले असतात. सव्विसाव्या व सत्ताविसाव्या श्लोकात त्यांनी सांगितले की, मोहग्रस्त असल्यामुळे कोणी मला जाणत नाही. परंतु त्या मोहातून मुक्त होण्यासाठी प्रयत्न करतात ते १) संपूर्ण ब्रह्म, २) संपूर्ण अध्यात्म, ३) संपूर्ण कर्म, ४) संपूर्ण अधिभूत, ५) संपूर्ण अधिदैव व ६) संपूर्ण अधियज्ञासह मला जाणतात. अर्थात या सर्वांचा परिणाम मी (सद्‌गुरू) आहे. तेव्हा असा योगारूढ झालेला योगीच माझे स्वरूप जाणतो. कोणीच जाणत नाही असे नाही.

निष्कर्ष–

या सातव्या अध्यायात योगेश्वर श्रीकृष्णांनी सांगितले की, जो अनन्य भावाने माझ्या ठिकाणी स्वतःला समर्पित करुन, माझा आश्रय घेऊन जो योगसाधना करतो, तो समग्रपणे माझे स्वरुप जाणतो. हजारोंमध्ये कोणी एखादाच मला जाणण्याचा प्रयत्न करतो व प्रयत्न करणाऱ्यांमध्ये कोणी एखादाच मला जाणतो. तो मला पिण्डरुपाने एकाच ठिकाणी नाही, परंतु सर्वत्र व्यापून राहिलेला असा पाहतो. माझी ही जड प्रकृती आठ प्रकारांत विभागली गेलेली आहे आणि तिच्या अंतरंगात माझी जीवनरुप चेतना प्रकृती आहे. या दोहोंच्या

संयोगाने सर्व सृष्टी–जगत निर्माण झालेले आहे. तेज आणि पराक्रम माझ्यामुळेच आहे. वासना व आसक्तिरहित बल व धर्माला अनुसरुन असणारा काम मीच आहे. साधकाला सर्व कामना वर्ज्य असल्या तरी माझ्या प्राप्तीची तू कामना कर. मनात अशा प्रकारची इच्छा निर्माण होणे हा माझाच प्रसाद आहे असे समज. परमेश्वराला प्राप्त करून घेण्याची कामना ही 'धर्मानुकूल कामना' आहे, असे समज.

श्रीकृष्णांनी येथे सांगितले की, मी तीन गुणांच्या अतीत आहे. परमतत्त्वाला स्पर्श करून परमभावामध्ये मी स्थित आहे. परंतु भोगासक्त मूढ पुरुष सरळ माझी भक्ती न करता अन्य देवतांची उपासना करतात. वास्तविक ह्या देवता अस्तित्वात नाहीत. कोणी दगड, पाणी, वृक्ष किंवा इतर कोणत्याही गोष्टीची जर श्रध्दापूर्वक पूजा करू इच्छित असतील तर त्यांची श्रध्दा मीच दृढ करतो आणि मग मीच त्यांच्या (देवतांच्या) रूपाने फल देत असतो. कारण देवता अस्तित्वातच नाहीत. तसेच त्यांच्याजवळ कसले फळही द्यायला नाही. मी मायेच्या आवरणाने झाकलेला असल्याने लोक माझे मूळ स्वरूप पाहू शकत नाहीत. त्यांच्या दृष्टीने मी एक सामान्य मनुष्य आहे व म्हणून ते माझी आराधना करीत नाहीत. सातत्याने अनुष्ठान करणारेच योगमायेचे आवरण दूर करून शरीरधारी अशा माझे अव्यक्त स्वरुप जाणतात.

माझे भक्त चार प्रकारचे असतात – अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासू आणि ज्ञानी! अनेक जन्मांपासून सातत्याने चिंतन करत करत शेवटच्या जन्मात ईश्वराची प्राप्ती करून घेणारा ज्ञानी म्हणजे माझेच स्वरुप आहे, असे तू जाण. म्हणजेच अनेक जन्मांपासून भगवंताचे सातत्याने श्रध्दापूर्वक चिंतन करणारे परमेश्वराप्रत जातात. राग, द्वेष व मोहयुक्त मनुष्य मला कधीही जाणू शकत नाही. परंतु राग, द्वेष व मोहरहित होऊन जो नियतकर्माचे (ज्याला थोडक्यात आराधना म्हणता येईल) चिंतन करीत जरा मरणापासून मुक्त होण्याचा प्रयत्न करतात, ते लोक माझे समग्र स्वरूप जाणतात. ते संपूर्ण ब्रह्म, संपूर्ण अध्यात्म, संपूर्ण अधिदैव, संपूर्ण कर्म आणि संपूर्ण यज्ञासहित मला जाणतात. असे ते मला समग्रपण जाणणारे योगी माझ्यामध्ये प्रवेश करतात आणि त्यांच्या अंतकाळीही ते मलाच जाणतात. त्यानंतर त्यांना माझे विस्मरण कधीच होत नाही.

या प्रकारे या अध्यायामध्ये परमात्म्याच्या समग्र स्वरुपाचे स्पष्टीकरण केले आहे. समग्र स्वरूपाची येथे ओळख करुन देण्यात आली आहे.

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्‌गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे 'समग्र बोधः' नाम सप्तमोऽध्यायः ।।७।।

याप्रमाणे श्रीमद्‌भगवद्‌गीतारूपी उपनिषदातील ब्रह्मविद्यांतर्गत योगशास्त्रातील श्रीकृष्ण आणि अर्जुन यांच्या संवादातील 'समग्र स्वरूपबोध' नावाचा सातवा अध्याय समाप्त झाला.

इति श्रीमत्परमहंस परमानन्दस्य शिष्य स्वामी अड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्‌भगवद्‌गीतायाः 'यथार्थगीता' भाष्ये 'समग्रबोधः' नाम सप्तमोऽध्यायः ।।७।।

अशा प्रकारे श्रीमत्परमहंस परमानन्दजींचे शिष्य स्वामी अड़गडानन्दकृत श्रीमद्‌भगवद्‌गीतेवरील भाष्य 'यथार्थ गीता' यामधील 'समग्र स्वरुपबोध' नावाचा सातवा अध्याय समाप्त झाला.

।।हरि ॐ तत्सत्।।

ॐ

श्री परमात्मने नमः

।। अथ अष्टमोऽध्यायः ।।

अध्याय आठवा

सातव्या अध्यायात योगेश्वर श्रीकृष्णांनी सांगितले की, पुण्यकर्म (नियतकर्म, आराधना) करणारा योगी सर्व पापांपासून मुक्त होऊन अखिल जगतात व्यापून असणाऱ्या ब्रह्माला जाणतो. म्हणजे पुण्यकर्म हे व्यापक ब्रह्माचा साक्षात्कार करून देणारे अमोघ साधन आहे. ते पुण्यकर्म करणारा योगी जगात व्यापून राहिलेल्या ब्रह्माला, संपूर्ण कर्माला, संपूर्ण अध्यात्माला, संपूर्ण अधिदैवाला, तसेच अधिभूत आणि अधियज्ञासहित मला जाणत असतो. तेव्हा कर्म म्हणजे या सर्वांचा परिचय करून देणारी एक उपयुक्त वस्तू आहे. असे पुण्यकर्म करणारे त्यांच्या अंतकाळीही मलाच जाणतात. माझे त्यांना कधी विस्मरण होत नाही.

या अध्यायामध्ये प्रारंभीच अर्जुनाने तेच शब्द घेऊन भगवंताला प्रश्न केला.

अर्जुन उवाच-

किं तद् ब्रह्मकिमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।

अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ।।१।।

हे पुरुषोत्तमा, ब्रह्म म्हणजे काय? अध्यात्म कशाला म्हणतात? कर्म म्हणजे काय? अधिभूत आणि अधिदैव कशाला म्हंटले जाते?

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।

प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ।।२।।

हे मधुसूदना, अधियज्ञ तो कोणता आणि तो या देहात कसा आहे? अधियज्ञ म्हणजे यज्ञाचा अधिष्ठाता असा कोणी पुरुष आहे, जो मनुष्य

शरीरधारी महापुरुष आहे. अर्जुन पुढे म्हणतो की, समाहित चित्त असणारे म्हणजे मनोनिग्रही पुरुष अंतकाळी तुला कशा प्रकारे जाणतात? या सातही प्रश्नांचे क्रमाने उत्तर देण्यासाठी योगेश्वर श्रीकृष्ण म्हणाले–

श्रीभगवानुवाच-

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ।।३।।

'अक्षरं ब्रह्म परंम' - जे अक्षय आहे, ज्याचा क्षय होत नाही असे अविनाशी आदितत्त्व म्हणजे परब्रह्म होय. **'स्वभावः अध्यात्मम् उच्यते'**- स्वतःमध्ये स्थिर भाव असतो म्हणजे जेथे आत्म्याचे अधिपत्य असते त्याला अध्यात्म असे म्हंटले जाते. या आधी सर्व मायेच्या अधिपत्याखाली असतात, परंतु जेव्हा 'स्व'-भाव म्हणजेच सहज स्वरूपस्थिती (स्वतःमध्ये स्थिरभाव निर्माण होणे) प्राप्त होते, म्हणजे आत्म्याचे अधिपत्य त्यात प्रवाहित होते, त्याला अध्यात्म असे म्हटले जाते. हीच अध्यात्माची परमोच्च अवस्था आहे. **'भूतभावोद्भवकरः'** निराकार शुद्ध ब्रह्माच्या ठिकाणी भूतभेदाने काही ना काही निर्माण होते. अर्थात प्राणिमात्रांचे चांगले अथवा वाईट संस्कार निर्माण होतात, त्यांचे विसर्जन होते म्हणजे ते नष्ट होतात. हीच कर्माची परमोच्च अवस्था आहे. हेच संपूर्ण कर्म होय. ज्याविषयी योगेश्वर म्हणाले होते– 'तो योगी संपूर्ण कर्माला जाणत असतो' – तेथे कर्म पूर्ण झालेले आहे. पुढे कर्म करण्याची काही आवश्यकताच नाही. या अवस्थेमध्ये प्राणिमात्रांचे निर्माण झालेले भाव, चांगल्या वाईट संस्कारांचे संग्रह ते सर्व संपून जाते. हेच संपूर्ण कर्म होय. यानंतर काही कर्म करण्याची आवश्यकता नाही म्हणून कर्म ही अशी वस्तू आहे, जी प्राणिमात्रांचे संकल्प, त्यांचे संस्कार, यांचे शमन करते, कर्म म्हणजे (आराधना) चिंतन जे यज्ञामध्ये आहे.

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ।।४।

जोपर्यंत अक्षरत्व-प्राप्त होत नाही तोपर्यंत नाशवंत कार्यरूप पदार्थाला 'अधिभूत' म्हंटले जाते. ते सर्व भूतांचे अधिष्ठान आहे. प्राणिमात्रांच्या उत्पत्तीचे

तेच कारण आहे. **पुरुषः च अधिदैवतम्** आणि प्रकृतीच्या पलीकडे असणारा परम पुरुष तेच अधिदैवत आहे. हे अधिदैवत संपूर्ण दैवी संपदेचा अधिष्ठाता आहे. दैवी संपदा त्या परमदेवात विलीन होते. हे नरश्रेष्ठ अर्जुना, या मनुष्य शरीरात अधियज्ञ मीच आहे म्हणजे यज्ञांचा अधिष्ठाता मीच आहे म्हणून या शरीरात अव्यक्त स्वरूपात स्थित असणारा महापुरुष म्हणजे अधियज्ञही मीच आहे. श्रीकृष्ण एक योगी होते, जे संपूर्ण यज्ञाचा भोक्ता आहेत. शेवटी यज्ञ त्यांच्यातच तद्रूप होतात आणि तेथेच मग परमस्वरूप प्राप्त होते. या प्रकारे अर्जुनाने विचारलेल्या सहा प्रश्नांचे समाधान झाले. आता त्याचा शेवटी एक प्रश्न राहिला. त्याने विचारले होते की, मनोनिग्रही पुरुष अंतकाळी तुला कसे जाणतात? यावर योगेश्वर श्रीकृष्ण म्हणतात –

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ।।५।।

योगेश्वर श्रीकृष्ण म्हणतात की, जो पुरुष मरणसमयी म्हणजे मनोनिग्रहाच्या, मनोविलयाच्या वेळी माझे स्मरण करीत हा देह सोडतो तो '**मद्भाव**' माझ्या स्वरूपास प्राप्त होतो, ह्यात संशय नाही.

शरीरत्याग म्हणजे शुद्ध अंतकाळ नसतो. मरणानंतरही शरीराची साथ म्हणजे शरीराचा क्रम सुटत नाही. संचित संस्काराचे स्तर नष्ट झाल्यानंतरच मनाचा निरोध होतो व मन माझ्यामध्ये विलीन होते, ते तद्रूप होते, तो खरा अंतकाळ होय, कारण त्यानंतर जीवाला पुन्हा शरीर धारण करावे लागत नाही. अर्थात केवळ सांगण्याने ते समजणार नाही. ही आचरण करण्याची गोष्ट आहे. जोपर्यंत वस्त्रांप्रमाणे जीव शरीर बदलत राहतो, तोपर्यंत शरीराचा अंत कोठून होणार? मनोनिग्रह व परमात्म्याशी जेव्हा मनोविलय होतो, तेव्हा जिवंतपणीच त्या जीवाचा शरीराशी संबंध तुटत असतो. ही स्थिती केवळ मरणानंतरच प्राप्त होणारी असती तर स्वयं श्रीकृष्णसुद्धा कधी पूर्णपुरुष बनले नसते. त्यांनी मागे सांगितले आहे की, अनेक जन्मांच्या अभ्यासानंतर ब्रह्मज्ञान प्राप्त करून घेणारा ज्ञानी म्हणजे साक्षात माझेच स्वरूप समजावे. मी त्याच्यामध्ये असतो व तो माझ्यामध्ये असतो. त्याच्यामाझ्यामध्ये लेशमात्रही फरक नसतो. याला जिवंतपणी झालेली प्राप्ती असे म्हणतात व ही ज्याला

प्राप्त होते त्या तद्रूप झालेल्या जीवाला पुन्हा शरीर कधीही धारण करावे लागत नाही. अशा जीवांचा देहत्याग हा खरा शरीराचा त्याग असतो – शरीराचा अंत असतो.

अर्थात ज्या शरीरत्यागानंतर पुन्हा जन्म घ्यावा लागत नाही त्या देहांताचे हे वर्णन झाले. परंतु दुसरा लोक प्रचलित असा देहत्यागामुळे आलेला मृत्यू असतो. यामध्ये देहत्यागानंतर जीवाला पुन्हा जन्म घ्यावा लागतो.

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः।।६।।

कौन्तेया, अंतकाळी मनुष्य ज्या वस्तूचे, स्वरूपाचे किंवा भावाचे स्मरण करीत देह सोडतो, त्या स्वरूपात तो जाऊन मिळतो. मग तर हा व्यवहार स्वस्तातला आहे. आयुष्यभर मौजमजा करायची व मरताना भगवंताचे स्मरण केले की झाले. तुम्ही भगवंताप्रत जाऊन पोहचाल. परंतु श्रीकृष्ण म्हणतात हे असे होत नाही. **सदा तद्‌भाव भावितः** मनुष्य आयुष्यभर ज्याप्रमाणे आचरण करतो, ज्याचे सतत चिंतन करतो, जी गोष्ट आवडीने अंतःकरणात राहते, तीच गोष्ट मरणाच्या वेळी वारंवार मनात येते. आयुष्यभर मौजमजा करून मरताना परमेश्वराचे नाव सुखासुखी ओठावर येणार नाही.

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ।।७।।

म्हणून हे अर्जुना, तू सर्व काळी माझेच स्मरण कायम ठेव व युद्ध कर. मन आणि बुद्धी माझ्याच ठायी तू अर्पण करून राहिलास, म्हणजे निश्चितपणे तू मजप्रतच येशील. भगवंताचे निरंतर चिंतन व युद्ध या दोन्ही गोष्टी एकाच वेळी कशा शक्य आहेत? कदाचित 'जय कन्हैयालाल की' किंवा 'हर हर महादेव' असे म्हणत जायचे व बाण सोडत राहायचे असे असेल. परंतु याला भगवंताचे निरंतर स्मरण म्हणत नाही. स्मरण म्हणजे काय, त्याचे स्वरूप सांगताना योगेश्वर म्हणतात –

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ।।८।।

हे पार्था, अभ्यासयोगाने युक्त होऊन, मन स्थिर करून (माझ्या स्मरणासाठी माझे निरंतर चिंतन व योगाभ्यास अत्यंत आवश्यक आहे.) माझ्याशिवाय अन्यत्र न जाणाऱ्या चित्ताने निंरतर चिंतन करणारा, परमप्रकाशस्वरूप दिव्य पुरुषाप्रत म्हणजे परमात्म्याप्रत जातो. समजा ही पेन्सिल म्हणजे भगवान आहे अशी तुमची श्रद्धा असेल; तर मग तिच्याशिवाय अन्य कोणत्याही गोष्टीचे विचार तुमच्या मनात येता कामा नये. जर तिच्या आजूबाजूला तुम्हांला पुस्तक दिसले किंवा अन्य काही वस्तू दिसली तरी तुमचे स्मरण खंडित होता कामा नये. मग स्मरण जर इतके सूक्ष्म असले की, आराध्य ईश्वराशिवाय दुसऱ्या कोणत्याही गोष्टीचा विचार मनात येता कामा नये, मनात अन्य कसला तरंगही निर्माण होता कामा नये, तर मग युद्ध व स्मरण या दोन्ही गोष्टी एकाच वेळी कशा शक्य आहेत? वास्तविक जेव्हा तुम्ही चित्ताचा सर्व बाजूंनी निग्रह करून आपल्या आराध्यदेवाच्या ठिकाणी त्याला केंद्रित करण्याचा प्रयत्न करता तेव्हा मायिक (ऐंद्रजालिक) प्रवृत्ती-काम-क्रोध, राग-द्वेष इ. विघ्नरूप बनून समोर उभ्या ठाकतात. तुम्ही स्मरण करताना तुमचे मन विचलित करण्यासाठी त्या तुमच्या मनात उद्वेग निर्माण करतील. या बाधारूपाने प्रकट होणाऱ्या बाह्य प्रवृत्तींचे दमन करणे, त्यांच्यावर विजय मिळवणे हेच युद्ध होय. निरंतर चिंतन असेल तरच या मायिक प्रवृत्ती नष्ट करणे शक्य होते. म्हणून निरंतर चिंतनाबरोबर युद्ध असणे स्वाभाविकच आहे. गीतेमधील कोणताही श्लोक बाह्य हाणा-मारीचे समर्थन करीत नाही. आता चिंतन कोणाचे करावे? याबाबत श्रीकृष्ण म्हणतात -

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।।९।।

त्या युद्धाबरोबरच जो पुरुष सर्वज्ञ, अनादि, सर्व विश्वाचा नियंता, परमाणूपेक्षाही सूक्ष्म, सर्वांचे म्हणजे स्थूलसूक्ष्म जगाचे भरणपोषण करणाऱ्या, परंतु जो अचिंत्य-अगोचर आहे (जोपर्यंत चित्त व चित्तातील लेशमात्र विचारतरंग शिल्लक असेल तोपर्यंत तो अगोचर असतो. जेव्हा चित्ताचा निरोध व चित्ताचा त्याच्यामध्ये विलय होतो तेव्हाच तो प्रकट होतो. तेव्हाच त्याचे स्वरूप विदित होते), नित्य प्रकाशस्वरूप आणि अज्ञानरूपी अंधकाराच्या

पलीकडे असणाऱ्या त्या परमात्म्याचे स्मरण करतो– मागे सांगितले की तो माझे चिंतन करतो, येथे सांगतात परमात्म्याचे चिंतन करतो. येथे परमात्म्याचे चिंतन (ध्यान) म्हणजे तत्त्व स्थित महापुरुषाचे ध्यान असे समजावे याच क्रमात –

प्रयाणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ।।१०।।

जो निरंतर त्या परमात्म्याचे स्मरण करीत असतो तो भक्तियुक्त पुरुष '**प्रयाणकाले**' मनाच्या तद्रूप अवस्थेत योगबलाने म्हणजेच नियत कर्माच्या आचरणाने युक्त होऊन दोन भुवयांच्यामध्ये प्राणवायूची योग्य प्रकारे स्थापना करून (प्राण–अपान वायूची गती सम करून, अंतर्यामी कसलाही उद्वेग निर्माण न होऊ देता, बाह्य संस्कार ग्रहण न करता, सत–रज–तम यांना योग्य प्रकारे ज्ञात करून, योग्य भावपूर्ण अवस्थेत), तो अचल मनाचा म्हणजेच स्थिर बुद्धीचा पुरुष त्या दिव्य पुरुषपरमात्म्याप्रत जातो. या परमात्म्याची प्राप्ती म्हणजेच योग होय. त्यासाठी नियत कर्माचे आचरण म्हणजे योग–क्रिया आहे, ज्याचे सविस्तर वर्णन योगेश्वर श्रीकृष्णांनी चौथ्या व सहाव्या अध्यायात केले आहे. त्यांनी सांगितले, योग–धारणेमध्ये स्थिर राहून माझेच निरंतर स्मरण कर. असे माझे निरंतर स्मरण करणारा त्या दिव्य अशा परम पुरुषापर्यंत जातो, ज्याचा कधी विसर पडत नाही. या प्रकारे अंतकाळी परमात्म्याला कशा प्रकारे जाणले जाते या अर्जुनाच्या प्रश्नाचे येथे समाधान केले आहे. आता जे पद प्राप्त करावयाचे व गीतेमध्ये जे प्रत्येक ठिकाणी आले आहे त्याचे वर्णन पाहा.

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं सङ्ग्रहेण प्रवक्ष्ये ।।११।।

'**वेदविद**' म्हणजे अविदित तत्त्वाला प्रत्यक्ष जाणणारे वेदवेत्ते ज्या परमपदाला '**अक्षरम्**' अक्षय–अविनाशी आहे असे सांगतात, विरक्त झालेले लोक ज्यामध्ये प्रवेश करतात, ज्या परमपदाची इच्छा करणारे ब्रह्मचर्यव्रताचे

पालन करतात (येथे ब्रह्मचर्य म्हणजे केवळ जननेन्द्रियाचा निरोध नव्हे, तर **'ब्रह्म आचरति स ब्रह्मचारी'** सर्व प्रकारच्या बाह्य स्पर्शांचा मनाने त्याग करून ब्रह्माचे निरंतर चिंतन करणे, स्मरणे करणे म्हणजे ब्रह्मचर्य होय. जो ब्रह्माचे दर्शन करून, त्याचे ठायी स्थिर होतो. या प्रकारच्या आचरणाने केवळ इंद्रिय-संयमच नाही तर सर्व इंद्रियांचा संयम आपोआप होतो. अशा प्रकारच्या ब्रह्मचर्यव्रताचे जो आचरण करतो), जे हृदयामध्ये साठवण्यासाठी योग्य आहे, जे धारण करण्यास अत्यंत उचित आहे, ते पद मी तुला सांगतो. ते पद कसे आहे? कशा प्रकारे प्राप्त केले जाते? यावर योगेश्वर श्रीकृष्ण म्हणतात -

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ।।१२।।

सर्व इंद्रियांचे दरवाजे बंद करून म्हणजेच इंद्रियांच्या वासनांपासून दूर राहून, हृदयाच्या ठिकाणी मनाचा निरोध करून (ध्यान हृदयातच होत असते, बाहेर होत नसते, पूजा कधी बाहेर होत नाही), प्राण म्हणजेच अंतःकरणातील सर्व व्यवहारांचा मस्तकामध्ये निरोध करून, योग धारणेमध्ये स्थित होऊन योगाला धारण करावयाचे असते. दुसरी पद्धत नाही. अशा प्रकारे -

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ।।१३।।

जो पुरुष 'ओम इति' ॐ हे अक्षर ब्रह्माचे द्योतक आहे, त्याचा जप व माझे स्मरण करीत जो देहत्याग करतो त्याला परमगती प्राप्त होते. श्रीकृष्ण एक योगेश्वर, परमतत्त्वामध्ये स्थित असणारे महापुरुष आणि एक सद्गुरु होते. योगेश्वर श्रीकृष्णाने सांगितले की 'ओऽम' अक्षर ब्रह्माचे द्योतक आहे, तू त्याचा जप कर आणि माझे ध्यान कर, प्राप्ती मिळालेल्या प्रत्येक महापुरुषाचे नाव तेच असते की ज्याची त्याला प्राप्ती होते व ज्यात तो विलीन होतो, म्हणून श्रीकृष्णांनी जप 'ॐ' चा सांगितला व ध्यान आपले करायला सांगितले. त्यांनी 'कृष्ण कृष्ण' असा नामजप करावयास सांगितला नाही. परंतु कालांतराने भाविकांनी त्यांचा नामजप सुरू केला. अर्थात त्यांना त्यांच्या श्रद्धेप्रमाणे फळ मिळत असते. कारण योगेश्वरांनी सांगितले

आहे की जेथे मनुष्याची श्रद्धा दृढ होते तेथे मीच त्याच्या श्रद्धेला पुष्टी देत असतो. तसेच त्याला तसे फळही देत असतो.

भगवान शंकरांनी 'राम' नामाचा जप करण्यावर भर दिला. **'रमन्ते योगिनः यास्मिन् स राम ।' 'रा' और 'म' के बीच में कबिरा रहा लुकाय ।'** 'रा' आणि 'म' या दोन अक्षरामधील अन्तरालात (मोकळ्या जागेत) आपल्या मनाचा निरोध करण्यास कबीरांना शक्य झाले. श्रीकृष्ण ओमवर भर देतात. **ओऽहं स ओम** म्हणजे ती सत्ता माझ्या आत आहे तिला बाहेर शोधण्याची जरूर नाही. हा ओमदेखील त्या परम सत्तेचा परिचय देऊन शांत होत असतो. वास्तवात त्या प्रभूची अनन्त नामे आहेत. परंतु जपासाठी तेच नाम अत्यंत योग्य असते; जे छोटे असते, जे श्वासामध्ये विलीन होते आणि परमात्म्याचा जे बोध करवते. याव्यतिरिक्त अनेक देवी देवतांच्या अविवेकपूर्ण कल्पनांमध्ये अडकून राहून मूळ लक्ष्यापासून विचलित होऊ नका.

पूज्य महाराजश्री सांगत की – "माझे रूप पहा, पण आपल्या श्रद्धेनुसार कोणतेही दोन-अडीच अक्षरांचे नाम 'ॐ', 'राम', 'शिव' यांपैकी कोणतेही एक नाम घ्या आणि त्याच्या अर्थानुसार इष्टदेवाच्या स्वरूपाचे ध्यान करा". ध्यान सद्गुरुचेच केले जाते. तुम्ही राम, कृष्ण अथवा '**वीतराग विषयं वा चित्तम्**' विरक्त महात्म्यांचे किंवा '**यथाभिमतध्यानाद्वा**' (पातंजल योग १/३७, ३९) कोणाच्याही स्वरूपाचे ध्यान केलेत की तुम्हाला ते अनुभवात प्राप्त होईल आणि आपल्या एखाद्या समकालीन सद्गुरुकडे ते तुम्हांला पोहचवतील. तेथे त्या सद्गुरुच्या मार्गदर्शनाने तुम्ही हळूहळू प्रकृतीच्या क्षेत्राच्या पलीकडे जाऊ शकाल. प्रारंभी मीसुद्धा एका देवतेच्या (श्रीकृष्णाच्या विराट रूपाचे) चित्राचे ध्यान करीत असे; परंतु महाराजश्रींच्या मार्गदर्शनामुळे नंतर ते शांत झाले. प्राथमिक अवस्थेतील साधक नामजप तर करतात; परंतु महापुरुषाच्या स्वरूपाचे ध्यान करायला ते कचरतात. त्यांना प्राप्त झालेल्या संस्कारामुळे त्यांचे जे पूर्वग्रह तयार होतात, ते ते सोडू शकत नाही. ज्या देवतांचा श्रीकृष्णांनी निषेध केला आहे, त्यांचे ते ध्यान करतात. तेव्हा पूर्ण समर्पणाबरोबर एखाद्या अनुभवी महापुरुषाला शरण जावे. पुण्य-पुरुषार्थ सबल होताच मनातील कुतर्क नष्ट होतात व यथार्थ क्रियेमध्ये प्रवेश मिळतो.

योगेश्वर श्रीकृष्णांच्या अनुसार या प्रकारे 'ॐ' चा जप आणि परमात्मस्वरूप सद्‌गुरुच्या स्वरूपाचे निरंतर स्मरण केल्याने मनाचा निरोध व विलय होत जातो आणि मग त्याच क्षणी शरीराशी असणाऱ्या संबंधाचा मन त्याग करते. केवळ मृत्यूमुळे शरीर पाठ सोडत नाही.

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ।।१४।।

"माझ्या व्यतिरिक्त चित्तामध्ये दुसरे कोणीच नाही"– त्या अन्य कोणाचे चिंतन न करता, एकाग्र चित्ताने माझे ठायी स्थिर होऊन जो निरंतर माझे स्मरण करतो त्या माझ्याशी निरंतर युक्त असणाऱ्या योग्याला मी सहज प्राप्त होतो. आपल्या असे सुलभ होण्याने काय प्राप्त होईल? काय मिळेल?

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ।।१५।।

मला प्राप्त केल्याने दुःखाचे आगर असणारा व नश्वर, अशाश्वत असा पुनर्जन्म प्राप्त होत नाही; परंतु त्यांना परमसिद्धी प्राप्त होते. अर्थात मला मिळणे किंवा परमसिद्धी प्राप्त होणे दोन्ही एकच गोष्ट आहे. केवळ परमेश्वरच असे आहेत की, ज्यांना प्राप्त केल्यानंतर पुनर्जन्म नष्ट होतो. मग पुनर्जन्माची सीमा कुठपर्यंत आहे?

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ।।१६।।

हे अर्जुना, ब्रह्मापासून कीटकादि पतंगापर्यंत सर्व लोकीचे प्राणी पुनर्जन्म पावणारे आहेत. जन्म घेणे व मरणे या फेऱ्यात ते सतत फिरणारे आहेत. परंतु कौन्तेया, मजप्रत आल्यानंतर त्या पुरुषाचा पुनर्जन्माचा फेरा नष्ट होतो.

धर्मग्रंथांमधील लोकलोकान्तराच्या परिकल्पना म्हणजे ईश्वर–पथावरील विभूतींना बोध करण्याचा केवळ एक आन्तरिक अनुभव किंवा रूपक आहे. अंतरिक्षात ना असा कोणता खड्डा आहे की, जेथे किडे चावायला येतात, आणि ना असा महाल आहे की ज्याला स्वर्ग म्हंटले जाते. दैवी संपेदेने युक्त असणारे पुरुष देवता आणि आसुरी गुणांनी युक्त असणारे पुरुष आसुर

असतात. श्रीकृष्णांच्याच नात्यातील कंस राक्षस आणि बाणासुर दैत्य होता. देव, मानव, तिर्यक योनी म्हणजे भिन्न भिन्न प्रकारचे लोकच होत. श्रीकृष्णांच्या मते हा जीवात्मा मनासह पाच इंद्रियांना घेऊन जन्म-जन्मांतरांच्या संस्काराप्रमाणे नवीन शरीर धारण करीत असतो.

ज्यांना अमर म्हंटले जाते असे देवतागणही मरण पावणारे आहेत. '**क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशान्ति**' यापेक्षा अधिक नुकसान काय असणार? ते देव-शरीरही काय कामाचे, की ज्याचे संचित पुण्यही समाप्त होऊन जाते, संपून जाते? देवलोक, पशुलोक, पतंगादि कीटक लोक, भोगलोक मात्र आहेत. केवळ मनुष्यच कर्माचा रचणारा आहे. त्या कर्माद्वारा ते परमधाम प्राप्त करू शकतो की, जेथून मनुष्य परत जन्माला येत नाही. यथार्थ कर्माचे आचरण करून मनुष्य देवता बनू शकतो, ब्राह्मी स्थिती प्राप्त करू शकतो; परंतु जोपर्यंत मनाचा निरोध करून, मनाचा परमात्म्यात विलय करून, त्या परमात्म्याचा साक्षात्कार प्राप्त करून, त्या परमभावामध्ये जोपर्यंत तो स्थिर होत नाही तोपर्यंत त्याचा पुनर्जन्म चुकणार नाही. उपनिषदे या सत्याचे स्पष्टीकरण करताना सांगतात.

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदिस्थिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ।। (कठो०, २/३/१४)

जेव्हा हृदयामध्ये असणाऱ्या सर्व प्रकारच्या वासना समूळ नष्ट होतात, तेव्हा मर्त्य असणारा मनुष्य अमर होतो आणि येथेच या जगात त्याच मनुष्य शरीरात तो परब्रह्माचा साक्षात अनुभव घेतो.

प्रश्न असा निर्माण होतो की ब्रह्मासुद्धा मृत्यू पावणारा म्हणजे नश्वर आहे की काय? तिसऱ्या अध्यायात योगेश्वर श्रीकृष्णांनी प्रजापती ब्रह्माच्या बाबतीत विवरण करताना सांगितले होते की, परमपदाची प्राप्ती झाल्यानंतर बुद्धी अगदी यंत्रवत असते. तिच्याद्वारे परमात्माच व्यक्त होत असतो. अशा महापुरुषांकडूनच यज्ञाची संरचना झालेली आहे आणि येथे मात्र ते म्हणतात की, ब्रह्माची स्थिती प्राप्त करणाऱ्याला देखील पुनर्जन्म प्राप्त होतो. म्हणजे योगेश्वर श्रीकृष्णांना काय सांगावयाचे आहे?

वास्तविक ज्या महापुरुषांच्या द्वारे परमात्मा व्यक्त होत असतो त्या महापुरुषांची बुद्धीसुद्धा ब्रह्म नसते. परंतु लोकांना उपदेश देण्यासाठी, कल्याणकारी मार्गाचे नियम सांगण्यासाठी त्यांना ब्रह्मा म्हटले जाते. ते खरोखर ब्रह्म नसतात. त्यांच्याजवळ त्यांची स्वत:ची बुद्धी राहतच नाही. परंतु त्याच्या आधीच्या साधनाकाळामध्ये बुद्धीच ब्रह्म आहे.

''अहंकार शिव, बुद्धी आज, मन, शशि, चित्त महान''

सर्वसाधारण मनुष्याची बुद्धी मात्र ब्रह्म नसते. बुद्धी जेव्हा इष्टदेवामध्ये प्रवेश करू लागते तेव्हापासून ब्रह्माची रचना होऊ लागते. त्याचे मुनीजनांनी चार मार्ग सांगितलेले आहेत. तिसऱ्या अध्यायात ते सांगितलेले आहेत. स्मरणासाठी ते पुन्हा पाहा – **ब्रह्मवित, ब्रह्मविद्वर, ब्रह्मविद्वरीयान्, ब्रह्मविद्वरिष्ट ।** ब्रह्मविद्येशी जोडलेली जी बुद्धी आहे ती ब्रह्मवित बुद्धी होय. ब्रह्मविद्येमध्ये ज्याने श्रेष्ठत्व प्राप्त केले आहे तो ब्रह्मविद्वर होय. ब्रह्मविद्वरीयान ती बुद्धी आहे की, जिच्यामुळे तो ब्रह्मविद्येत केवळ दक्षच नव्हे तर तिचा नियंत्रक व संचालक बनतो. ब्रह्मविद्वरिष्ट बुद्धीचा तो अंतिम स्तर आहे. ज्यातून इष्ट प्रवाहित होते. येथपर्यंत बुद्धीचे अस्तित्व असते कारण प्रवाहित होणारा इष्टदेव अजून वेगळा आहे आणि ग्रहणकर्ती बुद्धी वेगळी आहे. अजून तो प्रकृतीच्या सीमेमध्येच आहे. अशी श्रेष्ठ अवस्था प्राप्त झालेला पुरुषही पुनर्जन्माच्या सीमेमध्ये आहे. बुद्धी (ब्रह्म) राहते, जागृत असते तेव्हा संपूर्ण भूत (चिंतनाचा प्रवाह) जागृत असतो आणि जेव्हा बुद्धी अविद्येमध्ये राहते तेव्हा ती अचेतन असते. यालाच रात्र आणि दिवस, प्रकाश आणि अंध:कार असे म्हंटले जाते.

ब्रह्म म्हणजे ब्रह्मविद्वतेची जी श्रेणी, ज्यात इष्टदेव प्रवाहित झालेला आहे, तिला प्राप्त झालेल्या सर्वोत्कृष्ट बुद्धीमध्येदेखील विद्येचा (जी स्वयं प्रकाशस्वरूप आहे, जी त्यात प्रवाहित करते) दिवस व अविद्येची रात्र, प्रकाश आणि अंध:कार याचा क्रम लागून राहिलेला आहे. इथपर्यंत साधकामध्ये माया यशस्वी होते. प्रकाशकालात अचेतन प्राणिमात्र सचेतन होतात. त्यांना लक्ष्य दिसू लागते. तसेच बुद्धीच्या अंतरालात अविद्येची रात्र प्रवेश करताच सर्व भूतमात्र अचेतन होऊन जातात. बुद्धी निश्चय करू शकत नाही. स्वरूपाकडे

जाणे बंद होऊन जाते. हाच ब्रह्माचा दिवस आहे आणि हीच ब्रह्माची रात्र आहे. दिवसाच्या प्रकाशात बुद्धीच्या हजारो प्रवृत्तीमध्ये ईश्वरी प्रकाश पसरला जातो आणि अविद्येच्या रात्री या हजारो प्रवृत्तींमध्ये अचेतनावस्थेचा अंध:कार व्यापून राहतो.

शुभ आणि अशुभ, विद्या आणि अविद्या या दोन्ही प्रवृत्ती शांत झाल्यानंतर म्हणजेच अचेतन आणि सचेतन, रात्रीत विलीन होणारे आणि दिवसा उत्पन्न होणारे असे दोन्ही प्रकारचे भूतमात्र (संकल्प प्रवाह) नष्ट झाल्यावर त्या अव्यक्त बुद्धीच्याही पलीकडे असणारा शाश्वत असा अव्यक्त भाव प्राप्त होतो, जो पुन्हा कधी नष्ट होत नाही. भूतमात्रांची अचेतन व सचेतन अशा दोन्ही प्रकारच्या अवस्था संपल्यानंतरच तो सनातन भाव प्राप्त होत असतो.

वर सांगितलेल्या बुद्धीच्या चार अवस्थेनंतरचा पुरुष हाच महापुरुष असतो. त्याच्या अंतरंगात बुद्धी नसते, ती परमात्म्याच्या यंत्रासारखी होते. परंतु तो लोकांना उपदेश करतो, निश्चितपणे प्रेरणा देतो, म्हणून त्याच्यामध्ये बुद्धी प्रतीत होते. परंतु तो बुद्धीच्या स्तरापलीकडे गेलेला आहे. तो परम अव्यक्त भावामध्ये स्थिर झालेला आहे. आता त्याचा पुनर्जन्म होणार नाही. परंतु या अव्यक्त स्थितीच्या पूर्वी जोपर्यंत त्याच्यापाशी आपली बुद्धी आहे, जोपर्यंत तो ब्रह्म आहे, तोपर्यंत तो पुनर्जन्माच्या फेऱ्यात फिरणार आहे. तोपर्यंत तो पुनर्जन्माच्या परिमितीतच आहे. याच तथ्यांवर प्रकाश टाकीत योगेश्वर श्रीकृष्ण सांगतात –

सहस्त्रयुगपर्यन्तमहर्यद्‌ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्त्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ।।१७।।

हजार चतुर्युगांची ब्रह्माची रात्र असते व हजार चतुर्युगांचा ब्रह्माचा दिवस असतो. ही गोष्ट जे पुरुष प्रत्यक्ष जाणतात ते 'समय तत्त्वाला' यथार्थपणे जाणतात.

प्रस्तुत श्लोकात दिवस व रात्र, विद्या आणि अविद्या यांचे रूपक आहे. ब्रह्मविद्येशी संयुक्त असणारी बुद्धी ब्रह्माची प्रवेशिका आहे, तसेच ब्रह्मविद्वरिष्ट बुद्धी म्हणजे ब्रह्माची पराकाष्ठा आहे. विद्येशी संयुक्त असणारी बुद्धीच ब्रह्मदेवाचा

दिवस आहे. जेव्हा विद्या कार्यरत होते तेव्हा योगी स्वरूपाकडे अग्रेसर होत असतो व मग अंतःकरणातील सहस्त्र प्रवृत्तींमध्ये ईश्वरीय प्रकाशाचा संचार होतो. त्याच प्रकारे अविद्यारूपी रात्र सुरू होते, तेव्हा अंतःकरणाच्या सहस्त्र प्रवृत्तीमध्ये मायेचे द्वन्द्व प्रवाहित होते. प्रकाश आणि अंधकाराच्या या मर्यादा आहेत. यानंतर ना विद्येचे अस्तित्व राहते, ना अविद्येचे, कारण ते परमतत्त्व परमात्मा विदित होते. जे हे तत्त्व उत्तम प्रकारे जाणतात ते योगीजन कालतत्त्व जाणणारे आहेत. अविद्येची रात्र केव्हा होते व विद्येचा दिवस केव्हा येतो हे कालतत्त्व ते चांगल्या प्रकारे जाणतात. कालाचा प्रभाव केव्हापर्यंत राहणार आहे किंवा समय कुठपर्यंत पाठलाग करणार आहे हे त्यांना चांगले माहीत असते.

सुरुवातीचे मुनीजन अंतःकरणाला चित्त अथवा कधी कधी केवळ बुद्धी म्हणून संबोधित असत. कालान्तराने अंतःकरणाचे विभाजन मन, बुद्धी, चित्त व अहंकार या चार प्रमुख प्रवृत्तींमध्ये केले गेले. तसे पाहता अंतःकरणाच्या प्रवृत्ती अनन्त आहेत, पण मुख्य या चार प्रवृत्ती होत. बुद्धीच्या अंतरंगातच अविद्येची रात्र होते व त्या बुद्धीमध्ये विद्येचा दिवसही होतो. हीच ब्रह्माची रात्र आणि दिवस आहे. जगत्रूपी रात्रीमध्ये सर्व जीव अचेतन पडलेले आहेत. प्रकृतीमध्ये विचरण करत असणारी त्यांची बुद्धी ह्या प्रकाशस्वरूपाला पाहू शकत नाही. परंतु योगचरण करणारे योगी यामुळे जागे होतात व ते स्वरूपाकडे आगेकूच करतात. ज्याप्रमाणे गोस्वामी तुलसीदासांनी रामचरितमानसामध्ये लिहिले आहे.

कबहुँ दिवस महँ निबिड़तम, कबहुँक प्रगट पतंग ।
बिनसइ उपजइ ज्ञान जिमि, पाइ कुसंग सुसंग ।।
(रामचरित मानस, ४/१५ ख)।।

विद्येशी संयुक्त असणारी बुद्धी कुसंगामुळे अविद्येत परिणत होते पुन्हा सुसंगामुळे–सत्संगामुळे विद्येचा संचार त्याच बुद्धीमध्ये होतो. हा चढ–उतार लक्ष्यपूर्तीपर्यंत चालूच राहतो. पूर्ततेनंतर नाही बुद्धी की नाही ब्रह्मा, नाही रात्र की नाही दिवस! हे ब्रह्माच्या दिवस–रात्रीचे रूपक आहे. ना हजारो वर्षांची मोठी रात्र असते, ना हजारो चतुर्युगांचा दिवस असतो किंवा ना चार मुखांचा

ब्रह्म असतो. वर सांगितलेल्या ज्या चार क्रमिक अवस्था आहेत त्या म्हणजेच ब्रह्माची चार मुखे होत आणि अंतःकरणाच्या चार प्रमुख मुख्य प्रवृत्ती म्हणजेच त्याची चतुर्युगे होत. रात्रंदिवस ते या प्रवृत्तींमध्येच असतात. जे पुरुष या भेदाला तत्त्वाने जाणतात, तेच योगीजन कालाच्या भेदालाही ओळखतात की, समय कुठपर्यंत पाठलाग करतो आणि कोणता पुरुष कालाच्या पलीकडे जाऊ शकतो? रात्र व दिवस अविद्या आणि विद्या यांच्यामध्ये होणारे कार्य श्रीकृष्ण पुढील श्लोकात स्पष्ट करताना म्हणतात –

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ।।१८।।

ब्रह्मदेवाचा दिवस सुरू होताच म्हणजे विद्येच्या प्रकाशात सर्व प्राणी अव्यक्त बुद्धीमध्ये जागृत होतात आणि रात्र सुरू होताच त्या अव्यक्त, अदृश्य बुद्धीमध्ये जागृतीचे सूक्ष्म तत्व अचेतन होते. ते प्राणी अविद्यारूपी रात्रीचे वेळी स्वरूपाला स्पष्ट पाहू शकत नाही; परंतु त्यांचे अस्तित्व असते. म्हणजे जागृत होणे व अचेतन होणे या दोन्ही गोष्टींचे माध्यम ही बुद्धीच आहे, जी सर्वांत अव्यक्तरूपाने वास करीत असते, ती दृष्टिगोचर नसते.

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ।।१९।।

हे पार्था, सर्व प्राणी या प्रकारे जागृत झाल्यावर, प्रकृतीमुळे विवश होऊन अविद्यारूपी रात्र येताच अचेतन होतात. आपले लक्ष्य काय आहे ते सुध्दा ते पाहू शकत नाहीत. दिवस सुरु होताच ते पुन्हा जागृत होतात. जोपर्यंत बुद्धी आहे तोपर्यंत तिच्या अंतरंगात विद्या आणि अविद्या यांचा असा क्रम सुरूच असतो. तोपर्यंत तो साधकच असतो, महापुरुष बनत नाही.

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ।।२०।।

एक तर ब्रह्म म्हणजे बुद्धी अव्यक्त आहे. ती इंद्रियांना दिसत नाही. तिच्याही पलीकडे सनातन अव्यक्त तत्त्व आहे जे सर्व भूतमात्रांचा नाश

झाला असताही स्वतः विनाश पावत नाही. म्हणजे विद्येमध्ये सचेतन आणि अविद्येमध्ये अचेतन, दिवसा उत्पन्न आणि रात्रीमध्ये विलीन होणारा अव्यक्त ब्रह्मा नष्ट होतो व मग सनातन तत्त्व प्राप्त होते, जे कधीही नष्ट होत नाही. बुद्धीमध्ये वर सांगितलेले असे जे तत्त्व मिळते, तेच माझे 'परमधाम' आहे जेव्हा सनातन अव्यक्त तत्त्वाची प्राप्ती होते, तेव्हा बुद्धीही त्याच भावात रंगून जाते व तोच भाव धारण करते. म्हणून ती बुद्धी स्वतः जेव्हा संपून जाते, तेव्हा त्या ठिकाणी सनातन अव्यक्त तत्त्वच शिल्लक राहते.

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।

यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ।।२१।।

त्या सनातन अव्यक्त तत्त्वाला–परब्रह्माला अक्षर म्हणजे अविनाशी असेही म्हणतात. तेच माझे परमधाम आहे. ते प्राप्त झाल्यानंतर मनुष्य पुन्हा परत येत नाही. त्याचा पुर्नजन्म होत नाही. या सनातन अव्यक्त तत्त्वाची प्राप्ती कशी होते हे सांगताना श्रीकृष्ण म्हणतात –

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।

यस्यान्तः स्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ।।२२।।

हे पार्था, सर्व प्राणीमात्र ज्याच्या पोटात आहेत व ज्याने हे संपूर्ण विश्व व्यापलेले आहे, तो सनातन, अव्यक्त असणारा परमपुरुष अनन्य भक्तीने प्राप्त होत असतो. अनन्य भक्ती म्हणजे परमात्म्याशिवाय दुसऱ्या कोणाचेही स्मरण न करता त्याच्याशी एकनिष्ठ राहणे. पण अनन्य भक्तीने परमात्म्याशी एकनिष्ठ राहिलेल्या लोकांना कधीपर्यंत पुनर्जन्माच्या सीमेमध्ये राहावे लागते आणि ते पुनर्जन्माची सीमा केव्हा पार करतात? यावर योगेश्वर म्हणतात –

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।

प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ।।२३।।

हे अर्जुना, कोणत्या काळी देहत्याग केला असता योगीजन पुन्हा जन्मास येत नाहीत आणि कोणत्या काळात देहत्याग केल्याने पुनर्जन्म प्राप्त होतो, तो काळ मी आता तुला सांगतो.

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ।।२४।।

देहत्याग करताना ज्यांना ज्योतिर्मयअग्नी दिसतो, जेव्हा दिवसाचा प्रकाश सर्वत्र पसरलेला असतो, आकाशात सूर्य तळपत असतो, शुक्ल पक्षातील चंद्र वाढत असतो, उत्तरायणातील आकाश जेव्हा निरभ्र व सुंदर असते अशा काळामध्ये जे प्रयाण करतात, म्हणजेच जे मृत्यू पावतात, ते ब्रह्मवेत्ते योगीजन ब्रह्मपदाला प्राप्त होतात.

अग्नी ब्रह्मतेजाचे प्रतीक आहे, दिवस विद्येचा प्रकाश आहे, शुक्ल पक्ष निर्मलतेचे द्योतक आहे. विवेक, वैराग्य, शम, दम, तेज आणि प्रज्ञा हे षडैश्वर्य म्हणजेच षण्मास होय. उर्ध्वरेता स्थिती म्हणजेच उत्तरायण आहे. प्रकृतीच्या पलीकडे असणाऱ्या या अवस्थेमध्ये जाणारे ब्रह्मवेत्ते योगीजन ब्रह्मपदाला प्राप्त होतात. त्यानंतर त्यांचा पुनर्जन्म होत नाही. परंतु परमेश्वराची अनन्य भावाने भक्ती करणारे योगीजन जर प्रकाशरूप अवस्था प्राप्त करू शकले नाहीत, त्यांची साधना अजून अपूर्ण असेल त्यांचे काय होते? यावर श्रीकृष्ण म्हणतात –

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ।।२५।।

ज्या योग्याच्या अंतकाळी सर्वत्र धूर पसरलेला असतो, धुमसणारा अग्नी, अविद्येची रात्र, अंधार, कृष्ण पक्षातील क्षीण चंद्र, घोर काळोख, षड्‌विकारांनी (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद आणि मत्सर) युक्त दक्षिणायन अशा प्रकारची स्थिती असते, तेव्हा तो योगी बहिर्मुखी असतो. (जो परमपदाच्या बाहेर आहे) अशा योग्याला पुन्हा जन्म घ्यावा लागतो. मग त्या योग्याच्या शरीराबरोबर त्याची साधनाही नष्ट होते का? यावर श्रीकृष्ण म्हणतात –

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ।।२६।।

वरील शुक्ल (प्रकाशरूप) व कृष्ण (अंधाररूप) हे दोन प्रकारचे मार्ग नित्य आहेत. म्हणजेच साधना कधी नष्ट होत नाही. शुक्ल अवस्थेमध्ये

देहत्याग करणारा योगी पुनर्जन्म न देणारी परमगति प्राप्त करतो, तर कृष्ण अवस्थेमध्ये म्हणजेच क्षीण प्रकाश व सर्वत्र व्यापून राहिलेला अंधार अशा वेळी देहत्याग केलेला योगी पुन्हा परत येतो व जन्म घेतो. जोपर्यंत त्याला पूर्ण प्रकाश प्राप्त होत नाही; तोपर्यंत त्याने भगवंताचे भजन करावे, अनन्य भावाने आराधना करावी. म्हणजे पुनर्जन्माचा फेरा संपेपर्यंत साधना करायला पाहिजे. म्हणून पुन्हा साधनेवर भर देताना श्रीकृष्ण म्हणतात –

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ।।२७।।

हे पार्था, या दोन मार्गांना जाणणारा कोणताही योगी मोह पावत नाही. देहत्यागाचे वेळी पूर्ण प्रकाश प्राप्त झाल्यावरच ब्रह्मपद प्राप्त होते आणि देहत्यागाचे वेळी जर प्रकाश क्षीण असेल तर पुनर्जन्म घ्यावा लागतो. पण त्या पुनर्जन्मामध्ये साधना नष्ट होत नाही, ही गोष्ट तो चांगल्या प्रकारे जाणत असतो. म्हणून हे अर्जुना, तू सर्व काळी योगयुक्त हो म्हणजेच सर्वकाळी साधना कर.

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ।।२८।।

जेव्हा योगी त्या परमात्म्याला साक्षात्कारामध्ये जाणतो तेव्हा तो वेदाध्ययन, यज्ञ, तपश्चर्या व दान यांच्यामध्ये जे जे पुण्यकारक फल सांगितले आहे, त्या सर्वांच्या पलीकडे जातो आणि श्रेष्ठ अशा परमपदाला जाऊन पोहचतो. अविदित, अज्ञात परमात्म्याचे साक्षात ज्ञान म्हणजेच वेद होय. जेव्हा हे अज्ञात तत्त्व ज्ञात होते तेव्हा आता कोणाला जाणायचे? म्हणजे अज्ञात तत्त्व ज्ञात झाल्यानंतर वेदाचे देखिल प्रयोजन उरत नाही, कारण ज्याला जाणायचे तो आता भिन्न राहिलेला नसतो. परमपदाचे ज्ञान होईपर्यंत भजन, आराधना हे नियत कर्म आवश्यक होते. तत्त्व विदित झाल्यानंतर मग आता कोणाचे भजन करावयाचे? लक्ष्य प्राप्त होईपर्यंत मनासहित सर्व इंद्रियांचा निरोध करून साधना करणे आवश्यक होते. लक्ष्य प्राप्त झाल्यानंतर आता कशासाठी

साधना करायची? काया (कर्म), वाचा, मन संपूर्णपणे समर्पण करणे म्हणजे दान होय. त्या सर्वांचे पुण्यफल म्हणजे परमात्म्याची प्राप्ती होय. आता तर हे फलही वेगळे राहिलेले नाही. त्यामुळे आता या बाह्य गोष्टींची आवश्यकता नाही. तो योगी यज्ञ, तपःश्चर्या, दान यांच्या पलीकडे गेलेला असतो. त्या योग्याला अव्यक्त अशा परमपदाची प्राप्ती होते.

निष्कर्ष –

या अध्यायामध्ये पाच प्रमुख मुद्यांचा विचार केला आहे. सातव्या अध्यायाच्या शेवटी श्रीकृष्णांनी निर्माण केलेले प्रश्न स्पष्ट समजावून घेण्याच्या जिज्ञासेने या अध्यायाच्या प्रारंभी अर्जुनाने सात प्रश्न विचारले – भगवन, आपण ज्याला ब्रह्म म्हणता ते ब्रह्म म्हणजे काय? अध्यात्म म्हणजे काय? संपूर्ण कर्म म्हणजे काय? अधिदैव, अधिभूत आणि अधियज्ञ म्हणजे काय? आणि अंतकाळी आपल्याला कसे जाणता येईल की, ज्यामुळे एकदा जाणल्यानंतर आपले पुन्हा विस्मरण होणार नाही? यावर उत्तर देताना श्रीकृष्ण म्हणाले की ज्याचा विनाश होत नाही, ते अक्षर असते तेच परब्रह्म होय. स्वतःमध्ये निर्माण झालेला परमभाव म्हणजे अध्यात्म होय. जेव्हा जीव मायेच्या मोहातून सुटून आत्म्याच्या ठायी स्थिर होतो, त्यालाच अध्यात्म असे म्हणतात. शुभ आणि अशुभ संस्कारांच्यामुळे प्राणिमात्रांचे ठिकाणी जे विचार–भावना किंवा विकार निर्माण होतात ते निर्माण होण्याचे थांबणे–बंद होणे, यालाच संपूर्ण कर्म असे म्हणतात. यानंतर कर्म करण्याची आवश्यकता राहत नाही. कर्म म्हणजे अशी वस्तू आहे की जी संस्काराचे उद्‌गम स्थानच भगवंतामध्ये विलीन करून टाकते.

नश्वर प्राणिमात्रांना निर्माण करणारा क्षरभाव म्हणजेच अधिभूत होय. तोच प्राणिमात्रांचा अधिष्ठाता आहे. परमपुरुष हेच अधिदेव आहेत. दैवी संपदा त्यामध्येच लय पावत असते. या शरीरात अधियज्ञ मीच आहे, म्हणजे ज्यामध्ये यज्ञ लय पावतो, तो मीच आहे. यज्ञाचा अधिष्ठाता मीच आहे. तो माझे स्वरूप प्राप्त करून घेतो. अधियज्ञ म्हणजे असा पुरुष की, जो शरीरामध्ये वास करीत असतो. तो शरीराच्या बाहेर असत नाही. अर्जुनाचा शेवटचा प्रश्न असा होता की, अंतकाळी आपल्याला कशा प्रकारे जाणता येते? यावर योगेश्वरांनी उत्तर दिले की, जो माझे निरंतर स्मरण करतो, माझ्याशिवाय दुसरे

कशाचेही स्मरण करत नाही व अशा स्मरणात लीन असताना जो देहत्याग करतो, त्याला साक्षात स्वरूपाची प्राप्ती होते. अर्थात देहत्यागानंतरच स्वरूपप्राप्ती होते असा याचा अर्थ नाही. मनाचा संपूर्णपणे निरोध करणे व त्या विरुद्ध मनाचे परमात्म्यामध्ये लय पावणे, म्हणजे अंतकाळ होय. यानंतर त्याला पुन्हा शरीर धारण करावे लागत नाही. कारण तो त्या परमपदाच्या ठायी स्थिर झालेला असतो. त्याचा मग पुनर्जन्म होत नाही.

श्रीकृष्णांनी अर्जुनाला निरंतर स्मरण करीत युद्ध करायला सांगितले; पण स्मरण आणि युद्ध या दोन्ही गोष्टी एकाच वेळी कशा करता येतील? म्हणजे 'हर हर महादेव' म्हणायचे आणि लाठी चालवायची असा त्याचा अर्थ आहे का? तेव्हा स्मरणाचे स्वरूप स्पष्ट करताना श्रीकृष्ण म्हणतात की, योगयुक्त होऊन माझ्याशिवाय अन्य कोणाचेही स्मरण न करता, निरंतर माझेच स्मरण कर. जर स्मरण इतके सूक्ष्म आहे तर मग युद्ध कोण करेल? समजा हे पुस्तक म्हणजे भगवान आहे. तर त्याच्या आसपास असणाऱ्या वस्तू, समोर बसलेले लोक, किंवा अन्य कोणत्याही गोष्टी न पाहणे, त्यांचा विचार मनात न आणणे. आणि समजा त्यांचा विचार मनात आला किंवा त्यांना पाहिले तर ते स्मरण नव्हे, अशा स्मरणात युद्ध कसले ? वास्तविक जर तुम्ही निरंतर स्मरणात मग्न व्हाल तर त्याच क्षणी तेथे युद्धाचे खरे स्वरूप प्रकट होते. मायेने निर्माण होणाऱ्या प्रवृत्ती विघ्नरुप बनून तेथे उभ्या राहतात. काम, क्रोध, राग, द्वेष हे शत्रू उभे ठाकतात आणि ते स्मरण करुन देत नाहीत. त्यांच्यावर विजय मिळवणे म्हणजे युद्ध करणे होय. या शत्रूंचा नाश झाल्यानंतर व्यक्ती परमपद प्राप्त करु शकते.

ही परमगती प्राप्त करण्यासाठी हे अर्जुना, तू 'ओऽम्' चा जप कर आणि ध्यान माझे कर. नाम आणि रूप ही आराधनेची किल्ली आहे.

यानंतर योगेश्वरांनी पुनर्जन्म म्हणजे काय ते समजावले. त्यांनी सांगितले की ब्रह्मदेवापासून यावन्मात्र जगत् पुनरावर्ती आहे. ते नष्ट झाले तरी माझे अव्यक्त स्वरूप नष्ट होत नाही.

योगाचे आचरण करणाऱ्या पुरुषांचे दोन मार्ग असतात. ज्याच्या अंतकाळी आत बाहेर संपूर्ण प्रकाश असतो, शुक्लपक्ष व उत्तरायणाचा काळ असेल व

अशा स्थितीत जो निरंतर भगवंताचे स्मरण करतो तो परमगतीला पोहचतो. आणि जो योगी भगवंताचे स्मरण करताना विचलित होतो. कृष्णपक्ष, दक्षिणायन, घोर अंधार अशा काळात जो देहत्याग करतो, तो सर्वसामान्य जिवात्म्याप्रमाणे जन्म-मरणाच्या फेऱ्यात फिरत राहतो. अर्थात, पुनर्जन्म घेऊन मागील जन्मात अपूर्ण राहिलेली साधना तो पूर्ण करू शकतो.

अशा प्रकारे आधीच्या जन्मातील साधना नंतरच्या जन्मात पूर्ण करुनही योगी परमधामापर्यंत पोहोचू शकतो. यापूर्वीही श्रीकृष्णांनी सांगितले आहे की परमेश्वराच्या साधनेमुळे-आराधनेमुळे व्यक्ती जन्म-मरणाच्या भयापासून मुक्त होते. '**दोन्ही मार्ग शाश्वत आहेत**' ही गोष्ट जाणून घेतल्यानंतर कोणीही पुरुष योगसाधनेपासून विचलित होत नाही. म्हणून हे अर्जुना, तू योगी बन. योगी वेदाध्ययन, तपश्चर्या, यज्ञ आणि दान यामध्ये जे पुण्यफल आहे त्याच्या पलीकडे जाऊन परमपदाची प्राप्ती करून घेतो.

या अध्यायामध्ये ठिकठिकाणी परमगतीचे चित्रण केले आहे. हे परमतत्त्व अव्यक्त, अक्षय आणि अक्षर आहे. त्याचा कधी क्षय अथवा विनाश होत नाही असे श्रीकृष्णांनी सांगितले आहे.

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्‌गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे 'अक्षरब्रह्मयोगो' नामाष्टमोऽध्यायः।।८।।

याप्रमाणे श्रीमद्‌भगवद्‌गीतारूपी उपनिषदातील ब्रह्मविद्यांतर्गत योगशास्त्रातील श्रीकृष्ण आणि अर्जुन यांच्या संवादातील 'अक्षर ब्रह्मयोग' नावाचा आठवा अध्याय समाप्त झाला.

इति श्रीमत्परमहंसपरमानन्दस्य शिष्य स्वामी अड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्‌भगवद्‌गीतायाः 'यथार्थगीता' भाष्ये 'अक्षरब्रह्मयोगो' नामाष्टमोऽध्यायः।।८।।

अशा प्रकारे श्रीमत्परमहंस परमानन्दजींचे शिष्य स्वामी अडगडानन्दकृत श्रीमद्‌भगवद्‌गीतेवरील भाष्य 'यथार्थ गीता' यामधील 'अक्षर ब्रह्मयोग' या नावाचा आठवा अध्याय समाप्त झाला.

।। हरिः ॐ तत् सत् ।।

ॐ

श्री परमात्मने नमः

।। अथ नवमोऽध्यायः ।।

अध्याय नववा

सहाव्या अध्यायापर्यंत श्रीकृष्णांनी योगाचे क्रमवार विवेचन केले आहे. त्या विवरणाचा शुद्ध अर्थ म्हणजे यज्ञविषयक कर्म-विधी किंवा प्रक्रिया! परमदेवाची प्राप्ती करून देणाऱ्या आराधनेचा विधीविशेष म्हणजे यज्ञ, त्यामध्ये हे चराचर जगत हवन स्वरूपात असते. मनाचा निरोध करून, निरुध्द झालेले मन जेव्हा परमेश्वराच्या ठिकाणी लय पावते तेव्हा अमृततत्त्वाचे ज्ञान प्राप्त होते. पूर्तिकालात यज्ञ ज्याची सृष्टी करतो, त्याचे ग्रहण करणारा ज्ञानी असतो आणि तो सनातन ब्रह्मामध्ये प्रवेश मिळवतो. त्या मीलनाचे नाव योग आहे. या यज्ञाला कार्यरूप देणे, याला कर्म म्हणतात. सातव्या अध्यायात त्यांनी सांगितले की, हे कर्म करणारे व्याप्त ब्रह्म, संपूर्ण कर्म, संपूर्ण अध्यात्म, संपूर्ण अधिदैव, आधिभूत आणि आधियज्ञासह मला जाणतात. आठव्या अध्यायात त्यांनी सांगितले की हीच परमगती आहे, हेच परमधाम आहे.

प्रस्तुत अध्यायामध्ये योगेश्वर श्रीकृष्णांनी योगयुक्त पुरुषाचे ऐश्वर्य कसे असते याची स्वतः चर्चा केली आहे. सर्वत्र व्यापून राहिलेला असूनही तो कसा निर्लेप आहे? सर्व काही करत असूनही तो कसा अकर्ता आहे? याप्रमाणे त्या पुरुषाच्या स्वभावावर आणि त्याच्या प्रभावावर येथे प्रकाश टाकला आहे. योगाचे आचरण सुरु केल्यानंतर येणाऱ्या देवतारूपी विघ्नांबाबत त्यांनी जागृत केले आणि त्या परमपुरुषाला शरण जाण्याबाबत भर दिला आहे.

श्रीभगवानुवाच-

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञान विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।।१।।

योगेश्वर श्रीकृष्ण म्हणाले, अर्जुना, तू असूयारहित असा असल्याने अत्यंत गुह्य असे हे ज्ञान विज्ञानासहित मी तुला सांगतो. म्हणजे परमात्म्याची प्राप्ती झाल्यानंतर तो महापुरुष कसा राहतो, सर्वत्र एकाच वेळी कसे काम करतो, तो सर्वांना कसा जागृत करतो, रथी बनून आत्म्याबरोबर कसा सदैव राहतो हे स्पष्ट करून तुला सांगेन. म्हणजे यत ज्ञात्वां त्याचे ज्ञान झाल्यानंतर तू या दुःखरुपी संसारातून मुक्त होशील. ते ज्ञान कसे आहे? हे सांगताना हे म्हणतात–

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुतमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्।।२।।

विज्ञानयुक्त असे हे ज्ञान सर्व विद्यांचा राजा आहे. विद्या म्हणजे भाषा; ज्ञान किंवा शिक्षण नाही. '**विद्या हि का ब्रह्मगतिप्रदाया**' '**सा विद्या या विमुक्तये ।**' विद्या म्हणजे तिच्या आश्रयाला येणाऱ्याला ब्रह्मपथावर नेते आणि त्याला मग मोक्ष प्रदान करते ते ज्ञान ! जर ब्रह्मपथावर चालत असताना ऋद्धी–सिद्धींमुळे किंवा प्रकृतीमुळे साधक मोहीत झाला, तर तेथे अविद्या सफल झाली असे समजावे. विद्या साधकाला चुकीच्या मार्गाला नेत नाही. ही विद्या म्हणजे राजविद्या आहे. ती साधकाचे कल्याणच करते. हे ज्ञान म्हणजे सर्व गुह्यांचा राजा आहे. अविद्या व विद्या यांचे अवगुंठण दूर झाल्यानंतर साधक योगयुक्त बनतो व मगच हे ज्ञान प्राप्त होते. हे ज्ञान अत्यंत पवित्र, उत्तम आणि प्रत्यक्ष फळ देणारे आहे. म्हणजे श्रद्धेने योगाचरण करा व त्याचे रोकडे फळ प्राप्त करा. या जन्मी साधना करा म्हणजे पुढच्या जन्मात त्याचे फळ मिळेल, असे म्हणणे म्हणजे अंधविश्वास होय. योगसाधनेने प्राप्त झालेल्या ज्ञानाचे फळ रोकडे असते. ते परमधर्म परमात्म्याशी जोडलेले असते. विज्ञानसहित असणारे हे ज्ञान आचरण्यास सरळ असते व ते अविनाशी असते.

दुसऱ्या अध्यायात योगेश्वर श्रीकृष्णांनी सांगितले होते की अर्जुना, या योगामध्ये बीज नष्ट पावत नाही. या योगाची अल्प साधना केली तरी जरामरणाच्या महान भयापासून मनुष्याचा उद्धार होतो. सहाव्या अध्यायामध्ये अर्जुनाने श्रीकृष्णाला विचारले होते की, भगवन्, ज्या साधकाची योगसाधना शिथिल आहे किंवा ज्याने अर्धवट साधना केली असेल, अगर काही कारणास्तव ती त्याची अपूर्ण राहिली असेल तर तो साधक भ्रष्ट तर होत नाही ना ? तो

नष्ट तर पावत नाही ना ? यावर श्रीकृष्णांनी सांगितले होते की, अर्जुना, प्रथम कर्माला समजून घेणे आवश्यक आहे आणि समजून घेतल्यानंतर साधकाने थोडी जरी साधना केली असली, तरी कोणत्याही जन्मात ती कधी नष्ट होत नाही. उलट त्या साधनेच्या प्रभावामुळे साधक प्रत्येक जन्मात साधना करीत असतो. अशा अनेक जन्मातील साधनेच्या अभ्यासामुळे तो शेवटी परमात्म्याला प्राप्त करतो – तो परमगतीला जातो. त्याच योगसाधनेबाबत श्रीकृष्ण येथे म्हणतात की, ही साधना अत्यंत सुगम व अविनाशी आहे, परंतु ती नितान्त श्रद्धेने करणे आवश्यक आहे.

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि।।३।।

हे परंतप अर्जुना, या आत्मज्ञानरूपी धर्मावर श्रद्धा न ठेवणारे पुरुष माझी प्राप्ती न होता या मृत्युरूप संसार–मार्गावर भ्रमण करीत राहतात. तेव्हा श्रद्धा असणे अत्यंत आवश्यक आहे. आपण या मृत्युरूप संसाराच्या पलीकडे गेलेले आहात का? यावर श्रीकृष्ण उत्तर देतात –

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।।४।।

माझ्या अव्यक्त रूपाने हे सर्व जग व्यापलेले आहे. म्हणजेच मी ज्या स्वरूपात स्थित आहे ते माझे अव्यक्त रूप सर्वत्र विस्तारलेले आहे. सर्व प्राणी माझे ठायी आहेत; परंतु मी त्यांच्यामध्ये स्थित नाही कारण मी अव्यक्त रूपात स्थित आहे. महापुरुष ज्या अव्यक्त स्वरूपात स्थित असतात (देहत्यागानंतर त्याच अव्यक्त स्तरावरून) तेथूनच बोलत असतात. हीच गोष्ट स्पष्ट करताना श्रीकृष्ण म्हणतात –

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः।।५।।

सर्व प्राणी माझ्या ठिकाणी आहेत असे म्हणणेही व्यर्थ आहे, कारण ते सर्व नश्वर आहेत – ते सर्व मरण पावणारे आहेत. ते प्रकृतीचे आश्रित आहेत. परंतु माझे योगमायेचे ऐश्वर्य पहा की, सर्व प्राणिमात्रांना उत्पन्न करणारा आणि

त्यांचे पोषण करणारा माझा आत्मा त्यांच्या ठिकाणी नाही. मी आत्मस्वरूप असल्याने सर्व भूतांच्या ठिकाणी स्थित नाही. हाच योगाचा प्रभाव किंवा सामर्थ्य आहे. हेच स्पष्ट करण्यासाठी योगेश्वर श्रीकृष्णांनी पुढे दृष्टांत दिला आहे.

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय।।६।।

आकाशात उत्पन्न होणारा महान वायू आकाशात सर्वत्र व्याप्त आहे; परंतु तो आकाशाला मलीन करू शकत नाही. त्याचप्रमाणे सर्व प्राणिमात्र माझ्या ठिकाणी स्थित आहेत असे जाण; बरोबर अशाच प्रकारे म्हणजे आकाशाप्रमाणे मी निर्लेप आहे. ते मला मलीन करू शकत नाहीत. हा सर्व योगाचा प्रभाव आहे. आता यानंतर योगेश्वर योगी करतो काय? या प्रश्नाचे उत्तर देताना म्हणतात –

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्।।७।

हे अर्जुना, कल्पान्ती सर्व भूतमात्रे माझ्या अव्यक्त प्रकृतीत लीन होतात, स्वभावाला प्राप्त होतात आणि कल्पाच्या प्रारंभी मी त्यांना पुनःपुन्हाः 'विसृजामि' विशेष रूपाने निर्माण करतो. ही भूते प्रथमपासूनच होती; परंतु ती विकृत होती. त्यांचीच मी पुन्हा रचना करतो – त्यांना सजवतो. जे अचेतन आहेत, त्यांना जागृत करतो. कल्पासाठी त्यांना प्रेरणा देतो. कल्प याचा अर्थ आहे उत्थानमुख प्रगतिशील परिवर्तन! आसुरी संपदेतून मुक्त होऊन जसजसा पुरुष दैवी संपदेमध्ये प्रवेश करतो, तेथूनच कल्पाचा प्रारंभ होतो, आणि जेव्हा तो ईश्वरभावामध्ये लय पावतो तेव्हा कल्पाचा क्षय असतो. आपले कर्म पूर्ण करून कल्पही विलय पावत असते. भजनाचा आरंभ म्हणजे कल्पाचा प्रारंभ आहे आणि भजनाची पराकाष्ठा म्हणजे जेथे लक्ष्य विदित होते – समजते तो कल्पाचा अंत होय. जेव्हा हा प्रत्यगात्मा – पुनरावर्तन करणारा – योनीजन्मास कारणीभूत असणाऱ्या राग द्वेषापासून मुक्त होऊन आपल्या शाश्वत स्वरूपात स्थिर होतो, यालाच श्रीकृष्ण माझ्या प्रकृतीला प्राप्त झाला असे म्हणतात.

जो महापुरुष प्रकृतीमध्ये विलय करून स्वरूपामध्ये प्रवेश मिळवतो त्याची प्रकृती कशी असते? त्याच्यामध्ये प्रकृती शेष असते का? नाही, तसे नसते तिसऱ्या अध्यायात (श्लोक ३३) श्रीकृष्णांनी सांगितले आहे की, सर्व आपल्या प्रकृतीला प्राप्त होतात. त्यांच्यावर प्रकृतीच्या ज्या गुणांचा प्रभाव असेल तसे ते करतात आणि '**ज्ञानवानपि**' प्रत्यक्ष दर्शनाबरोबर मला जाणणारा ज्ञानीसुध्दा आपल्या प्रकृतीच्या स्वभावाप्रमाणे वागत असतो. मागून येणाऱ्यांच्या कल्याणासाठी तसे तो वागत असतो. पूर्ण ज्ञानी असणाऱ्या तत्त्वस्थित महापुरुषाची राहणी हीच त्याची प्रकृती असते. तो आपल्या या स्वभावाप्रमाणे वागत असतो. कल्पांती लोक महापुरुषाच्या या राहणीमध्ये लीन होतात. महापुरुषाच्या या कृतीवर योगेश्वर पुन्हा प्रकाश टाकताना म्हणतात –

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमषशं प्रकृतेर्वशात्।।८।।

मी आपल्या प्रकृतीच्या म्हणजेच महापुरुषांच्या राहणीचा अंगीकार करून '**प्रकृतेर्वशात**' आपापल्या स्वभावात स्थिर असणारे, प्रकृतीच्या गुणांमुळे पराधीन असलेले सर्व भूतसमुदाय मी पुनः पुनः '**विसृजामि**' विशेषरूपाने निर्माण करतो, विशेष रूपाने त्यांना सजवतो, त्यांना आपल्या स्वरूपाकडे जाण्याची प्रेरणा देतो. याचा अर्थ तुम्ही कर्माने बद्ध आहात. हे स्पष्ट करताना श्रीकृष्ण म्हणतात –

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु।।९।।

चौथ्या अध्यायातील नवव्या श्लोकात श्रीकृष्णांनी सांगितले आहे की, महापुरुषाची कार्यप्रणाली अलौकिक आहे, दिव्य आहे. येथे ते हेच सांगत आहेत की धनंजया, जी कर्मे अव्यक्तरुपाने मी करीत असतो, त्यामध्ये मी आसक्त नसतो. अनासक्त व उदासीनप्रमाणे असलेल्या मला परमात्म स्वरूपाला ही कर्मे बद्ध करु शकत नाहीत. कारण कर्माच्या परिणामी जे लक्ष्य प्राप्त होत असते, त्यामध्ये मी स्थित असतो. त्यामुळे कर्मे करण्यासाठी मी बांधलेलो नाही.

हा तर स्वभावाशी जोडलेल्या प्रकृतीच्या कार्याचा प्रश्न होता, महापुरुषाची राहणी होती, त्याची रचना होती. आता माझ्या आभासामुळे ज्या मायेची रचना होते ती काय आहे? तो पण एक कल्प आहे.

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते।।१०।।

अर्जुना, माझ्या उपस्थितीत, सर्वत्रव्याप्त असणाऱ्या माझ्या तीव्र इच्छेमुळे ही माया (त्रिगुणमयी प्रकृती, अष्टधा मूल प्रकृती आणि चेतन) चराचरासह जगाची रचना करते. तोच क्षुद्र कल्प आहे आणि त्याच्यामुळेच हा संसार आवागमनाच्या चक्रात भ्रमत असतो. ज्याच्यामध्ये कालपरिवर्तन आहे अशा या क्षुद्र कल्पाची रचना माझ्या तीव्र इच्छाशक्तीमुळे प्रकृती करीत असते. मी करीत नाही. परंतु सातव्या श्लोकाप्रमाणे आराधनेचा संचार व प्राप्तिपर्यंत मार्गदर्शन करणारा कल्प यांची रचना महापुरुष स्वतः करतात. एका स्थानावर ते स्वतः कर्ता आहेत, जेथे ते निश्चित रूपाने निर्मिती करतात. येथे प्रकृती कर्ता आहे, जी केवळ आभासाने क्षणिक परिवर्तन करते. त्यातच शरीर परिवर्तन, युग परिवर्तन व काल परिवर्तन इत्यादींचा समावेश होतो. असा व्यापक प्रभाव असूनही मूर्ख लोक मला जाणत नाहीत.

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्।।११।।

संपूर्ण भूतांचा ईश्वर असलेल्या माझे उत्कृष्ट स्वरूप न जाणणारे मूर्ख लोक मला मनुष्यशरीरधारी समजून मला तुच्छ समजतात, ते माझी अवहेलना करतात. सर्व प्राणिमात्रांच्या ईश्वरांच्या ईश्वराचे उत्कृष्ट स्वरूप-परमतत्त्व म्हणजे मी आहे; परंतु मूर्ख लोक माझे हे श्रेष्ठ स्वरूप न जाणता मला मनुष्यधारी समजतात व मला मनुष्यच मानतात. परंतु त्यांचा दोष पण काय आहे? कारण जेव्हा ते पाहतात तेव्हा त्यांना महापुरुषाचे शरीरच दृष्टीस पडते. त्या महापुरुषाच्या शरीरात असणारा परमभाव-ईश्वरस्वरूप त्यांना दिसत नाही. ते त्या स्वरूपाला का पाहू शकत नाहीत? यावर योगेश्वर म्हणतात -

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः।।१२।।

ते भ्रष्टचित्त व विवेकशून्य पुरुष राक्षसी व आसुरी अशा मोहमय प्रकृतीवर अवलंबून असणारे म्हणजेच त्या आसुरी स्वभावाचे असतात. त्यामुळे त्यांच्या आशा व्यर्थ होतात, त्यांची कर्मे निरर्थक होतात आणि त्यांचे ज्ञानही निष्फळ ठरते. त्यामुळे ते मला मनुष्य समजतात. आसुर व राक्षस ही काही जाती किंवा योनी नव्हे. तो एक मनाचा स्वभावच आहे. आसुरी स्वभाव असणारे लोक मला जाणू शकत नाहीत; परंतु महात्माजन मात्र मला जाणतात व मला भजत असतात.

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्।।१३।।

हे पार्था, पण दैवी प्रकृतीचा म्हणजेच दैवी संपदेचा आश्रय करणारे महात्मे, मी सर्व भूतांचे आदिस्थान, अव्यय व अक्षर आहे असे जाणून अनन्य भावाने म्हणजेच माझ्याशिवाय आपल्या अंतरंगात दुसऱ्या कोणालाही स्थान न देता माझी भक्ती श्रद्धेने करतात. ते माझी भक्ती कशा प्रकारे करतात? यावर योगेश्वर म्हणतात –

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते।।१४।।

जे निरंतर चिंतनाबाबत दृढ आहेत, जे सतत माझ्या गुणांचे व नामाचे चिंतन करतात, माझ्या प्राप्तीसाठी निरंतर प्रयत्न करतात आणि जे मला भक्तिपूर्वक नमस्कार करतात ते माझ्या ठायी नित्य चित्त ठेवून अनन्य श्रद्धेने माझी उपासना करतात. ते कोणत्या प्रकारची उपासना करतात? ते कीर्तनज्ञान कशा प्रकारचे असते? अर्थात योगेश्वरांनी कोणती दुसरी उपासना येथे सांगितली नाही; परंतु ज्याला त्यांनी 'यज्ञ' म्हटले आहे व ज्याबद्दल त्यांनी विस्ताराने सांगितले आहे, तीच उपासना आराधना येथे पुन्हा थोडक्यात सांगितली आहे. पुढे तीच पुन्हा सांगताना म्हणतात –

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्।।१५।।

त्यांच्यापैकी काही तर सर्वन्यास विराट परमात्मा असा जो मी त्याची

ज्ञानयज्ञाने भजन करून उपासना करतात म्हणजेच आपली लाभ, हानी आणि शक्ती ओळखून आपले नियत कर्म, जे यज्ञ, त्यात प्रवृत्त होतात. कोणी एकत्वाने म्हणजेच अभेदभावाने माझी उपासना करतात. याप्रकारे अनेक तऱ्हेने माझी उपासना केली जाते. कारण एकाच यज्ञाचे हे सर्व उच्च-नीच स्तर आहेत. यज्ञाचा आरंभ सेवा हाच असतो; परंतु त्याचे अनुष्ठान कसे होते? योगेश्वर म्हणतात-यज्ञ मी करत असतो. जर महापुरुष सारथी बनला नाही तर यज्ञ कधी पार पडणार नाही. त्या भगवंताच्या निर्देशनामुळेच साधक आपली योग्यता काय आहे, आपण अद्याप कोणत्या स्तरावर आहोत हे जाणून माझ्यापर्यंत पोहचतात. वास्तविक यज्ञकर्ता कोण असतो? यावर श्रीकृष्ण म्हणतात -

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मान्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्।।१६।।

कर्ता मीच आहे. खरे पाहता कर्त्याच्यामागे प्रेरकरूपाने सदैव संचालित करणारा 'इष्ट' देवच आहे. कर्त्याद्वारा जो पैलपार पोहचतो तो माझ्यामुळेच! यज्ञ मीच आहे. आराधनेचा विधी-विशेष म्हणजे यज्ञ होय. प्राप्तिकालात यज्ञ ज्याची सृष्टी बनवतो, त्या अमृताचे पान करणारा पुरुष सनातन ब्रह्मामध्ये प्रवेश मिळवतो. स्वधा मीच आहे. म्हणजे भूतकाळातील अनंत संस्कारांचा विलय करून त्यांना तृप्त करणारा मीच आहे. भवरोग नष्ट करणारी औषधी वनस्पती मीच आहे. मला प्राप्त करून लोक या भवरोगाच्या व्याधीपासून मुक्त होतात. मंत्र मीच आहे. मनाचा श्वासाच्या पोकळीत निरोध करणारा मीच आहे. अग्नी मीच आहे. माझ्याच प्रकाशात मनाच्या सर्व प्रवृत्ती विलय होत असतात. तसेच हवन म्हणजेच समर्पण मीच आहे.

येथे योगेश्वर पुनःपुनः हे मीच आहे, ते मीच आहे असे म्हणत आहेत. परंतु त्याचा अर्थ एवढाच की मीच प्रेरकाच्या रूपामध्ये आत्म्याशी अभिन्न होऊन उभा असतो, तसेच सतत मीच निर्णय देत योगक्रिया पूर्ण करवतो. यालाच 'विज्ञान' असे म्हणतात. पूज्य महाराजश्री म्हणत की, जोपर्यंत इष्टदेव रथी होऊन श्वास-प्रश्वास यांचे नियंत्रण करत नाही, तोपर्यंत भजनाला आरंभच होत नाही. कोणी कितीही डोळे बंद करो, भजन करो, तपश्चर्येने शरीराला

तापवो; परंतु जोपर्यंत ज्या परमात्म्याविषयी आम्हाला प्रेम आहे व आम्ही ज्या पायरीवर उभे आहोत त्या स्तरावर उतरून तो आत्म्याशी अभिन्न राहून जागृत होत नाही, तोपर्यंत भजनाचे खरे स्वरूप समजत नाही. म्हणूनच महाराजश्री म्हणत, माझ्या स्वरूपाला पकडून ठेवा, मी तुम्हाला सर्व काही देईन. येथे श्रीकृष्ण तेच म्हणत आहेत – सर्व माझ्यामुळे होत आहे.

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च।।१७।।

अर्जुना मीच या संपूर्ण जगाचा 'धाता' म्हणजे धारण करणारा, 'पिता' म्हणजे पालन करणारा, 'माता' म्हणजे उत्पन्न करणारा आहे. मीच 'पितामहः' म्हणजे मूळ उद्‌गम आहे, ज्यात सर्व प्रवेश मिळवतात. जाणण्यास योग्य असणारा ओंकार म्हणजेच अहम आकारः इति ॐकारः तो परमात्मा माझ्या स्वरूपात आहे. 'सोऽहं, तत्वमसि' इत्यादी एक दुसऱ्याचे पर्याय आहेत. असे जाणण्यास योग्य स्वरूप मीच आहे. 'ऋक' म्हणजे संपूर्ण प्रार्थना, 'साम' म्हणजे समत्व देवविणारी प्रक्रिया, 'यजुः' म्हणजे यज्ञाचा विधीविशेष मीच आहे. योग अनुष्ठानाची वर सांगितलेली तिन्ही आवश्यक अंगे माझ्यात आहेत.

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्।।१८।।

हे अर्जुना, 'गतिः' म्हणजे प्राप्त करण्यास योग्य परमगती. 'भर्ता' भरण–पोषण करणारा सर्वांचा स्वामी, 'साक्षी' म्हणजे दृष्टा रूपात राहिलेला, सर्वांना जाणणारा, सर्वांचे निवासस्थान असणारा, शरण येण्यास योग्य, जगाचा सखा, उत्पत्ती आणि प्रलय म्हणजेच शुभाशुभ संस्कारांचा विलय तसेच अविनाशी कारण मीच आहे. अर्थात शेवटी ज्याच्यामध्ये प्रवेश मिळतो त्या साऱ्या विभूती मीच आहे.

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन।।१९।।

मी सूर्याच्या रूपाने तापतो, मी पाणी शोषून घेतो व पाऊसही पाडतो. मृत्यूच्या पलीकडचे अमृतत्त्व तसेच मृत्यू, सत आणि असत् सर्व काही मीच

आहे. म्हणजेच जगाला प्रकाश देणारा सूर्य मीच आहे. माझी उपासना करणारे कधी मला असत् समजतात तेव्हा ते मृत्यू पावतात.

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्।।२०।।

उपासनेच्या तीन अंगाचे – ऋक, साम आणि यजु म्हणजे प्रार्थना, समत्वाची प्रक्रिया आणि यज्ञाचे आचरण करणारे, सोम म्हणजे चंद्राचा सूक्ष्म प्रकाश प्राप्त करणारे, पापातून मुक्त होऊन पवित्र झालेले पुरुष त्याच यज्ञाच्या निर्धारित प्रक्रियेतील – विधीने माझ्या इष्टरुपाची पूजा करुन स्वर्गप्राप्तीसाठी प्रार्थना करतात. ही असत्‌ची कामना आहे. यामुळे त्यांना मृत्यू प्राप्त होतो, त्यांचा पुनर्जन्म होतो. ते यशातील निर्धारित विधीने माझी पूजा करतात. परंतु स्वर्गातील दिव्य पदार्थांच्या भोगाची याचना करतात. असे पुरुष आपल्या पुण्यफलामुळे इंद्रलोक प्राप्त करतात व तेथील स्वर्गीय देवतांसाठी असणारे दिव्य भोग भोगतात. अर्थात ते भोगदेखील मी देत असतो.

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते।।२१।।

तो विशाल स्वर्गलोक भोगल्यावर पुण्याची पुंजी संपली की ते पुन्हा मृत्युलोकात प्रवेश करतात. म्हणजे जन्म–मृत्यूचा फेऱ्यात पुन्हा अडकतात. अशा प्रकारे 'त्रयीधर्मम' प्रार्थना, समत्व आणि यजन तीन विधीनी एकाच यज्ञाचे अनुष्ठान करणारे माझ्या आश्रयाला आलेले असूनही स्वर्गाची कामना करणारे पुरुष स्वर्गमृत्यूच्या येरझारा करतात. म्हणजेच ते पुनर्जन्म पावतात. परंतु या लोकांचे पुण्याचे बीज नष्ट होत नाही. तेव्हा साधकांनी स्वर्गभोगाची कामना करता कामा नये. जे कोणत्याही प्रकारची कामना ठेवत नाहीत त्यांना काय प्राप्त होते?

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।।२२।।

'अनन्य भावाने' माझ्या ठिकाणी स्थित असणारे भक्तजन माझ्या परमात्म स्वरूपाचे निरंतर चिंतन करतात, 'पर्युपासते' अत्यंत एकनिष्ठेने अनन्य भावाने माझी उपासना करतात, त्या सतत माझ्या ठायी अनन्य भावाने युक्त असणाऱ्या पुरुषांचा योगक्षेम मी स्वतः चालवितो. म्हणजेच त्यांनी प्राप्त केलेल्या योगाचे रक्षण करण्याची जबाबदारी मी स्वतः उचलतो. तरीही लोक अन्य देवतांची उपासना करतात.

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्।।२३।।

हे कौन्तेया, जे श्रद्धेने युक्त असलेले भक्त माझ्याहून अन्य देवतांची पूजा करतात; ते देखील माझीच पूजा करतात. कारण अन्य देवता अस्तित्वातच नाहीत. परंतु त्यांचे पूजन हे अविधीपूर्वक असते. माझ्या प्राप्तीसाठी लागणारा विधी त्या स्थानी नसतो.

या ठिकाणी योगेश्वर श्रीकृष्णांनी दुसऱ्यांदा देवतांचा मुद्दा विचारात घेतला आहे. सर्वप्रथम सातव्या अध्यायातील विसाव्या श्लोकात त्यांनी सांगितले होते की, अर्जुना, उपभोगांची इच्छा करणाऱ्या लोकांचे ज्ञान भ्रष्ट झाल्याने ते मूढबुद्धी पुरुष ज्या देवतांचे अस्तित्वच नाही अशा अन्य देवतांची अज्ञानाने पूजा करतात. पिंपळ, दगड, भूत, भवानी किंवा जेथे त्यांची श्रद्धा दृढ होते त्याची ते पूजा करतात. वास्तविक त्या ठिकाणी मीच उभा राहतो आणि त्या देवतांवरील त्यांच्या श्रद्धेला दृढ करतो. मीच तेथे फलाची योजना करतो, मीच त्यांना फळ देतो. त्यांना त्यांच्या भक्तीचे फळ निश्चितपणे मिळत असते; परंतु ते फळ नाशवंत असते. ते आज आहे, तर उद्या त्याचा उपभोग घेतला जाईल, परवा ते नष्ट होईल. परंतु माझा भक्त नष्ट पावत नाही. परंतु मूढबुद्धीचे तसेच ज्यांचे ज्ञान भ्रष्ट झाले आहे असे अज्ञानी अन्य देवतांची पूजा करतात.

प्रस्तुत अध्यायात तेविसाव्या श्लोकापासून पंचविसाव्या श्लोकापर्यंत योगेश्वर श्रीकृष्णांनी पुन्हा एकदा सांगितले आहे की, जे लोक श्रद्धापूर्वक अन्य देवतांना पूजतात ते वास्तविक मलाच पूजत असतात. परंतु त्यांचे

पूजन अविधीपूर्वक असते. आता प्रश्न असा की जर अन्य देवतांच्या स्वरूपात आपल्यालाच पूजतात व त्याचे फळही आपण देता. मग त्यात काय दोष आहे?

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते।।२४।।

सर्व यज्ञांचा मी भोक्ता आहे. म्हणजे यज्ञ ज्यामध्ये विलय पावतो व यज्ञापासून जे फल प्राप्त होते ते मीच आहे. सर्व यज्ञांचा स्वामी मीच आहे परंतु ते माझे परमतत्त्व यथार्थ रूपाने जाणत नसल्याने 'च्यवन्तिं' घसरतात. म्हणजेच ते कधी अन्य देवतांमध्ये घसरतात आणि माझे परमतत्त्व जोपर्यंत जाणत नाहीत, तोपर्यंत उपभोगांच्या कामनेमुळे घसरतात. मग अशांची गती काय असते?

यान्ति देवव्रता देवान् पितृन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्।।२५।।

अर्जुना, देवतांची पूजा करणारे देवतांप्रत जातात. देवता म्हणजे एक परिवर्तीत सत्ता आहे. जीवांच्या सतकर्मानुसार ते जीवाला फल देतात. पितरांची भक्ती करणारे पितरांप्रत जातात. म्हणजेच ते भूतकाळात गुंतून राहतात आणि माझा भक्त माझ्याप्रत येतो. ते माझे साक्षात स्वरूप बनतात. त्यांचे पतन होत नाही. माझ्या पूजेचा विधीही अत्यंत सरळ आहे.

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः।।२६।।

भक्तीचा प्रारंभ उत्कट भक्तीने होत असतो. अशा उत्कट भक्तीने जो मला पान, फूल, फळ अथवा पाणी अर्पण करतो त्या शुद्ध चित्त असणाऱ्या भक्ताने भक्तिपूर्वक अर्पण केलेले काहीही मी सेवन करतो. तेव्हा –

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।।२७।।

अर्जुना, तू जे कर्म करतोस, जे खातोस, जे हवन करतोस, जे दान देतोस, मनासहित इंद्रियांचा निरोध करून माझ्यासाठी जी दाने आचरतोस किंवा तप

करतोस ते सर्व मला अर्पण कर. म्हणजे तुझी प्रत्येक कृती तू माझ्यासाठी कर, ते सर्व मला समर्पित कर, समर्पित भावनेने तू सर्व कर्म कर. तू अशा समर्पण भावाने तुझी कर्मे केलीस तर तुझ्या योगसाधनेबाबतची जबाबदारी मी घेईन.

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबंधनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि।।२८।।

अशा प्रकारे माझ्या ठायी तू सर्व समर्पण केलेस, तर शुभाशुभफलरूपी कर्मबंधनातून मुक्त होशील व सर्वस्वाचा कर्मफलाचा न्यास म्हणजे संन्यास करण्याच्या या योगाने युक्त असा तू मला प्राप्त होशील.

वरील तीन श्लोकांमध्ये श्रीकृष्णांनी भक्तीची क्रमबद्ध साधना व तिच्यापासून प्राप्त होणाऱ्या परिणामाचे चित्रण केले आहे. प्रथम पत्र, पुष्प, फल, जल इत्यादींचे श्रद्धापूर्वक अर्पण करणे, दुसरे समर्पित होऊन कर्माचे आचरण करणे आणि तिसरे म्हणजे पूर्ण समर्पणासह सर्वस्वाचा त्याग करणे. या प्रकारे भक्ती करणारा कर्मबंधनापासून मुक्त होतो. मुक्त झाल्यावर काय होणार ? योगेश्वर म्हणतात मुक्त झालेला भक्त मला प्राप्त होतो. पण त्यामुळे काय फायदा होतो? यावर श्रीकृष्ण म्हणतात –

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।।२९।।

या अखिल सृष्टीमध्ये ना माझा कोणी आवडता म्हणजे आपला आहे, ना कोणी नावडता म्हणजे परका आहे. परंतु जो मला अनन्य भक्तीने भजतो तो भक्त माझ्या ठिकाणी असतो व मी त्यांच्या ठायी असतो. हेच माझे एकमेव नाते आहे. त्यांच्यामध्ये मी परिपूर्ण असतो. तेव्हा आम्हा दोघांमध्ये कसलेही अंतर राहत नाही. मग तर अनेक भाग्यशाली लोक आपले भजन करत असतील? अशा प्रकारचे भजन किंवा उपासना करण्याचा कोणास अधिकार असतो? यावर श्रीकृष्ण म्हणतात –

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः।।३०।।

पूर्वी अत्यंत दुराचारी असलेला मनुष्य जर अनन्य भक्तीने म्हणजेच माझ्याशिवाय अन्य कोणत्याही वस्तूची अगर देवतेची उपासना न करता केवळ माझीच निरंतर उपासना करील तर तोही साधूच समजावा. अजून तो साधू बनलेला नसला तरी त्याच्या बुद्धीने चांगल्या प्रकारे दृढ निश्चय केलेला असतो. सांगण्याचे तात्पर्य, माझे भजन-माझी उपासना आपणही करू शकता. अट फक्त एवढीच की आपण मनुष्य असले पाहिजे. कारण एक मनुष्यच तेवढा दृढ निश्चयाचा असतो. गीता पापी लोकांचा उद्धार करीत असते आणि तो भक्त -

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।।३१।।

या भजनाच्या प्रभावाने तो दुराचारीही लवकरच धर्मात्मा बनतो. तो परमधर्म परमात्म्याशी युक्त होऊन शाश्वत परमशान्तीला प्राप्त होतो. तू हे निश्चितपणे जाण की माझा भक्त कधीही नष्ट पावत नाही. अरे कौन्तेया, जर तो एका जन्मात भवसागर पार करू शकला नाही तरी पुढच्या जन्मात साधना करून लवकर परमशान्तीला प्राप्त होतो. तेव्हा भक्त सदाचारी असो की दुराचारी असो, माझी उपासना करण्याचा सर्वांना अधिकार आहे. इतकेच नव्हे तर -

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्।।३२।।

हे पार्था, माझा आश्रय करून, स्त्रिया, वैश्य, शूद्र तसेच ज्यांचा जन्म पापयोनीत झाला आहे, असे लोक देखील परमगतीला प्राप्त होतात. तेव्हा ही गीता सर्व प्रकारच्या मनुष्यमात्रांसाठी आहे, मग तो मनुष्य काहीही करत असो किंवा कोठेही तो जन्मलेला असो. ही गीता सर्वांना सारखाच उपदेश देत असते. गीता सार्वभौम आहे.

पापयोनी - सोळाव्या अध्यायात ७ ते ११ पर्यंतच्या श्लोकात आसुरी वृत्तीची लक्षणे सांगतांना भगवंतानी म्हंटले की, जो शास्त्र-विधीचा त्याग करून केवळ मोठेपणा दाखविण्यासाठी यज्ञ करतो व दांभिकपणे पूजन

करतो तो सर्व मनुष्यांत अधम होय. त्यांचा यज्ञ हा नावापुरताच यज्ञ असतो व त्याचे यजन म्हणजे निव्वळ दांभिकपणा असतो. असा मनुष्य क्रूरकर्मी व पापाचारी असतो. वैश्य-शूद्र भगवत्पथाच्या शिडया आहेत. स्त्रियांचे बाबतीत कधी सन्मानाची तर कधी हीनतेची भावना लोकांच्यात असते; परंतु योग-प्रक्रियेमध्ये स्त्री आणि पुरुष या दोघांना सारखाच प्रवेश असतो.

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।।३३।।

तर मग ब्राह्मण तसेच राजर्षी, क्षत्रीय या श्रेणीतील माझ्या भक्तांबद्दल तर काय सांगू? अरे, ब्राह्मण म्हणजे एक अवस्था आहे की, जीमध्ये ब्रह्मामध्ये प्रवेश मिळवून देण्याची योग्यता असते. शांती, अनुभव, आर्जव, ध्यान आणि इष्टदेवाच्या निर्देशानुसार चालण्याची ज्यामध्ये क्षमता आहे, ती ब्राह्मण अवस्था होय. राजर्षी क्षत्रीय अवस्थेमध्ये ऋद्धी-सिद्धींचा संचार, शौर्य, स्वामीभाव, मागे न हटण्याचा स्वभाव, या गोष्टी असतात. योगाच्या या स्तरापर्यंत पोहचलेले योगी तर प्रकृतीच्या पलीकडे जातातच. त्यांच्याबद्दल किती व काय सांगावे! तेव्हा हे अर्जुना, दुःखकारक व नश्वर शरीराचे ममत्व सोड, त्याच्या पोषणाची काळजी सोड व अनन्य भावाने माझी उपासना कर.

योगेश्वर श्रीकृष्णांनी येथे चौथ्यांदा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आणि शूद्र या चार वर्णांची चर्चा केली आहे. दुसऱ्या अध्यायात त्यांनी सांगितले की क्षत्रियासाठी युद्धाव्यतिरिक्त अधिक कल्याणकारक दुसरा कोणताच मार्ग नाही. तिसऱ्या अध्यायात त्यांनी सांगितले की स्वधर्मामध्ये निधन झालेले कल्याणकारक असते. चौथ्या अध्यायात त्यांनी सांगितले की, चार वर्णांची रचना मीच केली आहे. तर मनुष्याची चार वर्णांत त्यांनी विभागणी केली का? तेव्हा ते म्हणाले की, **गुण कर्म विभागशः** मनुष्यामध्ये वसत असणाऱ्या गुणानुसार तो जे कर्म करतो, त्या कर्मावरून मनुष्याला चार श्रेणीत विभागले आहे. श्रीकृष्णांच्या मते यज्ञाची प्रक्रिया म्हणजे एकमात्र कर्म आहे. प्रवेशकालात म्हणजे योगाच्या प्रारंभी यज्ञकर्त्याचे ज्ञान अल्प असते, म्हणून त्याला शूद्र म्हंटले आहे. जेव्हा काही करण्याची क्षमता त्याच्यामध्ये येते, आत्मिक संपदेमध्ये वृद्धी होते, तेव्हा तो यज्ञकर्ता वैश्य बनतो. जेव्हा प्रकृतीच्या तिन्ही गुणांना कापण्याची

क्षमता त्याच्यामध्ये येते, तेव्हा तो साधक क्षत्रिय बनतो आणि जेव्हा ब्रह्मामध्ये प्रवेश मिळवून देण्याची त्याच्यामध्ये क्षमता येते, तेव्हा तोच साधक ब्राह्मण बनतो. वैश्य व शूद्र यांच्यापेक्षा ब्राह्मण व क्षत्रिय श्रेणीतील साधक ईश्वरप्राप्तीच्या अधिक समीप असतात. शूद्र आणि वैश्यही आपल्या निरंतर प्रयत्नाने व भक्तीने ब्रह्मामध्ये प्रवेश मिळवून शांत होतील. यापुढील अवस्थेबद्दल सांगण्याची आवश्यकताच नाही कारण त्यांच्यासाठी तर परमगती निश्चितच असते.

गीता ज्या उपनिषदांचे सार-सर्वस्व आहे त्या उपनिषदांत अनेक ब्रह्म-विदुषींची सूक्ते आहेत. तथाकथित धर्मभीरु, रुढीवादी लोकांनी वेदाध्ययनाचा अधिकार स्त्रियांना देण्याबाबत वादंग माजवले. पण योगेश्वर श्रीकृष्णांचे स्पष्ट म्हणणे आही कि स्त्री-पुरुष सर्व भाग घेऊ शकतात व म्हणून ते उपासनेवर जास्त भर देत आहेत.

मन्मनाभव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः।।३४।।

हे अर्जुना, तू आपले मन तद्रूप कर. ते सतत माझ्या ठिकाणीच ठेव. माझ्याशिवाय दुसरा कोणताही विचार मनात येऊ देऊ नकोस. तू माझा अनन्य भक्त हो, निरंतर माझे चिंतन कर, श्रद्धेने निरंतर माझेच पूजन कर आणि मलाच नमस्कार कर. या प्रकारे मत्परायण होऊन, मला शरण येऊन आत्म्याला माझ्या ठायी स्थिर कर, म्हणजे तू माझ्या प्रत येशील, मला प्राप्त करशील, म्हणजेच माझ्यात तद्रूप होशील.

निष्कर्ष-

या अध्यायामध्ये सुरुवातीस श्रीकृष्णांनी अर्जुनाला सांगितले - अर्जुना माझा दोषरहित भक्त असणाऱ्या तुला हे ब्रह्मज्ञान विज्ञानासहित सांगेन. ते जाणल्यानंतर तुला जाणण्यासारखे काहीही शिल्लक राहणार नाही. ते जाणल्यानंतर तू संसार बंधनातून मुक्त होशील. हे ज्ञान म्हणजे सर्व प्रकारच्या विद्याचा राजा आहे. परब्रह्मामध्ये प्रवेश देते ती खरी विद्या होय. हे ज्ञान तर त्या विद्येचा पण राजा आहे. अर्थात हे ज्ञान निश्चित कल्याणकारी आहे. हे सर्व गुह्यांचा राजा आहे. गुह्य वस्तूदेखील प्रत्यक्ष दाखवू शकणारे आहे. हे प्रत्यक्ष फल देणारे, साधना करण्यात सुगम आणि अविनाशी असे आहे.

याचा अंश जरी तुम्हाला प्राप्त झाला तरी त्याचा कधी नाश होत नाही. उलट त्याच्या प्रभावाने तुम्ही परमश्रेयापर्यंत पोहचू शकता. परंतु मनुष्य श्रद्धावान पाहिजे. अश्रद्ध मनुष्याला परमगती तर प्राप्त होत नाहीच, उलट तो संसार चक्रामध्ये फिरत राहतो.

यानंतर योगेश्वर श्रीकृष्णांनी योगाच्या ऐश्वर्यावर प्रकाश टाकला आहे. दुःखापासून मुक्ती म्हणजेच योग आहे. संसारातील संयोग–वियोगापासून जे अलिप्त आहे, त्यापासून जे रहित आहे, त्याला योग असे म्हणतात. परमतत्त्व परमात्म्याशी मीलन म्हणजे योग होय. परमात्म्याची प्राप्ती म्हणजे योगाची पराकाष्ठा होय. जे त्यामध्ये प्रवेश मिळवतात, त्यांचा प्रभाव त्यांचे सामर्थ्य बघ. सर्व भूतमात्रांचा स्वामी आणि जीव धारण करणाऱ्या प्राणिमात्रांचा पोषण करणारा असूनही माझा आत्मा त्या भूतमात्रांमध्ये स्थित नसतो. मी आत्मस्वरूपात स्थित असतो. ज्याप्रमाणे आकाशात उत्पन्न होऊन सर्वत्र संचार करणारा वायू आकाशात स्थित असला तरी तो आकाशाला मलीन करू शकत नाही; त्याप्रमाणे सर्व भूतमात्र माझ्या ठायी स्थित असले तरी मी त्यांच्यापासून अलिप्त आहे.

अर्जुना, कल्पाच्या प्रारंभी मी प्राणिमात्रांची रचना करतो, त्यांना सजवतो आणि कल्पांती सर्व भूतमात्र माझ्या प्रकृतीमध्ये म्हणजेच योगारूढ महापुरुषाच्या आचरणामध्ये अव्यक्त भावाने प्राप्त होतात. महापुरुष जरी प्रकृतीच्या पलीकडे गेलेले असले तरी परमगती प्राप्त झाल्यानंतर स्वतःच्या ठिकाणी स्थिर असतात. लोकसंग्रहासाठी जे कार्य करतात तेच त्यांचे आचरण आहे. तीच त्यांची राहणी होय. त्यांच्या या राहणीलाच महापुरुषाची प्रकृती असे म्हंटले जाते.

कल्पाच्या प्रारंभी भूतमात्रांना प्रेरित करणारा, त्यांची रचना करणारा मी एक रचनाकार आहेच. दुसरी रचनाकार त्रिगुणमयी प्रकृती आहे, जी माझ्या मायेने चराचर सृष्टीची रचना करते. हाही एक कल्पच आहे ज्यात शरीर परिवर्तन, स्वभाव परिवर्तन आणि काल परिवर्तन समाविष्ट आहे. गोस्वामी तुलसीदास म्हणतात –

एक दुष्ट अतिशय दुःख रूपा।
जा बस जीव परा भवकूपा।। (रामचरितमानस, ३/१४/५)

विद्या व अविद्या हे प्रकृतीचे दोन प्रकार आहेत. यामध्ये अविद्या दुष्ट आहे, दुःखरूप आहे. तिच्यामुळे जीव विवश होऊन भवरूपी कूपामध्ये पडला आहे. तिच्यामुळेच प्रेरित होऊन जीव काल, कर्म, स्वभाव आणि गुणांच्या फेऱ्यात अडकत असतो. दुसरी आहे ती विद्या. तिची रचना मी करतो. गोस्वामीजींच्या मते ईश्वर तिची रचना करतो.

एक रचइ जग गुन बस जाके।
प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके।। (रामचरितमानस, ३/१४/६)

जिच्या आश्रित गुण आहेत, त्या जगताची रचना प्रकृती करते. परंतु कल्याणकारी गुण एकमात्र ईश्वरात आहेत. प्रकृतीमध्ये गुणच नाहीत. ती तर नश्वर आहे. परंतु विद्येमध्ये प्रभू प्रेरक बनून राहतात.

या प्रकारे कल्प दोन प्रकारचे आहेत. एक तर वस्तूचा, शरीर आणि काळाचा परिवर्तन कल्प आहे, परंतु हे परिवर्तन प्रकृती माझ्या मायेपासून करत असते. परंतु यापेक्षा दुसरा कल्प महान आहे, तो आत्म्याला निर्मल स्वरूप देतो व महापुरुष तिचा शृंगार करतात. तो अचेत भूतमात्रांना सचेत करतो. भजनाचा प्रारंभ हाच या कल्पाचा प्रारंभ आहे व भजनाची पराकाष्ठा हाच या कल्पाचा अंत आहे. जेव्हा हा कल्प भवरोगातून मुक्त होऊन पूर्ण निरोगी बनून शाश्वत ब्रह्मामध्ये प्रवेश देतो, त्यावेळी योगी माझ्या आचरणाला आणि स्वरूपाला प्राप्त होतात. प्राप्तीनंतर महापुरुषांची राहणीच त्यांची प्रकृती असते.

धर्मग्रंथातील काही कथांमधून म्हंटले आहे की, चार युगे संपल्यानंतरच एक कल्प पूर्ण होतो. त्यावेळी महाप्रलय होतो. अर्थात लोकांना त्यात तथ्य वाटत नाही व लोक त्यावर विश्वासही ठेवत नाहीत. युगाचे दोन अर्थ आहेत. जोपर्यंत तुम्ही अलग आहात व आराध्य अलग आहे तोपर्यंत युगधर्म राहीलच. गोस्वामीजींनी रामचरितमानसाच्या उत्तरकांडामध्ये याची चर्चा केली आहे. जेव्हा तामसी गुणाचे प्राबल्य असते, रजोगुण अल्पमात्रात असतात, मनात

विरोधाचे – शत्रुत्वाचे तांडव असते, तेव्हा ती व्यक्ती कलियुगीन समजावी. असा मनुष्य भजन करू शकत नाही. परंतु जेव्हा तो साधनेला प्रारंभ करतो तेव्हा युग-परिवर्तन होत असते. रजोगुण वाढू लागतो, तमोगुण क्षीण होऊ लागतो, सत्त्वगुणही थोडया प्रमाणात स्वभावात येऊ लागतो, हर्ष आणि भय यांची द्विधा परिस्थिती चालू राहते. तेव्हा तोच साधक द्वापार अवस्थेमध्ये पोहचतो. या क्रमाने जेव्हा सत्त्वगुणाचे बाहुल्य होते तेव्हा रजोगुण कमी होतो, आराधना वाढत जाते. अशा प्रकारे त्रेता युगात त्यागी वृत्तीचा बनलेला साधक अनेक यज्ञ करतो. 'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि' ज्याचा चढ-उतार श्वास-प्रश्वासावर आहे असा यज्ञ श्रेणीचा जप करण्याची त्याच्यात क्षमता येते; तेव्हा मात्र सत्त्वगुण शेष राहतो, विषमता नष्ट होते, समता येते, तेव्हा तेच कृत युग म्हणजेच कृतार्थ युग किंवा सतयुग असते. त्यावेळी सर्व योगी विज्ञानी बनतात, ईश्वराला प्राप्त होणारे असतात. त्यांच्यात स्वाभाविक ध्यान करण्याची क्षमता येते.

विवेकी लोक युगधर्माचा चढ-उतार मनात समजत असतात. ते मनाचा निरोध करण्यासाठी अधर्माचा परित्याग करून धर्मामध्ये प्रवृत्त होतात. निरूध्द झालेल्या मनाचाही विलय झाल्यावर युगांच्या बरोबर कल्पाचाही अंत होतो. पूर्णत्व प्राप्त करून दिल्यावर कल्प देखील शांत होते. जेव्हा प्रकृती पुरुषांमध्ये विलीन होऊन जाते. तेव्हा तोच प्रलय असतो. यानंतरची महापुरुषांची जी राहणी आहे तीच प्रकृती आहे, तोच त्यांचा स्वभाव आहे.

योगेश्वर श्रीकृष्ण म्हणतात की हे अर्जुना, मूढ लोक मला जाणत नाहीत. मला, ईश्वराला पण तुच्छ समजतात, मला ते एक साधारण मनुष्य समजतात. प्रत्येक महापुरुषाची अशीच विटंबना होत आली आहे. तत्कालीन समाजाने त्यांची उपेक्षा केली आहे. त्यांना कसून विरोध झाला. श्रीकृष्णही त्याला अपवाद नव्हते म्हणून ते इथे म्हणतात की, मी परमभावामध्ये स्थित आहे, परंतु मी देहधारी आहे व म्हणून मूर्ख लोक मला तुच्छतेने मनुष्यच म्हणतात. अशा लोकांची आशा, कर्म व ज्ञान व्यर्थ असते, कारण काहीही केले व म्हंटले की, आम्ही कामना करीत नाही. तर असे म्हणण्याने ते निष्काम कर्मयोगी होत नाहीत. ते आसुरी स्वभावाचे लोक मला पारखू शकत नाहीत,

मला ओळखू शकत नाहीत. परंतु दैवी संपदा प्राप्त झालेले लोक अनन्य भावाने माझे ध्यान करतात. माझ्या गुणांचे निरंतर चिंतन करतात.

अनन्य उपासनेचे म्हणजे यज्ञार्थ कर्माचे दोनच मार्ग आहेत. पहिला आहे ज्ञानयज्ञ म्हणजे स्वतःवरचा विश्वास व स्वतःची शक्ती ओळखून नियत कर्मामध्ये प्रवृत्त होणे आणि दुसरा मार्ग म्हणजे स्वामी सेवक भावना होय. ज्यामध्ये सद्‌गुरुंना समर्पित होऊन कर्म केले जाते. या दोन मार्गांनी लोक माझी उपासना करतात; परंतु त्यांच्या द्वारा जो पैलावर पोचतो तो यज्ञ, ते हवन, तो कर्ता, श्रद्धा, भवरोग नष्ट करणारी हे ते सर्व मीच आहे आणि शेवटी जी गती प्राप्त होते ती गतीही मीच आहे.

या यज्ञाला लोक '**त्रैविद्या**'–प्रार्थना, यजन आणि समत्व देणाऱ्या विधींनी संपादित करतात. परंतु याच्या मोबदल्यात ते स्वर्गाची अभिलाषा ठेवतात. तेव्हा मी त्यांना स्वर्गही देतो. त्याच्या प्रभावाने ते इंद्रपद प्राप्त करतात. दीर्घकालपर्यंत ते पद ते उपभोगतात, परंतु पुण्य संपताच त्यांना पुनर्जन्म प्राप्त होतो. त्यांची कृती बरोबर असते, परंतु उपभोगाच्या इच्छेमुळे ते पुनर्जन्म पावतात. तेव्हा साधकांनी उपभोगांची अभिलाषा ठेवता कामा नये. जो मला अनन्य भावाने म्हणजेच माझ्याशिवाय दुसऱ्या कोणाचेही चिंतन न करता, निरंतर माझेच चिंतन करतो, त्यात यत्किंचितही त्रुटी राहू न देता जो माझी उपासना करतो त्याच्या योगसाधनेचा भार मी स्वतः घेत असतो.

काही लोक अन्य देवतांची पूजा करतात. अर्थात ते माझीच पूजा करतात; परंतु तो माझ्या प्राप्तीचा विधी नाही, कारण ते संपूर्ण यज्ञांच्या भोक्त्याच्या स्वरूपात मला जाणत नाहीत. त्यामुळे त्यांच्या पूजेमुळे मी त्यांना प्राप्त होत नाही. त्यामुळे त्यांचे पतन होते. ते देवता, भूत अथवा पितरांच्या कल्पित रूपात निवास करतात, पण माझा भक्त साक्षात् माझ्यात निवास करतो व माझेच रूप बनून जातो.

योगेश्वर श्रीकृष्णांनी ह्या यज्ञकर्माला अत्यंत सुगम म्हंटले आहे. कारण कोणी फळ–फल किंवा दुसरे काहीही जो श्रद्धेने देतो ते मी स्वीकारीत असतो. तेव्हा अर्जुना, तू जी काही आराधना करीत असशील, ती मला अर्पण कर.

जेव्हा सर्वस्वाचा त्याग केला जाईल तेव्हा योगयुक्त असा तू कर्मबंधनातून मुक्त होशील व ही मुक्ती म्हणजे माझेच स्वरूप आहे.

जगातील सर्व प्राणी माझेच आहेत. कोणत्याही प्राण्याबद्दल मला ना प्रेम वाटते ना द्वेष! मी तटस्थ आहे; परंतु जो माझा अनन्य भक्त आहे, त्याच्यामध्ये मात्र माझा वास असतो व तो माझ्यात असतो. अत्यंत दुराचारी, भयंकर पापी असणाऱ्यानेही मला जर अन्य श्रद्धेने पूजले, माझे चिंतन केले, मला भजले तर तोदेखील साधू बनू शकतो. जर तो दृढनिश्चयी असेल तर तो परमेश्वराशी एकरुप होतो आणि शाश्वत परमशान्ती मिळवतो. येथे श्रीकृष्णांनी धार्मिक कोण असते, हे स्पष्ट केले आहे. या सृष्टीमध्ये जन्म घेणारा कोणीही प्राणी जर अनन्य भावाने परमात्म्याला भजेल, त्याचे चिंतन करेल तो शीघ्र धार्मिक बनतो. तेव्हा जो एका परमात्म्याची अनन्य भक्ती करतो तोच धार्मिक होय. शेवटी ते आश्वासन देताना म्हणतात की अर्जुना, माझा भक्त कधी नष्ट होत नाही मग तो शुद्र असो, नीच असो, आदिवासी असो वा नागरिक किंवा कोणी नामधारी असो, पुरुष असो व स्त्री असो, पापयोनीतला असो की पिशाच्च योनीतला असो. तो मला शरण आला तर त्याला परमश्रेय प्राप्त होते. तेव्हा हे अर्जुना, सुखरहित, क्षणभंगुर परंतु दुर्लभ असे मनुष्य शरीर धारण केलेल्या तू माझी भक्ती कर.

प्रस्तुत अध्यायात स्वतः श्रीकृष्ण जिला जागृत करतात त्या विद्येवर प्रकाश पाडला आहे. ही राज-विद्या आहे जी एकदा जागृत झाल्यानंतर निश्चितपणे कल्याण करते.

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे 'राजविद्या जागृति' नाम नवमोऽध्यायः।।९।।

याप्रमाणे श्रीमद्‌भगवद्‌गीतारूपी उपनिषदातील ब्रह्मविद्यांतर्गत योगशास्त्रातील श्रीकृष्ण आणि अर्जुन यांच्या संवादातील 'राजविद्या जागृति' नावाचा अध्याय समाप्त झाला.

इति श्रीमत्परमहंस परमानन्दस्य शिष्य स्वामी अड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्‌भगवद्‌गीतायाः 'यथार्थ गीता' भाष्ये 'राजविद्या जागृति' नाम नवमोऽध्यायः।।९।।

अशा प्रकारे श्रीमत्परमहंस परमानन्दजींचे शिष्य स्वामी अडगडानंदकृत श्रीमद्भगवद्गीतेवरील भाष्य 'यथार्थ गीता' यामधील 'राजविद्या जागृति' नावाचा नववा अध्याय समाप्त झाला.

।।हरिः ॐ तत्सत्।।

ॐ

श्री परमात्मने नमः

।। अथ दशमोऽध्यायः ।।

अध्याय दहावा

नवव्या अध्यायात योगेश्वर श्रीकृष्णांनी अत्यंत गोपनीय अशा सर्व ज्ञानात श्रेष्ठ असणाऱ्या आत्मज्ञानाचे, राजविद्येचे वर्णन केले आहे. हे ज्ञान निश्चितपणे कल्याणकारी आहे. दहाव्या अध्यायात ते म्हणतात की, हे महाबाहो अर्जुना, माझे हे अत्यंत श्रेष्ठ असे रहस्ययुक्त ज्ञान तू पुन्हा श्रवण कर. वास्तविक हे ज्ञान अर्जुनाला दुसऱ्यांदा सांगण्याची आवश्यकता का वाटली? कारण परमपदाच्या प्राप्तीपर्यंत साधकाला धोका असतो. जो जो तो स्वरूपात अधिकाधिक तद्रूप होऊ लागतो, तो तो प्रकृतीचे आवरण सूक्ष्म होत जाते, नवी नवी दृश्ये डोळयांपुढे तरळू लागतात, त्या विषयीची माहिती महापुरुष साधकाला देतात. साधनेमध्ये येणारी विघ्ने साधक जाणत नाही. ते सद्गुरु जाणत असतात. जर त्यांनी मार्गदर्शन करावयाचे बंद केले तर साधकाला स्वरूपाची प्राप्ती होत नाही. तो त्यापासून वंचित राहतो. जोपर्यंत स्वरूपप्राप्तीपासून साधक दूर असतो, तोपर्यंत प्रकृतीचे काही न काही आवरण तेथे विघ्नरूप बनत असते. त्यामुळे साधक ध्येयापासून विचलित होण्याची, अडखळण्याची, घसरण्याची शक्यता अधिक असते. अर्जुन तर शरण आलेला शिष्य आहे. त्याने म्हटले होते– **'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्'** भगवन् मी आपल्याला शरण आलेला आपला शिष्य आहे. माझे रक्षण करा. म्हणून त्याच्या हितासाठी योगेश्वर गोपनीय अशा आत्मज्ञानाविषयी पुन्हा म्हणत आहेत.

श्रीभगवानुवाच-

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया।।१।।

हे महाबाहो अर्जुना, तुझ्याविषयी मला अत्यंत प्रेम वाटत असल्याने, तुझ्या हिताच्या दृष्टीने अत्यंत कल्याणकारक असणारे असे माझे भाषण तू पुन्हा श्रवण कर.

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः।।२।।

हे अर्जुना, देवांना किंवा महर्षींना माझी उत्पत्ती माहीत नाही. श्रीकृष्णांनीच याचे कारण सांगताना मागे सांगितले आहे की, **'जन्म कर्मच मे दिव्यं'** माझा जन्म व माझे कर्म अलौकिक आहे, दिव्य आहे, साध्या चर्मचक्षूंनी ते पाहता येत नाही. त्यामुळे देवता व महर्षी श्रेणीतील लोग देखील माझे ते प्रकट झालेले दिव्य स्वरूप पाहू शकत नाहीत. कारण सर्व प्रकारच्या देवतांचे आणि महार्षींचे आदिकरण मी आहे.

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते।।३।।

जो मला जरामरणरहित, आदिअन्तरहित, व सर्व लोकांचा महान ईश्वर असे साक्षात्कारासह जाणतो तो पुरुष मर्त्य मानवांमध्ये ज्ञानी आहे. म्हणजे अज, अनादि व लोकमहेश्वर असणाऱ्या मला उत्तम प्रकारे जाणणे म्हणजेच ज्ञान प्राप्त करणे होय आणि असे जो जाणतो, तो सर्व पापांपासून मुक्त होतो. त्याला पुनर्जन्म प्राप्त होत नाही. श्रीकृष्ण म्हणतात की ही उपलब्धीही माझीच देणगी आहे.

बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च।।४।।

अर्जुना, निश्चयात्मिका बुध्दी, साक्षात्कारसह असणारे अगाध ज्ञान, लक्ष्याबाबत विवेकपूर्ण जागृती, क्षमा, शाश्वत सत्य, इंद्रियनिग्रह, मनोनिग्रह, अंत:करणाची प्रसन्नता (शांती), चिंतनाच्या मार्गातील कष्ट, परमात्म्याची जागृती, स्वरूपाच्या प्राप्तिकालात सर्वस्वाचा विलय, इष्टदेवाबद्दल अनुशासनात्मक भय आणि प्रकृतीपासून निर्भयता तसेच–

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः।।५।।

अहिंसा म्हणजे आपल्या आत्म्याला अधोगतीपासून दूर ठेवण्याचे आचरण, समता म्हणजे ज्यात विषमता नाही अशी समबुद्धी, संतोष, तप– मनासहित इंद्रियांचा लक्ष्याप्रमाणे निग्रह, दान म्हणजे सर्वस्वाचे समर्पण, भगवतपथावर मान–अपमान सहन करण्याची शक्ती, याप्रमाणे प्राण्याच्या ठिकाणी असणारे सर्व विकार माझ्यापासूनच निर्माण होतात. हे सर्व विकार म्हणजे दैवी चिंतनपद्धतीचे लक्षण आहे आणि या गुणांचा अभाव म्हणजे 'आसुरी संपदा' होय.

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः।।६।।

सप्तर्षी म्हणजे योगाच्या क्रमवार सात भूमिका (शुभेच्छा, सुविचारणा, तनुमानसा, सत्वापत्ति, असंसक्ती, पदार्थभावना आणि तुर्यगा) तसेच त्याला अनुरूप अंतःकरण चतुष्टय (मन, बुद्धी, चित्त आणि अहंकार), त्याला अनुरूप माझ्यावर श्रद्धा असणारे मन हे सर्व माझ्या संकल्पापासून (माझ्या प्राप्तीच्या संकल्पाने तसेच माझ्या प्रेरणेमुळे होते. दोन्ही एक दुसऱ्याला पूरक आहेत) उत्पन्न होतात. या विश्वात ही (संपूर्ण दैवी संपत्ती) माझीच प्रजा आहे, कारण सात भूमिकांच्या अवस्थांच्या संचारात दैवी संपदाच आहे, दुसरी नाही.

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः।।७।।

जो पुरुष योगशक्ती आणि माझ्या उपर्युक्त विभूतीनां (बुद्ध्यादिक भाव) साक्षात्कारासह जाणतो तो स्थिर ध्यानयोगाच्या द्वारे माझ्यामध्ये एकाकार होऊन– माझ्यात युक्त होऊन ऐक्य भावांनी स्थिर होतो; यात काहीही संशय नाही. वारा लागणार नाही अशा ठिकाणी ठेवलेल्या दिव्याची ज्योत सरळ असते, ती कंपित होत नाही. योग्याच्या चित्ताची हीच परिभाषा आहे. प्रस्तुत श्लोकात 'अविकम्पेन' हा शब्द या आशयाकडे संकेत करीत आहे.

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः।।८।।

मी या जगाचे उत्पतिस्थान आहे. मीच जगताच्या उत्पत्तीचे कारण आहे. माझ्यामुळेच हे सर्व जग कार्यामध्ये प्रवृत्त होत असते. असे जाणून श्रद्धा व भक्तीने युक्त होऊन विवेकी निरंतर माझे भजन करीत असतात. तात्पर्य हे आहे की, योग्याकडून मला अनुरूप अशी जी प्रवृत्ती होते ती मीच करवत असतो. तो माझाच प्रसाद असतो. (तो कसा? या विषयी मागे अनेक ठिकाणी सांगितले गेले आहे). ते माझे निरंतर भजन कशा प्रकारे करतात? याबाबत श्रीकृष्ण म्हणतात–

मच्चिता मद्‌गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च।।९।।

आपल्या चित्ताला दुसरीकडे कोठेही जाऊ न देता माझ्याच ठिकाणी आपले चित्त निरंतर ठेवणारे, माझ्या ठिकाणी प्राणांना लावणारे, परस्परांना माझ्या प्रक्रियांचा सदैव बोध देतात. माझे गुणगान करीत संतुष्ट होतात, तसेच सतत ते माझ्यातच रममाण होतात.

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।।१०।।

निरंतर माझ्या ठिकाणी ध्यानात लागलेल्या तसेच प्रेमपूर्वक मला भजणाऱ्या माझ्या भक्तांना मी तो बुद्धियोग देतो, म्हणजेच योगामध्ये प्रवेश करू शकणारी ती बुद्धी देतो की ज्यायोगे ते मला येऊन मिळतात. अर्थात योगाची जागृती ही ईश्वराची देणगी आहे. तो अव्यक्त पुरुष 'महापुरुष' योगामध्ये प्रवेश देवू शकणारी बुद्धी कशी देतो?

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता।।११।।

त्यांच्यावर अनुग्रह करण्यासाठीच त्याच्या आत्म्याशी एकरूप होऊन, रथी होऊन, त्याच्या अंतःकरणातील अज्ञानरूपी अंधकार ज्ञानरूपी दीपक प्रकाशित करून मी नष्ट करीत असतो. खरे पाहता जोपर्यंत एखाद्या स्थितप्रज्ञ योग्याच्या द्वारा तो परमात्मा आपल्या आत्म्यानेच जागृत होऊन हळूहळू गती करीत नाही, निरोध करीत नाही, प्रकृतीच्या द्वंद्वापासून निघून स्वतः

पुढे चालत नाही, तोपर्यंत यथार्थ भजनास प्रारंभ होत नाही, असे तर भगवान सर्वांशीच बोलतात परंतु प्रारंभी ते स्वरूपस्थ महापुरुषाद्वारेच बोलतात. जर असा महापुरुष तुम्हाला प्राप्त झालेला नसेल तर ते तुमच्याशी स्पष्ट बोलणार नाहीत.

इष्टदेव सद्गुरू अथवा परमात्म्याचे रथी होणे एकच गोष्ट आहे. साधकाचा आत्मा जागृत होताच त्याचे संकेत त्याचे निर्देश चार प्रकारांनी प्राप्त होतात. प्रथम स्थूल-सुराविषयी अनुभव येतो. आपण चिंतनात बसला आहात, आपले मन तेथे केव्हा एकाग्र व्हायचे? किती प्रमाणात ते तेथे लागले आहे? ते तेथून केव्हा विचलित होऊ पाहते व केव्हा ते तेथून विचलित झाले? याला प्रत्येक क्षणी इष्टदेव अंगाच्या स्पंदनांनी संकेत करतात अंगांचे फडफडणे स्थूल-सुराविषयक अनुभव होय. असा अनुभव एकाच वेळी दोन-चार ठिकाणी एकदम येतो, आणि आपल्या विकृत होण्यानंतर प्रत्येक मिनिटाला असा अनुभव येतो. जेव्हा इष्टदेवांच्या स्वरूपाला तुम्ही अनन्य भावाने पकडता तेव्हाच हा संकेत येतो. सर्वसाधारण लोकांच्यामध्ये असणाऱ्या संस्कारांच्या आक्रमणामुळे त्यांच्यात अंगस्पंदन होत राहतो; त्यांचा इष्टदेवाशी काहीच संपर्क नसतो.

दुसरा अनुभव स्वप्नसुराविषयक असतो. सर्वसामान्य मनुष्य आपल्या वासनांशी संबंधित अशी स्वप्ने पाहतो. परंतु जेव्हा तुम्ही इष्टदेवाला पकडून ठेवाल तेव्हा ही स्वप्नेही निर्देशात बदलली जातील. योगी स्वप्न पाहत नाही. तो होणारे पाहत असतो.

वर सांगितलेले दोन्ही अनुभव प्रारंभिक आहेत. कोण्या तत्त्वस्थित महापुरुषाच्या सान्निध्याने, त्यांच्याविषयी मनात श्रद्धा ठेवण्याने, त्यांची थोडी सेवा केल्याने देखील असे भाव जागृत होतात. परंतु या दोन्हीपेक्षा सूक्ष्म असे दोन अनुभव क्रियात्मक आहेत. ते आचरण करण्यानेच अनुभवास येतात.

तिसरा अनुभव सुषुप्तिसुरा विषयक असतो. या संसारात सर्व झोपलेले आहेत. मोहरूपी रात्रीत ते सर्व अचेतन पडले आहेत. रात्रंदिवस ते जे करतात ते एक स्वप्नच असते. येथे सुषुप्तीचा अर्थ असा आहे की, जेव्हा

परमात्म्याच्या चिंतनात मन एकाग्र होईल तेव्हा सर्व विचार स्थिर होतील, शरीर जागृत राहील आणि मन सुषुप्त होऊन जाईल. अशा अवस्थेमध्ये तो इष्टदेव पुन्हा आपला एक संकेत देईल. योगाच्या अवस्थेनुरूप एक दृश्य येते जे योग्य दिशा दाखवते, भूत-भविष्याबद्दल अवगत करवते. 'पूज्य महाराजश्री म्हणत की "डॉक्टर ज्याप्रमाणे बेशुद्ध करण्याचे औषध देऊन रोग्यावर उचित उपचार करतो व मग पुन्हा त्याला शुद्धीवर आणतो, त्याप्रमाणे भगवान या अवस्थेमध्ये योग्य मार्ग दाखवतात."

चौथा व शेवटचा अनुभव म्हणजे समसुरा विषयी आहे. ज्याच्यामध्ये आपण आपले मन लावले होते त्या परमात्म्याकडून समत्व प्राप्त होते. त्यानंतर बसता उठता, चालता-फिरता सर्व बाजूंनी त्याला अनुभूती येऊ लागते. तो योगी त्रिकालज्ञ होतो. हा अनुभव तीन काळांच्या पलीकडे गेलेले, अव्यक्त स्थितीत असणारे महापुरुष आत्म्याकडून जागृत होऊन अज्ञानाने निर्माण केलेला अंधकार ज्ञानदीपाच्या प्रकाशाने नष्ट करून घेत असतात. यावर अर्जुनाने प्रश्न केला-

अर्जुन उवाच-

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्।।१२।।
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे।।१३।।

भगवन्, तुम्ही परब्रह्म, परमधाम व परम पवित्र आहात. कारण सर्व ऋषिगण आपल्याला सनातन, दिव्यपुरुष, देवानाही दैवत असणारा आदिदेव, जन्मरहित आणि सर्वव्यापी असे म्हणतात. परमपुरुष, परमधाम याचेच पर्यायी शब्द म्हणजे दिव्यपुरुष, श्रेष्ठ विश्रांतीस्थान असे आहेत. देवर्षी नारद, असित देवल, व्यास तसेच स्वयं आपणही मला तेच सांगत आहात. प्रथम अर्जुनाने भूतकालीन महर्षींची नावे घेतली. आता जे वर्तमानकाळात आहेत त्या नारद, देवल, असित आणि व्यास यांची नावे घेतली. ते अर्जुनाचे समकालीन होते. (त्या सत्पुरुषांचा सहवास अर्जुनाला मिळत होता).

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।

न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः।।१४।।

हे केशवा, आपण माझ्यासाठी जे सांगत आहात ते सर्व मी सत्य मानतो. देव किंवा दानव यांपैकी कोणीही आपले स्वरूप जाणत नाहीत.

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।

भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते।।१५।।

हे भूतमात्रांना निर्माण करणाऱ्या भूतांच्या ईश्वरा, हे देवाधिदेवा, हे जगन्नायका, हे पुरुषोत्तमा स्वतः आपणच आपल्या प्रकृतीला यथार्थपणे जाणता किंवा ज्याच्या आत्म्यामध्ये आपण जागृत होऊन आपण त्याला ते ज्ञान देता. तो तुम्हांला चांगल्या प्रकारे जाणतो. अर्थात तेही आपल्याद्वारेच आपणाला जाणते झाले.

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।

याभिर्विभूतिभिर्लोकनिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि।।१६।।

तेव्हा ज्या विभूतींद्वारा या सर्व लोकांना आपण व्यापून आहात, अशा आपल्या दिव्य विभूतींचे स्वरूप पूर्णत्वाने मला सांगण्यास आपणच सक्षम आहात, योग्य आहात.

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।

केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया।।१७।।

हे योगिन, (श्रीकृष्ण एक योगी होते) मी कशा रीतीने निरंतर चिंतन करीत आपल्याला जाणावे बरे? आणि हे भगवन कोणकोणत्या भावांमध्ये (विभूतींमध्ये) मी आपले स्मरण– चिंतन करू?

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।

भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्।।१८।।

हे जनार्दना, आपले योग सामर्थ्य आणि विभूती पुन्हा विस्ताराने मला कथन करा. या अध्यायाच्या सुरुवातीला तुम्ही संक्षेपाने सांगितले आहेच.

आता पुन्हा सांगा, कारण अमृत तत्त्वाचे दर्शन घडवणाऱ्या या वचनांना ऐकून माझी तृप्ती होत नाही.

राम चरित जे सुनत अघाहीं।

रस विशेष जाना तिन्ह नाहीं।।

(रामचरितमानस, ७/५२/७)

जोपर्यंत परमपदाच्या ठिकाणी प्रवेश मिळत नाही, तोपर्यंत अमृत-तत्त्व जाणण्याची तीव्र इच्छा असते. प्रवेश मिळवण्यापूर्वी जर कोणी म्हणाले की- मी भगवंताला चांगले जाणले आहे तर त्याने भगवंताला काही जाणले नाही असे समजावे. साहजिकच त्याचा मार्ग बंद होण्याची शक्यता असते व म्हणून साधकाने पूर्तीपर्यंत इष्टदेवाच्या मार्गदर्शनाची कास सोडता कामा नये; ती पकडून ठेवली पाहिजे. आणि तसे आचरण केले पाहिजे. आता अर्जुनाची विनंती लक्षात घेऊन श्रीकृष्ण पुढे म्हणतात-

श्रीभगवानुवाच-

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।

प्राधान्यतः कुरु श्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे।।१९।।

कुरुश्रेष्ठ अर्जुना, आता मी आपल्या दिव्य विभूतींपैकी ज्या प्रमुख विभूती आहेत त्या तुला सांगतो कारण माझ्या विभूतींच्या विस्ताराला अंत नाही.

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।

अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च।।२०।।

हे अर्जुना, मी सर्व भूतांच्या अंतःकरणामध्ये, त्यांच्या हृदयामध्ये स्थित असणारा आत्मा आहे. तसेच सर्व भूतांचा आदि, मध्य आणि अंत मीच आहे. म्हणजेच जन्म, मृत्यू आणि जीवनदेखील मीच आहे.

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।

मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी।।२१।।

मी आदितीच्या बारा पुत्रांमधील विष्णू आहे आणि ज्योतींमध्ये प्रकाशमान सूर्य आहे. मरुद्गणांपैकी मारिची नावाचा वायू आणि नक्षत्रांमध्ये चंद्र आहे.

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इंद्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना:।।२२।।

वेदामध्ये मी सामवेद म्हणजेच समत्व देणारे गायन आहे. देवांमध्ये त्यांचा अधिपती इंद्र मी आहे. इंद्रियांमध्ये मी मन आहे कारण मनोनिग्रहाने तर मला जाणले जाते; तसेच प्राण्यांमध्ये मी त्यांची चेतना आहे.

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम्।।२३।।

अकरा रुद्रांमध्ये मी शंकर आहे. 'शंक + अर स शंकर' म्हणजेच शंकांचे निराकरण-उपराम अवस्था मी आहे. यक्ष तसेच राक्षसांमध्ये मी धनाचा स्वामी कुबेर आहे. आठ वसूंमध्ये मी अग्नी आहे, पर्वतांमध्ये मी मेरू आहे, म्हणजेच सर्व शुभ गोष्टींचे मिश्रण मीच आहे. तेच सर्वश्रेष्ठ शिखर आहे. अर्थात शिखर म्हणजे पहाड नव्हे. कारण हे सर्व योगसाधनेचे प्रतीक आहे, हे सर्व यौगिक शब्द आहेत.

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः।।२४।।

स्वर्गाच्या राज्याचे रक्षण करणाऱ्या पुरोहितांमध्ये मुख्य असणारा बृहस्पती मीच आहे असे जाण. दैवी संपदेचा संचार याच्यामुळेच होतो. आणि हे पार्था, सेनापतींमध्ये मी कार्तिकस्वामी आहे. कर्मांचा त्याग म्हणजे कार्तिक होय; ज्याच्यामुळे चराचराचा संहार, प्रलय आणि इष्टदेवाची प्राप्ती होते. जलाशयामध्ये मी समुद्र आहे.

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः।।२५।।

महर्षींमध्ये मी भृगू आहे. वाणीमध्ये एक अक्षर 'ॐ' कार मीच आहे, जो त्या ब्रह्माचा निर्देशक आहे. सर्व प्रकारच्या यज्ञांमध्ये मी जपयज्ञ आहे. यज्ञ म्हणजे परमतत्त्वात प्रवेश देणाऱ्या आराधनेचा विशेष विधी आहे. सारांश जपयज्ञ म्हणजे स्वरूपाचे स्मरण आणि नामाचा जप होय. दोन वाणींच्या पलीकडे गेल्यावर नाम जेव्हा यज्ञाच्या श्रेणीत येते, तेव्हा ते वाणीने जपले जात नाही. ना चिंतनाने जपले जाते ना कंठाने; परंतु श्वासामध्ये

ते जागृत होते. फक्त शरीराला श्वासाजवळ ठेवून मनामध्ये सतत ते जपले जाते, अविरत ते चालत राहते, यज्ञश्रेणीतील नामाचा चढउतार श्वासावर अवलंबून असतो. ते क्रियाशील आहे. स्थिर राहणाऱ्या-स्थावर पदार्थामध्ये मी हिमालय आहे. शीतल, सम आणि अचल असा एकमात्र परमात्माच आहे. जेव्हा प्रलय झाला तेव्हा मनू त्याच शिखरामध्ये बांधला गेला. अचल, सम आणि शांत अशा ब्रह्माचा कधी प्रलय होत नाही. त्या ब्रह्माची पकड मीच आहे.

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः।।२६।।

सर्व वृक्षांमध्ये मी अश्वत्थ आहे. **अश्वः** उद्यापर्यंतसुद्धा ज्याच्या अस्तित्वाची हमी देता येत नाही असा. **'ऊर्ध्वमूलधः शाखम् अश्वत्थ'** वर परमात्मा ज्याचे मूळ आहे, खाली प्रकृती ज्याच्या शाखा आहेत, असा संसार एक वृक्षच आहे. त्याला पिंपळ असे म्हंटले आहे. येथे पिंपळ म्हणजे सर्व सामान्य अर्थाने असणारे असे पिंपळाचे झाड नव्हे की ज्याची पूजा करावी. यावर म्हणतात- तो मी आहे आणि देवर्षींमध्ये मी नारद आहे. नाद रंध्रः स नारद दैवी संपत्ती इतकी सूक्ष्म झाली की स्वरामध्ये उठणारा ध्वनी (नाद) पकडीमध्ये यावा- अशी जागृती मी आहे. गंधर्वांमध्ये मी चित्ररथ आहे म्हणजेच गायन (चिंतन) करणाऱ्या प्रकृत्तींमध्ये जेव्हा स्वरूप चित्रित होऊ लागते, तेव्हा ती विशेष अवस्था म्हणजे मी आहे. सिध्द लोकांत कपिल मुनी म्हणजे मी आहे. 'काया' हीच कपिल आहे. त्यामध्ये जेव्हा ध्यान केंद्रित होते तेव्हा ईश्वराच्या संचाराची अवस्था म्हणजे मीच आहे.

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम्।।२७।।

अश्वांमध्ये अमृतापासून उत्पन्न झालेला उच्चौःश्रवा नावाचा अश्व मीच होय. जगात आत्म्याशिवाय प्रत्येक वस्तू नश्वर आहे. फक्त आत्माच अजर-अमर, अमृत स्वरूप आहे. या अमृतस्वरूपापासून ज्याचा संचार झाला आहे, तो अश्व मी आहे. घोडा हा गतीचे प्रतीक आहे. आत्मतत्त्वाला ग्रहण करण्यासाठी मन जेव्हा उर्ध्वगती घेते- तो घोडा, ती गती, म्हणजे मी आहे. हत्तींमध्ये ऐरावत नावाचा हत्ती मीच आहे. मनुष्यांमध्ये मी राजा आहे.

वास्तविक महापुरुषच राजा आहे. त्याच्याजवळ कशाचाही अभाव नसतो.

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः।।२८।।

शस्त्रांमध्ये इंद्राचे वज्र मी आहे. गाईमध्ये कामधेनू मी आहे. कामधेनू म्हणजे अशी गाय नव्हे की जी दुधाऐवजी मनपसंत तुम्ही म्हणाल ती वस्तू तुम्हाला देईल. ऋषींमध्ये वसिष्ठ मुनींजवळ कामधेनू होती. वास्तविक इंद्रियांना 'गो' असे म्हटले जाते. इष्टदेवाला वश करणाऱ्यांमध्येच इंद्रियनिग्रह दिसून येतो. ज्यांची इंद्रिये अनुरूप स्थिर होतात त्यांच्यासाठी त्यांची इंद्रिये 'कामधेनू' बनतात. मग तर '**जो इच्छा करिहउ मन माहीं। हरि प्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं ।। (रामचरितमानस ७/११३/४)** त्याला काहीही दुर्लभ राहत नाही. प्रजोत्पत्ती करणाऱ्यांमध्ये नवीन स्थिती प्रकट करणारा काम मीच आहे. 'प्रजनन' म्हणजे मुलाला जन्म देणे. चराचरामध्ये तर रात्रंदिवस हे कार्य सुरूच असते. म्हणजे उंदीर-मुंग्या रात्रंदिवस करतात तसे नाही. परंतु एका स्थितीपासून दुसरी स्थिती, अशा प्रकारे वृत्तींमध्ये परिवर्तन होत असते. ते परिवर्तित स्वरूप म्हणजे मी आहे. सर्पामध्ये मी वासुकी आहे.

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।
पितृणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम्।।२९।।

नागांमध्ये मी अनंत म्हणजे शेषनाग आहे. तसा तो कोणी सर्प नाही. गीतेचा समकालीन ग्रंथ श्रीमद्भागवतात त्याच्या स्वरूपाची चर्चा केली आहे. पृथ्वीपासून तीस हजार योजने दूर अंतरावर त्या परमात्म्याची वैष्णव शक्ती आहे, जिच्या मस्तकावर ही पृथ्वी भाररहित सरसूच्या दाण्यांप्रमाणे टिकून आहे. त्या युगामध्ये योजन याचा अर्थ काहीही असो, ते अंतर पुष्कळ दूर आहे हा त्याचा मतितार्थ आहे. वास्तविक हे आकर्षणशक्तीचे चित्रण आहे. वैज्ञानिकांनी तिला 'इथर' असे म्हटले आहे. ग्रह-उपग्रह सर्व त्या शक्तीच्या आधारावर टिकून आहेत. त्या शून्यावकाशात ग्रहांना काही वजन नसते. त्या शक्तीने सर्पाच्या वेटोळ्याप्रमाणे सर्व ग्रहांना लपेटले आहे. हेच ते अनंत होय. ज्याच्यामुळे पृथ्वी धारण केली जाते. श्रीकृष्ण म्हणतात- अशी ईश्वरीय शक्ती मी आहे. जलचरांमध्ये मी त्यांचा स्वामी

'वरूण' आहे. तसेच पितरांमध्ये मी 'अर्यमा' आहे. अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आणि अपरिग्रह हे पाच यम आहेत. त्यांचे पालन करताना येणाऱ्या विकारांना कापणे म्हणजे 'अरः' होय. विकारांच्या शमनामुळे पितृ म्हणजे भूत संस्कार तृप्त होतात, निवृत्ती प्रदान करतात. शासन करणाऱ्यांमध्ये मी यमराज आहे. म्हणजेच वरील यमांचे नियमन करणारा आहे.

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणां च मृगेन्द्रोहं वैनतेयश्च पक्षिणाम्।।३०।।

मी दैत्यांमध्ये प्रल्हाद आहे. (पर आल्हाद– दुसऱ्यांना आल्हाद देणारा). प्रेम म्हणजेच प्रल्हाद होय. आसुरी गुणांच्या सहवासात राहूनही ईश्वराबद्दल जी ओढ–विकलता वाटते त्यातून ईश्वराचे दिग्दर्शन होत असते. असा प्रेमोल्लास मी आहे. मोजणी करणाऱ्यामध्ये मी 'काल' आहे, 'समय' आहे. एक, दोन, तीन, चार अशी गणती किंवा क्षण घडी, दिन, पक्ष मास इत्यादी नाही; परंतु ईश्वराच्या चिंतनात लागलेला– निमग्न असलेला समय मी आहे, इथपर्यंत की, **'जागत में सुमिरन करे, सोवत में लव लाय'**– अखंड चिंतनातला समय मी आहे. पशूंच्यामध्ये सिंह मी आहे (योगीदेखील मृ + ग अर्थात योगरूपी जंगलात गमन करणारा असतो). तसेच पक्षामध्ये मी गरुड आहे. ज्ञान म्हणजेच गरुड होय. जेव्हा ईश्वरीय अनुभूती येऊ लागते, तेव्हा हेच मन आपल्या आराध्य देवाचे 'वाहन' बनते आणि जेव्हा हेच मन संशयाने युक्त असते तेव्हा सर्प होऊन डसते, योनींमध्ये फेकले जाते. गरुड विष्णूचे वाहन आहे. जी सत्ता विश्वामध्ये अणुरूपात संचारित आहे, ज्ञानयुक्त मन त्याला आपल्यात धारण करते व त्याचे वाहन बनते. श्रीकृष्ण म्हणतात– इष्टदेवाला धारण करणारे मन मी आहे.

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्त्रोतसामस्मि जाह्नवी।।३१।।

पवित्र करणाऱ्यांमध्ये वायू मी आहे. शस्त्र धारण कारणाऱ्यांमध्ये मी राम आहे. **'रमन्ति योगिनः यास्मिन् स रामः'** योगी कशात रममाण होतात? तर अनुभवात ईश्वर इष्टरूपात जे निर्देशन देतो, योगी त्यात रममाण होतो. त्या जागृतीचे नाव राम आहे आणि ती जागृती मी आहे. माशांमध्ये मगर मी आहे आणि नद्यांमध्ये मी गंगा आहे.

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।

अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्।।३२।।

हे अर्जुना, सृष्टीचा आदि, अन्त आणि मध्य मी आहे. विद्यांमध्ये अध्यात्म विद्या मी आहे. जी आत्म्याचे अधिपत्य देववते ती विद्या मी आहे. या जगात अधिकांश प्राणी मायेच्या अधिपत्याखाली असतात. राग-द्वेष, काल, कर्म, स्वभाव आणि गुणांनी ते प्रेरित असतात. त्यांच्या अधिपत्यातून त्यांना मुक्त करून आत्म्याच्या अधिपत्याखाली घेऊन जाणारी विद्या मी आहे. तिलाच अध्यात्म विद्या असे म्हणतात. परस्परांत होणाऱ्या विवादामध्ये ब्रह्मचर्चेमध्ये जे निर्णायक आहे, अशी गोष्ट मी आहे. शेष निर्णय तर अनिर्णीतच राहतात.

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।

अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः।।३३।।

मी अक्षरामधील अकार- ॐकार आहे. तसेच समासांमधील द्वन्द्व मी आहे. अक्षय काल मी आहे. काळ सदैव परिवर्तनशील असतो. परंतु तो समय जो अक्षय, अजर-अमर परमात्म्यामध्ये प्रवेश देववतो, ती अवस्था मी आहे. विराट स्वरूपाचा म्हणजेच सर्वत्र व्याप्त असणारा, सर्वांना धारण-पोषण करणारा मीच आहे.

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।

कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा।।३४।।

सर्वांना नाश करणारा मृत्यू मी असून, पुढे उत्पन्न होणाऱ्यांचे कारण मी आहे. स्त्रियांमध्ये मी यश, शक्ती, वाक्पटूता, स्मृती, मेधा म्हणजे बुद्धी, धैर्य आणि क्षमा मीच आहे-

योगेश्वर श्रीकृष्णांच्या मते- "द्वाविमौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च (अ. १५, श्लोक १६)- पुरुष दोन प्रकारचे असतात, क्षर आणि अक्षर. संपूर्ण भूतप्राण्यांची उत्पत्ती करणारे व विनाशी असणारे हे शरीर म्हणजे क्षर पुरुष होय. त्याला नर, मादी, पुरुष काहीही म्हणा. श्रीकृष्णांच्या शब्दांत तो शरीरधारी पुरुषच होय. दुसरा आहे अक्षर पुरुष, तो कूटस्थ चित्ताचा, स्थिर कालात दिसून येतो. येथेही बुद्धी वगैरे स्त्रियांचेच गुण सांगितले गेले आहेत. या

सद्‌गुणांची आवश्यकता पुरुषाला नसते का ? असा कोणता पुरुष आहे जो श्रीमंत, कीर्तिवंत, वाक्‌पटू, स्मरणशक्तिसंपन्न, मेधावी, धैर्यवान आणि क्षमाशील बनू इच्छित नाही? बौद्धिक दृष्ट्या कमजोर असणाऱ्या मुलांमध्ये या गुणांचा विकास व्हावा म्हणून आईवडील शिकवण्याची स्वतंत्र व्यवस्था करतात. येथे म्हटले आहे की ही लक्षणे फक्त स्त्रियांमध्ये दिसतात. म्हणून तुम्हीच विचार करून पाहा की स्त्री म्हणजे काय? ती कोण आहे? खरे पाहू जाता आपल्या हृदयाची प्रवृत्तीच 'नारी' आहे- 'स्त्री' आहे. तिच्यामध्ये या सर्व गुणांचा संचार पाहिजे. हे गुण प्राप्त करणे स्त्री-पुरुष सर्वांसाठी उपयोगी आहे.

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः।।३५।।

गेय अशा चौदा सामांमध्ये- श्रुतीमध्ये मी बृहत्साम आहे. म्हणजे बृहतशी संयुक्त समत्व देणारे गायन मी आहे. म्हणजेच अशी जागृती मी आहे. छंदांमध्ये गायत्री छंद मी आहे. गायत्री म्हणजे काही असा मंत्र नाही की जो वाचून किंवा म्हणून मुक्ती प्राप्त होते. तो एक समर्पणात्मक छंद आहे. तीन वेळा विचलित झाल्यानंतर विश्वामित्र ऋषींनी स्वतःला, इष्टदेवाला समर्पित करीत म्हटले- **'ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ।'** म्हणजेच भूः, भुवः आणि स्वः या तिन्ही लोकांमध्ये तत्त्वरूपाने व्याप्त असलेल्या देवा, आपण वरेण्य आहात. आम्हांला अशी बुद्धी द्या, अशी प्रेरणा द्या की आम्ही आमचे लक्ष्य प्राप्त करू शकू. ही फक्त एक प्रार्थना आहे. साधक आपल्या बुद्धीने यथार्थ निर्णय घेऊ शकत नाही की, आपण स्वतः केव्हा बरोबर आहोत व केव्हा चूक आहोत? त्याची ही समर्पित प्रार्थना म्हणजे मी आहे. ज्यात निश्चित कल्याण आहे. कारण तो माझ्या आश्रयाला आला आहे. मासामध्ये शीर्षस्थ मार्ग मी आहे ज्यामध्ये सदैव बहर असतो असा ऋतु वसंत- हृदयाची अशी अवस्थापण मी आहे.

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्।।३६।।

तेजस्वी पुरुषांमधील तेज मी आहे. द्युतामध्ये कपटाचरण करणाऱ्यांचे कपट मी आहे. मग तर चांगलेच आहे. जुगार खेळावा. त्यात कल, बल,

छल करणारा तोच भगवान होय. नाही असा त्याचा अर्थ नाही. ही प्रकृती म्हणजे एक जुगार आहे. ती फसविणारी आहे. या प्रकृतीच्या द्वन्द्वातून बाहेर निघण्यासाठी दिखाऊपणा सोडून छपून गुप्त रूपाने भजन करणे म्हणजेच कपट आहे. अर्थात याला वास्तविक अर्थाने कपट म्हणता येणार नाही. परंतु संरक्षणासाठी ते आवश्यक आहे. जड भरताप्रमाणे उन्मत्त, आंधळे, बहिरे आणि मुक्याप्रमाणे हृदयात जाणकार असूनही बाहेर असे राहा की तुम्ही अज्ञानी आहात, अडाणी आहात, ऐकत असूनही ऐकू नका, पहात असूनही पाहू नका. लपून छपूनच भजन करावयाचे असते. तेव्हाच साधक प्रकृतिपुरुषाच्या जुगारातून सहीसलामत बाहेर पडतो. विजयी पुरुषांचा विजय मी आहे. व्यवसायिकांचा निश्चय (जो दुसऱ्या अध्यायातील एकेचाळीसाव्या श्लोकात सांगितला आहे. या योगामध्ये निश्चय करणारी बुद्धी एकच असते, क्रिया एकच असते आणि दिशाही एकच असते). म्हणजे कार्याचा निश्चय करणारी क्रियात्मक बुद्धी मीच आहे. सात्त्विक पुरुषांचे तेज आणि ओज मीच आहे.

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः।

मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः।।३७।।

वृष्णी वंशामध्ये वासुदेव म्हणजे सर्वत्र वास करणारा देव मी आहे. पांडवांमधील धनंजय मी आहे. पांडू म्हणजे पुण्य आहे आणि आत्मिक संपत्ती हीच स्थिर संपत्ती आहे. पुण्याने प्रेरित होऊन आत्मिक संपत्ती मिळवणारा धनंजय मी आहे. मुनींमध्ये मी व्यास आहे. परमतत्त्व व्यक्त करण्याची क्षमता ज्याच्यात आहे, तो मुनी मी आहे. कवींमध्ये 'उशना' म्हणजे त्यात प्रवेश देववणारा कवी मी आहे.

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।

मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्।।३८।।

दमन करणाऱ्यांमध्ये दमनाची शक्ती मी आहे. जिंकण्याची इच्छा करणाऱ्यांची नीती मी आहे. गुह्य वस्तूंमध्ये मी मौन आहे. ज्ञानी लोकांमध्ये परमतत्त्वाचा साक्षात्कार घडवून आणणारे पूर्ण ज्ञान मी आहे.

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।

न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्।।३९।।

हे अर्जुना, सर्व भूतांच्या उत्पत्तीचे कारण मीच आहे. कारण चर आणि अचर असे कोणतेही भूत नाही की, जे माझ्याशिवाय अस्तित्त्वात असेल. मी सर्वत्र व्यापून आहे. सर्व माझ्याच अवकाशातले आहेत.

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप।

एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया।।४०।।

हे शत्रुतापना अर्जुना, माझ्या दिव्य विभूतींचा अंत नाही. माझ्या विभूतींचा विस्तार तर मी केवळ संक्षेपाने सांगितला आहे. वास्तविक त्या अनंत आहेत.

या अध्यायात थोड्याच विभूतींचे स्पष्टीकरण केले आहे. कारण पुढील अध्यायात अर्जुन त्या सर्वांना पाहू इच्छित आहे. कारण प्रत्यक्ष दर्शन घेतल्यावरच विभूती समजतात. विचारधारा समजण्यासाठी येथे त्याचा थोडा अर्थ दिला आहे.

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।

तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्।।४१।।

जी जी वस्तू वैभवाने-संपत्तीने, कान्तीने व शक्तीने युक्त आहे, ती ती माझ्या तेजाच्या अंशापासून उत्पन्न झाली आहे, असे तू जाण.

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।।४२।।

अथवा हे अर्जुना, तुला सर्व जाणून काय करावयाचे आहे? मी आपल्या एका अंशाने संपूर्ण जग व्यापून धारण करून राहिलो आहे.

वरील विभूतींचा अर्थ असा नव्हे की तुम्ही किंवा अर्जुनाने या सर्व विभूतींचे पूजन करावे; परंतु श्रीकृष्णाचा आशय फक्त एवढाच आहे की, सर्व बाजूंनी श्रद्धा एकवटून त्या अविनाशी परमात्म्याच्या ठिकाणी लावावी. एवढ्यानेही त्यांचे कर्तव्य पूर्ण होते.

निष्कर्ष-

या अध्यायात श्रीकृष्ण म्हणाले की अर्जुना, तू माझा अतिशय प्रिय असल्याने मी तुला पुन्हा उपदेश करेन. प्रथम सांगितले आहेच. पुन्हा सांगत

आहेत. कारण पूर्तीपर्यंत सद्‌गुरूच्या उपदेशाची आवश्यकता असते. माझी उत्पत्ती ना देवता जाणतात, ना महर्षिगण जाणतात. मी त्यांचेही मूळ कारण आहे. अव्यक्त स्थितीच्या नंतरची सार्वभौम अवस्था तोच जाणत असतो, ज्याने ही स्थिती प्राप्त केली आहे, जो मला अजन्मा, अनादि आणि सर्व लोकांच्या महान ईश्वराला–मला साक्षात्कारासह जाणतो, तो ज्ञानी आहे.

बुद्धी, ज्ञान, असंमूढता, इंद्रियनिग्रह, मनोनिग्रह, संतोष, तप, दान आणि कीर्तीचे भाव अर्थात दैवी संपत्तीची वरील लक्षणे म्हणजे माझीच देणगी आहे. सात महर्षिजन अर्थात योगाच्या सात भूमिका, त्याच्याही प्रथम होणारे तदनुरूप अंतः करण चतुष्टय आणि त्याला अनुकूल असणारे मन ते माझ्यामध्ये श्रद्धाशील, माझ्या–ठिकाणी दृढ आहे, ज्यांच्यापासून या लोकांमध्ये ही प्रजा उत्पन्न झाली, ते सर्व माझ्यापासून उत्पन्न झाले आहेत. अर्थात साधनामय प्रवृत्ती म्हणजे माझीच प्रजा आहे. त्यांची उत्पत्ती आपल्यापासून नव्हे तर गुरूपासून होत असते. वर सांगितलेल्या माझ्या विभूतींना जो चांगल्या प्रकारे जाणतो तो निःसंदेह माझ्यात एकरूप होण्यास योग्य असतो.

अर्जुना, मीच सर्वांच्या उत्पत्तीचे कारण आहे. असे श्रद्धेने जे जाणून घेतात, ते अनन्य भावाने माझे चिंतन करतात, निरंतर माझ्यात मन, बुद्धी आणि प्राण अर्पण करून, परस्परांना माझ्याविषयी ज्ञान देत, माझ्या गुणलीलांचे कीर्तन करीत माझ्यातच संतोष पावतात. त्या निरंतर माझ्याशी युक्त असणाऱ्या पुरुषांना योगामध्ये प्रवेश करवणारी बुद्धी मी प्रदान करतो. ही देखील माझीच देणगी आहे. बुद्धियोग कशाप्रकारे देतात? तर अर्जुना '**आत्मभावस्थ**' जागृत होऊन मी उभा होतो आणि त्यांच्या हृदयातील अज्ञानरूपी अंधकार ज्ञानरूपी दिव्याने नाहीसा करतो.

यावर अर्जुनाने प्रश्न केला की, भगवन आपण परम पवित्र, सनातन, दिव्य अनादि आणि सर्वत्र व्याप्त आहात, असे महर्षिगण म्हणतात. तसेच वर्तमानकाळातील देवर्षी नारद, देवल, व्यास आणि आपणही तसेच म्हणता. हे देखील खरे आहे की, आपल्याला ना देवता जाणत, ना दानव जाणत. स्वयं तुम्हीच स्वतःला यथार्थपणे जाणता, किंवा आपण ज्याला जाणण्याची क्षमता देता, तो तुम्हाला जाणू शकतो. तेव्हा आपणच आपल्या विभूतींविषयी सांगण्यास समर्थ आहात. म्हणून हे जनार्दना, आपण आपल्या विभूती विस्तारांने मला कथन करा. परमप्राप्तीपर्यंत इष्टदेवाला ऐकत राहण्याची

उत्कंठा लागून राहिली पाहिजे.

यावर योगेश्वर श्रीकृष्णांनी एक-एक करून आपल्या एक्याऐंशी विभूतींचे लक्षण संक्षेपाने सांगितले. त्यांमध्ये काही योगसाधनेत प्रवेश केल्यानंतर प्राप्त होणाऱ्या अंतरंग विभूतींचे चित्रण आहे, तर ऋद्धिसिद्धींच्या बरोबर प्राप्त होणाऱ्या काही विभूतींवर त्यांनी प्रकाश टाकला आहे. नंतर ते म्हणाले की, अर्जुना, सर्व काही जाणून तुला काय उपयोग आहे? या जगात ज्या ऐश्वर्ययुक्त व तेजोमय वस्तू आहेत, त्या माझ्या तेजाच्या अंशापासून उत्पन्न झालेल्या आहेत. शेवटी माझ्या विभूती अनंत आहेत असे सांगून अध्याय संपवला आहे.

या अध्यायात श्रीकृष्णांनी आपल्या विभूतींची बौद्धिक माहिती सांगितली आहे, ज्यामुळे अर्जुनाची श्रद्धा सर्व बाजूंनी एकवटून एका इष्टदेवाच्या ठिकाणी लागावी.

संपूर्ण अध्यायात योगेश्वरांच्या विभूतींचेच वर्णन आहे **ॐ तत्सदिती श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे 'विभूतियोगो' नाम दशमोऽध्यायः ।।१०।।**

ॐ तत्सदिति श्रीमद्‌भगवद्‌गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे 'विभूतिवर्णनम्' नाम दशमोऽध्यायः।।१०।।

याप्रमाणे श्रीमद् भगवदगीतारूपी उपनिषदातील ब्रह्मविद्यांतर्गत योगशास्त्रातील श्रीकृष्ण आणि अर्जुन यांच्या संवादातील 'विभूति वर्णन योग' नावाचा दहावा अध्याय समाप्त झाला.

इति श्रीमत्परमहंसपरमानन्दस्य शिष्य स्वामी अड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्‌भगवद्‌गीतायाः 'यथार्थ गीता' भाष्ये 'विभूति वर्णनम्' नाम दशमोऽध्यायः।।१०।।

अशा प्रकारे श्रीमत्परमहंस परमानन्दजींचे शिष्य स्वामी अडगडानन्दकृत श्रीमद्‌भगवद्‌गीतेवरील भाष्य 'यथार्थ गीता' यामधील 'विभूति वर्णन योग' नावाचा दहावा अध्याय समाप्त झाला.

।।हरि ॐ तत् सत्।।

ॐ

श्री परमात्मने नमः

।। अथ एकादशोऽध्यायः ।।

अध्याय अकरावा

मागील अध्यायात योगेश्वर श्रीकृष्णांनी आपल्या मुख्य मुख्य विभूर्तींविषयी संक्षेपाने विवरण करुन अर्जुनाला सांगितले, परंतु अर्जुनाला वाटले की आपण ते विस्तारपूर्वक ऐकले. व म्हणून तो म्हणाला की, भगवन् आपली अमृतमय वाणी एकून माझा सर्व मोह नष्ट झाला, अज्ञानही नष्ट झाले. आता आपण जे सांगितले ते मी प्रत्यक्ष पाहू इच्छितो पाहिल्यानंतर समजते की, आपण समजत होतो त्यापेक्षा परिस्थिती काही वेगळीच असते. अर्जुनाने ते रुप पाहिल्यानंतर मात्र तो थरथर कापू लागला. भगवंताकडे क्षमा-याचना करु लागला. ज्ञानी असे भयभीत होत असतात का? त्यांची काही जिज्ञासा बाकी राहते का? नाही. तसे नसते. बौध्दिक स्तरावरचे ज्ञान हे अस्पष्ट असते. मात्र यथार्थ ज्ञान जाणून घेण्याची प्रेरणा मात्र ते अवश्य देते. म्हणून अर्जुनाने विनंती केली-

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसञ्ज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम।।१।।

भगवन, माझ्यावर कृपा करण्यासाठी आपण अध्यात्मामध्ये प्रवेश देणारे गुह्य ज्ञान मला सांगितलेत. त्यामुळे माझा मोह नष्ट झाला, माझे अज्ञान नष्ट झाले. मी ज्ञानी बनलो.

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम्।।२।।

कारण हे कमलनेत्रा, भूतांची उत्पत्ती व प्रलय कसा होतो ते आपल्याकडून विस्तारपूर्वक ऐकले. तसेच आपले अपार महात्म्यही आपल्याकडून ऐकले.

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।

द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम।।३।।

हे परमेश्वरा, आपण आपल्या स्वरुपाविषयी जे सांगितले ते तसेच, आहे या काही शंका नाही. परंतु त्या स्वरुपाविषयी नुसते ऐकले आहे. परंतु हे पुरुषोत्तमा, आपले ते ऐश्वर्ययुक्त स्वरुप प्रत्यक्ष पाहण्याची माझी इच्छा आहे.

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।

योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्।।४।।

हे प्रभो, माझ्याकडून आपले दिव्य स्वरुप पाहिले जाऊ शकेल; असे जर आपल्याला वाटत असेल; तर हे योगेश्वरा, आपण आपले क्षयरहित, अविनाशी स्वरुप दाखवावे. यावर श्रीकृष्णांनी काही विरोध दाखवला नाही किंवा नाहीही म्हटले नाही. कारण श्रीकृष्णांनी अनेक ठिकाणी सांगितले आहे की, तू माझा अनन्य भक्त आहेस व प्रिय सखा आहेस. त्यामुळे अत्यंत आनंदाने त्यांनी आपले विराट स्वरुप अर्जुनाला दाखवले.

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्त्रशः।

नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च।।५।।

पार्था, माझी नाना प्रकारची, नाना वर्णांची व नाना आकृतींची शेकडो-हजारो दिव्य रुपे तू पहा-

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।

बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत।।६।।

हे भारता, आदितीचे बारापुत्र, आठ वसू, अकरा रुद्र, दोन अश्विनीकुमार, तसेच एकोणपन्नास मरुद्गण, तसेच पूर्वी न पाहिलेली अनेक आश्चर्ये तू अवलोकन कर.

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।

मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि।।७।।

अर्जुना, माझ्या या शरीरात एकाच ठिकाणी स्थित असलले चराचरयुक्त संपूर्ण जग पाहा आणि आणखी दुसरे पाहण्याची इच्छा असेल तर तेही पाहा.

या प्रकारे वरील तीन श्लोकात भगवान अर्जुनाला आपले स्वरूप सतत दाखवू लागले. परंतु अर्जुनाला काही दिसले नाही. (तो डोळे चोळत राहिला). तेव्हा भगवान थोडे थांबले व अर्जुनाला म्हणाले–

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।

दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्।।८।।

अर्जुना, तू तुझ्या या डोळयांनी म्हणजेच बौध्दिक दृष्टीने माझे हे विश्वरूप पाहण्यास समर्थ नाहीस. म्हणून मी तुला दिव्य म्हणजे अलौकिक दृष्टी देतो की, ज्या दृष्टीमुळे तू माझा प्रभाव आणि माझी योगशक्ती पाहू शकशील.

इकडे योगेश्वर श्रीकृष्णाच्या कृपेने अर्जुनाला ती दृष्टी प्राप्त झाली व त्याने विश्वरुपाचे दर्शन घेतले. तिकडे कौरव पक्षात योगेश्वर व्यासांच्या कृपाप्रसादाने संजयाला दिव्य दृष्टी प्राप्त झाली होती. त्यामुळे जे काही अर्जुनाने पाहिले अक्षरशः ते सर्व संजयही पाहू शकला. आणि त्या विश्वरूप दर्शनाने घडलेल्या पुण्याचा तोही भागीदार झाला. यावरून स्पष्ट होते की श्रीकृष्ण एक श्रेष्ठ योगी आहेत.

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः।

दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्।।९।।

संजय म्हणाला, हे राजन, महायोगेश्वर हरीने असे म्हणून अर्जुनाला आपले परम श्रेष्ठ, दिव्य असे ईश्वरी स्वरूप दाखविले. जो स्वतः योगी आहे आणि दुसऱ्यांना योग प्रदान करण्याची ज्याच्यात क्षमता आहे, जो योगाचा स्वामी आहे, त्याला योगेश्वर असे म्हणतात. या प्रकारे सर्वस्वाचे

हरण करणारा तो हरी होय. जर केवळ दु:खाचे हरण करून सुखाला सोडून दिले तर पुन्हा दु:ख येणारच. तेव्हा सर्व पापांच्या बरोबर सर्वस्वाचे हरण करून आपल्या स्वरूपाचे दर्शन घडवण्यात जो सक्षम आहे, तो हरी होय. त्यांनी पार्थाला आपले दिव्य स्वरूप दाखवले.

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्।

अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्।।१०।।

जे अनेक मुखांनी व नेत्रांनी यक्त आहे, ज्यामध्ये अनेक आश्चर्ययुक्त देखावे आहेत, ज्याने अनेक दिव्य अलंकार परिधान केले आहेत, ज्यांचे हात अनेक दिव्य अस्त्रांनी यक्त आहेत–

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।

सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्।।११।।

ज्यांनी दिव्य पुष्पहार आणि वस्त्रे धारण केली आहेत, ज्यास दिव्य गंधाची उटी लावली आहे, सर्व आश्चर्यांनी युक्त ज्याच्या विशालपणाला सीमाच नाही, असे भगवंताचे दिव्य स्वरूप अर्जुनाने दिव्य दृष्टी प्राप्त झाल्यावर पाहिले.

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।

यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः।।१२।।

(अज्ञानरूपी धृतराष्ट्राला संयमरूपी संजय म्हणाला) राजन, आकाशात एक सहस्त्र सूर्यांचा एकदम उदय झाल्यानंतर जो प्रकाश असेल तो विश्वरूप महात्म्याच्या त्या दिव्य प्रकाशाइतका कदाचित असेल. श्रीकृष्ण योगेश्वर होतेच, येथे ते महात्मादेखील आहेत.

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।

अपश्येद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा।।१३।।

पांडुपुत्र अर्जुनाने (पुण्य म्हणजेच पांडू होय. पुण्यच प्रेमाचे उगम स्थान आहे.) त्यावेळी अनेक प्रकारांनी विभागलेले सर्व जग त्या परमदेवाच्या त्या देहात एका ठिकाणी स्थित झालेले पाहिले.

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत।।१४।।

यानंतर आश्चर्यचकित झालेल्या, आनंदाने रोमांचित झालेल्या, अर्जुनाने परमात्म देवाला मस्तक लावून, नमस्कार करून (अर्जुन या आधीही नमस्कार करीत होता; परंतु श्रीकृष्णाच्या योगबलाचा प्रभाव बघून अत्यंत नम्र झाला आहे व म्हणून सादर प्रणाम करून) हात जोडून म्हणाला. येथे अर्जुनाने अंत:करणापासून नमस्कार केला आणि म्हणाला–

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहेसर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-मृषींश्चसर्वानुरगांश्च दिव्यान्।।१५।।

हे देवा, आपल्या शरीरात सर्व देव, निरनिराळया प्राण्यांचे समुदाय, कमलासनस्थ ब्रह्मदेव, महादेव, सर्व ऋषी तसेच दिव्य नाग मी पहात आहे. हे विश्वरुपाचे प्रत्यक्ष दर्शन होते, केवळ कल्पना नव्हती. परंतु जेव्हा योगेश्वर श्रीकृष्णासारखे पूर्णत्व प्राप्त झालेले महापुरूष दिव्य दृष्टी देतील तेव्हाच साधकाला हे विश्वरुप पाहणे शक्य आहे. हे दर्शन साधनगम्य आहे.

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप।।१६।।

हे विश्वेश्वरा, मी आपल्याला अनेक बाहू, पोट, मुखे व नेत्र असलेला व सर्व बाजूंनी अनंत रुप असलेला असा पाहत आहे. हे विश्वरूपा, मी आपला आदि, मध्य व अन्त मात्र पाहू शकत नाही. अर्थात आपल्या आदि, मध्य व अन्ताचा निर्णय करु शकत नाही.

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता- द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्।।१७।।

मी आपल्याला मुकुट, गदा व सुदर्शन चक्राने युक्त असणारा, सर्व बाजूंनी प्रकाशमान व तेजपुंज स्वरूप असणारा, प्रज्वलित अग्नी व सूर्याप्रमाणे, पाहण्यास दुष्कर, अर्थात प्रयत्नाने पाहता येणारा आणि सर्व बाजूंनी– बुध्दि–

आदिने ग्रहण करता न येणारा, अप्रमेय अशा तुम्हांला मी पाहत आहे. याप्रमाणे सर्व इंद्रियांनी पूर्णतया समर्पित होऊन योगेश्वर श्रीकृष्णाला या स्वरूपात पाहून अर्जुन त्यांची स्तुती करू लागला.

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।

त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे।।१८।।

भगवन, आपण जाणण्यास योग्य, परम अक्षर, अर्थात अक्षय परमात्मा आहात. आपण या विश्वाचे श्रेष्ठ आश्रयस्थान आहात, आपण शाश्वत धर्माचे रक्षक आहात. तसेच आपण अविनाशी सनातन पुरुष आहात– असे माझे मत आहे. आत्म्याचे स्वरूप काय आहे? तो शाश्वत आहे, सनातन आहे, अव्यक्त आहे, अविनाशी आहे. येथे श्रीकृष्णाचे स्वरूप कसे आहे? तेच शाश्वत, सनातन, अव्यय व अविनाशी! ब्रह्मप्राप्तीनंतर महापुरुषदेखील त्याच आत्मभावात स्थिर होत असतो. म्हणजे भगवान आणि आत्मा यांचे लक्षण– यांचे स्वरूप एकच आहे.

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-

मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।

पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं

स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्।।१९।।

हे परमात्मन, मी आपल्याला आदि, मध्य व अंतरहित, अनंत सामर्थ्याने युक्त असलेला, अनंत बाहू असणारा, (या आधी हजार बाहू होते, आता अनंत झाले), चंद्र आणि सूर्यरूपी नेत्र असणारा (मग तर भगवान एका डोळयाने काणे झाले. कारण एका डोळा चंद्राप्रमाणे क्षीण प्रकाशाचा व दुसरा सूर्याप्रमाणे सतेज अर्थात, असा याचा अर्थ नाही. याचा अर्थ सूर्याप्रमाणे प्रकाश देणारा व चंद्राप्रमाणे शीतलता देणारा गुण भगवंतामध्ये आहे. चंद्र-सूर्य हे फक्त प्रतीक आहेत. तात्पर्य चंद्र व सूर्याची दृष्टी असणारा), तसेच प्रज्वलित अग्निरूपी मुख असणारा, आपल्या प्रखर तेजाने या जगाला जाळून टाकत आहे; असे मी पाहात आहे.

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्।।२०।।

हे महात्मन! पृथ्वी व अंतरिक्ष यांच्यामधील संपूर्ण प्रदेश व सर्व दिशा आपण एकटयाने व्यापिल्या आहेत. आपले हे अलौकिक व भयंकर रूप पाहून त्रैलोक्य भयाने व्याकुळ झाले आहे.

अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः।।२१।।

हे देवतांचे समूह आपल्यामध्ये प्रवेश करीत आहेत, आणि कोणी भयभीत होऊन हात जोडून आपले गुणगान करीत आहेत-आपले स्तवन करीत आहेत. महर्षि आणि सिद्धांचा समुदाय स्वस्तिवाचन अर्थात कल्याण हो असे म्हणत स्तोत्रांनी आपली स्तुती करीत आहेत.

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे।।२२।।

रुद्र, आदित्य, वसु, साध्य, विश्वदेव, अश्विनी कुमार, वायुदेव आणि पितर आणि उष्मण : म्हणजेच परमेश्वर उष्णता ग्रहण करणारे तसेच गंधर्व, यक्ष, राक्षस व सिद्धांचा समुदाय सर्व आश्चर्याने आपल्याकडे पाहत आहेत. अर्थात पाहत असले तरी तुम्हाला ते समजू शकत नाहीत, कारण तुमचे स्वरूप यथार्थपणे पाहण्याची ती दिव्य दृष्टी त्यांना नाही. श्रीकृष्णाने मागे सांगितले होते की आसुरी स्वभावाचे लोक मला तुच्छ समजतात व सामान्य मला मनुष्य असे संबोधतात. मी परमभावामध्ये, परमेश्वररूपात स्थिर आहे

हे त्यांना दिसत नाही. अर्थात, मी मनुष्यशरीर धारण केले असले तरी मी परमतत्त्वाचे स्थित आहे. माझ्या या स्वरूपाकडे ते सर्वजण विस्मयाने फक्त पाहतात पण माझे यर्थाथ स्वरुप ते जाणू शकत नाहीत. हेच येथे विस्ताराने सांगितले आहे.

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्।।२३।।

हे महाबाहो, (श्रीकृष्ण महाबाहू आहेत आणि अर्जुनही महाबाहू आहे. प्रकृतीच्या पलीकडे महासत्तेकडे ज्याचे कार्यक्षेत्र असते तो महाबाहू असतो. श्रीकृष्ण महानतेच्या क्षेत्रात परिपूर्ण आहेत, फार पुढे आहेत. अर्जुन त्या क्षेत्राच्या प्रवेशमार्गावर आहे. ध्येय मार्गाचा दुसरा टप्पाच असतो) आपली अनंत मुखे व नेत्र असलेले, अनेक हात, मांडया व पाय असणारे, अनेक उदरे असलेले, अनेक दाढांच्या योगाने भीषण असलेले तुझे प्रचंड स्वरूप पाहून सर्व लोक व्याकूळ झाले आहेत, मीदेखील व्याकूळ झालो आहे. श्रीकृष्ण किती महान आहेत हे पाहून अर्जुनाला येथे भय वाटू लागले आहे.

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो।।२४।।

विश्वामध्ये सर्वत्र अणुरूपाने व्यापून असणाऱ्या हे विष्णो, आकाशाला स्पर्श करणाऱ्या, तेजस्वी, अनेक प्रकारच्या रूपांनी युक्त असणाऱ्या, जबडा पसरलेल्या, तेजस्वी व विशाल नेत्र असणाऱ्या तुम्हांला पाहून माझा अंतरात्मा व्याकुळ होऊन गेला आहे. त्यामुळे माझा धीर सुटला आहे व समाधानरूपी शांतीदेखील मला मिळेनाशी झाली आहे.

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्टैव कालानलसन्निभानि।

दिशो न जाने न लभे च शर्म

प्रसीद देवेश जगन्निवास।।२५।।

आपली विक्राळ दाढा असणारी, प्रलयकाळाच्या अग्नीप्रमाणे (काळासाठीही परमात्मा अग्नी आहे) प्रज्वलित असणारी मुखे पाहून मी इतका घाबरुन गेलो आहे की, मी दिशादेखील ओळखू शकत नाही-जाणू शकत नाही. चोहीकडे प्रकाश पाहून मला दिशाभ्रम होऊ लागला आहे, आपले हे भयंकर रूप पाहून मी अस्वस्थ झालो आहे, मला ते पाहून सुख वाटत नाही तेव्हा देवेशा, जगन्निवासा, आपण माझ्यावर प्रसन्न व्हा.

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः

सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः।

भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ

सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः।।२६।।

धृतराष्ट्राचे सर्व पुत्र राजांच्या समुदायांसह तुमच्यामध्ये प्रवेश करीत आहेत. आणि पितामह भीष्म, द्रोणाचार्य तसेच तो कर्ण (ज्याचे अर्जुनाला फार भय वाटत होते तो कर्ण), तसेच आमच्याकडील सुद्धा मुख्य योद्धे-

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति

दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।

केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु

सन्दृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः।।२७।।

अत्यंत वेगाने आपल्या विक्राळ दाढांच्या भयावह मुखात प्रवेश करीत आहेत; तसेच त्यांच्यापैकी कित्येक चूर्ण झालेली मस्तके आपल्या दातांमध्ये अडकलेली दिसत आहेत. ते किती वेगाने आत प्रवेश करीत आहेत? आता त्यांचा वेग पाहा-

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः

समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।

तथा तवामी नरलोकवीरा

विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति।।२८।।

ज्याप्रमाणे नद्यांचे अनेक जलप्रवाह (ते स्वतः विक्राळ असले तरी) समुद्राकडे धावतात, समुद्रात प्रवेश करतात, त्याप्रमाणे हे अत्यंत शूरवीर-पराक्रमी असे माणसांचे समुदाय सर्व बाजूंनी जळत असणाऱ्या तुझ्या तोंडात प्रवेश करीत आहेत. ते सर्व शूरवीर खरे; पण तुम्ही समुद्रवत आहात. आपल्यासमोर त्यांचे सामर्थ्य फारच अत्यल्प आहे. ते का व कशा प्रकारे प्रवेश करीत आहेत? त्यासाठी दृष्टांत दिला आहे-

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः।।२९।।

ज्याप्रमाणे पतंग जणू नष्ट होण्यासाठीच प्रज्वलित अग्नीमध्ये अत्यंत वेगाने प्रवेश करतात, त्याप्रमाणे ते सर्व प्राणी आपल्या नाशासाठी तुमच्या मुखामध्ये अत्यंत वेगाने प्रवेश करीत आहेत.

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो।।३०।।

आपण त्या सर्व लोकांना आपल्या जळत असणाऱ्या मुखांनी सर्व बाजूंनी गिळीत, चाटत आहात, त्यांचा स्वाद घेत आहात. सर्वत्र व्याप्त असणाऱ्या हे परमात्मा, आपले उग्र तेज सर्व जगाला आपल्या तेजाने व्यापून चोहीकडे तळपत आहे. तात्पर्य असे की, प्रथम आसुरी संपदा परमतत्त्वात विलीन होऊन जाते, त्यानंतर दैवी संपदेचे काही प्रयोजन राहत नाही, त्यामुळे तीही त्याच स्वरूपात विलीन होऊन जाते. अर्जुनाने पाहिले की प्रथम कौरव पक्षाचे योद्धे व त्यानंतर स्वतःच्या पक्षातील योद्धे श्रीकृष्णाच्या जळणाऱ्या मुखामध्ये विलीन होत होते-नष्ट होत होते. हे पाहून अर्जुनाने विचारले-

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।

विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं

न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्।।३१।।

हे उग्र रुप धारण केलेले आपण कोण आहात? हे देवश्रेष्ठ, आपल्याला नमस्कार असो. आपण माझ्यावर प्रसन्न व्हावे. आदिदेवा, आपण कोण आहात हे जाणून घेण्याची माझी इच्छा आहे. (म्हणजे आपण कोण आहात? आपण या जगात काय करू इच्छिता?) कारण आपली ही प्रवृत्ती अर्थात आपली ही करणी मला काहीच समजत नाही. यावर योगेश्वर श्रीकृष्ण म्हणाले–

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो

लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।

ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे

येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः।।३२।।

अर्जुना, लोकाचा संहार करणारा आणि त्यासाठी वुद्धी पावलेला मी काळ आहे. यावेळी येथे या लोकांचा संहार करण्यासाठी प्रवृत्त झालो आहे. प्रतिपक्षाच्या सेनेमध्ये असणारे सर्व योद्धे आता तू त्यांना मारलें नाहीस तरी जिवंत राहणार नाहीत. ते सर्व नष्ट होतील. कारण त्यांच्या संहारासाठी मी प्रवृत्त झालो आहे.

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व

जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।

मयैवैते निहताः पूर्वमेव

निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।।३३।।

यासाठी हे अर्जुना, तू युद्धाला उभा राहा, यश प्राप्त कर. शत्रूना जिंकून समृद्ध व संपन्न राज्याचा उपभोग घे. हे सर्व शूर वीर माझ्याकडून पूर्वीच मारुन टाकलेले आहेत.

वास्तविक यापूर्वी श्रीकृष्णांनी म्हंटले आहे की ते स्वतः ना काही करीत, ना कोणाकडून करवून घेत, ना संयोगाने जोडत. मोहवश बुद्धीमुळे

लोक म्हणत असतात की, कर्ताधर्ता परमेश्वर आहे. परंतु येथे तर ठामपणाने ते म्हणत आहेत की, अर्जुना, या जगाचा कर्ता-धर्ता मी आहे. हे लोक माझ्याकडून पहिलेच मारले गेले आहेत. तू उभा राहा व यज्ञ संपादन कर. असे यासाठी आहे की,'**सो केवल भगतन्ह हित लागी ।**' अर्जुनाने ती अवस्था प्राप्त केली होती. त्या अवस्थेला तो पोहचला होता, तोच येथे श्रीकृष्ण तळ ठोकून-घट्ट उभे राहिले आहेत. अनुराग-प्रेम म्हणजेच अर्जुन होय. प्रेमळ भक्तसाठी भगवंत नेहमी त्याच्या पाठी उभा असतो. त्याच्यासाठी ते कर्ता बनतात, रथी बनतात.

या ठिकाणी तिसऱ्यांदा साम्राज्याचा उल्लेख आला आहे. प्रथम अर्जुन लढू इच्छित नव्हता. त्याने म्हंटले होते की धनधान्यसंपन्न व निष्कंटक असे पृथ्वीचे राज्य किंवा देवांचे स्वामित्व किंवा त्रैलोक्याचे राज्यदेखील मला नको. कारण माझ्या इंद्रियांचे शोषण करणारा हा शोक या राज्यांच्या प्राप्तीनंतरही शमणार नसेल, तीच अवस्था व तडफड मला भोगायची असेल तर मला या इहलोकीचे वा परलोकीचे कोठलेही राज्यवैभव नको आहे. यावर श्रीकृष्णाने अर्जुनाला लढण्यासाठी तयार व्हायला सांगून म्हंटले होते की, या युध्दात तू हरलास तर देवत्त्व प्राप्त होईल आणि जिंकलास तर महामहिम स्थिती तुला प्राप्त होईल, आणि आता या अध्यायात ते सांगत आहेत की, हे शत्रू माझ्याकडूनच मारले गेले आहेत. तू फक्त निमित्तमात्र बन आणि यश संपादन कर व समृद्ध अशा राज्याचा उपभोग घे. हे ऐकून अर्जुन विस्मित झाला. कारण ज्या राज्यांच्या प्राप्तीमुळे शोक दूर होणार नाही, मनाला शांती प्राप्त होणार नाही, तेच राज्य श्रीकृष्ण मला देणार? नाही हे भौतिक सुख देणारे राज्य ते अर्जुनाला देऊ इच्छित नव्हते तर विकारांचे शमन होऊन त्याबरोबर परमात्म स्वरुपाच्या प्राप्तीचे साम्राज्य त्याला देऊ इच्छित आहेत. ज्या संपत्तीचा कधी विनाश होणार नाही, अशी स्थिर संपत्ती-जी राजयोगामुळे प्राप्त होते ती त्याला देऊ इच्छित आहेत.

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च

कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।

मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्।।३४।।

अर्जुना, या द्रोण, भीष्म, जयद्रथ आणि कर्ण तसेच अन्य योद्धे की जे सर्व माझ्याकडून मारले गेले आहेत त्या शूरवीर योद्धयांना तू ठार मार. घाबरु नकोस. या युद्धात तू शत्रूला निश्चितपणे जिंकणार आहेस; तेव्हा युध्दाला तयार हो. येथेही योगेश्वरांनी म्हंटले आहे की, माझ्याकडून ते मारले गेलेले आहेत. त्या मेलेल्या वीरांना तू मार. म्हणजे मीच कर्ता आहे, हे येथे त्यांनी स्पष्ट केले आहे; परंतु पाचव्या अध्यायातील १३, १४ व १५ व्या श्लोकात त्यांनी म्हंटले होते की, भगवान अकर्ता आहे. अठराव्या अध्यायात ते म्हणतात की, शुभ अथवा अशुभ कार्यासाठी पाच माध्यमांची आवश्यकता असते - अधिष्ठान, कर्ता, करण, चेष्टा आणि देव. जे असे म्हणतात की, कैवल्यस्वरूप परमात्मा कर्ता आहे, ते अविवेकी आहेत. ते भगवंताचे-स्वरूप यर्थाथपणे जाणत नाहीत. विरोध्याभास असा का?

वास्तविक प्रकृती आणि परमात्म्यामध्ये एक सीमारेषा आहे. जोपर्यंत प्रकृतीच्या परमाणूंचा दाब-प्रभाव अधिक असतो, तोपर्यंत माया प्रेरणा देत असते. आणि जेव्हा साधक त्या प्रभावातून मुक्त होऊन ईश्वर, इष्ट अथवा सद्गुरुच्या कार्यक्षेत्रात प्रवेश करतो तेव्हा सद्गुरू, इष्ट (येथे सद्गुरू, आत्मा, परमात्मा, इष्ट, भगवान हे सर्व पर्यायी शब्द आहेत. काहीही म्हंटलेत तरी सांगणारा भगवानच आहे) हृदयाचा स्वामी होऊन, आत्म्याला जागृत करुन प्रेमळ भक्ताला स्वतः मार्गदर्शन करतो.

'पूज्य महाराजश्री' म्हणत- ''ज्या परमात्म्याची आम्हाला ओढ आहे, ज्या पायरीवर-स्तरावर आम्ही उभे आहोत. त्या स्तरावर स्वतः उतरुन येत नाहीत, जोपर्यंत आत्म्याकडून जागृत होत नाहीत, तोपर्यंत साधकाच्या साधनेला खऱ्या अर्थाने प्रारंभ होत नाही. त्यानंतर साधकाकडून जी कृती होते ती सर्व भगवंताची देणगी असते. साधक केवळ निमित्रमात्र होऊन त्यांच्या संकेताच्या व आदेशाच्या इशाऱ्यावर चालत असतो. साधकाचे यश-विजय म्हणजे भगवंताचीच देणगी असते. अशा आपल्या प्रेमळ, आवडत्या भक्तासाठी ईश्वर आपल्या दृष्टीने पाहतो, दाखवतो आणि आपल्या

स्वरूपापर्यंत पोहचवत असतो." श्रीकृष्ण येथे हेच सांगत आहेत, माझ्याकडून मारले गेलेल्या या शत्रूंना तू ठार मार. मी तुझ्यामागे उभा आहे. तू घाबरु नकोस तू निश्चितपणे विजयी होशील.

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य।।३५।।

संजय म्हणाला (जे विश्वरूपाचे दर्शन अर्जुनाने घेतले तेच व तसेच संजयालाही दर्शन घडले. आंधळा धृतरष्ट्र म्हणजे अज्ञानाने आच्छादलेल्या मनाचे प्रतीक आहे. परंतु जर असे मन संयमी असेल तर संयमाच्या माध्यमातून ते चांगल्या प्रकारे पाहू शकते, ऐकू शकते आणि समजूही शकते) श्रीकृष्णाचे बोलणे ऐकून भयाने कापत असलेला मुकुटधारी अर्जुन हात जोडून नमस्कार करून श्रीकृष्णाला सद्‌गदित वाणीने म्हणाला–

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः।।३६।।

हे अंतर्यामी हृषिकेशा, तुझ्या कीर्तीने तुझ्या गुणवर्णाने म्हणजेच तुझ्या महात्म्याने अवघे जग आनंदित होते व त्यात ते अनुरक्त होते हे योग्यच आहे. आपल्या अगाध महिम्यामुळे भयभीत झालेले राक्षस दश दिशांना पळत सुटतात आणि आपली महानता पाहून सर्व सिद्धांचा समुदाय आपल्याला नमस्कार करीत असतो.

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।

अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्।।३७।।

हे महात्मन्, ब्रह्मदेवाचाही आदिकर्ता व सर्वश्रेष्ठ अशा तुम्हांला ते का नमस्कार करीत नाहीत? कारण हे अनंता, हे देवेशा, हे जगन्निवासा सत् आणि असत् यांच्या पलीकडे असणारे अक्षर व अविनाशी असे तत्त्व तुम्हीच आहात. अर्जुनाने श्रीकृष्णाच्या या अक्षय स्वरूपाचे दर्शन स्वतः घेतलेले होते. केवळ बुद्धीने कल्पना करून किंवा तसे मानून हे अक्षय तत्त्व प्राप्त करता येत नाही. अर्जुनाने प्रत्यक्ष दर्शन हीच त्याची आंतरिक अनुभूती होती. तो विनयाने पुढे म्हणाला–

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप।।३८।।

आपण आदिदेव आणि पुराणपुरूष आहात. आपण या जगाचा आधार आहात, आपण सर्व जाणणारे आहात, आपण जाणण्यास अत्यंत योग्य आहात. आपणच परमधाम आहात. हे अनंतस्वरुपा, आपण हे अवघे जग व्यापले आहे. आपण सर्वत्र भरून आहात.

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते।।३९।।

आपणच वायू, यमराज, अग्नी, वरुण, चंद्रमा तसेच प्रजेचा स्वामी ब्रह्मदेव आणि ब्रह्मदेवाचा पिता आहात. आपल्याला पुन्हा नमस्कार! भगवंताविषयी अर्जुनाला अपार श्रद्धा व भक्ती वाटत असल्याने त्याला पुनःपुन्हा नमस्कार करूनही त्याचे मन तृप्त होत नाही. तो म्हणतो–

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।

अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः।।४०।।

हे अत्यंत सामर्थ्यवंत प्रभू, आपल्याला समोरुन व मागून नमस्कार असो. हे सर्वात्मन्, आपल्याला सर्व बाजूंनी नमस्कार असो. कारण अत्यंत पराक्रमी अशा भगवंता, आपण सर्व बाजूंनी या विश्वाला व्यापलेले आहे, तेव्हा आपणच सर्वरूपी व सर्वत्र व्यापून आहात. याप्रकारे पुनःपुन्हा नमस्कार करून भयभीत झालेला अर्जुन आपल्या चुकांबद्दल योगेश्वरांकडे क्षमायाचना करीत आहे.

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि।।४१।।

आपला महिमा न जाणल्यामुळे आपल्याला बरोबरीचा सखा व मित्र समजून हे कृष्णा, हे यादवा, हे सखा असे अमर्यादेने मी बोललो. तसेच–

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्।।४२।।

हे अच्युता, क्रीडा, शयन, आसन आणि भोजन इत्यादि प्रसंगी थट्टेने एकांती किंवा सर्वांसमक्ष मी आपला अपमान केला असेल; तर अचिंत्यप्रभाव अशा तुझी मी क्षमा मागतो. मला कशा प्रकारे क्षमा कराल?

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव।।४३।।

आपण ह्या चराचर जगताचे पिता, अत्यंत पूजनीय व गुरूंचेही महान गुरू आहात. ज्यांची काही प्रतिमा नाही अशा अप्रतिमप्रभावा, या तिन्ही

लोकांमध्ये आपल्यासारखे दुसरे कोणीही नाही, ग मग श्रेष्ठ कोण असणार? आपण मित्रही नाही. कारण मित्र नेहमी बरोबरीचा असतो.

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्।।४४।।

आपण चराचर जगताचे पिता आहात, म्हणून मी माझे शरीर आपल्या चरणक्ष ठेवून प्रणाम करीत आहे, आणि स्तुती करण्यास योग्य अशा आपण प्रसन्न व्हावे म्हणून प्रार्थना करत आहे. हे देवा, पिता जसा पुत्राच्या, मित्र जसा मित्राच्या आणि पती ज्याप्रमाणे पत्नीच्या अपराधाबद्दल क्षमा करतो; त्याप्रमाणे आपणही माझ्या अपराधाबद्दल क्षमा करावी. अपराध कोणता होता? आम्ही आपल्याला कधी हे यादव, हे सखा, हे कृष्ण असे म्हटले होते. असे कधी आपल्याला कृष्ण म्हणणे अपराध आहे का? काळे तर होतातच मग तुम्हाला 'गोरे' कसे म्हणायचे? यादव म्हणणे देखील अपराध नव्हता. कारण यदुकुलात तर जन्म झाला होता. सखा-मित्र म्हणणेदेखील अपराध ठरत नाही. कारण स्वयं कृष्ण देखील अर्जुनाला आपले मित्र समजत होते. जर कृष्ण म्हणणे अपराध असेल आणि एकदा 'हे कृष्णा' असे म्हटल्याने अर्जुन हजार वेळा क्षमायाचना करीतअसेल, मग जप कोणाचा करावयाचा? नाम कोणते घ्यायचे?

वास्तविक योगेश्वर श्रीकृष्णांनी ज्या प्रकारे चिंतन करण्याची पध्दत सांगितली आहे त्याप्रमाणे जप करावा. त्यांनी मागे सांगितले '**ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन मामनुस्मरन अर्जुन!**' 'ॐ' बस्स! एवढाच एक अक्षय ब्रह्माचा परिचय देणारा आहे. त्या शब्दाचा तू जप कर आणि ध्यान तू माझे कर. कारण परमभावामध्ये प्रवेश मिळाल्यानंतर त्या महापुरूषाचेही तेच नाव आहे, जे त्या अव्यक्ताचा परिचय देणारे आहे. श्रीकृष्णाचे सामर्थ्य पाहिल्यानंतर अर्जुनाच्या लक्षात आले की श्रीकृष्ण ना काळे आहेत, ना गोरे, ना सखा, ना यादव! ते तर अक्षय ब्रह्माच्या स्थितीत स्थिर असणारे महात्मा आहेत.

संपूर्ण गीतेमध्ये योगेश्वर श्रीकृष्णांनी पाच वेळा 'ॐ' च्या जपावर भर दिला आहे. आपल्याला आता जप करायचा असेल तर 'कृष्ण-कृष्ण' असा जप न करता 'ॐ' चा जप करावा. साधारणतः भाविक लोक काही ना काही मार्ग काढतच असतात. कोणी 'ओऽम्' जपण्याचा अधिकार कोणाला आहे व कोणाला नाही या चर्चेनेऱ्या प्रश्नाने भयभीत आहेत, कोणी महात्म्यांची ग्वाही देत आहेत, तर कोणी केवळ श्रीकृष्णाचेच नाही तर त्यापूर्वी राधा व गोपींचेदेखील नाव, कृष्णाने लवकर प्रसन्न व्हावे म्हणून घेत आहेत. पुरूष श्रद्धाशील असल्याने त्याचे असे जप करणे फक्त भावुकताच होय. आपण जर खरेखुरे भविक असला तर श्रीकृष्णाच्या आदेशाचे पालन करावे. ते अव्यक्त स्थितीत असूनही ते आपल्यासमोर नाहीत, परंतु त्यांची वाणी आपल्या पुढे आहे. आपण त्यांच्या आज्ञेचे पालन करावे. अन्यथा आपणच सांगावे की आपले गीतेत स्थान काय आहे? एक गोष्ट मात्र आवश्यक आहे की, '**अध्येष्यते च य इमं श्रद्धावाननसूयश्च श्रृणुयादपि यो नरः !**' जो अध्ययन करतो, जो ऐकतो तो ज्ञान किंवा, यज्ञ जाणतो. तसेच उत्तम लोक त्याला प्राप्त होतात. म्हणून अध्ययन अवश्य करावे.

प्राण-अपानाचे चिंतन करताना 'कृष्ण-कृष्ण' हा नामजप मनाची पकड घेत नाही. अनेक लोक कोरड्या भावुकतेने केवळ 'राधे-राधे' असे म्हणत असतात. जसे आजकाल वरच्या अधिकाऱ्यांकडून काम झाले नाही, तर त्यांच्या आप्त-मित्रांचा प्रेमिका किंवा पत्नीचा 'सोर्स' लावून काम करवून घेण्याचा प्रघात आहे. लोकांना वाटते भगवंताच्या घरीही अशाच प्रकारचा प्रघात असेल. म्हणून त्यांनी 'कृष्ण-कृष्ण' असा नामजप बंद करून 'राधे-राधे' असा नामजप सुरू केला. ते म्हणतात 'राधे-राधे! श्याम मिला दे ।' जी राधा एकदा हरवली ती स्वयं घनश्यामाला मिळाली नाही ती तुम्हाला श्रीकृष्ण कसा प्राप्त करून देणार? तेव्हा कोणाचेही न ऐकता, व मानता श्रीकृष्णाच्या आदेशाचे आपण पालन करावे, आपण 'ओऽम्' चा जप करावा. हो! एक गोष्ट मात्र खरी की भक्तीमध्ये राधा आमचा आदर्श आहे. राधेइतक्या उत्कट भक्तीने आम्ही भक्ती केली पाहिजे. तिच्याइतकी भक्तीची उत्कटता, दृढता आमच्याजवळ पाहिजे. जर पर परब्रह्माला प्राप्त करून घ्यायचे असेल

तर राधेप्रमाणे विरही बनायला हवे.

यापुढेही अर्जुनाने श्रीकृष्णाला 'कृष्ण' ही म्हटले आहे. 'कृष्ण' हे त्यांचे प्रचलित नाव होते. श्रीकृष्णाची तर अनेक नामे होती. जसे 'गोपाल'. परंतु अनेक साधक गुरू-गुरू किंवा गुरुच्या प्रचलित नावाचा जप करतात. परंतु परमप्राप्तीनंतर प्रत्येक महापुरूषाचे तेच नाव असते ज्या अव्यक्त स्थितीमध्ये तो स्थित आहे. अनेक शिष्य प्रश्न विचारता- 'गुरूदेव' जर ध्यान आपले करायचे तर 'ओऽम्' चा जप कशाला जपायचा? 'गुरू-गुरू' किंवा 'कृष्ण-कृष्ण' असा जप का नाही करायचा? परंतु येथे योगेश्वराने स्पष्ट केले आहे की, अव्यक्त स्वरूपात विलीन झाल्यानंतर महापुरूषालाही तेच नाव दिले जाते ज्यात तो स्थिर होतो- ज्यात तो स्थित होतो.

अर्जुनाने योगेश्वर श्रीकृष्णाला आपल्या अपराधाबद्दल क्षमायाचना केली व त्यांना आपल्या स्वाभाविक रूपात येण्याची प्रार्थना केली. श्रीकृष्णांनी अर्जुनाची विनंती मानली, त्याला क्षमा केली व त्यांनी परत आपले स्वाभाविक रूप धारण केले.

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा

भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।

तदेव मे दर्शय देवरूपं

प्रसीद देवेश जगन्निवास।।४५।।

अजून योगेश्वर श्रीकृष्ण अर्जुनासमोर विश्वरूपातच आहेत. त्यामुळे अर्जुन म्हणतो की मी यापूर्वी कधी पाहिले नाही, असे आपले आश्चर्यचकित करणारे रूप पाहून मला अत्यंत आनंद होत आहे. तसेच माझे मन भयाने अत्यंत व्याकूळदेखील होत आहे. प्रथम तर तो श्रीकृष्णाला आपला सखा समजत होता. धनुर्विद्येत तो आपल्याला अधिक श्रेष्ठ समजत होता, परंतु आता श्रीकृष्णाचे सामर्थ्य पाहून त्याला आता भीती वाटत आहे. मागील अध्यायात प्रभाव ऐकून तो स्वतःला ज्ञानी समजत होता ज्ञानी मनुष्याला काही भय असत नाही का? वास्तविक प्रत्यक्ष दर्शनाचा प्रभावच विलक्षण असतो. सर्व काही ऐकल्यानंतर व मानल्यानंतरही सर्व काही जाणून घेण्याचे

बाकी राहते. तो म्हणतो– यापूर्वी कधीही न पाहिलेला आपला रूप पाहून मला अत्यंत आनंद होत आहे, तसेच माझे मन भयाने व्याकूळही होऊ लागले आहे. तेव्हा हे देवा, आपण प्रसन्न व्हा. हे देवेशा, हे जगन्निवासा आपण मला आपले ते रूप दाखवा. कोणते रूप?

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते।।४६।।

मस्तकावर मुकुट धारण केलेल्या व हाती गदा व चक्र घेतलेल्या अशा तुम्हाला मी पाहू इच्छितो. तेव्हा हे विश्वरूपा, हे सहस्त्रबाहो, आपण आपले ते चतुर्भुज स्वरूप धारण करा. अर्जुना भगवंताचे कोणते रूप पाहू इच्छितो? चतुर्भुज रूप. आता हे चतुर्भुज रूप कसे आहे ते पाहू.

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्।।४७।।

याप्रकारे अर्जुनाची प्रार्थना ऐकून श्रीकृष्ण म्हणाले– अर्जुना, प्रसन्न होऊन मी माझ्या योगशक्तीच्या प्रभावाने तुला माझे परमश्रेष्ठ, तेजोमय, अनन्त आद्य व विराट असे विश्वरूप दाखवले आहे. हे विश्वरूप तुझ्यापूर्वी कोणीही पाहिलेले नाही.

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर।।४८।।

हे अर्जुना, या मनुष्यलोकी माझे हे विश्वरूप तुझ्या पूर्वी कोणीही पाहिलेले नाही. कारण वेदांच्या अभ्यासाने, यज्ञयागाने, स्वाध्यायाने, दानाने किंवा तशा प्रकारच्या कर्मांनी किंवा उग्र तपाने किंवा अन्य कोणाकडून माझे हे विश्वरूप पाहणे शक्य नाही. म्हणजेच तुझ्याशिवाय हे रूप दुसरे कोणी पाहू शकणार नाही. असे असेल तर मग गीता पठण करण्याचा उपयोग काय? भगवद्दर्शन जर अर्जुनापर्यंत सीमित राहणार असेल तर गीतेच्या अभ्यासाचा उपयोग काय? वास्तविक मागील अध्यायात स्वतः श्रीकृष्णांनीच सांगितले आहे की, राग, भय क्रोधरहित होऊन अनन्य भक्तीने मला शरण आलेले अनेक साधक ज्ञानरूपी तपाने पवित्र होऊन साक्षात माझ्या स्वरूपाप्रत आलेले आहेत. आणि येथे सांगतात– तुझ्याशिवाय माझे हे विश्वरूप आजपर्यंत ना कोणी पाहू शकले, ना भविष्यात कोणी पाहू शकेल! मग हा अर्जुन कोण आहे? कोणी पिंडधारी आहे का? की कोणी देहधारी आहे? नाही अर्जुन म्हणजे अनुराग! अर्जुन म्हणजे प्रेम! अनुरागविहीन पुरुष भगवंताचे स्वरूप ना कधी पाहू शकला, ना भविष्यात कधी पाहू शकेल. सर्व बाजूंनी चित्ताचा निरोध करून एकमात्र इष्टदेवाच्या ठिकाणी प्रेम ठेवणे म्हणजेच अनुराग होय. अशा प्रेमळ भक्तालाच भगवान् प्राप्त होत असतो.

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य।।४९।।

हे माझे अशा प्रकारचे विक्राळ रूप पाहून तू व्याकूळ होऊ नकोस आणि भ्रांतचित्तही होऊ नकोस. आता तू भयरहित होऊन प्रीतीयुत्त मनाने पुन्हा माझे ते पूर्वीचे म्हणजे चतुर्भुज रूप पहा.

संजय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा।।५०।।

संजय म्हणाला– सर्वत्र व्यापून असणाऱ्या देवाने, त्या वासुदेवाने अर्जुनाला असे बोलून त्यांनी पुन्हा आपले पूर्वीचे स्वरूप दाखविले. त्यानंतर महात्मा श्रीकृष्णाने '**सौम्यवपुः**' अर्थात प्रसन्न होऊन भयभयीत झालेल्या अर्जुनाला धीर दिला. यावर अर्जुन म्हणाला–

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।

इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः।।५१।।

हे जनार्दन, तुझे हे शांत व सौम्य मनुष्यरूप पाहून आता मला प्रसन्न वाटत आहे. मी आता पूर्ववत झालो आहे. माझे मन आता त्याच्या मूळ स्वभावात स्थिर झाले आहे. अर्जुनाने सांगितले होते की भगवान, आता मला आपल्या चतुर्भुज स्वरूपाचे दर्शन घडवा. योगेश्वराने त्याला ते दर्शन घडवले देखील. परंतु अर्जुनाने कोणत्या स्वरूपाचे दर्शन घेतले? कोणते रूप त्याने पाहिले? ''**मानुषंरूपं**'' अर्जुनाने मनुष्यरूप पाहिले. वास्तविक परमतत्त्वाच्या प्राप्तीनंतर महापुरूषालाच चतुर्भुज व अनन्तभुज असे म्हटले जाते. दोन बाहूंचा महापुरूष तर समोर बसलेलाच आहे. परंतु अन्य कोणी त्याचे स्मरण केले; तर त्या स्मरण करणाऱ्याकडून जागृत होऊन तो महापुरूष त्याला मार्गदर्शन करतो. 'भुजा' हे कार्याचे प्रतीक आहे. ते आतही कार्य करतात व बाहेरही कार्य करतात, व हेच भगवंताचे चतुर्भुज स्वरूप आहे. त्याच्या हातातील शंख, चक्र, गदा आणि पद्म हे अनुक्रमे लक्ष्यघोष साधनचक्राचे प्रवर्तन, इंद्रियांचे दमन आणि निर्मल–निर्लेप कार्यक्षमतेचे प्रतीक आहेत. त्यामुळेच भगवंताला चतुर्भुज स्वरुपात पाहूनही अर्जुनाने त्यांचे मानवरूपात दर्शन घेतले. 'चतुर्भुज' हे महापुरूषांच्या शरीर आणि स्वरुपाकडून केल्या जाणाऱ्या कार्याच्या विधीविशेषाचे नाव आहे. चतुर्भुज म्हणजे चार हातांचा कृष्ण नव्हे.

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।

देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः।।५२।।

परमात्मा श्रीकृष्ण म्हणाले– अर्जुना! तू जे माझे दिव्यरून बघितलेस ते अतिशय दुर्मिळ आहे; प्रत्यक्ष देवता सुद्धा या रूपदर्शनाची अभिलाषा बाळगतात. खरं तर सगळीच माणसे संताला ओळखू शकत नाहीत. पूज्य महाराजश्री अंतर्ज्ञानी पूर्ण महापुरुष असूनही लोकांनी त्यांना वेडा समजले. काही पुण्यात्मानांच 'महाराज सद्‌गुरु आहेत', अशी आकाशवाणी झाली. केवळ त्यांनीच, महाराजांना हृदयाने जाणले, त्यांचे स्वरूप जाणून घेतले व स्वतः सद्‌गती प्राप्ती केली. श्रीकृष्णांचे हेच सांगणे आहे की ज्यांच्या हृदयात दैवी संपदा जागृत होतात त्या देवतासुद्धा नित्य या रुपदर्शनाची आकांक्षा बाळगतात. म्हणजे यज्ञ, दान किंवा वेदाध्ययनाने आपले दर्शन घडू शकते? परमात्म्यांच्या सांगण्यानुसार–

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।

शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा।।५३।।

तू माझे जे विश्वरूप पाहिलेस ते वेदाध्ययनाने, तपाने, दानाने किंवा यज्ञानेदखील पाहावयास मिळणे दुर्लभ आहे. ते सुलभतेने पाहावयास मिळणारे नाही. असे जर आहे तर मग आपल्याला पाहण्याचा दुसरा कोणताच उपायच नाही? ते महापुरुष यावर म्हणतात–

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।

ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप।।५४।।

हे श्रेष्ठ तप करणाऱ्या अर्जुना, माझ्याशिवाय अन्य देवतांचे स्मरण न करता केवळ माझेच अनन्य श्रद्धेने स्मरण केले, माझी भक्ती केली तर ह्याप्रकारे मला प्रत्यक्ष पाहणे यर्थाथपणे जाणणे व माझ्या ठायी तत्त्वाने प्रवेश करणे शक्य आहे–सुलभ आहे. अर्थात, भगवंताच्या प्राप्तीचे एकमात्र माध्यम म्हणणे अनन्य भक्ती होय. शेवटी ज्ञानदेखील भक्तीमध्येच परिणत होत असते. वर सांगितले की, माझे हे रूप तुझ्याशिवाय ना कोणी पाहू शकले, ना पुढे कोणी पाहू शकेल. व आता इथे ते सांगत आहेत– अनन्य भक्तीने मला न केवळ पाहू शकले जाते; पण यर्थाथपणे मला जाणलेही जाते व माझ्या ठायी तत्त्वाने प्रवेश करणेही शक्य होते. अर्थात अर्जुन

म्हणजे अनन्य भक्ताचे नाव आहे, एका अवस्थेचे नाव आहे. अनुराग, प्रेम म्हणजेच अर्जुन होय. शेवटी योगेश्वर कृष्ण सांगतात–

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्‌भक्तः सङ्गवर्जितः।

निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव।।५५।।

हे अर्जुना, जो पुरुष माझ्यासाठी निर्दिष्ट कर्म म्हणजेच नियत कर्म–यज्ञार्थ कर्म करतो, '**मत्परमः**' जो मत्परायण होऊन राहतो, तो माझा अनन्य भक्त आहे. '**संगवर्जितः**' परंतु संग–दोष असेल तर ते कर्म होऊ शकत नाही. तेव्हा आसक्तीरहित होऊन जो कोणत्याही भूतप्राण्यांचे ठिकाणी वैरभाव ठेवत नाही तो मला प्राप्त होतो. तर मग अर्जुनाने युद्ध केले? त्याने प्रतिज्ञा घेऊन जयद्रथाला मारले? '**निर्वैरः सर्वभूतेषु**' जर अर्जुनाने त्याला मारले असते तर अर्जुन भगवंताचे स्वरूप पाहू शकला नसता. परंतु अर्जुनाने भगवंताचे विश्वरूप पाहिले आहे. यावरुन सिद्ध होते की, गीतेमध्ये एकही श्लोक असा नाही की जो बाह्य हाणा–मारीचे, कापाकापीचे समर्थन करीत नाही. जो नियत कर्म करेल, यज्ञयागादि क्रिया करेल, जो अनन्य भावाने दुसऱ्या कोणाचेही स्मरण न करता एका ईश्वराचेच स्मरण करेल, जो आसक्ती दोषापासून दूर राहील, तेथे युद्ध कसले? जर त्याच्या बरोबर युद्ध करायला कोणी नसेलच तर मग तो युद्ध कोणाबरोबर करेल? सर्व भूतप्राण्यांबाबत ज्याच्या मनात वैरभाव नाही, कल्पनेनेदेखील जो कोणाला त्रास देत नाही, तोच माझ्याप्रत येतो. मग याचा अर्थ काय? अर्जुनाने युद्ध केले का? नाही मुळीच नाही.

वास्तविक आसक्तीदोषापासून अलग राहून जेव्हा तुम्ही अनन्य भावाने भगवंताच्या चिंतनात निमग्न होता, निर्धारित यज्ञप्रक्रियेमध्ये प्रवृत्त होता, अशा वेळी राग, द्वेष, काम–क्रोध इत्यादि दुर्जय शत्रू विघ्नरूपाने तुमच्यावर आक्रमण करतात. तेव्हा त्यांच्यावर विजय मिळवणे म्हणजेच युद्ध करणे होय.

निष्कर्ष–

या अध्यायाच्या आरंभी अर्जुन म्हणाला– भगवान, आपल्या विभूतींच्याबाबत मी विस्ताराने ऐकले. त्यामुळे माझा मोह नष्ट झाला,

अज्ञानही दूर झाले; परंतु आपण मला सांगितलेत की मी सर्वत्र व्यापून आहे; तेव्हा आपले ते सर्वव्याप्त स्वरूप मी प्रत्यक्ष पाहू इच्छितो जर ते स्वरूप माझ्याकडून पाहणे शक्य असेल; तर कृपया मला आपले ते स्वरूप दाखवा. अर्जुन श्रीकृष्णाचा अनन्य सखा होता, अनन्य सेवक होता. त्यामुळे श्रीकृष्णाने कोणता वाद न करता लगेच आपले सर्वव्याप्तरूप-विश्वरूप दाखवायला सुरुवात केली- अर्जुना, हे सप्तर्षी व त्यांच्याही पूर्वी होऊन गेलेले ऋषी बघ. ब्रह्मा आणि विष्णू बघ. सर्वत्र पसरलेले माझे तेज बघ. परंतु अर्जुन आपले डोळे नुसता चोळत राहिला. या प्रकारे दोन-तीन श्लोकांपर्यंत श्रीकृष्ण आपले विश्वरूप दाखवत राहिले; पण अर्जुनाला काहीच दिसले नाही. सर्व विभूती त्यावेळीही योगेश्वरांच्या मुखात होत्याच, पण अर्जुनाला ते सामान्य मनुष्यासारखे दिसत होते. तेव्हा विभूतींचे दर्शन घडवित असताना एकदम थांबले व म्हणाले अर्जुना, तुझ्या या सामान्य डोळ्यांनी तू मला पाहू शकणार नाहीस. तुझ्या बुद्धीने तू मला पारखूही शकणार नाहीस. तेव्हा तुला मी दिव्य दृष्टी देतो की ज्यामुळे तू मला पाहू शकशील. भगवान तर समोर उभे होतेच. आता तो वास्तवात भगवंताचे विश्वरूप पाहू लागला. ते पाहिल्यानंतर तो स्वतच्या अपराधाबद्दल क्षमायाचना करू लागला. वास्तविक तो अपराध नव्हता; परंतु त्याला तो अपराध वाटत होता. कारण त्याने भगवंताला कधी सखा म्हटले होते, कधी कृष्ण तर कधी यादव असे म्हणून संबोधले होते. यासाठी तो मला क्षमा करा असे म्हणत होता. श्रीकृष्णांनी त्याला लगेच क्षमा केली व अर्जुनाच्या विनंतीप्रमाणे आपले सौम्य स्वरूप पूर्ववत धारण केले व त्याला धीर दिला.

वास्तविक- कृष्ण म्हणणे काही अपराध नाही. ते सावळे होते मग त्यांना गोरे कसे म्हणायचे? तसेच यदुवंशात त्यांचा जन्म झाला होता आणि श्रीकृष्ण स्वतः अर्जुनाला सखा मानत होते. वास्तविक प्रत्येक साधक 'महापुरुषाला' प्रथम असे सामान्य मनुष्याप्रमाणेच समजतो. त्यामुळे कोणी त्यांना त्यांच्या रूपावरून किंवा आकारावरून संबोधतात, कोणी त्यांच्या वृत्तीवरून संबोधतात, कोणी त्यांना स्वत:सारखे समजून तसे संबोधतात. सांगायचे तात्पर्य म्हणजे कोणाला त्यांचे यथार्थ स्वरूप समजत नाही. त्याच्या

अचिन्त्य स्वरूपास अर्जुनाने जाणले व मग त्याच्या लक्षात आले की श्रीकृष्ण भगवान ना काळे आहेत ना गोरे, ना कोणत्या कुळातील आहेत ना कोणाचा ते सखा आहेत. त्यांची बरोबरी करणारे या जगात कोणीही नाही. मग तो सखा कसा? बरोबरीचा कसला? हे तर अचिंत्य रूप आहे. जर भगवंतानी स्वतः ते दाखवले तरच ते दिसते. व म्हणून आपल्याकडून श्रीकृष्णाला सखा–कृष्ण–यादव असे संबोधून त्यांना आपल्याप्रमाणे गणण्यात जो अपराध केला त्याबद्दल तो वारंवार क्षमायाचना करू लागला.

मग प्रश्न असा निर्माण होतो की जर 'कृष्ण' म्हणणे अपराध आहे तर त्यांच्या नावाचा जप कसा करायचा? यावर श्रीकृष्णांनी स्वतः जपण्यासाठी जे नाव दिले, जो विधी सांगितला त्या विधीचा आपण विचार करावा. तो विधी म्हणजे **'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्'**– **'ओम'** हा अक्षय ब्रह्माचा पर्यायी शब्द आहे. **'ओ अहम् स ओम'** जो या जगाला व्यापून आहे त्याची सत्ता माझ्यातच लपून आहे, हा या ॐ काराचा आशय आहे. आपण जप त्याचा करावा व ध्यान माझे करावे, असे त्यांनी सांगितले.

नंतर अर्जुनाने श्रीकृष्णाला आपल्या चतुर्भुज रूपाचे दर्शन घडवावे अशी विनंती केली. श्रीकृष्णाने लगेच आपले सौम्य स्वरूप धारण केले. अर्जुन म्हणाला भगवान् आपले हे सौम्य स्वरूप पाहून आता माझे मन ठिकाणावर आले आहे, आता मी स्वस्थ झालो आहे. अर्जुनाने चतुर्भुज रूपाचे दर्शन घडवायला सांगितले होते आणि भगवंतानी त्याला दाखवले **'मानुषं रुपं'** वास्तविक शाश्वत स्वरूपातला योगी शरीराने बसलेला असतो, दोन हाताने काम करीत असतो आणि त्याच वेळी अन्तरात्म्यात जागृत होऊन जेथूनही जो भाविक अनन्य भावाने स्मरण करतो, तेथे त्याच वेळी त्याच्या किंवा अनेकांच्या हृदयात जागृत होऊन प्रेरकरुपाने कार्य करीत असतो. हात हे महापुरुषाच्या कार्याचे प्रतीक आहेत. तेच त्याचे चतुर्भुज स्वरूप आहे.

श्रीकृष्ण अर्जुनाला म्हणाले– अर्जुना, तुझ्याशिवाय माझे हे रूप आजपर्यंत कोणीही पाहू शकत नाही. आणि भविष्यातही कोणी पाहू शकणार नाही.

मग गीता आमच्यासाठी व्यर्थच आहे म्हणायची! नाही! योगेश्वर म्हणतात– यासाठी एक उपाय आहे. जो माझा अनन्य भक्त आहे, माझ्या शिवाय जो दुसऱ्या कोणाचेही स्मरण न करता, निरंतर माझे चिंतन करतो, त्यांच्या अनन्य भक्तीमुळे माझे दर्शन घडणे(जसे तुला घडले) सुलभ जाते. अर्थात अर्जुन अनन्य भक्त होता. भक्तीचे परिमार्जित रूप आहे अनुराग! इष्टदेवाची अनुरूढ ओढ! **मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा'–** अनुरागविहीन पुरुषाला भगवंताची प्राप्ती कधी होत नाही. पुढेही होणार नाही. तप केले किंवा दान केले तरी त्याची प्राप्ती होत नाही व म्हणूनच आराध्य ईश्वराबद्दल प्रेम किंवा अनन्य भक्ती असणे अत्यंत आवश्यक असते.

शेवटी श्रीकृष्ण म्हणाले– अर्जुना, माझ्याद्वारे निर्देश केलेले कर्म कर. माझा अनन्य भक्त होऊन, मला अनन्य भावाने शरण येऊन, व आसक्तीदोषापासून दूर राहून असे मी निर्दिष्ट केलेले कर्म तू कर. संग–दोषामध्ये हे कर्म होऊच शकत नाही. हे कर्म करीत असताना उलट संग–दोष विघ्नरूप ठरत असतो. जे निर्वैरभावाने माझी भक्ती करतात, तेच मला प्राप्त करू शकतात. मग जेथे संगदोष नाही, जेथे माझ्याशिवाय दुसरे कोणाचे स्मरण नाही, वैर भावाचा मानसिक संकल्पही जेथे नाही, तेथे युद्धाचा प्रश्नच उपस्थित होत नाही. तेथे युद्ध कसले? बाहेर लढाई–झगडे होत असतात; परंतु विजय जिंकणाऱ्याला मिळत नाही. संसाररूपी दुर्जय शत्रूला असंगरुपी शस्त्राने कापून परमतत्त्वात प्रवेश मिळवणे हाच वास्तविक विजय आहे. यानंतर हार–पराभव असत नाही.

या अध्यायात प्रथम योगेश्वर श्रीकृष्णांनी अर्जुनाला दिव्य दृष्टी दिली त्यानंतर आपल्या विश्वरूपाचे त्याला दर्शन घडवले–म्हणून.

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे 'विश्वरूपदर्शनयोगो' नामैकादशोऽध्यायः।।११।।

याप्रमाणे श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषदातील ब्रह्मविद्यांतर्गत योगेशास्त्रातील श्रीकृष्ण आणि अर्जुन यांच्या संवादातील 'विश्वरूपदर्शनयोग' नावाचा अकरावा अध्याय समाप्त झाला.

इति श्रीमत्परमहंस परमानन्दस्य शिष्य स्वामीअड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्‌भगवद्‌गीतायाः 'यथार्थगीता' भाष्ये 'विश्वरूपदर्शनयोगो' नामैकादशोऽध्यायः।।११।।

अशा प्रकारे श्रीमत्परमहंस परमानन्दजींचे शिष्य स्वामी अडगडानंदकृत श्रीमद्‌भगवद्‌गीतेवरील भाष्य 'यर्थाथ गीता' यामधील 'विश्वरूपदर्शनयोग' नावाचा अकरावा अध्याय समाप्त झाला.

।।हरिः ॐ तत् सत्।।

ॐ

श्री परमात्मने नमः

।। अथ द्वादशोऽध्यायः ।।

अध्याय बारावा

अकराव्या अध्यायाच्या शेवटी श्रीकृष्णाने वारंवार भर देऊन सांगितले आहे की, अर्जुना, तू पाहिलेले माझे हे स्वरूप–हे विश्वरूप यापूर्वी कोणीही पाहिलेले नाही व भविष्यातही कोणी पाहू शकणार नाही. तपाने, यज्ञाने किंवा दानानेदेखील माझे दर्शन सुलभ नाही; परंतु माझ्याशिवाय इतरत्र आपली श्रद्धा विचलित होऊ न देता जो तैलधारेप्रमाणे सातत्याने माझे चिंतनं करतो, माझी अनन्य भावाने भक्ती करतो, त्याच्यासाठी मात्र माझे प्रत्यक्ष दर्शन, मला तत्त्वाने जाणणे आणि माझ्यामध्ये प्रवेश या तिन्ही गोष्टी सुलभ आहेत. म्हणून हे अर्जुना, तू निरंतर माझे चिंतन कर, माझा भक्त बन. अध्यायाच्या शेवटी त्यांनी अर्जुनाला सांगितले की, तू मी निर्धारित केलेली कर्मेच कर. '**मत्परमः**' परंतु मत्परायण होऊन ती निर्धारित कर्मे कर. अनन्य भक्तीमुळे भगवंताची प्राप्ती करून घेता येते. स्वाभाविकच अर्जुनाने प्रश्न विचारला की, तत्परायण होऊन अनन्य भावाने तुझी भक्ती करणारा भक्त आणि तुझ्या अक्षर व अव्यक्त स्वरूपाची उपासना करणारा साधक या दोहोंमध्ये कोण श्रेष्ठ आहे?

येथे अर्जुनाने हा प्रश्न श्रीकृष्णाला तिसऱ्यांदा केला आहे. तिसऱ्या अध्यायात त्यांनी सांगितले होते की, जर निष्काम कर्मयोगापेक्षा सांख्ययोग आपल्याला श्रेष्ठ वाटतो; तर मग मला तुम्ही भयंकर अशा कर्मयोगाची उपासना का करायला सांगता? यावर श्रीकृष्णांनी त्याला सांगितले होते की, अर्जुना, निष्काम कर्ममार्ग तुला चांगला वाटो की ज्ञानमार्ग; परंतु योगसाधनेच्या या दोन्ही मार्गात कर्म तर करावेच लागते. जो निग्रहाने इंदियांचे दमन करतो; परंतु मनामध्ये मात्र विषयांचे स्मरण करतो तो ज्ञानी नसून दांभिक आहे व म्हणून हे अर्जुना, तू कर्म कर. कोणते कर्म करावे?

'**नियत कुरू कर्म त्वं**' मी निर्धारित केलेली कर्मे कर. पण हे निर्धारित कर्म म्हणजे काय? यावर श्रीकृष्णांनी सांगितले– यज्ञाची प्रक्रिया म्हणजे एकमात्र कर्म होय. यज्ञविधी म्हणजे काय ते सांगताना ते म्हणतात की, अनन्य श्रद्धेने ईश्वराची आराधना करणे व निरंतर चिंतन म्हणजे यज्ञविधी आहे. या यज्ञविधीमुळे परम तत्त्वात प्रवेश मिळवता येतो. निष्काम कर्ममार्ग व ज्ञानमार्ग या दोन्हीमध्ये जर कर्म करावयाचेच आहे, यज्ञासाठी क्रिया करावयाचीच आहे, तर मग दोन्ही मार्गांत फरक काय आहे? भक्त आपली सर्व कर्मे भगवंताच्या ठिकाणी समर्पित करून, त्याचा आश्रय घेऊन, यज्ञार्थ कर्मे करण्यास प्रवृत्त होतो; तर सांख्ययोगी आपल्या शक्तीला जाणून, आपल्या सामर्थ्यावर विश्वास ठेवून तीच कर्मे करण्यास प्रवृत्त होतो.

पाचव्या अध्यायात अर्जुनाने पुन्हा प्रश्न केला की, भगवन्, आपण कधी सांख्ययोगाची प्रशंसा करता तर कधी समर्पित भावनेने केल्या जाणाऱ्या निष्काम कर्मयोगाची प्रशंसा करता. तेव्हा या दोन मार्गात श्रेष्ठ मार्ग कोणता? वास्तविक आतापर्यंत अर्जुनाला समजून चुकले होते की, दोन्ही मार्गांमध्ये कर्म तर करावेच लागणार आहे. तरीदेखील या दोन मार्गांमधील जो श्रेष्ठ मार्ग आहे तो पसंत करू इच्छित आहे. यावर श्रीकृष्ण अर्जुनाला समजावत म्हणाले – अर्जुना, दोनह्ी मार्गांमध्ये कर्म करणारे मलाच प्राप्त होतात; परंतु सांख्यमार्गापेक्षा निष्काम कर्ममार्ग श्रेष्ठ आहे. निष्काम कर्मयोगाचे अनुष्ठान केल्याशिवाय ना कोणी योगी बनते ना कोणी ज्ञानी! सांख्ययोगाचे आचरण करणे दुष्कर आहे, त्यामध्ये अनेक अडचणी आहेत.

या ठिकाणी अर्जुनाने तिसऱ्यांदा प्रश्न केला की, भगवन जे अनन्य भक्तीने आपली उपासना करतात व जे अव्यक्त अक्षराची उपासना (सांख्यमार्गाने) करतात. त्यामध्ये कोण श्रेष्ठ आहे?

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।

ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमा:।।१।।

एवं म्हणजे अशा प्रकारे आपण जो विधी सांगितला त्याप्रमाणे जे भक्त आपल्याला शरण येऊन, सतत आपल्या स्वरूपाच्या ठायी युक्त होऊन

आपली अनन्य श्रद्धेने उपासना करतात आणि दुसरे जे भगवंताच्या अव्यक्त व अक्षर स्वरूपाची उपासना करतात, ज्या ठिकाणी आपण स्वतः स्थित आहात अशा दोन प्रकारच्या भक्तांमध्ये अधिक श्रेष्ठ व गुणवान व उत्तम योगवेत्ता भक्त कोणता? यावर श्रीकृष्ण म्हणाले–

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।

श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः।।२।।

हे अर्जुना, माझ्या ठिकाणी मन एकाग्र करून, निरंतर माझ्या ठिकाणी युक्त होऊन जे भक्तजन अनन्य श्रद्धेने युक्त होऊन मला भजतात, ते मला सर्वश्रेष्ठ योगी वाटतात.

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।

सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्।।३।।

सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः।।४।।

जो पुरुष इंद्रियांच्या समुदायाचे संयमन करून, मनबुद्धीच्या चिंतनापलीकडे असणाऱ्या म्हणजे अचिंत्य, सर्वव्यापी, अनिर्वाच्य, ईश्वराशी नित्य युक्त असणाऱ्या, अचल, अव्यक्त, आकाररहित आणि अविनाशी अशा ब्रह्माची उपासना करतो; तसेच सर्व प्राणिमात्रांचे हित करण्यात तत्पर असतो व जो सर्वत्र समबुद्धी ठेवणारा असतो, असा योगीदेखील मलाच प्राप्त होतो. ब्रह्माची वरील सर्व विशेषणे मलाही लागू पडतात.

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।

अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते।।५।।

अव्यक्त अशा परमात्म्याच्या ठिकाणी ज्यांचे चित्त आसक्त आहे त्यांना साधना करताना अधिक क्लेश पडतात, कारण देहाभिमानींना अव्यक्त ब्रह्माच्या प्राप्तीचा मार्ग कष्टाने साध्य होतो.

योगेश्वर श्रीकृष्ण सद्गुरु होते. अव्यक्त परमात्मा त्यांच्यात व्यक्त होता. ते म्हणतात की, जो अनन्य भावाने महापुरुषांच्या आश्रयाला न येता स्वतःच्या

सामर्थ्याच्या जोरावर पुढे जातो आणि मी या अवस्थेत आहे, पुढे या अवस्थेत जाईन, मी माझ्यातील अव्यक्त शरीर प्राप्त करेन, ते माझेही रूप असेल, मी मीच आहे. अशा प्रकारे विचार करतो, प्राप्तीची वाट न बघता आपल्या शरीरालाच '**सोऽहं**' म्हणतो, हा अहंकारच साधकाला त्याच्या ब्रह्मप्राप्तीच्या मार्गात विघ्नरूप ठरत असतो, तो '**दुःखालयम् अशाश्वतम्**' मध्येच भ्रमत राहतो. परंतु जो मला शरण येतो तो,

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते।।६।।

जे मत्परायण होऊन आपली सर्व कर्मे म्हणजे आपली आराधना मला अर्पण करून अनन्य भावाने योगाद्वारे म्हणजेच उपासनेच्या प्रक्रियेद्वारे– भक्तियोगाने माझे ध्यान करीत उपासना करतात–

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ।।७।।

माझ्या सगुणस्वरूपाच्या ठिकाणी ज्यांनी आपले चित्त ठेवले आहे, त्या भक्तांचा मी या मृत्युरूपी संसारसागरातून शीघ्र उद्धार करतो. या प्रमाणे भगवंताच्या ठिकाणी चित्त ठेवण्याची प्रेरणा आणि विधी यावर श्रीकृष्ण प्रकाश टाकत आहेत–

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः।।८।।

तेव्हा हे अर्जुना, तू माझ्या ठिकाणी आपले चित्त स्थिर कर. माझ्या ठिकाणीच आपली बुद्धी ठेव. त्यानंतर तू माझ्या ठिकाणी निवास करशील यात काही शंका नाही. तू जर आपले मन व बुद्धी माझ्या ठिकाणी स्थिर करू शकला नाहीस (अर्जुनाने मागे सांगितले होते की, मनाला पकडणे हे वायूला पकडण्यासारखे कठीण आहे) तर त्याबाबतीत श्रीकृष्ण म्हणतात–

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय।।९।।

जर तू तुझे मन माझ्या ठिकाणी स्थिर करण्यास समर्थ नसशील, तर हे अर्जुना, योगाचा अभ्यास करून माझी प्राप्ती करून घेण्याची इच्छा ठेव. (म्हणजे चंचल मन जेथे जाईल तेथून त्याला निग्रहाने ओढून काढून, उपासनेत व चिंतनात लावणे म्हणजे अभ्यास होय.) जर हेही करू शकला नाहीस तर–

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि।।१०।।

जर तू अभ्यास करण्यासही असमर्थ असशील तर तू माझ्यासाठी कर्म कर, अर्थात उपासना करण्यात तत्पर हो. या प्रकारे माझ्या प्राप्तीसाठी तू कर्मे केलीस तर तू प्राप्तीरूपी सिद्धी प्राप्त करशील. म्हणजे अभ्यासाने तू माझी प्राप्ती करून घेऊ शकला नाहीस, तर साधनमार्गाचा अवलंब कर.

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ।।११।

जर हेही करण्यास तू असमर्थ असशील तर लाभहानीची चिंता न करता संपूर्ण कर्मफलाचा त्याग करून 'मद्योगांचा आश्रय करून म्हणजेच स्वतःला (माझ्या ठायी) समर्पण करून महापुरुषाला शरण जा. त्यांच्या प्रेरणेने कर्म आपोआप व्हायला लागेल. समर्पणाबरोबर कर्मफलाच्या त्यागाचे महत्त्व सांगताना श्रीकृष्ण म्हणतात–

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्।।१२।।

मनोनिग्रहाच्या अभ्यासापेक्षा ज्ञानमार्गाने कर्मामध्ये प्रवृत्त होणे अधिक श्रेष्ठ आहे. ज्ञानमार्गाने कर्मामध्ये प्रवृत्त होण्यापेक्षा ध्यान श्रेष्ठ आहे. कारण ध्यानामध्ये इष्टदेवाचा वास असतो. ध्यानापेक्षा संपूर्ण कर्मांचा फलत्याग श्रेष्ठ आहे. कारण इष्टदेवाला कर्मफल समर्पण करीत कर्मयोगाकडे दृष्टी लावून जेव्हा साधक कर्मफलाचा त्याग करतो तेव्हा त्याच्या योगक्षेमाची सर्व जबाबदारी इष्टदेवाची असते. त्यामुळे या त्यागामुळे त्याला तत्काळ परमशांती प्राप्त होते.

आतापर्यंत योगेश्वर श्रीकृष्णांनी सांगितले की, अव्यक्ताची उपासना करणाऱ्या ज्ञानमार्गी साधकांपेक्षा समर्पणासह कर्म करणारा निष्काम कर्मयोगी अधिक श्रेष्ठ आहे. दोघे एकच प्रकारचे कर्म करतात; परंतु ज्ञानमार्गी साधकाच्या मार्गात अनेक अडचणी-विघ्ने उपस्थित होतात. त्याच्या लाभहानीची सर्व जबाबदारी त्याच्या स्वतःवर असते; तर जो स्वतःची कर्मे व कर्मफल भगवंताला अर्पण करतो त्या समर्पित भक्ताची जबाबदारी महापुरुषावर असते. त्यामुळे कर्मफलत्यागामुळे त्याला त्वरित शांती प्राप्त होते.

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी।।१३।।

या प्रकारे परम शांती प्राप्त झालेला पुरुष सर्व भूतांच्या ठिकाणी द्वेषभावरहित, प्रेमाने वागणारा (निःस्वार्थ) दयाळू आणि ममत्वरहित, अहंकाररहित तसेच सुख-दुःख समान मानणारा व क्षमाशील असतो.

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः।।१४।।

जो योगसाधनेमध्ये सतत मग्न असतो, लाभ किंवा हानी झाली तरी जो नेहमी संतुष्ट असतो, मन व इंद्रियासहित जो शरीराला आपल्या ताब्यात ठेवतो, दृढनिश्चयी, मन व बुद्धी ज्याने मला अर्पित केली आहे असा भक्त मला खूप प्रिय असतो.

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः।।१५।।

ज्याच्यामुळे कोणाला त्रास-उद्वेग होत नाही आणि जो स्वतः लोकांमुळे त्रासत नाही, जो हर्ष-संताप, भय आणि सर्व उद्वेग यांपासून मुक्त आहे, तो भक्त मला प्रिय आहे.

साधकांसाठी हा श्लोक अत्यंत उपयोगी आहे. त्यांनी अशा प्रकारे वागले पाहिजे की त्यांच्याकडून कोणाचे मन दुखवले जाणार नाही. साधक ही गोष्ट करू शकतो; पण दुसरे लोक असे वागणार नाहीत. ते तर संसारी

आहेत. त्यामुळे ते तर आगीचा वर्षाव करतील. पुष्कळ त्रास देतील. मनाला येईल ते बोलतील; परंतु साधकाने क्रोधित होता कामा नये, चिंतनापासून विचलित होता कामा नये. त्यांनी निरंतर चिंतनात ध्यानात राहिले पाहिजे. मनाच्या उद्वेगाने चिंतनात अडथळा येता कामा नये, चिंतनाचा क्रम तुटता कामा नये. उदाहरणार्थ तुम्ही रस्त्यावर चालताना नियमानुसार डाव्या बाजूने चालत असाल व समोरून दारू पिऊन एखादा इसम येत असेल; तर त्याच्या पासून दूर राहून चालणे ही तुमचीच जबाबदारी आहे.

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः।।१६।।

जो पुरुष निरपेक्ष, अंतर्बाह्य पवित्र, आराधनेच्या बाबतीत विशेष जागरुक (वाट्टेल त्या कामात जागरुक असणे– दक्ष असणे असा येथे अर्थ नाही, श्रीकृष्णाच्या मते कर्म एकच आहे ते म्हणजे नियत कर्म– आराधना– चिंतन यामध्ये जो दक्ष आहे–जागरुक आहे तो), जो उदासीन आहे म्हणजे ज्याच्या ठिकाणी आपपर भाव नाही, जो दुःखमुक्त आहे, सर्व कर्मारंभाचा ज्याने त्याग केला आहे असा भक्त मला प्रिय आहे. कोणत्याही कर्माचा आरंभ करावयास लागणारा अहंकार त्याच्याजवळ नसतो.

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः।।१७।।

जो हर्ष पावत नाही, जो कधी कोणाचा द्वेष करीत नाही, जो शोक करीत नाही, जो अप्राप्य गोष्टीची कधी इच्छा धरीत नाही, शुभ व अशुभ कर्मफलाचा ज्याने त्याग केला आहे, जेथे कोणते शुभ वेगळे नाही व अशुभ शेष नाही, म्हणजेच ज्याने चांगले व वाईट या दोन्ही गोष्टींचा त्याग केला आहे, असा अत्यंत भक्तिमान असणारा भक्त मला प्रिय आहे.

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः।।१८।।

जो पुरुष शत्रू व मित्र, मान व अपमान यांना समान मानणारा म्हणजे ज्याची वृत्ती अत्यंत शांत व स्थिर आहे, तो शीत व उष्ण, सुख व दुःख यांच्या ठिकाणी समान असणारा आहे व जो आसक्तिरहित आहे तसेच–

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः।।१९।।

जो निंदा व स्तुती समान मानतो, मननशीलतेच्या चरम सीमेवर पोहचल्याने ज्याची मनासहित इंद्रिये शांत झालेली आहेत, कशाही प्रकारे शरीर-निर्वाह झाला तरी तो त्यात म्हणजे जे मिळेल त्यात संतुष्ट असतो, आपल्या घरात ममत्वरहित व आसक्ती न ठेवणारा असतो, भक्तीच्या परम सीमेवर पोहचलेला तो स्थिर बुद्धी असणारा भक्त मला प्रिय आहे.

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः।।२०।।

जो मत्परायण होऊन अत्यंत श्रद्धायुक्त असा माझा भक्त वरील धर्म्यरूप अमृताचे सेवन करतो तो भक्त मला अत्यंत प्रिय आहे.

निष्कर्ष–

गेल्या अध्यायात योगेश्वर श्रीकृष्णांनी सांगितले होते की, अर्जुना, जे माझे विश्वरूप तू पाहिलेस ते यापूर्वी कोणीही पाहू शकले नव्हते आणि भविष्यातही कोणी पाहू शकणार नाही. परंतु जो अनन्य भक्तीने किंवा अत्यंत प्रेमाने माझी आराधना करतो, जो माझी उपासना करतो तो भक्त माझे हे स्वरूप पाहू शकेल, तसेच माझे तत्त्व, माझे स्वरूप यथार्थपणे जाणू शकेल. एवढेच नव्हे तर तो माझ्यामध्ये प्रवेशही मिळवू शकेल. अर्थात, परमात्मा ही अशी एक सत्ता आहे की जी प्राप्त करून घेता येते. म्हणून हे अर्जुना, तू भक्त बन.

अर्जुनाने या अध्यायात प्रश्न केला की, भगवन अनन्य भावाने जो आपले चिंतन करतो व जो अक्षर व अव्यक्ताची उपासना करतो त्या दोन साधकांमध्ये उत्तम योगवेत्ता कोण आहे? योगेश्वर श्रीकृष्णांनी यावर उत्तर दिले की, दोघे मलाच तर येऊन मिळतात, कारण मी अव्यक्त आहे. परंतु जो इंद्रियनिग्रह करून, मनाला सर्व बाजूंनी आवरून अव्यक्त अशा परमात्म्याच्या ठिकाणी आसक्त राहतो, त्याच्या मार्गात अनेक विघ्ने निर्माण होतात. त्यांना अनेक क्लेश सहन करावे लागतात. जोपर्यंत देहाविषयी आसक्ती आहे, ममत्व आहे तोपर्यंत अव्यक्त स्वरूपाची प्राप्ती दुःखपूर्ण

आहे; कारण अव्यक्त स्वरूपाची प्राप्ती तर चित्ताचा निरोध व विलय झाल्यानंतरच होत असते. त्याचे पूर्वी त्याचे शरीरच मध्ये विघ्नरूप बनत असते. 'मी आहे', 'मी आहे', 'मला प्राप्त करावयाचे आहे' असे म्हणत म्हणत साधक शरीराकडेच वळतो. त्यामुळे तो विचलित होण्याचीच संभावना अधिक आहे. तेव्हा अर्जुना, तू तुझे सर्व कर्म मला समर्पण कर, अनन्य भक्तीने माझे चिंतन कर. जे मत्परायण झालेले भक्तजन आपली सर्व कर्मे माझ्या ठायी अर्पण करून, देहधारी अशा माझ्या सगुण रूपाचे ध्यान करीत, तैलधारेप्रमाणे निरंतर चिंतन करतात त्यांना मी या संसाररूपी सागरातून शीघ्र पार करीत असतो त्यांचा उद्धार करीत असतो. म्हणून भक्तिमार्ग श्रेष्ठ आहे.

अर्जुना, माझ्या ठिकाणी मन लाव. जर मन लागत नसेल तर त्याचा अभ्यास कर, मन जिकडे धावेल तेथून त्याला खेचून आण व त्याचा निरोध कर. ही गोष्ट करण्यासही तू असमर्थ असशील, तर तू कर्म कर. कर्म एकच आहे ते म्हणजे यथार्थ कर्म होय! तू 'कार्यम कर्म' कर. दुसरे कोणतेही कर्म करू नकोस. तू एवढेच कर्म कर, मग तू भवसागर पार होवो की न होवो. जर हेही करायला तू असमर्थ असशील, तर स्थितप्रज्ञ, आत्मवान व तत्त्वज्ञ महापुरुषाला शरण जा व संपूर्ण कर्मफलाचा त्याग कर. असा त्याग केल्याने तुला परमशांती प्राप्त होईल.

त्यानंतर परमशांती प्राप्त झालेल्या भक्ताची लक्षणे सांगताना योगेश्वर श्रीकृष्ण म्हणाले – जो सर्व भूतांचा द्वेष न करणारा, दयाळू आणि करूणामय, ममत्व व अहंकाररहित असतो असा भक्त मला प्रिय असतो. जो ध्यानयोगामध्ये निरंतर तत्पर असतो, जो आत्मवान, आत्मस्थित असतो तो भक्त मला प्रिय असतो, जो कोणाला त्रास देत नाही व कोणाच्या त्रासाने त्रासून जात नाही असा भक्त मला प्रिय असतो. जो अत्यंत पवित्र आहे, जागरुक आहे, सर्व प्रकारच्या व्यथांबाबत जो उदासीन आहे, ज्याने काम्य फलाचे सर्व आरंभ म्हणजे उद्योग सोडलेले आहेत व ते सोडून ज्याने भवसागर पार केला आहे, असा भक्त मला प्रिय आहे. जो निरपेक्ष आहे ज्याने सर्व इच्छांचा त्याग केला आहे, शुभाशुभ कर्मफलांचा ज्याने त्याग केला आहे, असा भक्त मला प्रिय आहे. जो निंदा व स्तुती समान मानतो,

जो मौनी आहे, मनासहित ज्याची इंद्रिये शांत व स्थिर आहेत, जो शरीर निर्वाहासाठी जे मिळेल त्यात संतुष्ट आहे, जो ममतारहित आहे, शरीर रक्षणामध्ये ज्याला आसक्ती नाही असा स्थितप्रज्ञ व भक्तिमान पुरुष मला प्रिय आहे.

या प्रकारे अकराव्या श्लोकापासून एकोणिसाव्या श्लोकापर्यंत योगेश्वर श्रीकृष्णाने शांती प्राप्त झालेल्या योगयुक्त भक्ताच्या राहणीवर प्रकाश टाकला आहे. जो साधकांसाठी अत्यंत उपयुक्त आहे. शेवटी आपला निर्णय सांगताना ते म्हणाले– जो मत्परायण होऊन अनन्य श्रद्धेने युक्त असणारा पुरुष वर सांगितलेल्या धर्ममय अमृताचे निष्काम भावाने पान करतात– आचरण करतात ते भक्त मला अत्यंत प्रिय असतात. अशा प्रकारे समर्पणासह कर्म करण्यास प्रवृत्त होणे श्रेयस्कर आहे, कारण त्याच्या लाभहानीची जबाबदारी इष्टदेव, सद्गुरु आपल्यावर घेत असतात. येथे श्रीकृष्णाने स्वरुपस्थ महापुरुषांचे लक्षण सांगितले आहे आणि त्यांना शरण जाण्यास सांगितले आहे आणि शेवटी आपल्याला शरण येण्याची प्रेरणा देऊन आपणही एक महापुरुष आहोत असे त्यांनी सांगितले. श्रीकृष्ण एक योगी होते. ते एक महात्मा होते.

या अध्यायात भक्ती श्रेष्ठ आहे असे सांगितले आहे, म्हणून या अध्यायाचे 'भक्तियोग' हे नाव योग्य असेच आहे.

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे 'भक्तियोगो' नाम द्वादशोऽध्यायः।।१२।।

याप्रमाणे श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषदातील ब्रह्मविद्यांतर्गत योगशास्त्रातील श्रीकृष्ण आणि अर्जुन यांच्या संवादातील 'भक्तियोग' नावाचा बारावा अध्याय समाप्त झाला.

इति श्रीमत्परमहंसपरमानन्दस्य शिष्य स्वामी अड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्भगवद्गीतायाः 'यथार्थगीता' भाष्ये 'भक्तियोगो' नाम द्वादशोऽध्यायः।।१२।।

अशा प्रकारे श्रीमत्परमहंस परमानन्दजींचे शिष्ट स्वामी अड़गड़ानन्दकृत श्रीमद्भगवद्गीतेवरील भाष्य 'यथार्थ गीता' यामधील 'भक्तियोग' नावाचा बारावा अध्याय समाप्त झाला.

।।हरि ॐ तत् सत्।।

ॐ

श्री परमात्मने नमः

।। अथ त्रयोदशोऽध्यायः ।।

अध्याय तेरावा

गीतेच्या आरंभी धृतराष्ट्राने संजयास विचारले होते की, संजया, धर्मक्षेत्रावर तसेच कुरुक्षेत्रावर युद्धाच्या इच्छेने एकत्र झालेल्या माझ्या व पांडूच्या पुत्रांनी काय केले? आतापर्यंत ते क्षेत्र किंवा ते स्थळ कोठे आहे हे सांगितले नाही; परंतु ज्या महापुरुषाने युद्धाची प्रेरणा दिली– युद्ध कर असे सांगितले त्यानेच स्वतः या अध्यायात प्रस्तुत क्षेत्र कोठे आहे ते सांगितले आहे.

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।

एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ।।१।।

हे कौन्तेया, हे शरीर म्हणजेच एक क्षेत्र आहे आणि जो हे उत्तम प्रकारे जाणतो तो क्षेत्रज्ञ होय. तो या क्षेत्रात फसत नाही किंवा भ्रमला जात नाही उलट या क्षेत्राचा तो संचालक आहे, असे ते तत्त्व जाणणाऱ्या महापुरुषांनी म्हटले आहे.

शरीर तर एकच आहे मग त्याच्यामध्ये धर्मक्षेत्र व कुरुक्षेत्र ही दोन क्षेत्रे कशी असू शकतील? वास्तविक शरीराच्या अंतरंगात दोन पुरातन प्रवृत्ती वसत आहेत. एक परमधर्म परमात्म्यात प्रवेश देणारी पुण्यमयी प्रवृत्ती अशी दैवी संपदा आणि दुसरी आसुरी संपदा– जी दूषित दृष्टिकोनाशी जोडलेली आहे व जी या नश्वर संसारात मनुष्याला विश्वास देत असते, जेव्हा आसुरी संपदेचे प्राबल्य वाढते तेव्हा हे शरीर 'कुरुक्षेत्र' बनते आणि जेव्हा या शरीरात दैवी संपदेचे बाहुल्य होते तेव्हा या शरीराला 'धर्मक्षेत्र' असे म्हणतात. हा

चढउतार शरीरात सतत सुरू असतो. परंतु तत्त्वदर्शी महापुरुषाच्या सान्निध्यात जेव्हा एखादा भक्त अनन्य भक्तीमुळे आराधनेमध्ये प्रवृत्त होतो तेव्हा दोन्ही प्रवृत्तींमध्ये निर्णायक युद्धाचे सुतोवाच केले जाते आणि यामध्ये क्रमशः दैवी संपदेचे उत्थान व आसुरी संपदेचे शमन होत जाते. आसुरी संपदेचे शमन झाल्यावर परमतत्त्वाच्या साक्षात्काराची अवस्था येते. आणि मग दर्शनाबरोबरच दैवी संपदेची आवश्यकता राहत नाही. कारण तो पण परमात्म्यात प्रवेश करतो. अकराव्या अध्यायात अर्जुनाने पाहिले की, कौरव पक्षातील योद्धयानंतर पांडव पक्षातील योद्धेदेखील योगेश्वरामध्ये विलीन होत होते. या विलयानंतर पुरुषाचे जे स्वरूप असते तेच क्षेत्रज्ञ होय. आता पुढे पहावे–

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ।।२।।

हे अर्जुना, सर्व क्षेत्रांमध्ये क्षेत्रज्ञ असणाऱ्या मला तू जाण. 'जो या क्षेत्राला जाणतो तोच क्षेत्रज्ञ होय.' असे त्याला जाणणारे म्हणतात. श्रीकृष्ण म्हणतात की मीही एक क्षेत्रज्ञ आहे. अर्थात श्रीकृष्णही एक योगेश्वर होते. क्षेत्र आणि क्षेत्रज्ञ अर्थात विकारासह प्रकृती आणि पुरुषाला यथार्थ जाणणे यालाच ज्ञान म्हणतात, असे माझे मत आहे. म्हणजेच साक्षात्कारासह या तत्त्वास जाणणे म्हणजेच ज्ञान होय. शुष्क वादविवाद म्हणजे ज्ञान नाही.

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ।।३।।

हे क्षेत्र जसे आणि ज्या विकारांनी युक्त आहे, तसेच ज्या कारणामुळे ते निर्माण झाले आहे व तो क्षेत्रज्ञ कोण व त्याचा प्रभाव कोणता ते सर्व माझ्याकडून संक्षेपाने ऐक. अर्थात हे क्षेत्र विकारांनी युक्त आहे. काही कारणाने ते तसे निर्माण झाले आहे व क्षेत्रज्ञ प्रभावशाली आहे. असे मीच म्हणतो असे नाही ऋषीही म्हणतात.

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ।।४।।

या क्षेत्र व क्षेत्रज्ञाच्या तत्त्वाबाबत ऋषींनी पुष्कळ चर्चा केली आहे. तसेच छंदोबद्ध ग्रंथांनी–वेदांनी अनेक प्रकारांनी वेगवेगळे वर्णन केले आहे. तसेच विशेष रूपाने निश्चित केलेल्या ब्रह्मसूत्रातील पदांद्वारेही ते सांगितले गेले आहे. म्हणजे वेद, महर्षी, ब्रह्मसूत्र व मी एकच गोष्ट सांगत आहोत. म्हणजे या सर्वांनी जे सांगितले तेच येथे श्रीकृष्णांनी सांगितले आहे. मग हे शरीर (क्षेत्र) डोळयांनी जेवढे दिसते, जेवढे ते आहे तेवढेच आहे का ?

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ।।५।।

अर्जुना, पंच महाभूते (पृथ्वी, आप, तेज, वायू व आकाश), अहंकार, बुद्धी आणि चित्त (अव्यक्त परा प्रकृती म्हणजे मूळ प्रकृतींवर प्रकाश टाकला आहे. जिच्यामध्ये पराप्रकृतीही अंतर्भूत आहे. वरील आठही अष्टदा मूळ प्रकृती आहे.) तसेच दहा इंद्रिये (डोळे, कान, नाक, त्वचा, जिव्हा, रसना, हात, पाय, उपस्थ, गुद), एक मन आणि पाच इंद्रियांचे विषय (रूप, रस, गंध, शब्द आणि स्पर्श) तसेच–

इच्छाद्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ।।६।।

इच्छा, द्वेष, सुख–दुःख आणि सर्वांचा समूह, स्थूल देहाचा हा पिंड, चेतना आणि धैर्य, या प्रकारे हे क्षेत्र विकारांसह संक्षेपाने सांगितले आहे. सारांश, हेच क्षेत्राचे स्वरूप आहे. या क्षेत्रात पेरलेले चांगले वाईट संस्काराच्या रूपाने उगवते. शरीरच क्षेत्र आहे. शरीरात मसाला कोणत्या वस्तूंचा आहे? तर हीच पाच तत्त्वे, दहा इंद्रिये, एक मन हे जे वर सांगितले आहे त्याच वस्तूंचा मसाला शरीरात भरलेला आहे. या सर्वांच्या सामुहिक गठनात पिण्ड शरीर आहे. जोपर्यंत हे विकार राहतील तोपर्यंत हा पिंड राहणारच, कारण तो विकारांनी बनलेला आहे. आता त्या क्षेत्राज्ञाचे स्वरूप पहा, की जो या क्षेत्रात एकरूप नाही पण त्यापासून अलिप्त आहे.

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ।।७।।

हे अर्जुना मान-अपमानाचा अभाव, दंभाचरणाचा अभाव, अहिंसा (अर्थात आपल्या तसेच इतर कोणाच्याही आत्म्याला कष्ट न देणे, म्हणजे अहिंसा होय. अहिंसा म्हणजे साधी मुंगीही न मारणे असा नव्हे. श्रीकृष्ण म्हणाले की आपल्या आत्म्याला अधोगतीकडे नेऊ नका. त्याला अधोगतीकडे नेणे म्हणजे हिंसा आहे आणि त्याचे उत्थान म्हणजेच शुद्ध अहिंसा आहे. असा पुरुष इतर आत्म्यांच्या उत्थान हेतूने प्रयत्न करत असतो. त्याचा आरंभ कोणालाही ठेच न पोहचविण्यापासूनच होत असतो. हे त्याचेच एक अंग-प्रत्यंग आहे.) म्हणून अहिंसा, क्षमाभाव, मन-वाचेची सरळता, आचार्योपासना, अर्थात श्रद्धा-भक्तिसहित सद्‌गुरुची सेवा आणि त्यांची उपासना, पवित्रता, अंतःकरणाची स्थिरता, मन आणि इंद्रियांसहित शरीराचा निग्रह आणि-

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधि दुःखदोषानुदर्शनम् ।।८।।

या लोकीच्या व परलोकीच्या भोगांच्या आसक्तीचा अभाव, अहंकाराचा अभाव, जन्म, मृत्यू, वृद्धावस्था, रोग आणि भोगादि दुःख दोषांचे वारंवार चिंतन-

असक्तिरनभिष्वग्ङः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ।।९।।

स्त्री, पुत्र, धन, गृह इत्यादींमध्ये आसक्ती नसणे, प्रिय किंवा अप्रिय गोष्टींची प्राप्ती झाली तरी चित्ताची समता राहणे-

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ।।१०।।

माझ्या ठिकाणी (श्रीकृष्ण एक योगी होते अर्थात अशा प्रकारच्या कोणत्याही महापुरुषात) अनन्य योगाने अर्थात योगाव्यतिरिक्त अन्य कशाचेही स्मरण न करता अव्यभिचारिणी भक्ती (इष्टदेवाखेरीज दुसरे कोणाचेही चिंतन न करणे), एकांत स्थानाचे सेवन, जनांच्या समुदायात राहण्याची आसक्ती नसणे तसेच-

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ।।११।।

आत्म्याच्या सत्तेने चालणाऱ्या ज्ञानात एकरूप स्थिती आणि तत्त्वज्ञानाचे अर्थस्वरूप असणाऱ्या परमात्म्याचा साक्षात्कार हे सर्व ज्ञान आहे आणि याच्याहून जे निराळे आहे, विपरीत आहे, ते सर्व अज्ञान असते असे म्हंटले गेले आहे. या परमतत्त्व परमात्म्याच्या साक्षात्काराबरोबरच प्राप्त होणाऱ्या माहितीचे नाव ज्ञान आहे. (चौथ्या अध्यायात त्यांनी म्हटले होते की, यज्ञाच्या पूर्तीमध्ये यज्ञ जे शेष ठेवत असतो, त्या ज्ञानामृताचे पान करणारा सनातन ब्रह्मात प्रवेश करतो. म्हणून ब्रह्माच्या साक्षात्काराबरोबर मिळणारी जी माहिती, तेच ज्ञान होय. येथेही ते म्हणतात की, तत्त्वज्ञानरूपी परमात्म्याचा साक्षात्कार म्हणजे ज्ञान आहे) याहून जे विपरीत आहे ते सर्व अज्ञान असे म्हणतात. यामध्ये नित्य इत्यादी असणारे लक्षण ज्ञानाचे पूरक आहेत. येथे प्रश्न पूर्ण झाला.

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ।।१२।।

अर्जुना, ज्याला जाणून घेणे अत्यंत योग्य आहे तसेच जे जाणून घेतल्यानंतर मर्त्य मनुष्याला अमृततत्त्व प्राप्त होते ते ज्ञेय मी तुला चांगल्या प्रकारे सांगतो. त्या आदिरहित परब्रह्मास ना सत् म्हणतात ना असत्, कारण जोपर्यंत ते वेगळे असते तोपर्यंत ते सत् असते आणि जेव्हा मनुष्य त्यात एकरूप होतो, समाहित होतो, तेव्हा कोण कोणाला काय म्हणणार? कारण तेथे द्वैताचे भान राहतच नाही, दोघेही समरस होऊन एकत्वास पावतात. अशा स्थितीमध्ये ते ब्रह्म सत्‌ही नसते व असत्‌ही नसते. ही ब्रह्मवस्तू स्वयं सहज आहे.

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ।।१३।।

त्या ब्रह्माला सर्व बाजूंनी हातपाय आहेत, सर्व बाजूंना डोळे, मस्तक व मुख आहे. तसेच सर्व बाजूंनी त्याला कान आहेत, सर्व बाजूंनी ते ऐकणारे आहे कारण ते सर्वांना व्यापून राहिले आहे–

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ।।१४।।

ते सर्व इंद्रियांचे विषय जाणणारे असले तरी ते इंद्रियरहित आहे, त्याला कोणतेच इंद्रिय नाही. ते आसक्तीरहित व निर्गुण असूनही ते सर्व धारण करणारे व सर्वांचे पोषण करणारे आहे आणि सर्व गुणभोक्तेही आहे. अर्थात सर्व गुणांना ते आपल्यात सामावून टाकते. श्रीकृष्ण असेच म्हणतात की मी यज्ञ व तप भोगणारा आहे. शेवटी सर्व गुण माझ्या ठायी विलीन होतात.

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ।।१५।।

ते ब्रह्म सर्व भूतमात्रांच्या बाहेर आहे व आतही आहे. ते चर आहे व अचरही आहे. सूक्ष्म असल्यामुळे ते दिसत नाही. ते अविज्ञेय आहे– ते जाणण्यास दुष्कर आहे. ते मन व इंद्रियाच्या पलीकडे आहे. तसेच ते अत्यंत समीप आहे व दूरही आहे.

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ।।१६।।

ते ब्रह्म अविभक्त–अखंड असूनही चराचर भूतांमध्ये नाना प्रकारांनी नाना प्रकारच्या रूपांनी एकसारखे विभागल्यासारखे आहे. तो जाणण्यास योग्य असा परमात्मा समस्त भूतमात्रांना उत्पन्न करणारा आहे. तोच त्यांचे भरण–पोषण करीत असतो. अंती तोच त्यांचा संहारही करीत असतो. या ठिकाणी बाह्य व आंतरिक स्वभावाकडे निर्देश केला आहे. उदा. बाहेर जन्म आणि आत जागृती, बाहेर पालन तर आत पोषण, बाहेर शरीराचे परिवर्तन आणि आत सर्वस्वाचा विलय. अर्थात उत्पत्तीच्या कारणाचा लय आणि त्या लयाबरोबर आपल्या स्वरूपाला प्राप्त होणे ही सर्व त्या ब्रह्माची लक्षणे आहेत.

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ।।१७।।

ते ज्ञेय ब्रह्म तेजांचेही तेज असून ते अंधाराच्याही पलीकडे आहे असे ज्ञाते म्हणतात. ते पूर्ण ज्ञानस्वरूप आहे, पूर्ण ज्ञाता आहे, जाणण्यास योग्य आहे आणि ज्ञानानेच प्राप्त होणारे आहे. साक्षात्काराबरोबर प्राप्त होणाऱ्या जाणकारीस ज्ञान म्हणतात. अशा ज्ञानानेच त्या ब्रह्माची प्राप्ती होत असते. ते सर्वांच्या हृदयात असते. हृदय हे त्यांचे निवासस्थान आहे. इतरत्र शोधूनसुद्धा मिळणार नाही. म्हणून हृदयात ध्यान तसेच योगाचरण करून ब्रह्माची प्राप्ती करून घेता येते.

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ।।१८।।

हे अर्जुना, याप्रमाणे क्षेत्र, तसेच ज्ञान आणि जाणण्यास योग्य अशा परमात्म्याचे स्वरूप म्हणजेच ज्ञेय हे संक्षेपाने सांगितले गेले आहे. हे सर्व जाणून माझा भक्त मत्स्वरूपाप्रत पावतो.

आतापर्यंत योगेश्वर कृष्ण ज्याला क्षेत्र म्हणत होते, त्याला प्रकृती आणि ज्याला क्षेत्रज्ञ म्हणत होते, त्याला आता पुरुष शब्दाने सूचित करत आहेत.

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृति सम्भवान् ।।१९।।

ही प्रकृती व पुरुष हे दोन्ही अनादि असे जाण आणि सर्व विकार व तीन गुण प्रकृतीपासून उत्पन्न झाले आहेत असे जाण.

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ।।२०।।

कार्य, कारण (ज्याच्या द्वारे कार्य केले जाते विवेक, वैराग्य इत्यादी तसेच अशुभ कार्याचे कारण काम-क्रोध इत्यादी असतात) व कर्तृत्व यांना उत्पन्न करणारी मूळ प्रकृती आहे. म्हणजे त्यांच्या निर्मितीस प्रकृती कारण आहे, आणि हा पुरुष सुखदुःखाच्या भोगाला कारण असतो. प्रश्न असा निर्माण होतो की, तो नेहमी भोक्ताच राहील की त्यातून तो कधी मुक्तही होऊ शकेल? जर प्रकृती व पुरुष दोन्ही अनादि आहेत तर कोणी त्यातून सुटणार कसे? यावर श्रीकृष्ण म्हणतात-

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसगडोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ।।२१।।

प्रकृतीच्या ठिकाणी स्थित असणारा पुरुष प्रकृतीपासून उत्पन्न झालेल्या गुणांच्या कार्यरूप पदार्थांचा भोक्ता आहे. या गुणांशी झालेल्या संयोगामुळेच जीवात्मा चांगल्या तसेच वाईट योनीत जन्म घेत असतो. हे कारण म्हणजेच प्रकृतीच्या गुणांशी संयोग, समाप्त झाल्यावरच जीवात्म्याला जन्म-मृत्यूपासून मुक्ती मिळत असते. आता ते प्रकृतीमध्ये स्थित असणाऱ्या पुरुषावर प्रकाश टाकीत आहेत, म्हणजे तो कशा प्रकारे प्रकृतीमध्ये उभा आहे ते सांगत आहेत.

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ।।२२।।

हा पुरुष उपद्रष्टा असतो, हृदयाच्या अत्यंत समीप असतो. हात-पाय-मन जितके जवळ असतात त्यापेक्षाही अधिक समीप हा पुरुष द्रष्ट्याच्या स्वरूपात प्रकृतीमध्ये स्थित असतो. त्याच्या प्रकाशात-त्याच्या समोर चांगले करा अगर वाईट करा. त्यांच्याशी त्याला काही प्रयोजन नसते. तो फक्त त्या गुणांचा साक्षी म्हणून उभा असतो. तो केवळ साक्षी असतो. परंतु जर साधकाने योग्य क्रमाने साधना करून स्वःचा विकास करून घेतला व त्याच्याकडे वळला; तर मात्र द्रष्ट्या पुरुषाचाही क्रम बदलतो व तो '**अनुमन्ता**' अनुमती द्यायला लागतो, अनुभव द्यायला लागतो. साधनेद्वारे आणखी समीप गेल्यावर तोच पुरुष '**भर्ता**' बनून भरण-पोषण करू लागतो, त्यामध्ये आपल्या उदरनिर्वाहाचीही व्यवस्था करून देतो. साधना आणखी सूक्ष्म झाल्यावर तोच '**भोक्ता**' बनतो. '**भोक्तारं यज्ञ तपसां**' यज्ञ, तप जे काही बनते त्या सर्वांचे हा पुरुष ग्रहण करतो आणि जेव्हा तो ग्रहण करतो त्यानंतरची अवस्था '**महेश्वरः**' महान ईश्वराच्या रूपात तो परिणत होतो. तो प्रकृतीचा स्वामी बनतो. परंतु अजून काही प्रमाणात प्रकृती जीवित आहे म्हणून तर तिला स्वामी आहे. साधक यापेक्षाही उन्नत अवस्थेमध्ये जातो तेव्हा त्याला '**परमात्मेतिचाप्युक्तो**' परमात्म असे म्हणतात. जेव्हा साधक परमशी तद्रूप होतो तेव्हा त्याला परमात्मा असे म्हणतात. या प्रकारे शरीरात राहत असूनही

हा पुरुष अर्थात आत्मा परः आहे. या प्रकृतीच्या सर्वथा पलीकडे आहे. फरक इतकाच आहे की, सुरुवातीला तो द्रष्ट्याच्या स्वरूपात होता. क्रमशः विकास होत होत परमला स्पर्श करून परमात्म्याच्या रूपात तो परिणत होतो.

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ।।२३।।

जो या प्रकारे पुरुषाला व गुणांसह प्रकृतीच्या तत्त्वाला साक्षात्कारासह जाणतो तो सर्व कर्मे करीत असला तरी पुन्हा कधीही जन्म पावत नाही. म्हणजेच त्याचा पुनर्जन्म होत नाही. हीच मुक्ती आहे. आतापर्यंत श्रीकृष्णांनी ब्रह्म आणि प्रकृती यांच्या ज्ञानासह प्राप्त होणाऱ्या परमगतीवर अर्थात पुनर्जन्मापासून मिळणाऱ्या मुक्तींवर प्रकाश टाकला आहे. आता जिची मुख्य प्रक्रिया आराधना आहे. त्या योगावर प्रकाश टाकत आहेत. या कर्माला कार्यरूप दिल्याशिवाय कोणालाही परमतत्त्व प्राप्त होत नाही.

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये साङ्ख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ।।२४।।

हे अर्जुना, त्या '**आत्मानम**' परमेश्वराला काही लोक '**आत्मना**' आपल्या आत्मचिंतनाने, ध्यानाचे द्वारा '**आत्मनि**' आपल्या हृदयरूपी देशात बघतात. कित्येक जण सांख्ययोगाच्या द्वारा (अर्थात आपले सामर्थ्य ओळखून त्याच कर्मात प्रवृत्त होतात) आणि अन्य लोक त्याला निष्काम कर्मयोगाच्या द्वारे पाहतात. समर्पणासह ते नियत कर्मात प्रवृत्त होतात. प्रस्तुत श्लोकात मूळ साधन आहे ध्यान! त्या ध्यानात प्रवृत्त होण्यासाठी सांख्ययोग आणि निष्काम कर्मयोग हे दोन मार्ग आहेत.

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ।।२५।।

परंतु ज्यांना साधनेचे ज्ञान नाही– अध्यात्माचे ज्ञान नाही असे आत्मज्ञान न जाणणारे लोक '**अनेभ्य**' आत्मतत्त्व जाणणाऱ्या महापुरुषांकडून ऐकून श्रद्धेने

भगवंताची उपासना करतात आणि त्या भगवत् स्मरणात मग्न झालेले पुरुषसुद्धा हा मृत्युरूपी संसारसागर निश्चितपणे तरून जातात. तेव्हा कोणताही योग साधून पलीकडे जाता आले नाही तरी मनुष्याने सत्संग करावा.

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ।।२६।।

हे अर्जुना, स्थावर-जंगम म्हणजेच चर-अचर जी कोणतीही वस्तू निर्माण होते ती, तू क्षेत्र व क्षेत्रज्ञ यांच्या संयोगापासून निर्माण झाली आहे असे जाण, प्राप्ती केव्हा होते यावर ते म्हणतात.

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।

विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ।।२७।

जो पुरुष विशेषकरून नष्ट होत असलेल्या चराचर सर्व भूतांमध्ये अविनाशी असणाऱ्या परमेश्वराला समभावाने स्थित असणारा असा पाहतो, तोच त्याला यथार्थाने पाहू शकतो- जाणू शकतो. अर्थात, प्रकृतीचे विशेष रूप नष्ट झाल्यावरच परमात्मस्वरूप प्रकट होत असते, त्यापूर्वी नाही. यावरच आठव्या अध्यायात सांगितले होते- '**भूत भावोद्भवकरो विसर्गः कर्म संज्ञितः**' भूतांचे ते भाव जे (चांगले अथवा वाईट) काहीही (संस्कार) संरचना करतात ते मिटून जाणे- नष्ट होणे ही कर्मांची पराकाष्ठा आहे. त्यावेळी कर्म पूर्ण असते. तेच येथेही सांगतात की जो चराचर भूतांना नष्ट होताना आणि परमेश्वराला सर्वत्र समानतत्त्वाने स्थित आहे असे पाहतो, तोच त्याला यथार्थ पाहतो.

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।

न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ।।२८।।

कारण जो पुरुष सर्वत्र समानतत्त्वाने स्थित असणाऱ्या ईश्वराला समबुद्धीने (जसा आहे तसा) पाहतो तो आत्मघातकी होत नाही. कारण ईश्वर जसा होता तसा त्याने पाहिला व म्हणून तो परमगतीला प्राप्त होतो. अशा परब्रह्मस्वरूपाची प्राप्ती होणाऱ्या पुरुषाची लक्षणे पुढे सांगितली आहेत.

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ।।२९।।

जो मनुष्य सर्व कर्मे सर्व प्रकारे प्रकृतीकडूनच केली जातात असे पाहतो, अर्थात जोपर्यंत प्रकृती आहे तोपर्यंत कर्मे असतात असे पाहतो व आत्मा अकर्ता आहे असे पाहतो-जाणतो, तोच खरे तत्त्व जाणतो- ओळखतो.

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ।।३०।।

जेव्हा विवेकी पुरुष-साधक भूतांच्या प्राणिमात्रांच्या पृथक भावांमध्ये परमात्म्याचा प्रवाह स्थित असलेला पाहतो; तसेच त्या परमात्म्यापासूनच सर्व भूतांचा विस्तार झाला आहे असे बघतो; तेव्हा त्याला ब्रह्माची प्राप्ती होते. ज्या क्षणी अशी अवस्था प्राप्त होते, त्याक्षणी त्याला ब्रह्माची प्राप्ती होते. हे लक्षणही स्थितप्रज्ञ महापुरुषाचेच आहे.

अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ।।३१।।

कौन्तेया, अनादि व निर्गुण असणारा हा अविनाशी परमात्मा शरीरात स्थित असला तरी वास्तवात तो काहीही करीत नाही आणि त्याला कोणत्याही कर्माचा लेप लागत नाही. तो सर्व कर्मांपासून अलिप्त असतो. कशा प्रकारे?

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ।।३२।।

ज्या प्रकारे सर्वत्र व्यापून असणारे आकाश सूक्ष्म असल्यामुळे कोणत्याही वस्तूशी जसे लिप्त होत नाही, त्याप्रमाणे आत्मा सर्व देहात राहत असूनही तो गुणातीत असल्यामुळे देहगुणांनी तो लिप्त होत नाही. पुढे म्हणतात-

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ।।३३।।

अर्जुना, ज्याप्रमाणे एकटा सूर्य अखिल ब्रह्मांडाला अखिल जगाला प्रकाशमान करतो. त्याप्रमाणे हा एकटा आत्मा संपूर्ण क्षेत्राला प्रकाशित करतो. शेवट म्हणतात- निर्णय देतात-

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ।।३४।।

याप्रमाणे क्षेत्र व क्षेत्रज्ञ यांमधील भेद तसेच विकारासहित असणाऱ्या प्रकृतीच्या बंधनातून सुटण्याचा उपाय किंवा साधन जे ज्ञानरूपी नेत्राद्वारे जाणतात, पाहतात, त्या महात्म्यांना परब्रह्म परमात्म्याची प्राप्ती होते. अर्थात क्षेत्र-क्षेत्रज्ञाला पाहणारे, पाहू शकणारे नेत्र म्हणजे ज्ञान आहे व ज्ञान साक्षात्काराचाच पर्याय आहे.

निष्कर्ष–

गीतेच्या प्रारंभी धर्मक्षेत्र व कुरुक्षेत्राचे नाव घेतले गेले होते; परंतु ते क्षेत्र खरोखर आहे कुठे? ते अद्यापपर्यंत सांगितले नव्हते. येथे स्वयं शास्त्रकारांनी ते स्पष्ट केले आहे की, कौन्तेया, हे शरीर म्हणजेच एक क्षेत्र आहे व जो त्याला जाणतो तो क्षेत्रज्ञ आहे. तो येथे लिप्त झालेला नाही– गुंतलेला नाही; परंतु तो निर्लेप आहे. तो या क्षेत्राचा संचालक आहे. अर्जुना '**सर्व क्षेत्रांमध्ये मीही एक क्षेत्रज्ञ आहे.**' अन्य महापुरुषांबरोबर स्वतःची तुलना केली. त्यावरून हे स्पष्ट होते की श्रीकृष्णदेखील एक योगी होते. कारण जो क्षेत्राला जाणतो तो क्षेत्रज्ञ असतो असे महापुरुषांनीच सांगितले आहे. मीही एक क्षेत्रज्ञ आहे, अर्थात इतर महापुरुषांप्रमाणे मी देखील एक आहे.

त्यानंतर त्यांनी ते क्षेत्र ज्या विकारांनी युक्त आहे, ज्या प्रभावांनी ते प्रभावीत आहे यावर प्रकाश टाकून ते म्हणतात की, या क्षेत्राविषयी मीच असे म्हणतो असे नाही तर महर्षीनीदेखील असेच म्हटले आहे. वेदांतील छंदामध्येदेखील त्याला पृथक करून दाखवले आहे. ब्रह्मसूत्राततही तेच सांगितले आहे.

मग शरीर (जे क्षेत्र आहे) जेवढे डोळ्यांना दिसते तेवढेच आहे का? त्याचे स्पष्टीकरण करताना श्रीकृष्ण म्हणाले, अष्टधामूल प्रकृती, अव्यक्त प्रकृती, दहा इंद्रिये आणि मन, इंद्रियांचे पाच विषय, आशा, तृष्णा आणि वासना या सर्व विकारांनी किंवा या सर्व विकारांच्या सामूहिक मिश्रणाने हे

शरीर बनलेले आहे. जोपर्यंत हे विकार राहतील, तोपर्यंत कोणत्या ना कोणत्या रूपात हे शरीर राहीलच. हेच क्षेत्र आहे, ज्यात जे पेराल ते चांगले वाईट बी, संस्काराच्या रूपाने उगवत असते. जो त्याला पार करतो, त्याच्या पलीकडे जातो, तो क्षेत्रज्ञ आहे. क्षेत्रज्ञाचे स्वरूप सांगताना त्यांनी ईश्वरीय गुणधर्मांवर प्रकाश टाकला आहे आणि सांगितले आहे की क्षेत्रज्ञ या क्षेत्राचा प्रकाशक आहे.

त्यांनी सांगितले की, साधनेच्या पूर्तीकालामध्ये परमतत्त्व परमात्म्याचे प्रत्यक्ष दर्शन म्हणजेच ज्ञान आहे. परात्पर ब्रह्म ही जाणण्यास योग्य अशी वस्तू आहे. ते सत् नाही व असत्‌ही नाही. ते या दोन्हींच्या पलीकडे आहे. त्याला जाणण्यासाठी लोक हृदयात त्याचे ध्यान करतात, बाहेर मूर्ती ठेवून त्या मूर्तीचे ध्यान करीत नाहीत. अनेक लोक सांख्य माध्यमातून ध्यान करतात. तर कोणी निष्काम कर्मयोग म्हणजे समर्पणासह निर्धारित कर्म करून त्याला प्राप्त करून घेतात. ज्या लोकांना योगसाधनेचे, अध्यात्माचे ज्ञान नाही, ते लोक तत्त्वस्थित महापुरुषांकडून त्याच्याविषयी श्रवण करून आचरण करतात परब्रह्माची प्राप्ती करून घेतात. तेव्हा काही जरी समजले नाही तरी आत्मतत्त्व जाणणाऱ्या महापुरुषांच्या सहवासात राहणे आवश्यक आहे.

स्थितप्रज्ञ महापुरुषाची लक्षणे सांगताना श्रीकृष्णांनी सांगितले की, ज्याप्रमाणे आकाश सर्वत्र सारखे पसरलेले असूनही निर्लेप आहे, सूर्य सर्वत्र प्रकाशात असूनही निर्लेप आहे, तद्वत सर्वत्र समान-सारखा राहणाऱ्या ईश्वराप्रमाणे स्थितप्रज्ञ महापुरुष क्षेत्रापासून-प्रकृतीपासून अलिप्त असतो. शेवटी त्यांनी निर्णय देत सांगितले की, क्षेत्र आणि क्षेत्रज्ञाचे ज्ञान ज्ञानरूपी नेत्रांद्वारेच होणे शक्य आहे. ज्ञान म्हणजे मागे सांगितल्याप्रमाणे परमात्म्याच्या प्रत्यक्ष दर्शनाबरोबर प्राप्त होणारी जाणकारी होय. शास्त्रांची नुसती पुनःपुन्हा उजळणी करणे म्हणजे ज्ञान नाही; परंतु अध्ययन तसेच महापुरुषांकडून त्या कर्माचे ज्ञान करून घेऊन त्या कर्ममार्गावर चालत, मनासह इंद्रियांचा निरोध आणि त्या निरोधाच्या विलयकाळी परमतत्त्वाला पाहताना जी अनुभूती होते, ती अनुभूती म्हणजे ज्ञान होय. येथे क्रिया आवश्यक आहे. या अध्यायात

मुख्यतः क्षेत्रज्ञाचे विस्ताराने वर्णन केले आहे. वास्तविक क्षेत्राचे स्वरूप व्यापक आहे, शरीर म्हणजे सरळ आहे; परंतु शरीराचा संबंध कुठपर्यंत आहे? समग्र ब्रह्मांड मूल प्रकृतीचा विस्तार आहे. अनंत अंतरिक्षापर्यंत आपल्या शरीराचा विस्तार आहे. त्यामुळे तर आपले जीवन ऊर्जस्वित आहे, त्यांच्याशिवाय आपण जगू शकत नाही. हे भूमंडळ, विश्व जगत, देश-प्रदेश आणि आपले हे दिसणारे शरीर त्या प्रकृतीच्या एका तुकड्याएवढेही नाही. या प्रकारे या अध्यायात क्षेत्राचेच विस्ताराने वर्णन आहे. म्हणून-

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रेश्रीकृष्णार्जुनसम्वादे' क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो 'नामत्रयोदशोऽध्यायः ।।१३।।

याप्रमाणे श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषदातील ब्रह्मविद्यांतर्गत योगशास्त्रातील श्रीकृष्ण आणि अर्जुन यांच्या संवादातील क्षेत्रक्षेत्रज्ञ योग नावाचा तेरावा अध्याय समाप्त झाला.

इति श्रीमत्परमहंस परमानन्दस्य शिष्य स्वामी अड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्भगवद्गीतायाः 'यथार्थगीता 'भाष्ये' क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो 'नाम त्रयोदशोऽध्यायः ।।१३।।

अशा प्रकारे श्रीमत्परमहंस परमानन्दजींचे शिष्य स्वामी अड़गड़ानन्दकृत श्रीमद्भगवद्गीतेवरील भाष्य 'यथार्थ गीता' यामधील क्षेत्रक्षेत्रज्ञ योग नावाचा तेरावा अध्याय समाप्त झाला.

।। हरि ॐ तत् सत् ।।

ॐ

श्री परमात्मने नमः

।। अथ चतुर्दशोऽध्यायः ।।

अध्याय चौदावा

मागील अनेक अध्यायांतून योगेश्वर श्रीकृष्णाने यज्ञाचे स्वरूप स्पष्ट केले आहे. चौथ्या अध्यायातील एकोणिसाव्या श्लोकात त्यांनी सांगितले की, ज्या पुरुषाच्या द्वारे संपूर्णतेने सुरु केलेले नियत कर्म क्रमशः विकसित होत होत इतके सूक्ष्म होते की वासना व मनाच्या संकल्पांचे पूर्णपणे शमन होते, त्यावेळी ज्याला तो जाणू इच्छित आहे त्याची प्रत्यक्ष अनुभूती होते. त्या अनुभूतीचे नाव ज्ञान आहे. तेराव्या अध्यायात ज्ञानाचे स्पष्टीकरण केले आहे. '**तत्वज्ञानार्थ दर्शनम्**' तत्त्वाच्या अर्थस्वरूप परमात्म्याचे प्रत्यक्ष दर्शन म्हणजे ज्ञान होय. क्षेत्र-क्षेत्रज्ञातील भेद जाणून घेणे म्हणजेच ज्ञान होय. ज्ञान म्हणजे शास्त्रार्थ नाही. केवळ शास्त्र किंवा धर्मग्रंथ लक्षात ठेवणे किंवा त्यांची उजळणी करणे म्हणजे ज्ञान नाही. अभ्यासाची ती अवस्था म्हणजे ज्ञान होय, जेथे ते तत्त्व समजून येते- विदित होते. परमात्म्याच्या साक्षात्काराबरोबर मिळणाऱ्या अनुभूतीचे नाव ज्ञान आहे. याच्या विपरीत सर्व काही अज्ञान आहे.

या प्रकारे सर्व काही सांगितल्यानंतर सुद्धा प्रस्तुत अध्यायात योगेश्वर श्रीकृष्ण म्हणतात की, अर्जुना, त्या ज्ञानांमध्ये देखील परम श्रेष्ठ असे ज्ञान मी तुझ्यासाठी पुन्हा सांगेन. योगेश्वर त्याचीच येथे पुनरावृत्ती करीत आहेत. कारण '**शास्त्र सुचिन्तित पुनि पुनि देखिय।**' ज्याचे उत्तम प्रकारे चिंतन केले आहे असे शास्त्रही पुनःपुन्हा पाहिले पाहिजे. इतकेच नव्हे तर जो जो तुम्ही साधनमार्गात पुढे जाल, जो जो त्या इष्टदेवात प्रवेश मिळवाल तसतशी

ब्रह्माची नवनवीन अनुभूती प्राप्त होईल. हे ज्ञान सद्गुरु महापुरुषच देतात; म्हणून श्रीकृष्ण म्हणतात की हे ज्ञान मी तुझ्यासाठी पुन्हा सांगेन.

स्मृती हे एक असे पटल आहे की, ज्यावर संस्काराचा ठसा नेहमी उमटत असतो. जर पथिकाला इष्टामध्ये प्रवेश देववणारी जाणकारी-ज्ञान मलीन झाले, धूसर झाले तर त्या स्मृतीपटलावर प्रकृती अंकित होऊ लागते; जी विनाशाचे कारण आहे. त्यासाठी पूर्तता होईपर्यंत, इष्टची प्राप्ती होईपर्यंत, साधकाला इष्टसंबंधीचे ज्ञान पुनःपुन्हा जाणून घेतले पाहिजे. आज स्मृती जिवंत आहे परंतु पुढील अवस्थेत प्रवेश मिळाल्यावर ही अवस्था राहणार नाही. म्हणूनच 'पूज्य महाराजश्री' म्हणत की ब्रह्मविद्येचे रोज चिंतन करा, रोज एक माळ फिरवा अर्थात माळ म्हणजे बाह्य माळ नव्हे, तर हृदयात चिंतनाची माळ फिरवा.

हे तर साधकासाठी आहे; परंतु खरोखर जे सद्गुरु असतात ते त्या पथिकाच्या मागे लागलेले असतात. अंतर्यामी त्याच्या आत्म्याने जागृत होऊन तसेच बाहेर आपल्या क्रिया-कलापांनी त्याला अभिनव परिस्थितीची ओळख करून देतात. योगेश्वर श्रीकृष्णही महापुरुष होते. येथे अर्जुन शिष्य आहे. त्याने योगेश्वरांना आपल्याला संभाळून घ्या अशी प्रार्थना केली होती. म्हणून योगेश्वर श्रीकृष्ण म्हणतात की ज्ञानांमध्ये उत्तम असणारे ज्ञान तुझ्यासाठी मी पुन्हा सांगेन.

श्रीभगवानुवाच-

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः।।१।।

हे अर्जुना, सर्व ज्ञानांमध्ये उत्तम असणारे ज्ञान, परम ज्ञान तुझ्यासाठी पुन्हा सांगेन (जे मागे सांगितले गेले आहे) हे ज्ञान जाणूनच सर्व मुनिजन या संसारातून मुक्त होऊन परमश्रेष्ठ गतीला प्राप्त झाले आहेत. (जी गती प्राप्त झाल्यानंतर प्राप्त करण्याचे काहीही शिल्लक राहत नाही).

इदं ज्ञानमुपाश्रित मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च।।२।।

या ज्ञानाला (‘उपश्रित्य’ म्हणजेच या ज्ञानाचा आश्रय करून, माझ्याप्रत पोहचलेले–मद्‌रूपतेला) प्राप्त झालेले पुरुष सृष्टीच्या उत्पत्तीकाळी पुन्हा जन्मत नाहीत आणि प्रलय काळी म्हणजेच अंतकाळी व्याकूळ होत नाहीत– व्यथित होत नाहीत; कारण ज्या दिवशी तो महापुरुष मद्‌रूपतेला प्राप्त होतो त्याच दिवशी त्याच्या शरीराचा अंत झालेला असतो. त्यानंतर त्याचे शरीर म्हणजे फक्त त्याचे राहण्याचे ठिकाण (घर) आहे. पुनर्जन्माचे स्थान कुठे आहे? ज्या ठिकाणी पुरुष जन्म घेतात. ते स्थान कोठे आहे? यावर श्रीकृष्ण म्हणतात–

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत।।३।।

हे अर्जुना, माझे ‘महदब्रह्म’ म्हणजेच माझी ही अष्टधा मूल प्रकृती हेच सर्व भूतांचे उत्पत्तिस्थान आहे. त्यामध्ये मी चेतनारूपी बी पेरत असतो आणि मग त्या जड–चेतनाच्या संयोगाने सर्व भूतांची उत्पत्ती होत असते.

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता।।४।।

हे कौन्तेया, सर्व योनींमध्ये जेवढे शरीरधारी प्राणिमात्र उत्पन्न होतात– जन्मतात– त्या सर्वांचे उत्पत्तिस्थान आठ भेदांची ही मूळ प्रकृती आहे. मी बीज स्थापना करणारा पिता आहे. या व्यतिरिक्त अन्य कोणी माता–पिता नाहीत. जोपर्यंत जड आणि चेतन यांचा संयोग होत राहील, तोपर्यंत प्राणिमात्रांचा जन्म होत राहील. त्यांची उत्पत्ती होत राहील. यासाठी कोणी ना कोणी निमित्त बनतच राहील. यानंतर चैतन्यमय आत्मा जड प्रकृतीमध्ये का बद्ध होतो– जखडला जातो याचे स्पष्टीकरण करताना श्रीकृष्ण म्हणतात–

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्।।५।।

हे महाबाहो अर्जुना, सत्त्व, रज व तम हे प्रकृतीपासून उत्पन्न होणारे तीन गुण ह्या अविनाशी जीवात्म्याला शरीरात बद्ध करून ठेवतात. कशा प्रकारे–

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसग्डेन बध्नाति ज्ञानसग्डेन चानघ।।६।।

हे निष्पाप अर्जुना, या तीन गुणांमध्ये प्रकाश देणारा निर्विकार असा सत्त्वगुण '**निर्मलत्वात्**' निर्मल असल्याने सुख आणि ज्ञान यांच्या संगाने जीवात्म्याला बांधून टाकतो. सत्त्वगुण देखील बंधनच आहे. फरक फक्त एवढाच आहे की, एकमात्र परमात्म्यात फक्त सुख आहे व साक्षात्कार म्हणजेच ज्ञान होय. आणि जोपर्यंत परमात्म्याचा साक्षात्कार होत नाही तोपर्यंत सत्त्वगुण बद्ध असतो.

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासग्डसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसग्डेन देहिनम्।।७।।

हे अर्जुना, क्रोधाचे मूर्तिमंत स्वरूप म्हणजे रजोगुण होय. याला तू '**कर्मसंगेन**' म्हणजे कामना आणि आसक्तीपासून उत्पन्न होतो असे जाण. तो रजोगुण जीवात्म्याला कर्म व त्यापासून प्राप्त होणाऱ्या फळाच्या आसक्तीमध्ये बद्ध करीत असतो. तो जीवात्म्याला कर्मामध्ये प्रवृत्त करीत असतो.

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत।।८।।

अर्जुना, समस्त देहधारी प्राण्यांना मोह पाडणारा, भुलवणारा तमोगुण हा अज्ञानापासून निर्माण झाला आहे असे तू जाण. तो या जीवात्म्याला प्रमाद (दृष्कृत्य), आळस (आता नको उद्या करू, अशी चालढकल वृत्ती) आणि निद्रा यांनी बद्ध करतो. येथे निद्रा म्हणजे तमोगुणी मनुष्य अधिक झोपतो असा याचा अर्थ नाही. म्हणजेच शरीर झोपी जाते अशी गोष्ट नाही. '**या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।**' हे जग म्हणजे एक रात्र आहे. तमोगुणी व्यक्ती या जगत्‌रूपी रात्रीमध्ये रात्रंदिवस व्यस्त असतो. प्रकाशस्वरूपाकडे अचेत राहतो–निद्रित राहतो. हीच तमोगुणी निद्रा होय. जो तिच्यात फसला आहे– अडकला आहे तो झोपलेला आहे. आता यापुढे श्रीकृष्ण तिन्ही गुणांच्या बंधनाचे सामुहिक स्वरूप सांगत आहेत.

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत।

ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत।।९।।

अर्जुना, सत्त्वगुण मनुष्याला सुखाच्या ठिकाणी व्यग्र करतो. शाश्वत परमसुखाकडे त्याचे मन ओढ घेते– तेथे आसक्त होते. रजोगुण मनुष्याला कर्मामध्ये प्रवृत्त करतो. तर तमोगुण ज्ञानाला आच्छादित करून प्रमादामध्ये म्हणजे अंतःकरणातील व्यर्थ विचार–विकारांमध्ये मनुष्याचे मन आसक्त करतो. जर हे तिन्ही गुण एकाच स्थानावर व एकाच हृदयात आहेत तर वेगवेगळे कसे विभक्त होतात? यावर योगेश्वर श्रीकृष्ण म्हणतात–

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।

रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा।।१०।।

हे अर्जुना, रजोगुण व तमोगुण यांचा पाडाव करून सत्त्वगुण वरचढ होतो; तसेच सत्त्वगुण आणि तमोगुण यांना जिंकून रजोगुण वाढतो. तसेच याच प्रकारे रजोगुण आणि सत्त्वगुण यांचा बिमोड करून तमोगुण प्रबल होतो. परंतु कोणता गुण केव्हा आणि कसा कार्य करीत आहे हे कसे ओळखायचे?

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।

ज्ञानं यदा यदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत।।११।।

ज्यावेळी शरीरात तसेच अंतःकरणात आणि सर्व इंद्रियांमध्ये ईश्वरीय प्रकाश आणि ज्ञान उत्पन्न होते त्यावेळी सत्त्वगुणी विशेष वाढ झाली आहे असे समजावे.

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।

रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ।।१२।।

हे अर्जुना, जेव्हा रजोगुणाचे प्राबल्य वाढते तेव्हा अतिशय लोभ, कर्माकडे प्रवृत्ती व त्यांचा आरंभ, अशान्ती म्हणजेच मनाचे चांचल्य, विषयभोगांची अभिलाषा ही लक्षणे प्रकट होतात. आता तमोगुणाचे प्राबल्य झाल्यावर काय होते?

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।

तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन।।१३।।

अर्जुना, जेव्हा तमोगुणाचे प्राबल्य वाढते तेव्हा '**अप्रकाशः**' (प्रकाश ईश्वराचा द्योतक असतो) म्हणजेच ईश्वरीय प्रकाशाकडे न जाण्याची प्रवृत्ती 'कार्यम् कर्म' योग्य कर्म न करण्याची प्रवृत्ती, अंतःकरणात व्यर्थ कर्मे करण्याची लहर आणि जगातील मुग्ध करणाऱ्या वस्तूंचा मोह हे दोष त्या माणसाला पछाडतात. तथापि हे सर्व गुण जाणून त्याचा फायदा काय?

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।

तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते।।१४।।

सत्त्वगुणांचे प्राबल्य झाले असताना जर देहधारी मनुष्य मृत्यू पावला तर त्याला उत्तम कर्म करणाऱ्यांच्या दोषरहित असणाऱ्या दिव्य लोकांची प्राप्ती होते.

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसग्डिषु जायते।

तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते।।१५।।

रजोगुणाचे प्राबल्य असता मनुष्य मरण पावला तर तो सकाम कर्मात आसक्त असणाऱ्या मनुष्यांत जन्म घेतो. तसेच तमोगुणाची वृद्धी झाली असता जो मनुष्य मृत्यू पावतो तेव्हा तो किटक पतंग आदि मूढ योनीत जन्म घेतो. तेव्हा या गुणांमध्ये मनुष्याने सात्त्विक गुणांनी युक्त असले पाहिजे. प्रकृतीची ही बँक आपण जमा केलेल्या, मिळवलेल्या या गुणांना मृत्यूनंतरसुद्धा आपल्याला सुरक्षितपणे परत करते. आता याचा परिणाम पाहा.

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।

रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्।।१६।।

सात्त्विक कर्माचे फळ (परिणाम) सात्त्विक, निर्मल सुखमय, ज्ञानमय आणि वैराग्यमय असते. राजस कर्माचे फल दुःख असते आणि तामस कर्माचे फल अज्ञान असते तसेच–

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च।।१७।।

सत्त्वगुणापासून ज्ञान उत्पन्न होते (ईश्वराच्या अनुभूतीचे नाव ज्ञान आहे), ईश्वरीय अनुभूतीचा प्रवाह असतो. रजोगुणापासून केवळ लोभ उत्पन्न होतो; तर तमोगुणापासून प्रमाद, मोह व आळसही (अज्ञान) उत्पन्न होतात. या गुणांमुळे मनुष्याला कोणती गती मिळते?

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः।।१८।।

सत्त्वगुणी पुरुष '**ऊर्ध्वमूलं**' त्या मूल परमात्म्याच्या ठिकाणी जातात. ते निर्मल लोकांत म्हणजेच देवलोकांत जातात. रजोगुणी म्हणजे राजस आचरणाचे लोक मध्यम श्रेणीचे असतात. त्यांच्याजवळ विवेक-वैराग्यादि सात्त्विक गुण असत नाहीत किंवा ते किटकादिकाच्या अधम योनीतही जात नाहीत; परंतु त्यांना पुनर्जन्म प्राप्त होतो. तर निंद्यगुणी असे तामस वृत्तीचे लोक पशु-पक्ष्यादिकांच्या अधम योनीत जातात, म्हणजेच ते अधोगतीला जातात. या प्रकारे या तीन गुणांमुळे त्या गुणांनुसार योनी प्राप्त होत असते. म्हणजे हे तीन गुण येनकेन प्रकारे योनीला कारण असतात. जो पुरुष या गुणांच्या पलीकडे जातो, तो जन्ममृत्यूच्या बंधनातून मुक्त होऊन माझ्या स्वरूपाला प्राप्त होतो. यावर श्रीकृष्ण म्हणतात-

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति।।१९।।

प्रकृतीच्या तीन गुणांच्या व्यतिरिक्त दुसरा कोणी कर्ता नाही असे जेव्हा द्रष्टा आत्मा जाणतो आणि तीनही गुणांच्या अत्यंत पलीकडे असणारे परमतत्त्व '**वेत्ति**' जाणतो, तेव्हा तो पुरुष माझ्या स्वरूपाला प्राप्त होतो. गुणांमध्ये अशी काही बौद्धिक मान्यता नाही. साधना करता करता अशी एक अवस्था येते की तेव्हा त्या परमतत्त्वाची अनुभूती होते व त्याला समजते की या तीन गुणांशिवाय दुसरा कोणताही कर्ता नाही. त्यावेळी तो पुरुष तीन गुणांच्या पलीकडे जातो. हे कपोलकल्पित असे म्हणणे नाही. यावरच पुढे श्रीकृष्ण म्हणतात-

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्‌भवान्।

जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते।।२०।।

स्थूल शरीराच्या उत्पत्तीला कारणीभूत अशा या तीन गुणांच्या पलीकडे जो पुरुष जातो तो जन्म, मृत्यू, वार्धक्य आणि सर्व प्रकारच्या दुःखापासून मुक्त होऊन अमृततत्त्वाचे पान करतो. यावर अर्जुनाने प्रश्न केला.

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्‌गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।

किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते।।२१।।

हे प्रभो, या त्रिगुणांच्या पलीकडे गेलेला पुरुष कोणकोणत्या लक्षणांनी युक्त असतो? त्याचे आचरण कसे असते? तसेच तो या तीन गुणांच्या पलीकडे कसा जातो?

श्रीभगवानुवाच-

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।

न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्‌क्षति।।२२।।

हे अर्जुना, जो पुरुष सत्त्वगुणाचे कार्यफल प्रकाश, रजोगुणाचे कार्यफल प्रवृत्ती आणि तमोगुणाचे कार्यफल मोह हे उत्पन्न झाले असता त्यांना वाईट समजून त्यांचा तिरस्कार करीत नाहीत किंवा ते नाहीसे झाल्यानंतर त्यांची तो इच्छाहि करीत नाही. तसेच-

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।

गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेग्डगते।।२३।।

जो या प्रकारे उदासीनासारखा राहणारा, त्रिगुणांमुळे विचलित न होणारा, गुणच गुणांमध्ये वर्तन करीत असतात म्हणजे गुण आपापली कर्मे करीत असतात असे जाणून जो स्थिर असतो, विचलित होत नाही, तोच या त्रिगुणांच्या पलीकडे जातो.

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।

तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः।।२४।।

जो आपल्या स्वरूपाच्या ठिकाणी म्हणजे आत्मभावामध्ये स्थिर असतो, जो सुखदुःखाना समान समजतो, दगड, माती व सोने ह्यांच्याकडे जो समान दृष्टीने पाहतो, जो धैर्यवान आहे, प्रिय-अप्रिय गोष्टींकडे जो समान दृष्टीने पाहतो, आपली निंदा किंवा स्तुतीही ज्याला समसमानच वाटते तसेच-

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते।।२५।।

मान व अपमान समान मानणाऱ्या मित्र व शत्रूंकडेही समदृष्टीने पाहणाऱ्या, कर्माचा आरंभ न करणाऱ्या म्हणजेच कर्माचा त्याग करणाऱ्या पुरुषाला गुणातीत असे म्हटले जाते.

बावीस ते पंचवीस श्लोकांमध्ये गुणातीत पुरुषाचे लक्षण आणि त्याचे आचरण सांगताना म्हटले आहे की असा गुणातीत पुरुष विचलित होत नाही, गुणांच्या येण्याजाण्याने त्याची स्थिरता भंग पावत नाही, तो नेहमी स्वस्वरूपी स्थिर असतो. आता तो गुणातीत कसा होतो ते पुढे सांगितले आहे.

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते।।२६।।

जो पुरुष अव्यभिचारिणी भक्तीने म्हणजेच परमात्म्याच्या व्यतिरिक्त अन्य कोणत्याही सांसारिक गोष्टींचे स्मरण न करता अनन्य अशा भक्तियोगाने नियत् कर्म करीत, माझी निरंतर उपासना करतो- जो मला भजतो, त्रिगुणांचे उत्तम प्रकारे उल्लंघन करून पलीकडे जातो, तो ब्रह्मरूप होतो. यालाच कल्प म्हणतात. ब्रह्माशी एकरूप होणे म्हणजेच वास्तविक कल्प होय. अनन्य भावाने नियत कर्माचे आचरण केल्याशिवाय कोणीही गुणांच्या पलीकडे जाऊ शकत नाही. शेवटी योगेश्वर श्रीकृष्ण म्हणतात-

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च।।२७।।

हे अर्जुना, त्या अविनाशी ब्रह्माचे (ज्याच्याशी तो गुणातीत पुरुष कल्प करतो व एकाकार होऊन त्यात प्रवेश करतो), अमृताचे, शाश्वत धर्माचे आणि त्या अखंड एकरस आनंदाचे मी आश्रयस्थान आहे. श्रीकृष्ण एक

योगेश्वर होते. तेव्हा आता तुम्हाला अव्यक्त, अविनाशी ब्रह्म, शाश्वत धर्म व अखंड एकरस आनंदाची आवश्यकता असेल तर एखाद्या तत्वस्थित, अव्यक्तस्थित महापुरुषाच्या आश्रयाला जावे. त्या महापुरुषाद्वारेच हे शक्य आहे.

निष्कर्ष-

या अध्यायात प्रारंभीच योगेश्वर श्रीकृष्णांनी अर्जुनाला म्हटले की, अर्जुना, ज्ञानामध्ये अत्यंत उत्तम असे असणारे परमज्ञान तुझ्यासाठी मी पुन्हा सांगणार आहे. हे ज्ञान जाणून उपासनेद्वारा मुनिजन माझ्या स्वरूपाप्रत येत असतात. त्यानंतर सृष्टीच्या प्रारंभी ते जन्मत नाहीत. परंतु शरीर आहे म्हणजे ते नष्ट तर होणारच; पण शरीराचे निधन झाले तरी ते व्यथित होत नाहीत. ज्या दिवशी त्यांना माझ्या स्वरूपाची प्राप्ती होते त्या दिवशीच वास्तवात त्यांनी आपल्या शरीराचा त्याग केलेला असतो. ही स्वरूपप्राप्ती तर जिवंतपणी होत असते; परंतु शरीराचा अंत होत असतानाही ते व्यथित होत नाहीत.

प्रकृतीपासून उत्पन्न झालेल्या सत्त्व, रज, तम या गुणांनी जीवात्मा शरीरात बद्ध होत असतो. दोन गुणांवर प्रभुत्व करून तिसरा गुण वरचढ होऊ शकतो. कारण गुण परिवर्तनशील असतात. प्रकृती अनादि आहे ती नष्ट होत नाही; परंतु गुणांचा प्रभाव टाळता येतो. गुण मनावर प्रभाव टाकत असतात. जेव्हा सत्त्वगुणाची वृद्धी म्हणजे बाहुल्य असते, तेव्हा ईश्वरीय प्रकाश आणि ज्ञान सर्वत्र (इंद्रियांचे ठिकाणी व अंत:करणात) उत्पन्न होते. रजोगुण क्रोधात्मक असतो अशा वेळी कर्माचा मोह होतो, आसक्ती वाटते तर जेव्हा अंत:करणात तमोगुणाचे प्राबल्य वाढते तेव्हा मनुष्य आळस व प्रमादाने घेरला जातो. सत्त्वगुणाचे प्राबल्य असताना मनुष्याला मृत्यू आला तर तो मनुष्य निर्मल, लोकांत- देवलोकांत जन्म घेतो. तर रजोगुणाचे प्राबल्य असताना मुनष्य मृत्यू पावला तर तो पुन्हा मानव योनीत जन्माला येतो आणि जर तमोगुणाचे प्राबल्य असताना मनुष्याने देह सोडला तर पशुपक्ष्यादि अधम योनी त्याला प्राप्त होते व म्हणून मनुष्याने क्रमश: सात्त्विक गुणांकडे वळले पाहिजे. वास्तविक तिन्ही गुण कोणत्या ना कोणत्या

योनीचे निमित्त असतातच, कारण ह्या गुणांमुळेच आत्मा शरीरात बद्ध होत असतो व म्हणूनच गुणांच्या पलीकडे गेले पाहिजे.

या गुणांचे स्वरूप सांगताना योगेश्वर म्हणतात की अष्टधा मूल प्रकृती म्हणजे गर्भ धारणा करणारी माता आहे, मी बीजरूप पिता आहे. जोपर्यंत हा क्रम राहील तोपर्यंत या चराचर जगतात निमित्त रूपाने कोणी ना कोणी माता-पिता बनतच राहतील. परंतु वास्तविकरीत्या प्रकृतीच माता आहे व मीच पिता आहे.

यावर अर्जुनाने तीन प्रश्न विचारले की, गुणातीत पुरुषाचे लक्षण काय असते? त्याचे आचरण कसे असते? आणि कोणत्या उपायाने ते गुणांच्या पलीकडे जातात? यावर श्रीकृष्णांनी गुणातीत पुरुषाची लक्षणे आणि त्याचे आचरण कसे असते व शेवटी गुणातीत होण्याचा उपाय सांगितला आहे की, जो पुरुष अव्यभिचारिणी भक्ती आणि योगद्वारा निरंतर मला भजतो तो तीन गुणांच्या पलीकडे जाऊ शकतो. अन्य कोणाचेही चिंतन न करता निरंतर इष्टदेवाचे चिंतन करणे म्हणजे अव्यभिचारिणी भक्ती होय. जो या संसाराच्या संयोग-वियोगापासून सर्वथा रहित आहे त्याचे नाव योग आहे व त्याला कार्यरूप देण्याच्या प्रणालीचे नाव कर्म आहे. ज्यामुळे यज्ञ संपन्न होतो त्याला कर्म म्हणतात. अव्यभिचारिणी भक्तीद्वारा त्या नियत कर्माच्या आचरणानेच पुरुष तीन गुणांच्या पलीकडे जाऊ शकतो आणि मग तो ब्रह्माशी एकरूप होण्यास, पूर्ण कल्पाला प्राप्त होण्यास, पात्र होतो. गुण ज्याच्यावर प्रभुत्व गाजवतात त्या मनाचा विलय झाल्यानंतर ते ब्रह्माशी तदाकार होते व हेच वास्तविक कल्प आहे. म्हणजेच भगवंताची उपासना केल्याशिवाय भजन केल्याशिवाय कोणीही गुणांच्या पलीकडे जाऊ शकत नाही.

शेवटी योगेश्वर श्रीकृष्ण निर्णय देतात की तो गुणातीत पुरुष ज्या ब्रह्माशी एकरूप होतो त्या ब्रह्माचे अमृत तत्त्वाचे, शाश्वत धर्माचे आणि अखंड एकरस आनंदाचे मी आश्रयस्थान आहे, अर्थात मी मुख्य कर्ता आहे. पण आता तर श्रीकृष्ण निघून गेले, आता तो आश्रयही निघून गेला. आता तर मोठी समस्या उभी राहिली. आता तो आश्रय मिळणार कोठे? परंतु स्वतः

श्रीकृष्णांनी आपला परिचय करून दिला आहे. ते एक योगी होते, स्वरूपस्थ महापुरुष होते. '**शिष्यस्तेऽहं शाधी मां त्वां प्रपन्नम।**' अर्जुनाने म्हटले होते– मी आपला शिष्य आहे, मी आपल्याला शरण आलो आहे, तेव्हा माझे रक्षण करा. वारंवार श्रीकृष्णांनी आपला परिचय दिला आहे. स्थितप्रज्ञ महापुरुषाची लक्षणे सांगितली आणि त्या महापुरुषाशी आपली तुलना केली. तेव्हा हे स्पष्ट आहे की, श्रीकृष्ण एक महात्मा योगी होते. आता जर तुम्हाला अखंड, एकरस आनंद, शाश्वत धर्म अथवा अमृततत्त्वाची आवश्यकता भासली, तर या सर्वांच्या प्राप्तीचा स्त्रोत एकमात्र सद्गुरु आहेत. केवळ पुस्तक वाचून ते प्राप्त होऊ शकत नाही. जेव्हा महापुरुष आत्म्याशी अभिन्न होऊन रथी होतात तेव्हा हळूहळू त्या अनुरागी भक्ताला संचालित करीत, ज्यात ते स्वतः स्थित आहेत त्या स्वरूपापर्यंत पोहचवतात. या प्रकारे योगेश्वर श्रीकृष्णांनी आपणच सर्वांचे आश्रयस्थान आहोत असे सांगून ज्या गुणांचे विस्ताराने वर्णन केले आहे त्या चौदाव्या अध्यायाचे समापन केले आहे. म्हणून–

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे 'गुणत्रयविभागयोगो' नाम चतुर्दशोऽध्यायः।।१४।।

याप्रमाणे श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषदातील ब्रह्मविद्यांतर्गत योगशास्त्रातील श्रीकृष्ण आणि अर्जुन यांच्या संवादातील 'गुणत्रयविभागयोग' नावाचा चौदावा अध्याय समाप्त झाला.

इति श्रीमत्परमहंस परमानन्दस्य शिष्य स्वामी अड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्भगवद्गीतायाः 'यथार्थ गीता' भाष्ये 'गुणत्रयविभागयोग' नाम चतुर्दशोऽध्यायः।।१४।।

अशा प्रकारे श्रीमत्परमहंस परमानन्दजींचे शिष्य स्वामी अड़गड़ानन्दकृत श्रीमद्भगवद्गीतेवरील भाष्य 'यथार्थ गीता' यामधील 'गुणत्रयविभागयोग' नावाचा चौदावा अध्याय समाप्त झाला.

।।हरि ॐ तत्सत्।।

ॐ

श्री परमात्मने नमः

।। अथ पञ्चदशोऽध्यायः ।।

अध्याय पंधरावा

महापुरुषांनी या जगाला विविध दृष्टान्तानी समजावण्याचा प्रयत्न केला आहे. कोणी या जगताला भवारण्य म्हंटले आहे, तर कोणी याला संसारसागर म्हंटले आहे. स्थितीभेदामुळे याला भवनदी आणि भवकूप असेही म्हंटले जाते. कधी याची तुलना गाईच्या पावलांशी केली जाते. अर्थात इंद्रियांचे जेवढे घर तेवढाच हा संसार आहे आणि शेवटी अशी अवस्था आली की **'नाम लेत भव सिन्धु सुखाही'** भव-सिंधूही सुकून गेला. जगामध्ये खरोखर असे समुद्र आहेत का? योगेश्वर श्रीकृष्णांनीही संसाराला समुद्राची आणि वृक्षांची संज्ञा दिली आहे बाराव्या अध्यायात त्यांनी म्हटले आहे की- जे माझे अनन्य भक्त आहेत त्यांचा या भवसागरातून मी शीघ्र उद्धारा करत असतो. या प्रस्तुत अध्यायात योगेश्वर श्रीकृष्ण म्हणतात की, संसार हा एक वृक्ष आहे. त्याला कापत कापतच योगीजन त्या परमपदाला शोधतात.

श्रीभगवानुवाच-

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्।।१।।

अर्जुना, **'ऊर्ध्वमूलं'** ज्याचे मूळ वर म्हणजे परमात्म्याच्या ठिकाणी आहे. म्हणजे परमात्मा हेच ज्याचे मूळ आहे, **'अधःशाखम्'** खाली प्रकृती जिच्या फांद्या आहेत अशा संसाररूपी अश्वत्थ (पिंपळ) वृक्षाला अविनाशी म्हंटले आहे. (वृक्ष तर अ-श्वः अर्थात उद्यापर्यंतही टिकणारा नाही. केव्हाही तो कापला जातो;परंतु तरीही तो अविनाशी आहे.) श्रीकृष्णांच्या मतानुसार अविनाशी दोनच गोष्टी आहेत- एक संसाररूपी वृक्ष आणि दुसरे त्याच्याही

पलीकडे असणारे परमतत्त्व! वेद म्हणजे या अविनाशी संसारवृक्षाची पाने आहेत असे म्हटले जाते. जो पुरुष या संसाररूपी वृक्षाला (पाहत असताना) समजून घेतो, तो वेदांचा ज्ञाता होय.

ज्याने त्या संसारवृक्षाला जाणले आहे, त्याने वेदाला जाणले आहे असे समजावे. केवळ ग्रंथ वाचून वेदाला जाणता येत नाही. ग्रंथ वाचण्याने फक्त त्या मार्गाने जाण्याची प्रेरणा मिळत असते. पानांच्या ठिकाणी वेदांची काय आवश्यकता आहे? वास्तविक पुरुष भटकत भटकत अंतिम शाखेवर येतो म्हणजेच अंतिम जन्म घेतो; तेथूनच वेदांचे छंद (जे कल्याणाची निर्मिती करतात) प्रेरणा देतात. तेथूनच त्यांचा उपयोग असतो. तेथूनच भटकंती समाप्त होते. तो स्वरूपाच्या बाजूला वळतो. तसेच–

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्यशाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके।।२।।

अशा या संसारवृक्षाच्या तीन गुणांनी वाढलेल्या विषय आणि भोगरूपी पालवी फुटलेल्या शाखा वर आणि खाली सर्वत्र पसरलेल्या आहेत. खालील बाजूस किटकादिपर्यंत व वरील बाजूस देवभावापासून ब्रह्मापर्यंत सर्वत्र या शाखा पसरलेल्या आहेत. तसेच केवळ मनुष्ययोनीमध्ये त्या सकाम कर्मानुसार बांधल्या जातात. इतर सर्व योनी भोग भोगण्यासाठी आहेत. मनुष्ययोनीच फक्त कर्मानुसार बंधन तयार करीत असते.

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा।।३।।

परंतु या संसारवृक्षाचे स्वरूप जसे वर्णन केले आहे तसे दिसून येत नाही, कारण याला ना आदि आहे, ना अंत किंवा, ना उत्तम स्थिती! (कारण तो परिवर्तनशील आहे). अत्यंत दृढमूल असणाऱ्या संसाररूपी वृक्षाला बळकट '**असंगशस्त्रेण**' अशा असंगरूपी म्हणजेच वैराग्यरूपी शस्त्राने छेदून (संसाररूपी वृक्षाला छेदायचे आहे, तोडायचे आहे. पिंपळाच्या खोडात परमात्म्याचा वास आहे किंवा पिंपळाची पाने वेद आहेत म्हणून झाडाची आरती करावी हे सगळे निरर्थक आहे.)

या संसारवृक्षाचे मूळ तर स्वयं परमात्माच बीजरूपाने प्रसारित झाले आहेत. मग तो परमात्माही वैराग्यरूपी शस्त्राने कापला जाईल? वैराग्यरूपी शस्त्राने या प्रकृतीचा संबंध कापला जातो. हेच तर विच्छेदन आहे. कापून पुढे काय करायचे?

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गाता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी।।४।।

मनुष्याने दृढनिश्चयाने अनासक्तिरूप शस्त्राने संसारवृक्ष तोडून, त्यामध्ये प्रवेश केल्यानंतर, तेथे गेल्यानंतर, पुन्हा या संसारात मनुष्य परत येत नाही, म्हणजे पूर्ण निवृत्त होतो ते भगवंताचे परमपद चांगल्या प्रकारे शोधले पाहिजे. परंतु त्याचा शोध कसा करावा? योगेश्वर म्हणतात त्यासाठी समर्पण आवश्यक आहे. ज्या परमेश्वरापासून संसारवृक्षाची पुरातन प्रवृत्ती विस्तार पावली आहे, त्या आदिपुरुष परमात्म्याला शरण जावे. (त्या भगवंताला शरण गेल्याशिवाय संसारवृक्ष संपूर्ण कापला जाणार नाही.) परंतु भगवंताला शरण गेलेल्या वैराग्यामध्ये स्थित झालेल्या पुरुषाला संसारवृक्ष कापला गेला की नाही ते कसे समजेल? अशा पुरुषाला कसे ओळखावे? यावर श्रीकृष्ण म्हणतात–

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्।।५।।

वरील प्रकारे समर्पण केल्यानंतर ज्यांचा अभिमान व मोह नष्ट झाला आहे. आसक्तिरूपी दोष ज्यांनी जिंकला आहे '**अध्यात्मनित्या**'– अध्यात्मज्ञान म्हणजेच परमेश्वराच्या स्वरूपाच्या ठिकाणी जे निरंतर स्थित आहेत, ज्यांच्या कामना नष्ट झाल्या आहेत आणि सुखदुःखाच्या द्वंद्वापासून जे मुक्त झाले आहेत, असे ज्ञानीजन त्या अविनाशी परमपदाला प्राप्त होतात. साधकाला जोपर्यंत ही अवस्था प्राप्त होत नाही, तोपर्यंत संसारवृक्ष कापला जात नाही. या अवस्थेपर्यंत वैराग्य वृत्तीची आवश्यकता असते. परंतु ज्याला प्राप्त करावयाचे त्या परमपदाचे स्वरूप कसे असते?

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न विर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम।।६।।

त्या परमपदाला सूर्य, चंद्र किंवा अग्नी प्रकाशित करू शकत नाहीत. त्या परमपदाला प्राप्त केल्यानंतर मनुष्य पुन्हा संसारात परत येत नाही. म्हणजेच त्याचा पुनर्जन्म होत नाही. तेच माझे परमधाम आहे. या पदाची प्राप्ती करून घेण्याचा सर्वांना समान अधिकार आहे. यावर श्रीकृष्ण म्हणतात–

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।।७।।

या 'जीवलोकात' म्हणजेच या देहात (शरीरही एक लोकच आहे) असणारा हा जीवात्मा माझा–परमात्म्याचाच सनातन अंश आहे आणि तोच त्रिगुणात्मक प्रकृतीत स्थित असणाऱ्या मनासह पाच इंद्रियांना आकर्षित करीत असतो. कशा प्रकारे?

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्।।८।।

ज्याप्रमाणे वायू पुष्पापासून सुगंधाला बरोबर घेऊन जातो. तशाच प्रकारे या देहाचा स्वामी जीवात्मा आपल्या पहिल्या शरीराचा त्याग करतो तेव्हा त्याच्यापासून मन व पाच इंद्रियांना आकर्षित करून त्यांसह दुसऱ्या स्थूल शरीरात प्रवेश करतो. तर मग पिंडदान कोणाला देता? व ते घेते कोण? म्हणून श्रीकृष्णांनी अर्जुनाला सांगितले होते की, हे अज्ञान कोठून आले की पिंडोदक क्रिया लुप्त होऊन जाईल!) तेथे जाऊन तो जीवात्मा काय करतो? मनासहित सहा इंद्रिये कोण आहेत?

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते।।९।।

जीवात्मा दुसरे स्थूल शरीर धारण करून, कान, डोळे, त्वचा, जीभ, नाक आणि मन यांचा आश्रय करून विषयांचा उपभोग घेतो. परंतु हे वरून दिसून येत नाही. सर्वजण जीवात्म्याची ही क्रिया पाहू शकत नाही. यावर श्रीकृष्ण म्हणतात–

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः।।१०।।

शरीर सोडून जात असता, किंवा शरीरात राहत असता, विषयभोग घेत असता किंवा तीन गुणांनी युक्त असता या जीवात्म्याला मूढ, अज्ञानी लोक जाणत नाहीत. फक्त ज्ञानरूपी चक्षू असणारेच म्हणजे ज्ञानी लोकच फक्त त्याला जाणू शकतात, पाहू शकतात, आता ही दृष्टी कशी प्राप्त होते? आता पुढे पाहा–

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः।।११।।

योगीजन आपल्या हृदयात मनाचा सर्व बाजूंनी निग्रह करून, प्रयत्नपूर्वक ह्या आत्म्याला प्रत्यक्ष पाहतात. परंतु अकृतार्थ म्हणजेच मलीन–अपवित्र अंतःकरणाचे अज्ञानी लोक प्रयत्न करूनदेखील या आत्म्याला जाणू शकत नाहीत. (कारण त्यांचे अंतःकरण बाह्य प्रवृत्तींमध्ये विखुरलेले असते.) चित्ताचा सर्व बाजूंनी निग्रह करून, प्रयत्नशील असणारे भावीजनकच त्याला जाणण्यास पात्र असतात व म्हणून अंतःकरणात सतत असणे आवश्यक आहे. आता त्या महापुरुषांच्या स्वरूपात ज्या विभूती दिसून येतात (ज्या मागेही सांगितल्या आहेत) त्यावर श्रीकृष्ण प्रकाश टाकताना म्हणतात–

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्।।१२।।

जे तेज सूर्यामध्ये असून संपूर्ण जगाला प्रकाशित करते, जे तेज चंद्रामध्ये आहे, जे तेज अग्नीमध्ये आहे, ते तेज माझेच आहे असे तू जाण. आता या महापुरुषाचे कार्य सांगताना ते म्हणतात–

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः।।१३।।

मीच पृथ्वीमध्ये प्रवेश करून आपल्या शक्तीने सर्व भूतांचे धारण करतो आणि मीच चंद्राच्या ठायी रसस्वरूप होऊन सर्व वनस्पतींचे पोषण करतो.

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्।।१४।।

मीच सर्व प्राण्यांच्या शरीरात अग्नीरूपाने स्थित होऊन प्राण आणि अपानांनी युक्त असणारे चार प्रकारचे अन्न पचवितो.

चौथ्या अध्यायामध्ये स्वतः योगेश्वर श्रीकृष्णांनी इंद्रियाग्नी, संयमाग्नी, योगाग्नी, प्राण-अपनाग्नी, ब्रह्माग्नी इत्यादी तेरा-चौदा अग्नींचा उल्लेख केलेला आहे; ज्यामध्ये सर्वांचा परिपाक ज्ञान आहे. ज्ञान हाच अग्नी आहे. श्रीकृष्ण म्हणतात, असा अग्निरूप होऊन प्राण आणि अपानांनी युक्त असणाऱ्या चार विधींनी (जप नेहमी श्वास-प्रश्वासांनी होत असतो. तो करण्याच्या चार पद्धती वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ति आणि परा यांनी) तयार होणाऱ्या अन्नाला मी पचवितो.

श्रीकृष्णांच्या मतानुसार ब्रह्म हे एकमात्र अन्न आहे. ज्याच्यामुळे आत्म्याची पूर्णपणे तृप्ती होते व तो पुन्हा कधीही अतृप्त राहत नाही. शरीराचे पोषण करणाऱ्या, प्रचलित असणाऱ्या अन्नाला योगेश्वरांनी आहाराची संज्ञा दिली आहे. (युक्ताहार.....।) वास्तविक अन्न म्हणजे परमात्मा आहे. वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ति आणि परा या चार पद्धतीरूपी भट्टीतून निघून ते अन्न परिपक्व होते. यालाच अनेक महापुरुषांनी नाम, रूपलीला व धाम असे म्हंटले आहे. प्रथम नामाचा जप असतो. त्यानंतर हृदयरूपी देशात प्रथम इष्टदेवाचे स्वरूप प्रकट होते. त्यानंतर ईश्वराच्या लीलेचा म्हणजे जगात तो कणाकणामध्ये कसा भरून राहिलेला आहे त्याचा बोध होतो. त्यानंतर तो कशा प्रकारे सर्वत्र कार्य करतो? या प्रकारे सर्व ईश्वरी लीलांचे त्याच्या क्रियारूपी कलापाचे (पिसाऱ्याचे) हृदयदेशात दर्शन होते. हे दर्शन म्हणजेच ईश्वरी लीला होय (बाहेरील रामलीला, रासलीला, नाही.) आणि या ईश्वरीय लीलांची प्रत्यक्ष अनुभूती घेत घेत जेव्हा त्या मूळ लीलाधारी ईश्वराचा स्पर्श होतो तेव्हा धामाची स्थिती प्राप्त होते. या स्थितीला जाणून साधक त्यात प्रतिष्ठित होतो. त्यात प्रतिष्ठित होणे आणि परावाणीच्या परिपक्व अवस्थेमध्ये परब्रह्माचा स्पर्श होऊन त्यात एकरूप होणे या दोन्ही गोष्टी एकाच वेळी बरोबर होत असतात.

याप्रकारे प्राण आणि अपान अर्थात श्वास आणि प्रश्वासाने (उच्छ्‌वासाने) परिपूर्ण होऊन चार विधींनी म्हणजेच वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ति आणि क्रमशः

उत्थान होत होत 'परा' वाणीच्या पूर्तिकालात ते 'अन्न' ब्रह्म परिपक्व होऊन जाते, प्राप्तही होते, पचलेही जाते.

सर्वस्य चाहं हृदिसंनिविष्टो मत्तःस्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्।।१५।।

सर्व प्राण्यांच्या हृदयात मीच स्थित आहे. माझ्यापासूनच स्वरूपाची स्मृती (जो परमतत्त्व परमात्मा विस्मृत आहे त्याचे स्मरण होणे) होते, स्मृतीबरोबरच ज्ञान (साक्षात्कार) आणि अपोहनं अर्थात सर्व अडचणींचे निराकरण मज परमात्म्यापासूनच होत असते. सर्व वेदांकडून मीच जाणण्यास योग्य आहे. वेदान्ताचा कर्ता अर्थात '**वेदस्य अन्तः सः वेदान्तः।**' (तो अलग होता म्हणून तर त्याचा परिचय झाला. जाणणारा त्याच स्वरूपात प्रतिष्ठित झाल्यानंतर कोण कोणाला जाणणार?) वेदाचा अंतिम कर्ता ज्ञाता मीच आहे आणि '**वेदवित्**' ही मीच आहे. या अध्यायाच्या प्रारंभी त्यांनी सांगितले होते की, संसार हा वृक्ष आहे. त्याचे परमात्मारूपी मूळ वर आहे व प्रकृतिरूपी त्याच्या शाखा (फांद्या) खाली पसरल्या आहेत. जो या मुळापासून प्रकृतीचे विभाजन करू जाणतो, त्या मुळाला जो जाणतो तो वेदवित् आहे. '**मी वेदवित् आहे**' श्रीकृष्णही एक तत्त्वज्ञ महापुरुष, योगीजनांपैकी परमयोगी होते. येथे हा प्रश्न पूर्ण झाला. आता पुढे या जगात दोन प्रकारचे पुरुष आहेत हे सांगितले आहे.

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।।१६।।

अर्जुना, या संसारात '**क्षर**' म्हणजे क्षय होणारे, परिवर्तनशील असणारे आणि '**अक्षर**' म्हणजे अपरिवर्तनशील असे दोन प्रकारचे पुरुष आहेत. त्यामध्ये सर्व भूतप्राण्यांचे शरीर नाशवंत आहे ते क्षर पुरुष होत. आणि सर्वांच्या अंतर्यामी असणारे मायोपाधीने युक्त असे जे चैतन्य, कूटस्थ पुरुष अक्षर आहे, अविनाशी आहे. साधनेद्वारा मनासहित इंद्रियांचा निरोध म्हणजे ज्याचे इंद्रिय-समूह कूटस्थ(निष्क्रीय) आहेत त्याला अक्षर म्हंटले जाते. परंतु हीदेखील पुरुषाची एक विशेष अवस्था आहे. या दोघांच्याही पलीकडे एक अन्य पुरुष आहे.

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः।।१७।।

या दोहोंकडून अत्यंत उत्तम पुरुष तर दुसराच आहे. जो तीन लोकांत प्रवेश करून सर्वांचे भरण-पोषण करतो त्याला अविनाशी, परमात्मा, ईश्वर असे म्हटले आहे. अव्यक्त, अविनाशी, पुरुषोत्तम इत्यादी त्या परमात्म्याचे परिचायक शब्द आहेत. वास्तविक हा परमात्मा सर्वांहून भिन्न आहे, अर्थात अनिर्वचनीय आहे. ही क्षर व अक्षराच्या पलीकडे असणाऱ्या महापुरुषाची अंतिम अवस्था आहे. त्यालाच परमात्मा इत्यादी शब्दांनी सूचित केले आहे. परंतु तो सर्वांहून भिन्न आहे अर्थात, अनिर्वचनीय आहे. याच संदर्भात पुढील श्लोकात श्रीकृष्णांनी स्वतःचा परिचय करून दिला आहे.

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः।।१८।।

वर सांगितलेल्या नाशवंत, परिवर्तनशील क्षर पुरुषाच्या मी पलीकडचा आहे आणि अक्षर, अविनाशी अशा कूटस्थ पुरुषापेक्षाही मी उत्तम आहे. म्हणून जगामध्ये व वेदांमध्ये मी पुरुषोत्तम नावाने प्रसिद्ध आहे.

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत।।१९।।

हे भारत, जसे वर सांगितले गेले आहे त्या प्रकारे जो ज्ञानी पुरुष मला, पुरुषोत्तमाला प्रत्यक्ष जाणतो- ओळखतो तो सर्वज्ञ पुरुष सर्व प्रकारांनी मला, परमात्म्यालाच भजतो. तो माझ्याहून निराळा असत नाही.

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत।।२०।।

हे निष्पाप अर्जुना, या प्रकारे अत्यंत गुह्य, रहस्ययुक्त शास्त्र मी तुला सांगितले ते तत्त्वतः जाणल्याने मनुष्य पूर्ण ज्ञानी आणि कृतार्थ होतो. म्हणून योगेश्वर श्रीकृष्णांची ही वाणी स्वंतत्रपणे एक शास्त्र आहे.

श्रीकृष्णाचे हे रहस्य अत्यंत गुप्त होते. त्यांनी ते केवळ आपल्या प्रेमळ भक्तानांच सांगितले होते. हे रहस्यदान फक्त अधिकारी व्यक्तींसाठीच होते,

सर्वांसाठी नव्हते. परंतु जेव्हा हे रहस्यशास्त्र लिहिले जाते तेव्हा ते पुस्तकरूपाने सर्वांपुढे येते, तेव्हा सर्वांना वाटते की, श्रीकृष्णांनी हे रहस्य सर्वांसाठी सांगितले आहे; वास्तविक हे रहस्यज्ञान फक्त अधिकारी व्यक्तींसाठीच आहे. श्रीकृष्णाचे हे दिव्य स्वरूप इतरांसाठी नव्हतेच. कोणी त्याला राजा समजत होते, कोणी दूत तर कोणी त्याला यादव समजत होते. मात्र रहस्यज्ञानाचे अधिकारी पुरुष मात्र श्रीकृष्णाला अशी एक परकी व्यक्ती समजले नाहीत कारण ते जाणत होते की, श्रीकृष्ण म्हणजे परमसत्य पुरुषोत्तम आहे; आणि दुरावा ठेवला असता तर त्यांचे कधी कल्याणच झाले नसते.

हे वैशिष्ट्य ईश्वरप्राप्ती झालेल्या प्रत्येक महापुरुषांमध्ये आढळून येते. एकदा रामकृष्ण परमहंस खूप प्रसन्न होते. भक्तांनी त्यांना विचारले– "आज तर आपण खूप प्रसन्न दिसत आहात" – त्यावर ते उत्तरले– "आज तर मी 'तो' परमहंस झालो आहे" असे म्हणून त्यांच्या समकालीन असणाऱ्या एका परमहंस चांगल्या व्यक्तीकडे त्यांनी संकेत केला. थोड्या वेळाने मन–क्रम–वचनापासून विरक्तीच्या आशेने आपल्यामागे लागलेल्या साधकांना ते म्हणाले– "पाहा! आता तुम्ही लोकांनी मनात कसलाही किंतू ठेवू नका. संदेह करू नका. मी तोच राम आहे जो त्रेतायुगामध्ये झाला होता. मी तोच कृष्ण आहे जो द्वापारयुगामध्ये झाला होता. मी त्याचाच पवित्र आत्मा आहे, त्याचेच स्वरूप आहे. जर मिळवायचे असेल, जर इष्टाची प्राप्ती करून घ्यावयाची असेल तर मला पाहा."

अगदी अशाच प्रकारे 'पुज्य गुरू महाराजही' सर्वांना सांगायचे– "हो! मी भगवंताचा दूत आहे. जो खरोखर संत आहे तो भगवंताचा दूत असतो. आमच्याकडूनच त्यांचा संदेश सर्वांना प्राप्त होत असतो." येशू ख्रिस्तांनी सांगितले– "मी भगवंताचा पुत्र आहे. तुम्ही माझ्याजवळ या. म्हणजे तुम्हालाही त्या ईश्वराची मुले असे म्हटले जाईल. तुम्हीही त्याचे पुत्र होऊ शकाल" अर्थात जवळ येण्याचा अर्थ ईश्वराला प्राप्त करण्यासाठी साधना करणे, साधना क्रमात राहून ती पूर्ण करणे असा आहे. महंम्मद साहेबांनी सांगितले की "मी अल्लाचा रसूल आहे, मी संदेशवाहक आहे" 'पूज्य महाराजश्रीही

कोणत्याही विचाराचे खंडन किंवा मंडन न करता विरक्तीच्या मागे लागलेल्यांना एवढेच म्हणत– "केवळ माझ्या स्वरूपाला पाहा. जर तुम्हांला परमतत्त्वाची ओढ असेल तर मला पाहा. संदेह करू नका. अनेकांनी संदेह केला तर त्यांना अनुभवात दाखवून तसेच योगेश्वर श्रीकृष्णाच्या मतानुसार (अध्याय २/४०–४३) ज्यात अनंत पूजा पद्धती आहेत त्या बाह्य विचारांपासून दमदाटीने रागावून त्यापासून हटवून आपल्या स्वरूपाच्या ठिकाणी लावले. ते अद्यापही महापुरुषाच्या रूपात राहिलेले आहेत. या प्रकारे श्रीकृष्णाची आपली स्थिती गुप्त तर होतीच. परंतु आपला अनन्य–भक्त, पुर्ण अधिकारी, व अत्यंत प्रिय भक्त अर्जुनासाठी त्यांनी ती उघड केली. ते रहस्य प्रकट केले. प्रत्येक भक्तासाठी हे शक्य आहे. महापुरुष लाखो भक्तांना या रस्त्यावर आणून ठेवतात.

निष्कर्ष–

या अध्यायात आरंभी योगेश्वर श्रीकृष्णांनी सांगितले आहे की, संसार हा एक वृक्ष आहे. तो पिंपळासारखा एक वृक्ष आहे. येथे पिंपळ हे फक्त एक उदाहरण आहे. त्याचे परमात्मारूपी मूळ वर असते आणि प्रकृतीरूपी त्यांच्या फांद्या खाली पसरल्या आहेत. जो या वृक्षाला मुळासह समजून घेतो तो वेदांनाही जाणणारा आहे, वेदांचा ज्ञाता आहे. या संसाररूपी वृक्षाच्या फांद्या वर आणि खाली सर्वत्र पसरलेल्या आहेत आणि 'मूलादि'– त्याचे मूळ वर आहे. कारण ते मूळ म्हणजे ईश्वर आहे व तोच बीजरूपाने प्रत्येक जीवाच्या हृदयात वास करीत असतो.

एक पौराणिक कथा आहे की, एकदा ब्रह्माजी कमळावर बसून विचार करीत होते की, माझा उद्‍गम कोठून झाला आहे? आणि मग जेथून उत्पन्न झाले त्या कमळाच्या पोकळ देठात त्यांनी प्रवेश केला. सतत चालत राहिले; परंतु ते आपले उद्‍गम स्थान पाहू शकले नाहीत. तेव्हा हताश होऊन तेथून ते परतले आणि आपल्या कमलरूपी आसनावर बसले. तेथे बसून त्यांनी चित्ताचा निग्रह करायला सुरुवात केली आणि ध्यानाच्या योगाने आपला मूळ उद्‍गम प्राप्त केला. परमतत्त्वाचा साक्षात्कार केला. इष्टाची स्तुती केली.

तेव्हा परमस्वरूपाकडून आदेश मिळाला की, मी जरी सर्वत्र व्यापून असलो तरी माझ्या प्राप्तीचे स्थान हृदय आहे. हृदयरूपी देशात जो माझे ध्यान करतो तो मला प्राप्त करू शकतो.

येथे ब्रह्मा एक प्रतीक आहे. योगसाधनेतील एक परिपक्व अवस्थेत या स्थितीची जागृती होत असते. ईश्वराकडे उन्मुख असणाऱ्या ब्रह्मविद्येशी संयुक्त असलेली बुद्धीच ब्रह्मा आहे. कमळ पाण्यात राहूनही निर्मल व निर्लेप राहत असते. बुद्धी जोपर्यंत इकडेतिकडे शोधत फिरते तोपर्यंत काही मिळवू शकत नाही, परंतु जेव्हा बुद्धी निर्मलतेच्या आसनावर बसून मनासहित इंद्रियांना आवरून हृदयरूपी देशात त्यांचा निग्रह करते, तेव्हा निग्रहाच्याही विलीनीकरणाच्या अवस्थेत आपल्याच हृदयात परमात्म्याला प्राप्त करते.

येथे योगेश्वर श्रीकृष्णाच्या मते संसार हा एक वृक्ष आहे, ज्याचे मूळ सर्वत्र आहे आणि फांद्याही सर्वत्र आहेत. '**कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके**' कर्मानुसार केवळ मनुष्य योनीमध्ये बंधन तयार करतो– तो तेथे बद्ध होतो. अन्य योनीतील प्राणिमात्र तर त्यांच्या कर्मानुसार भोग भोगीत असतात. म्हणून दृढ वैराग्यरूपी शस्त्राने हा संसाररूपी वृक्ष तू छेदून टाक आणि त्या परमपदाचा शोध घे. या परमपदाचे ठिकाणी गेलेल्या महर्षींना पुनर्जन्म प्राप्त होत नाही.

संसारवृक्ष कापला गेला हे कसे जाणावे? योगेश्वर म्हणतात की जो अहंकार व मोहरहित आहे, म्हणजे त्यापासून जो अलिप्त आहे, ज्याने संगदोष जिंकला आहे, ज्याच्या कामना निवृत्त झाल्या आहेत आणि जो द्वंद्वापासून मुक्त आहे त्या पुरुषाला परमतत्त्वाची प्राप्ती होते. त्या परमपदाला सूर्य, चंद्र, किंवा अग्नी प्रकाशित करू शकत नाहीत. ते स्वयं प्रकाशरूप आहे. या परमपदाचे ठिकाणी गेलेले लोक पुन्हा परत फिरत नाहीत. ते परमपद म्हणजेच माझे परमधाम आहे. हे परमपद प्राप्त करण्याचा अधिकार सर्वांना आहे कारण की, हा जीवात्मा म्हणजे माझाच शुद्ध अंश आहे.

देहत्याग करते वेळी जीवात्मा मन आणि पाच ज्ञानेंद्रियाच्या कार्यसमूहासह नवीन शरीर धारण करतो. संस्कार सात्त्विक असतील तर तो सात्त्विक स्तरावर पोहचतो. संस्कार राजसी असतील तर तो मध्य स्थानावर आणि संस्कार तामसी असतील तर तो नीच योनीमध्ये पोहचतो. तसेच इंद्रियांचा अधिष्ठाता जे मन त्याच्या माध्यमातून विषयांना तो पाहतो व भोगतो. तो साध्या डोळयांनी दिसत नाही. त्याच्याकडे ज्ञानरूपी दृष्टीने पाहता येते. काही आठवणे, स्मरण करणे, म्हणजे ज्ञान नव्हे. योगीजन हृदयामध्ये चित्ताला गोळा करून प्रयत्न करीत असतात तेव्हा त्याला ते पाहू शकतात. म्हणून ज्ञान हे साधनागम्य आहे. हो! अध्ययनाने त्याच्या बाबतीत आवड निर्माण होते. तथापि संशययुक्त, अकृतात्मा असणारे लोक प्रयत्न करूनही त्याला प्राप्त करू शकत नाहीत.

येथे प्राप्तिस्थानाचे चित्रण आहे. त्यामुळे त्या अवस्थेतील विभूतींचा प्रवाह येथे येणे (सांगणे) स्वाभाविकच आहे. त्यांवर प्रकाश टाकताना योगेश्वर श्रीकृष्ण म्हणतात की सूर्य आणि चंद्र यांच्यामध्ये मी प्रकाश आहे. अग्नीमध्ये मी तेज आहे. प्रचंड अग्निरूपाने चार विधींनी परिपक्व होणारे अन्न मीच पचवतो. श्रीकृष्णाच्या शब्दात सांगावयाचे झाले तर अन्न हे एकमात्र ब्रह्म आहे. **अन्न ब्रह्म व्यजानात** ज्या उपनिषदातून श्रीकृष्णांनी हे घेतले आहे त्याचाच हा निर्णय आहे. हे प्राप्त झाल्यावर हा आत्मा तृप्त होतो. वैखरीपासून परापर्यंत अन्न पूर्ण परिपक्व होऊन तयार होते. ते पात्रपण हरवते. या अन्नाला मीच पचवतो. अर्थात सद्‌गुरू जोपर्यंत रथी नसतो तोपर्यंत ही प्राप्ती होत नाही.

यावर भर देत योगेश्वर श्रीकृष्ण पुन्हा सांगतात की, सर्व प्राणिमात्रांच्या अंतर्यामी राहून मीच स्मृती देववितो. जे स्वरूप विस्मृत होते त्याचे पुन्हा स्मरण देववितो. स्मृतीबरोबर प्राप्त होणारे ज्ञानदेखील मीच आहे. त्यात येणाऱ्या अडचणींचे निवारणही माझ्याकडूनच होते. मीच जाणण्यास योग्य असा आहे. आणि मी विदित झाल्यानंतर त्याच्या जाणकारीचा अन्तकर्ताही मीच असतो. कोण कोणाला जाणणार? मी वेदवित् आहे. अध्यायाच्या

प्रारंभीच श्रीकृष्णानी सांगितले होते की, संसारवृक्षाला मुळासहित जाणतो, तो वेदवित् आहे. त्या वेदवित्मध्ये श्रीकृष्ण स्वतःची पण गणना करतात, म्हणून येथे वेदवित पुरुषोत्तमाला प्राप्त करून घेण्याचा अधिकार मानवमात्राला आहे.

शेवटी त्यांनी सांगितले की या लोकामध्ये तीन प्रकारचे पुरुष आहेत. भूतादिकांची संपूर्ण शरीरे क्षर आहेत. मनाच्या उच्चतम अवस्थेत हाच पुरुष अक्षर असतो; परंतु तो द्वंद्वात्मक असतो. आणि याच्याही पलीकडे जो परमात्मा, परमेश्वर, अव्यक्त, अविनाशी म्हंटला जातो, तो वास्तविक दुसराच असतो. ही क्षर–अक्षराच्या पलीकडची अवस्था आहे. हीच परमस्थिती आहे. इथे स्वतःचा परिचय देताना योगेश्वर म्हणतात की मीही या क्षर–अक्षराच्या पलीकडे गेलेलो असल्याने लोक मला पुरुषोत्तम म्हणतात. या प्रकारे उत्तम पुरुषाला जे जाणतात ते ज्ञानी भक्तजन सदैव व सर्व प्रकारे मलाच भजतात. त्यांच्या जाणण्यात कसलाही दुरावा किंवा अंतर असत नाही. अर्जुना, हे अत्यंत गोपनीय असे रहस्य मी फक्त तुझ्यासाठी सांगितले आहे. ज्यांना परमस्थिती प्राप्त झाली आहे असे महापुरुष सर्वांच्यासमोर काही सांगत नाहीत; परंतु अधिकारी व्यक्तीबरोबर ते दुरावा किंवा अंतर ठेवत नाहीत. दुरावा ठेवला तर त्या परमपदाची प्राप्ती कशी होणार?

या अध्यायात आत्म्याच्या तीन स्थितींचे तीन स्तरांचे किंवा प्रकारांचे चित्रण केले आहे. क्षर, अक्षर आणि अति उत्तम पुरुष अशा रूपात त्याला स्पष्ट केले आहे. यापूर्वीच्या कोणत्याही अध्यायात हे आत्म्याचे स्वरूप स्पष्ट केलेले नाही.

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे 'पुरुषोत्तम योगो' नाम पञ्चदशोऽध्यायः।।१५।।

याप्रमाणे श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषदातील ब्रह्मविद्यांतर्गत योगशास्त्रातील श्रीकृष्ण आणि अर्जुन यांच्या संवादातील 'पुरुषोत्तम योग' नावाचा पंधरावा अध्याय समाप्त झाला.

इति श्रीमत्परमहंस परमानन्दस्य शिष्य स्वामी अड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्भगवद्गीतायाः 'यथार्थ गीता' भाष्ये 'पुरुषोत्तम योगो' नाम पञ्चदशोऽध्यायः।।१५।।

अशा प्रकारे श्रीमत्परमहंस परमानन्दजींचे शिष्य स्वामी अड़गड़ानन्दकृत श्रीमद्भगवद्गीतेवरील भाष्य 'यथार्थ गीता' यामधील 'पुरुषोत्तम योग' नावाचा पंधरावा अध्याय समाप्त झाला.

।।हरि ॐ तत्सत्।।

ॐ

श्री परमात्मने नमः

।। अथ षोडशोऽध्यायः ।।

अध्याय सोळावा

योगेश्वर भगवान श्रीकृष्णांची एखाद्या विषयावर भाष्य करण्याची विशिष्ट शैली आहे. त्यांची एक विशिष्ट पद्धत आहे. प्रथम त्या विषयाच्या वैशिष्ट्याचा उल्लेख करतात. तो उल्लेख पण असा असतो की लोक त्या विषयाकडे आकर्षित होतात. त्यानंतर त्या विषयाचे ते विवरण करतात. उदाहरणासाठी 'कर्म' हा विषय घ्या. त्यांनी दुसऱ्या अध्यायातच अर्जुनाला कर्म करण्याची प्रेरणा दिली. कर्मासाठी प्रोत्साहित केले. तिसऱ्या अध्यायात त्यांनी सूचित केले की, 'अर्जुना निर्धारित कर्म कर' पण निर्धारित कर्म म्हणजे काय? ते स्पष्ट करताना त्यांनी सांगितले की, यज्ञाची प्रक्रिया म्हणजेच कर्म होय. परंतु त्यांनी यज्ञाचे स्वरूप प्रथम न सांगता प्रथम त्यांनी तो यज्ञ कोठून आला आणि तो मनुष्याला काय देतो ते सांगितले. पुढे चौथ्या अध्यायात तेरा-चौदा विधी सांगून यज्ञाचे स्वरूप स्पष्ट केले व सांगितले की हे यज्ञविधी म्हणजेच कर्म होय. येथे कर्माचेही स्वरूप अगदी स्पष्ट केले व सांगितले की, कर्माचा शुद्ध अर्थ म्हणजे योग, चिंतन, आराधना व हे शुद्ध कर्म मनुष्याचे मन व इंद्रियांच्या क्रियांनी संपन्न होते.

या प्रकारे नवव्या अध्यायात त्यांनी दैवी आणि आसुरी संपदेवर भाष्य केले आहे. त्यांचे वैशिष्ट्य सांगताना ते म्हणाले की अर्जुना, आसुरी स्वभावाचे लोक मला तुच्छ लेखतात. मी मनुष्यशरीराचा आधार आहे कारण मनुष्यशरीरामुळेच मला ही स्थिती प्राप्त झाली आहे. परंतु आसुरी स्वभावाचे मूढ लोक मला भजत नाहीत. या उलट दैवी संपदेने युक्त असणारे भक्तजन अनन्य श्रद्धेने माझी उपासना करतात. तथापि दैवी व आसुरी या दोन्ही

संपदांचे स्वरूप, त्यांची रचना या गोष्टींबाबत त्यांनी अद्याप चर्चा केली नाही. आता अध्याय सोळाव्यामध्ये त्या दोन्ही संपदांचे स्वरूप स्पष्ट केले आहे. यामध्ये प्रथम त्यांनी दैवी संपदेचे लक्षण सांगितले आहे.

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्।।१।।

निर्भयता, अंतःकरणाची शुद्धता म्हणजेच सात्त्विकता, तत्त्वज्ञानासाठी ध्यानात दृढ स्थिती किंवा निरंतर निष्ठा, सर्वस्वाचे समर्पण, इंद्रियांचा निग्रह, यज्ञाचे आचरण, (जे स्वतः श्रीकृष्णांनी चौथ्या अध्यायात सांगितले आहे) संयमाग्नीमध्ये हवन, इंद्रियाग्नीमध्ये हवन, प्राण-अपानात हवन आणि शेवटी ज्ञानाग्नीमध्ये हवन, अर्थात आराधनेची प्रक्रिया जी केवळ मन व इंद्रियांच्या अंतरंगातील प्रक्रियेने संपन्न होत असते. तीळ, जव, वेदी इत्यादी सामग्रीनी होणाऱ्या यज्ञाचा गीतोक्त यज्ञाशी काही संबंध नाही. श्रीकृष्णांनी अशा कोणत्या कर्मकांडाला यज्ञ म्हटलेले नाही. स्वाध्याय अर्थात स्वस्वरूपाकडे वळण देणे तसेच 'आर्जवम' शरीर आणि इंद्रियांसहित अंतःकरणाची सरळता -

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्।।२।।

अहिंसा म्हणजेच आत्म्याचा उद्धार (आत्म्याला अधोगतीकडे नेणे म्हणजेच हिंसा होय. श्रीकृष्ण म्हणतात - जर सावधानपूर्वक कर्मामध्ये निमग्न राहिलो नाही तर मी या संपूर्ण प्रजेला ठार मारणारा किंवा संपूर्ण प्रजेचा नष्टकर्ता आणि वर्णसंकरकर्ता ठरेन. आत्म्याचा शुद्ध वर्ण आहे - परमात्मा! त्याचे प्रकृतीमध्ये भरकटणे म्हणजे वर्णसंकर होय, आत्म्याची हिंसा करणे होय आणि आत्म्याचा उद्धार म्हणजे अहिंसा होय) सत्य (सत्य म्हणजे यथार्थ आणि प्रिय भाषण नव्हे. तुम्ही जेव्हा म्हणता की हे वस्त्र माझे आहे, तेव्हा तुम्ही खरे बोलत असता का? यापेक्षा अधिक खोटी गोष्ट आणखी कोणती असेल? जर शरीरच आपले नाही, ते नश्वर आहे तर मग त्या शरीराला आच्छादणारे वस्त्र आपले आहे असे कसे म्हणता येईल? वास्तविक सत्याचे

स्वरूप योगेश्वरांनी स्वतः सांगितले आहे की, अर्जुना, सत्य वस्तूचा तिन्ही काळात अभाव असत नाही. आत्मा हेच सत्य आहे, तेच परम सत्य आहे – या सत्यावरच सतत लक्ष ठेवणे.), क्रोधाचा अभाव, सर्वस्वाचे समर्पण, शुभाशुभ कर्मफलाचा त्याग, चित्ताचे निरंतर स्थैर्य (चित्ताच्या चंचलतेचा अभाव), लक्ष्याचा विपरीत असणारी निंद्य कृत्ये न करणे, सर्व प्राणिमात्रांच्या ठिकाणी दयाभाव, इंद्रियांचा विषयांशी संयोग झाल्यानंतरही त्यामध्ये आसक्त न होणे, कोमलता, आपल्या लक्ष्यापासून विमुख वाटणारी लज्जा, निरर्थक चेष्टांचा – क्रियेचा अभाव तसेच –

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत।।३।।

तेज (जे एकमात्र ईश्वरात आहे. त्या तेजाने तो कार्य करीत असतो. महात्मा बुद्धांची दृष्टी अंगुलीमालावर पडताच त्याचे विचारात बदल झाला. हा त्या तेजाचा परिणाम होता; ज्याच्यामुळे कल्याणाची निर्मिती होते. ते तेज बुद्धामध्ये होते.) क्षमा, धैर्य, शुद्धता (पावित्र्य), मनात शत्रुत्वाची दुष्ट भावना नसणे, अभिमान नसणे, हे सर्व दैवी संपदेची लक्षणे आहेत. या प्रकारे दैवी संपदेची सव्वीस लक्षणे सांगितली आहेत. ती सर्वच्या सर्व योगसाधनेत परिपक्व असणाऱ्या पुरुषामध्ये दिसून येतात. हे अर्जुना, आंशिक रूपाने ती तुझ्यामध्येही निश्चितपणे आहेत. तसेच आसुरी संपदेने युक्त असणाऱ्या मनुष्यालासुद्धा कल्याणाचा अधिकार असतो. आता आसुरी संपदेची प्रमुख लक्षण सांगताना ते म्हणतात –

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्।।४।।

हे पार्था, दांभिकपणा, घमेंड, अभिमान, क्रोध, कठोर वाणी आणि अज्ञान हे सर्व आसुरी संपदेने युक्त असणाऱ्या पुरुषाची लक्षणे आहेत. या दोन्ही संपदांचे कार्य काय असते?

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव।।५।।

या दोन्ही प्रकारच्या संपदांमध्ये दैवी संपदा तर '**विमोक्षाय**' मोक्षाला कारण होते; आणि आसुरी संपदा बंधनाला कारण होते असे समजले जाते. हे अर्जुना तू दैवी संपदेच्या गुणांनी युक्त आहेस, तेव्हा तू शोक करू नकोस. तुला मोक्षप्राप्ती होईल अर्थात् तू मला प्राप्त होशील. या संपदांचा वास कोठे असतो?

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु।।६।।

हे अर्जुना, ह्या लोकी प्राण्यांचे स्वभाव दोन प्रकारचे असतात. एक देवांसारखा सद्गुणी-दैवी संपदेने युक्त असणारा व दुसरा असुरांसारखा म्हणजे आसुरी गुणांनी युक्त असणारा. जेव्हा हृदयात दैवी संपदा कार्यान्वित असते तेव्हा तो मनुष्यच देवता असतो आणि जेव्हा मनुष्याच्या हृदयात आसुरी संपदेचे प्राबल्य होते तेव्हा तो मनुष्य असुर असतो. सृष्टिमध्ये फक्त या दोनच जाती असतात. मग मनुष्य अरब देशात जन्माला येवो की ऑस्ट्रेलियात जन्माला येवो. या दोन प्रकारचीच माणसे जन्माला येतात. आतापर्यंत दैवी संपत्तीने युक्त असणाऱ्या लोकांचा स्वभाव विस्ताराने सांगितला. आता आसुरांचा स्वभाव माझ्याकडून श्रवण कर -

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते।।७।।

हे अर्जुना, आसुरी स्वभावाचे लोक '**कार्यम् कार्य**' म्हणजे धर्माच्या ठिकाणी-कर्मामध्ये प्रवृत्त होणे आणि अधर्माच्या ठिकाणी निवृत्त होणे हे जाणत नाहीत. त्यामुळे त्यांच्यामध्ये ना पावित्र्य असते, ना सदाचरण, ना सत्याबद्दल आस्था असते. मग त्या पुरुषांचे विचार कसे असतात?

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम्।।८।।

हे आसुरी प्रवृत्तीचे लोक म्हणतात की, हे जग आश्रयरहित-निराधार आहे. ते असत्य आहे. हे ईश्वररहित आहे. स्त्रीपुरुषांच्या परस्पर संयोगातून आपोआप निर्माण झाले आहे. म्हणून ते फक्त भोग भोगण्यासाठी आहे. याशिवाय या जगात दुसरे काय आहे?

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः।।९।।

अशा मिथ्या दृष्टिकोणाचा अवलंब केल्याने ज्यांचे ज्ञान नष्ट झाले आहे; ते अल्प बुद्धी, उग्रकर्मी, अपकारी, पातकी लोक जगताच्या नाशासाठीच उत्पन्न होतात.

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः।।१०।।

दांभिकपणा, अहंपणा व उन्मत्तपणा यांनी युक्त असलेले लोक, कधीही तृप्त न होणाऱ्या कामवासनेचा आश्रय करून, अज्ञानाने चुकीचे विचार–सिद्धांत मनात योजून, अशुभ तसेच भ्रष्ट व्रते या जगात करण्यास प्रवृत्त होतात. ते व्रत करतात; पण ते भ्रष्ट–पापाचरण करणारे असतात.

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः।।११।।

ते अंतिम श्वासापर्यंत अनंत चिंता वाहत जगतात आणि विषयभोगामध्ये तत्पर असणारे ते 'बस, जीवनात हाच एकमेव आनंद आहे' असे मानतात. त्यांना असे वाटते की जितके शक्य आहे तितका भोगसंग्रह करा–कामोपभोग हेच अंतिम साध्य आहे. त्याच्यानंतर काहीही नाही.

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान्।।१२।।

आशारूपी शेकडो फासांनी (एका फासाने लोक मरून जातात. येथे शेकडो फासांनी) बांधले गेलेले–बद्ध झालेले, कामक्रोध परायण असलेले, विषयभोगांच्या पूर्तीसाठी अन्यायाच्या मार्गाने पुष्कळ द्रव्यसंचय करण्याची हाव धरतात. त्यामुळे धनाच्या लोभाने रात्रंदिवस ते असमाजिक कामे करण्यास प्रवृत्त होतात. ते पुढे म्हणतात –

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्।।१३।।

ते असा विचार करतात की, आज मी इतके मिळविले आहे, आता माझे मनोरथ मी तडीस नेईन. माझ्याजवळ आज इतके धन आहे. आणखीही एवढे धन मी मिळवेन.

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी।।१४।।

या शत्रूस आज मी ठार केले आता दुसऱ्या शत्रूंनाही मी ठार करेन. मीच ईश्वर आहे, मीच ऐश्वर्य भोगणारा आहे. मीच सिध्दींनी युक्त, बलवान आणि सुखी आहे.

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः।।१५।।

मी मोठा धनवान आहे, मी कुलीन आहे, माझ्यासारखा दुसरा कोण आहे? मी यज्ञ करेन, मी दान देईन, ? ते मोहित झालेले असतात. पण यज्ञ, दान या गोष्टींही अज्ञानमूलक समजायच्या का? पुढे सतराव्या श्लोकात योगेश्वरांनी ते स्पष्ट केले आहे. अर्थात एवढ्यावरच ते थांबत नाहीत. जे अनेक भ्रांतीची-भ्रममूलक विचारांची शिकार बनलेले असतात, अशा लोकांविषयी योगेश्वर म्हणतात –

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ।।१६।।

अनेक प्रकारच्या कल्पनांनी चित्त भ्रमण पावलेले, मोहरुपी जाळयात गुरफटलेले, विषयभोगांत अत्यंत आसक्त असणारे व आसुरी वृत्तीचे लोक शेवटी अपवित्र अशा नरकात पडतात. पुढे श्रीकृष्णांनी स्वतः 'नरक' म्हणजे काय ते सांगितले आहे.

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्।।१७।।

आपल्या स्वतःला श्रेष्ठ समजणारे संपत्ती व मान यांच्या मदाने उन्मत झालेले हे अहंकारी लोक शास्त्रविधींचे अनुसरण न करता केवळ

नावापुरते यज्ञ करून त्या द्वारे दांभिकपणाचेच यजन करतात. त्याला यज्ञ म्हणायचे का?

नाही. ते खरे यज्ञ नव्हेत. कारण त्यांचे यज्ञ विधीपूर्वक नसतात. यज्ञाचे विधी योगेश्वर श्रीकृष्णांनी स्वतः सांगितले आहेत. (अध्याय ४/२४-३३ तसेच अध्याय ६/१०-१७)

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः।।१८।।

ते दुसऱ्यांची निंदा करणारे, अहंकार, सामर्थ्य, घमेंड, कामवासना आणि क्रोध या दुर्गुणांनी भरलेले लोक आपल्या स्वतःच्या व दुसऱ्याच्या शरीरात स्थित असणाऱ्या माझ्या परमात्म्याचा द्वेष करतात. शास्त्रविधीने परमात्म्याचे स्मरण हा एक यज्ञ आहे. जे ह्या विधींना सोडून केवळ नावापुरते यज्ञ करतात किंवा यज्ञाच्या नावावर काही ना काही भलतेच करतात, ते आपल्या व दुसऱ्यांच्या शरीरात वास करणाऱ्या मज परमात्म्याचा द्वेष करणारे असतात. ते लोक द्वेष व निंदा करीतच राहतात आणि तरीही ते तरून जातात का? वाचू शकतात का? यावर श्रीकृष्ण सांगतात - नाही.

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु।।१९।।

माझा द्वेष करणाऱ्या त्या घोर, पापी, क्रूरकर्मी नराधमांना मी या सृष्टीमधील आसुरी योनीमध्ये कायमचा ढकलून देत असतो. जे शास्त्रविधींना सोडून यजन करतात ते पापयोनी आहेत, ते सर्वांमध्ये अधम आहेत. अशा लोकांना क्रूरकर्मी असे म्हंटले जाते. यांच्याशिवाय अन्य कोणी अधम नाहीत. मागे त्यांनी सांगितले की अशा प्रकारचे अधर्म कृत्य करणाऱ्या अधमांना मी नरकात ढकलून देत असतो, हाच नरक होय. साधारणतः बंदिवानाच्या यातना भयंकर असतात आणि येथे तर कायम आसुरी योनीत खितपत पडणे किती भयंकर आहे व म्हणूनच दैवी संपदा प्राप्त करण्यासाठी प्रयत्नशील राहिले पाहिजे.

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्।।२०।।

कौन्तेय, हे मूर्ख लोक जन्म-जन्मान्तरापर्यंत आसुरी योनीला प्राप्त होतात. ते मला प्राप्त होत नाहीत. उलट अति नीच योनीला प्राप्त होतात, अधम गतीला जातात, ज्याचे नाव नरक आहे. आता नरक कसा उत्पन्न होतो ते पहा.

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्।।२१।।

काम, क्रोध आणि लोभ असे तीन प्रकारचे नरकाचे मूल द्वार आहे. ते आत्म्याचा नाश करणारे व त्याला अधोगतीला नेणारे आहेत. म्हणून या तीन गोष्टींचा त्याग केला पाहिजे. त्यांचा त्याग करून काय लाभ?

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्।।२२।।

कौन्तेय, नरकाच्या या तीन द्वारांपासून मुक्त झालेला पुरुष आपल्या परम कल्याणासाठी अशा प्रकारचे आचरण करतो की ज्यामुळे त्याला परमगती प्राप्त होते. अर्थात तो मला प्राप्त होतो. या तीन विकारांचा त्याग केल्यानंतर मनुष्य नियत कर्म करू लागतो व त्याचा परिणाम परम श्रेय असतो. त्यामुळे त्याला श्रेष्ठ गती मिळते.

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्।।२३।।

जो पुरुष वरील शास्त्रमार्गाचा त्याग करुन (अर्थात ते शास्त्र म्हणजे 'इदं गुह्यतम् शास्त्रम्' (१५/२०) गीता स्वयं एक पूर्ण शास्त्र आहे, जे स्वतः श्रीकृष्णांनी सांगितले आहे. त्या शास्त्रविधीचा त्याग करुन) आपल्या इच्छेनुरूप म्हणजे मन मानेल तसे वागतो; त्याला ना सिद्धी प्राप्त होते, ना सुख, ना परमगती प्राप्त होते!

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि।।२४।।

यासाठी हे अर्जुना, कर्तव्य कोणते व अकर्तव्य कोणते-म्हणजेच मी काय करणे योग्य व काय करणे अयोग्य-ही व्यवस्था जाणून घेण्यासाठी

शास्त्र हेच तुला प्रमाण आहे. शास्त्रविधीमध्ये सांगितलेले नियत कर्म जाणून ते करणे हेच तुला योग्य आहे.

तिसऱ्या अध्यायात योगेश्वर श्रीकृष्णांनी ''**नियतं करु कर्म त्वं**'' नियत् कर्मावर भर दिला आणि सांगितले की, यज्ञप्रक्रिया हेच नियत् कर्म आहे आणि तो यज्ञ म्हणजे आराधनेच्या विधीविशेषाचे चित्रण आहे. हे शास्त्रविधी मनाचा सर्वथा निग्रह करून साधकाला ब्रह्मामध्ये प्रवेश देववतात. येथे त्यांनी सांगितले की, काम, क्रोध आणि लोभ ही नरकाची तीन मुख्य द्वारे आहेत. या तीन विकारांचा त्याग केल्यानंतरच त्या कर्माचा (नियत् कर्माचा) आरंभ होत असतो. या कर्माचे आचरण परमश्रेय व परमकल्याण देणारे असते, हे मी वारंवार सांगितले आहे. बाहेर सांसारिक कार्यात तो जितका व्यस्त असतो, त्यापेक्षाही अधिक काम, क्रोध आणि लोभ त्याच्यामध्ये जास्त गुंतलेला असतो. कर्म ही अशी वस्तू आहे की जी काम, क्रोध आणि लाभ यांचा त्याग केल्यानंतरच तिच्यामध्ये प्रवेश मिळतो. ते कर्म आचरणामध्ये प्रवाहित होते. जो मनुष्य शास्त्रविधींचा त्याग करुन आपल्या इच्छेप्रमाणे आचरण करतो अशा मनुष्याला सुखसिद्धी किंवा परम गती प्राप्त होत नाही. आता कर्तव्य आणि अकर्तव्य यांच्या व्यवस्थेमध्ये शास्त्र हे एकमात्र प्रमाण आहे. तेव्हा शास्त्रविधीच्यानुसार तू कर्म करणे उचित ठरेल आणि ते शास्त्र आहे गीता!

निष्कर्ष–

या अध्यायाच्या आरंभी योगेश्वर श्रीकृष्णांनी दैवी संपदेचे विस्ताराने वर्णन केले आहे. ज्यामध्ये ध्यानात निमग्नता, सर्वस्वाचे समर्पण, अंत:करणाचे पावित्र्य, इंद्रियांचा निग्रह, मनाची शांती, स्वरूपाचे स्मरण देवविणारे अध्ययन, यज्ञासाठी प्रयत्न, मनासहित इंद्रियांचे तापणे, अक्रोध, चित्ताचे शांतिपूर्वक प्रवाहित राहणे इत्यादी सव्वीस लक्षणे त्यांनी सांगितली आहेत. ती लक्षणे परमात्म्याच्या समीप पोहोचलेल्या, योगसाधनेत निरंतर प्रवृत्त असणाऱ्या साधकामध्येच ती सर्व दिसून येतात. अल्प प्रमाणात मात्र ही लक्षणे सर्वांमध्ये असतात.

त्यानंतर त्यांनी आसुरी संपदेमध्ये दिसून येणारे काही विकार सांगितले; जसे अभिमान, दांभिकता, कठोरता, अज्ञान इत्यादि! शेवटी त्यांनी सांगितले की, दैवी संपदा तर '**विमोक्षाय**' पूर्ण निवृत्तीसाठी असते, परमपदाच्या प्राप्तीसाठी असते, मोक्षप्राप्तीसाठी असते; तर आसुरी संपदा बंधनाकडे आणि अधोगतीकडे नेणारी असते. अर्जुना, तुझ्यामध्ये दैवी संपदेचे गुण असल्याने तू शोक करू नकोस.

या संपदांचा वास कोठे असतो? यावर श्रीकृष्णांनी सांगितले की, या लोकी माणसांचा स्वभाव दोन प्रकारचा असतो. एक देवतांसारखा आणि दुसरा आसुरांसारखा! जेव्हा दैवी संपदेचे बाहुल्य असते तेव्हा तो मनुष्य देवासारखा असतो व आसुरी संपेदेचे प्राबल्य वाढते तेव्हा तो मनुष्य आसुरासारखा असतो. या सृष्टीमध्ये माणसाच्या फक्त या दोनच जाती असतात. मग तो कुठेही जन्माला येवो किंवा त्याचे काहीही नाव असो, अगर स्वत:ला त्याने काहीही म्हणवून घेवो.

त्यानंतर त्यांनी आसुरी स्वभावाच्या लोकांमध्ये असणारी लक्षणे विस्ताराने सांगितली आहेत. आसुरी संपदेचे बाहुल्य असणाऱ्या पुरुषामध्ये कर्तव्य कर्माचा अभाव असतो. ते कर्तव्य कर्मात प्रवृत्त होत नाहीत. तो कर्मामध्ये प्रवृत्त होत नसल्याने त्याच्यामध्ये सत्य प्रवृत्ती असत नाही, अंत:करणातील पावित्र्य असत नाही, तसेच शुद्ध आचरण असत नाही. त्याच्या मते हे जग आश्रयरहित तसेच ईश्वराशिवाय आपोआप स्त्री-पुरुषांच्या संयोगातून उत्पन्न होते. त्यांच्या मते हे जीवन फक्त भोग भोगण्यासाठी आहे. त्याच्यापुढे काय? हा विचार कृष्णकालात होता व हा प्रश्न सदैव उभाच आहे. केवळ चार्वाकानेच सांगितले आहे असे नाही. जोपर्यंत जनमानसात दैवी-आसुरी संपदेचा चढ-उतार आहे, तोपर्यंत हा प्रश्न राहणार आहे. श्रीकृष्ण म्हणतात की हे मंद बुद्धीचे क्रूरकमी पुरुष सर्वांचे अहित करण्यासाठीच या जगात निर्माण झाले आहेत. ते म्हणतात - मी त्या शत्रूला ठार केले, मी त्याला मारीन, या प्रकारे हे अर्जुना, काम-क्रोधानी युक्त असणारे ते पुरुष शत्रूंना मारत नाहीत; परंतु, आपल्या व दुसऱ्यांच्या शरीरात स्थित असणाऱ्या परमात्म्याचा ते द्वेष करीत असतात. मग अर्जुनाने प्रतिज्ञा करून जयद्रथादीना

मारले का? जर मारले तर मग तो, आसुरी वृत्तीचा आहे, त्या परमात्म्याचा द्वेष करणारा आहे. परंतु श्रीकृष्णांनी अर्जुनाला सांगितले की, तू दैवी गुणांनी युक्त असणारा आहेस, तेव्हा तू शोक करून नकोस. येथे हेही स्पष्ट केले की ईश्वराचा निवास सर्वांच्या हृदयात आहे. तेव्हा हे लक्षात ठेवले पाहिजे की कोणीतरी तुम्हांला सतत पाहात आहे व म्हणून शास्त्रनिर्दिष्ट क्रियेचेच आचरण केले पाहिजे; अन्यथा दंड-त्याचा परिणाम भोगावा लागतो.

योगेश्वर श्रीकृष्णांनी पुनःपुन्हा सांगितले आहे की, आसुरी वृत्तींच्या क्रूर लोकांना मी नरकात फेकत असतो. नरकाचे स्वरूप सांगताना ते म्हणतात - वारंवार नीच - अधम योनीत फेकले जाणे हेच नरकाचे स्वरूप आहे. काम, क्रोध आणि लोभ ही नरकाची तीन द्वारे आहेत. या तीन विकारांवरच आसुरी संपदा टिकून आहे. या तीन गोष्टींचा त्याग केल्यानंतर मी वारंवार सांगत असणाऱ्या कर्माचा आरंभ होतो. कर्म म्हणजे अशी वस्तू आहे की जिचा आरंभ काम, क्रोध व लोभ यांचा त्याग केल्यावरच होत असतो.

सांसारिक कार्यात, मर्यादित स्वरूपात, सामाजिक व्यवस्थांचा निर्वाह करण्यात ते जेवढे गुंग असतात, काम, क्रोध त्यांच्याजवळ तेवढेच अधिक सजलेले-सजवलेले मिळतात. वास्तविक या तीन गोष्टींचा त्याग केल्यानंतरच परममध्ये प्रवेश देणाऱ्या निर्धारित कर्मामध्ये प्रवेश मिळतो. यासाठी मी काय करावे? काय न करावे? या **कर्तृम् अकर्तृम्** व्यवस्थेमध्ये शास्त्र हेच प्रमाण आहे. कोणते शास्त्र? हेच गीता शास्त्र. '**किमन्यैः शास्त्र विस्तरै**', यासाठी या शास्त्राने निर्धारित केलेले विशिष्ट कर्म (यथार्थ कर्म) तू कर.

या अध्यायात योगेश्वर श्रीकृष्णांनी दैवी आणि आसुरी अशा दोन्ही संपदांचे विस्तारपूर्वक वर्णन केले आहे व त्यांचे स्थान मानव हृदय आहे असे सांगितले व त्याचे फळही सांगितले.

ॐ तत्सदिति श्रीमद्‌भगवद्‌गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे 'दैवासुरसम्पद्‌विभागयोगो' नाम षोडशोऽ-ध्यायः।।१६।।

याप्रमाणे श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषदातील ब्रह्मविद्यांतर्गत योगशास्त्रातील श्रीकृष्ण आणि अर्जुन यांच्या संवादातील 'दैवासुर सम्पदविभाग योग' नावाचा सोळावा अध्याय समाप्त झाला.

इति श्रीमत्परमहंस परमानन्दस्य शिष्य स्वामी अड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्भगवद्गीतायाः 'यथार्थ गीता' भाष्ये 'दैवासुरसम्पद्विभागयोगो' नाम षोडशोऽध्यायः।।१६।।

अशा प्रकारे श्रीमत्परमहंस परमानन्दजींचे शिष्य स्वामी अड़गड़ानन्दकृत श्रीमद्भगवद्गीतेवरील भाष्य 'यथार्थ गीता' यामधील 'दैवासुर सम्पद्विभाग योग' नावाचा सोळावा अध्याय समाप्त झाला. । । १६। ।

।।हरि ॐ तत् सत्।।

ॐ

श्री परमात्मने नमः

।। अथ सप्तदशोऽध्यायः ।।

अध्याय सतरावा

सोळाव्या अध्यायाच्या शेवटी योगेश्वर श्रीकृष्णांनी स्पष्ट सांगितले की, काम, क्रोध आणि लोभ यांचा त्याग केल्यानंतरच कर्माला आरंभ होत असतो– कर्माची सुरुवात होत असते. ही गोष्टी मी वारंवार स्पष्ट केली आहे. हे नियतकर्म केल्याशिवाय मनुष्याला सुख, सिद्धि किंवा परमगती प्राप्त होत नाही. तेव्हा तुझे कर्तव्य कोणते किंवा अकर्तव्य कोणते, म्हणजेच तुला काय करणे योग्य आहे व काय करणे अयोग्य आहे, याबाबतीत शास्त्र हेच प्रमाण आहे, असे समज. अर्थात दुसरे कोणते शास्त्र नाही. परंतु '**इति गुह्यतमं शास्त्रमिदम्**' गीता हेच एक शास्त्र आहे. तेच तू प्रमाण समज, त्याच शास्त्राला अनुसरून तू वाग. दुसरी अनेक शास्त्रे आहेत; पण त्यांच्या मागे लागू नकोस. आणि समजा तू दुसऱ्या शास्त्राचे अनुसरण करू लागलास किंवा दुसरा मार्ग शोधलास तरी तुला तुझ्या प्रश्नांची उत्तरे कोठेही मिळणार नाहीत. तुला हवी असणारी शांती प्राप्त होणार नाही. त्यामुळे तू भलतीकडे भटकशील.

यावर अर्जुनाने प्रश्न केला की, जे लोक शास्त्रविधींना त्यागून पण अत्यंत श्रद्धेने '**यजन्ते**' यजन करतात, त्यांना कोणती गती मिळते? सात्त्विक? राजस? की तामस? कारण अर्जुनाने मागे ऐकले होते की मनुष्य सात्त्विक असो राजसी असो की तामसी असो, जोपर्यंत गुण विद्यमान असतात तोपर्यंत ते कोणत्या ना कोणत्या योनीचे कारण बनतात. यामुळे प्रस्तुत अध्यायाच्या आरंभीच अर्जुनाने प्रश्न केला.

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः।।१।।

हे कृष्णा, जे शास्त्रविधींनी सोडून-डावलून पण अत्यंत श्रद्धेने होमहवन किंवा भगवंताचे पूजन करतात त्यांची गती काय होते? सात्त्विक, राजस की तामस? यजनामध्ये देवता, यक्ष-भूत हे सर्व येतात.

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु।।२।।

दुसऱ्या अध्यायामध्ये योगेश्वरांनी सांगितले की, अर्जुना, या योगामध्ये निर्धारित क्रिया एकच आहे. मूर्ख लोकांची बुद्धी अनेक विकारांनी युक्त असते. त्यामुळे ते अनेक गोष्टी करतात. म्हणजेच नाना प्रकारचे कर्म करतात व ते आपल्या मधुर वाणीने व अलंकारिक भाषेत व्यक्त करतात. त्यांच्या या मायावी वाणीची छाप ज्यांच्यावर पडते, म्हणजेच जे त्यांच्या या मायावी बोलण्याला भुलतात, त्यांची बुद्धी पण भ्रष्ट होते; त्यांना प्राप्त काहीही होत नाही. त्याचीच येथे पुनरावृत्ती होत आहे. '**शास्त्रविधिमुत्सृज्य**' जे शास्त्रविधींचा त्याग करून जे यजन करतात त्यांची श्रद्धा तीन प्रकारची असते.

यावर श्रीकृष्णांनी सांगितले की, मनुष्याच्या प्राकृत गुणांपासून निर्माण झालेली श्रद्धा तीन प्रकारची असते. ती कशी ती माझ्याकडून तू ऐक.

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।।३।।

हे भारता, सर्व लोकांची श्रद्धा त्यांच्या प्रकृति-स्वभावाप्रमाणे - वृत्तीप्रमाणे असते. हा पुरुष श्रद्धामय आहे. तेव्हा ज्या पुरुषाची जशी श्रद्धा असते, तो स्वतः तशा प्रकारचा असतो. साधारणतः लोक विचारतात- मी कोण आहे? कोणी उत्तर देतो, मी आत्मा आहे. परंतु नाही, तो पुरुष म्हणजे आत्मा नव्हे. भगवान श्रीकृष्ण म्हणतात, ज्याची जशी श्रद्धा, जशी वृत्ती तसा तो पुरुष असतो.

गीता हे एक योग दर्शन आहे. महर्षि पातंजलीही एक योगी होते. त्यांचे योगदर्शन आहे. योग आहे काय? त्यांनी सांगितले "**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**" मनाच्या वृत्ती संपूर्णतः बंद होणे, थांबणे, म्हणजे योग होय. एखाद्याने हठयोगाने

किंवा परिश्रमपूर्वक त्या वृत्तींना रोकले तर त्याच्यापासून काय फायदा? "तदा द्रष्टुः स्वरुपेऽवस्थानम्" त्या वेळेस हा द्रष्टा जीवात्मा आपल्या शाश्वत स्वरूपात स्थिर होतो. पण तत्पूर्वी मग तो मलीन होतो का? पतंजली म्हणतात– '**वृत्तिसारूप्यमितरत्र**' दुसऱ्या वेळी जसे वृत्तीचे स्वरूप असेल तसा तो द्रष्टा असतो. येथे योगेश्वर श्रीकृष्ण म्हणतात– हा पुरुष श्रद्धामय आहे. श्रद्धेने अगदी ओतप्रोत भरलेला आहे. कुठे ना कुठे श्रद्धा अवश्य असते आणि ज्या प्रकारची त्याची श्रद्धा असेल तो स्वतः तशाच प्रकारचा असतो. म्हणजे जशी वृत्ती तसा तो पुरुष! आता तिन्हीं श्रद्धांचे विभाजन करीत ते पुढे सांगतात.

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।

प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः।।४।।

त्यामधील सात्त्विक पुरुष देवतांचे पूजन करतात. राजसी पुरुष यक्ष आणि राक्षसांचे पूजन करतात व तामसी वृत्तीचे पुरुष भूत, प्रेतांची पूजा करतात. ते लोक या पूजनासाठी खूप प्रयत्न करतात.

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।

दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः।।५।।

ते लोक शास्त्रविधिविहीन असे स्वतःच्याच मताप्रमाणे कठोर तप करतात. दांभिकता आणि अहंकारयुक्त, कामना व आसक्ती यांनी बद्ध असलेले–

कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।

मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्।।६।।

ते शरीरामध्ये स्थित असलेल्या भूतसमुदायास, आणि अंतःकरणात स्थित असणाऱ्या मलासुद्धा, कृश करतात म्हणजे दुःख देतात. आत्मा प्रकृतीच्या भोगामध्ये पडून विकारांनी दुर्बल व यज्ञसाधनांनी बलवान बनत असतो. त्या अज्ञानी लोकांना तू निश्चितपणे असुर जाण. अर्थात ते सर्वजण आसुरी व मूर्ख आहेत असे समज.

शास्त्रविधींचे उल्लंघन करुन भजणारे सात्त्विक पुरुष देवतांचे, राजसी पुरुष यक्ष–राक्षसांचे आणि तामसी पुरुष भूत–प्रेतांचे पूजन करीत असतात.

केवळ पूजनच करीत नाहीत, तर कठोर तपही करतात. परंतु अर्जुना त्यांचे हे अशा प्रकारचे पूजन शरीरामध्ये असणाऱ्या भूतांना व अंतःकरणात स्थित असणाऱ्या मला परमात्म्याला दुर्बल बनवते. या अशा तपाने ते मला भजत नाहीत, उलट माझ्यापासून दूर जातात. अशांना तू असुर समज. अर्थात देवतांचे पूजन करणारे पण असुरच असतात. यापेक्षा अधिक कोण काय सांगणार? तेव्हा हे सर्व भूतमात्र ज्याचे अंश आहे त्या माझे, परमात्म्याचे, पूजन करावे आणि यावरच श्रीकृष्णांनी वारंवार भर दिला आहे.

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु।।७।।

अर्जुना, ज्या प्रकारे श्रद्धा तीन प्रकारची असते; त्याप्रमाणे प्रकृतीच्या त्रिगुणांनुसार भोजनही (आहार) तीन प्रकारचे असते. तसेच यज्ञ, जप आणि दानही तीन प्रकारचे असते. त्यांच्यातले भेद मी तुला सांगतो ते ऐक. प्रथम आहाराविषयी सांगतात–

आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः।।८।।

सात्त्विक वृत्तीच्या लोकांना आयुष्य, बुद्धी, बल, आरोग्य सुख आणि प्रीती यांची वृध्दी करणारा, रसयुक्त, स्निग्ध, स्थिर रहाणारा व मनाला, आनंद देणारा आहार आवडतो.

योगेश्वर श्रीकृष्णांच्या मते चित्ताला आनंद देणारा बल, आरोग्य, बुद्धी आणि आयुष्य वाढवणारा आहार हा सात्त्विक आहार होय. जे पदार्थ सात्त्विक असतात तेच सात्त्विक लोकांना प्रिय असतात. यावरून स्पष्ट होते की, कोणताही खाद्य पदार्थ सात्त्विक, किंवा तामसी असत नाही. त्याचा प्रयोग किंवा त्या पदार्थाचा परिणाम सात्त्विक, राजसी किंवा तामसी असतो. ना दूध सात्त्विक असते, ना कांदा राजसी असतो, ना लसूण तामसी असतो.

जोपर्यंत बल, वृद्धी, आरोग्य आणि हृदयाला आवडण्याचा प्रश्न आहे, तोपर्यंत अखिल विश्वातील लोकांना आपली प्रकृती, वातावरण आणि परिस्थितींच्या अनुसार भिन्न भिन्न प्रकारचे खाद्य पदार्थ, भिन्न भिन्न प्रकृतीच्या

लोकांना आवडत असतात. ज्याप्रमाणे बंगाली किंवा मद्रासी लोकांना भात प्रिय असतो. पंजाबी लोकांना पोळया प्रिय असतात, अरब लोकांना दुंभा- एक प्रकारची बकरी, चिनी लोकांना बेडूक तर उत्तरदक्षिण ध्रुवासारख्या थंड प्रदेशात राहणाऱ्या लोकांना मांसाशिवाय दुसरा पर्याय नसतो. रशिया व मंगोलिया येथील आदिवासी लोक आपल्या जेवणात घोड्याचा उपयोग करतात. युरोपीयन लोक गाय व डुक्कर खातात तसेच उन्नतीमध्ये अमेरिका व युरोपीयन लोक प्रथम श्रेणीत गणले जातात.

गीतेच्या अनुसार रसयुक्त, स्निग्ध आणि स्थिर राहणारा खाद्य पदार्थ सात्त्विक असतो. दीर्घ आयुष्य, अनुकूल असणारा, बल व बुद्धी यांची वृध्दी करणारा व आरोग्यवर्धक पदार्थ सात्त्विक असतो. जे पदार्थ स्वभावतः मधुर असतात ते खाद्य पदार्थ सात्त्विक असतात. अर्थात कोणत्याही खाद्य पदार्थाला कमी प्रतीचे किंवा उच्च प्रतीचे मानण्याचा येथे उद्देश नाही. परिस्थिती परिवेश तसेच देशकालानुसार जो खाद्यपदार्थ स्वभावतः आवडेल, आणि जो जीवन शक्ती देईल तो पदार्थ सात्त्विक आहे. म्हणजेच कोणतीही वस्तू किंवा पदार्थ सात्त्विक, राजसी, किंवा तामसी असत नाही. त्याचा प्रयोग सात्त्विक, राजसी व तामसी असतो.

ज्या व्यक्तींनी परमेश्वराच्या आराधनेसाठी घराचा, परिवाराचा त्याग केला आहे, जे ईश्वरध्यानात निमग्न असतात, जे संन्यास आश्रमात राहतात त्या लोकांसाठी मांस, मदिरा त्याज्य आहे. कारण ते पदार्थ अध्यात्मिक मार्गातील अडसर आहेत, ते मनात विपरीत भाव निर्माण करतात. म्हणून ते साधनेच्या मार्गावरुन भ्रष्ट होण्याचा अधिक संभव असतो. जे एकांतात राहतात, जे विरक्त आहेत त्यांच्यासाठी योगेश्वर श्रीकृष्णांनी सहाव्या अध्यायात आहारासाठी एक नियम घालून दिला आहे की, 'युक्ताहार विहारस्य', हे ध्यानात ठेऊन तसे आचरण केले पाहिजे. भजन-पूजनाला जेवढा आहार सहाय्यक ठरेल तेवढाच ग्रहण केला पाहिजे.

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरुक्षविदाहिनः।

आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः।।९।।

तिखट, आंबट, खारट, अति उष्ण, तीक्ष्ण, रूक्ष, दाहकारक आणि दुःख, चिंता व रोग उत्पन्न करणारा आहार राजस पुरुषांना प्रिय असतो.

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्।।१०।।

जे भोजन तयार होऊन एक प्रहारापेक्षा अधिक वेळ झाला असेल '**गतरसं**' जे भोजन रसरहित आहे, दुर्गंधयुक्त आहे, जे शिळे आहे, उष्टे आहे आणि अपवित्र आहे, अशा प्रकारचे भोजन तामसी वृत्तीच्या लोकांना प्रिय असते. येथे हा प्रश्न पूर्ण झाला. आता 'यज्ञाबाबत पुढे श्रीकृष्णांनी विवरण केले आहे.

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः।।११।।

जो यज्ञ 'विधिदृष्ट' शास्त्रविधींनी निर्धारित केला गेला आहे. (जसे मागे तिसऱ्या अध्यायात यज्ञाचे नाव घेतले, चौथ्या अध्यायात यज्ञाचे स्वरूप सांगितले की बहुतेक योगी प्राणाचे अपानामध्ये, अपानाचे प्राणामध्ये हवन करतात. मग प्राण-अपानाची गती नियंत्रित करून, प्राणांची गती स्थिर करून ते संयमाग्नीमध्ये हवन करतात. या प्रकारे यज्ञाच्या चौदा पायऱ्या सांगितल्या आहेत. ज्या सर्वच्या सर्व ब्रह्मापर्यंतचे अंतर कमी करणाऱ्या एकाच क्रियेच्या उच्च-नीच अवस्था आहेत. सारांक्ष-यज्ञ चिंतन विशेषाच्या प्रक्रियेचे चित्रण आहे. त्याचा परिणाम म्हणजे ब्रह्मामध्ये प्रवेश हा असतो. त्याचे विवरण या शास्त्रात केले आहे.)

त्या शास्त्रावर पुन्हा भर देत श्रीकृष्ण म्हणतात, हे अर्जुना, जो शास्त्रविधींनी नियत केलेल्या व जे करणे कर्तव्य आहे, तसेच जो मनाचे नियंत्रण करणारा आहे व जो फलाकांक्षा न धरणाऱ्यांकडून केला जातो, तो यज्ञ सात्त्विक आहे.

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्।।१२।।

हे अर्जुना, जो यज्ञ केवळ दंभाचरणासाठी केला जातो किंवा फळाची आशा ठेवून केला जातो, त्याला राजस यज्ञ म्हणतात. हा यज्ञ करणारा यज्ञाचे

विधी जाणत असतो, परंतु हा यज्ञ तो दांभिकपणाने करीत असतो किंवा अमुक वस्तू प्राप्त व्हावी या अपेक्षेने करतो किंवा लोकांनी आपण यज्ञ करीत आहोत हे पहावे, प्रशंसा करावी या हेतूने करतो असा यज्ञकर्ता वास्तविक राजसी आहे. आता पुढे तामस यज्ञाचे स्वरूप स्पष्ट करीत आहोत.

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते।।१३।।

जो यज्ञ शास्त्रविधिविहीन आहे, जो अन्नाची निर्मिती करू शकत नाही. जो अन्नाची म्हणजे परमात्म्याची सृष्टी करण्यास असमर्थ आहे, जो अंत:करणाच्या पोकळीत असणाऱ्या मनाचा निग्रह करण्याची ज्याच्यात क्षमता नाही, जो दक्षिणारहित म्हणजेच सर्वस्वाच्या समर्पणाशिवाय आहे, तसेच जो श्रद्धारहित आहे अशा यज्ञाला तामस यज्ञ म्हणतात. असा पुरुष वास्तविक यज्ञाबाबत काही जाणतच नाही. आता पुढे तपाविषयी विवरण केले आहे.

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते।।१४।।

परमदेव परमात्मा, द्वैतभावावर विजय प्राप्त करणारे ब्राह्मण, सद्‌गुरु आणि विद्वज्जन यांचे पूजन, पवित्रता, सरळता, ब्रह्मचर्य तसेच अहिंसा यांना शारीरिक तप म्हणतात. शरीर सदैव वासनांकडे बहकत असते. त्याला अंत:करणाच्या वरील वृत्तीनुरूप तापविणे म्हणजे शारीरिक तप आहे.

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्‌मयं तप उच्यते।।१५।।

उद्वेग न निर्माण करणारे, प्रिय, हितकारक आणि सत्य भाषण तसेच परमात्म्यामध्ये प्रवेश देववणाऱ्या शास्त्रांचा अभ्यास, नामजप यांना वाचिक तप असे म्हटले जाते. वाणी विषयोन्मुख विचारांनाही व्यक्त करत असते. तिला या सवयीपासून परावृत्त करुन, परम सत्य परमात्म्याच्या विचाराच्या दिशेने वळवणे याला वाचिक तप म्हणतात. आता मानस तप म्हणजे काय ते पाहा.

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते।।१६।।

मनाची प्रसन्नता, सौम्यभाव, मौनवृत्ती अर्थात परमात्म्याशिवाय अन्य कशाचेही स्मरण न करणे, आत्मसंयमन, अंतःकरणाची संपूर्ण पवित्रता, याला मानस तप असे म्हंटले जाते. वरील तिन्ही (शारीरिक, वाचिक व मानसिक) तपे मिळून सात्त्विक तप बनत असते.

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।

अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते।।१७।।

फलाची आकांक्षा न ठेवता, अर्थात निष्काम भावनेने युक्त असणाऱ्या पुरुषांनी अत्यंत श्रद्धेने वरील तीन प्रकारचे तप आचरले तर त्याला सात्त्विक तप असे म्हणतात. आता राजस तप म्हणजे काय ते पाहा–

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।

क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्।।१८।।

जे तप सत्कार, मान, आणि पूजेसाठी किंवा केवळ दांभिकपणाने केले जाते, त्या अनिश्चित आणि चंचल फळ देणाऱ्या तपास राजस तप म्हणतात.

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।

परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्।।१९।।

जे तप मूर्खतापूर्वक हट्टाने, मन, शरीर व वाणी यांना पीडा देऊन किंवा दुसऱ्यांचे अनिष्ट करून, किंवा सूड बुद्धीने केले जाते, त्या तपाला तामस तप म्हंटले आहे.

या प्रकारे सात्त्विक तपाने शरीर, मन आणि वाणीस परमात्म्याला अनुकूल असे वळवले पाहिजे. राजस तपामध्ये तपाची क्रिया तीच आहे; परंतु दंभ, मान व सन्मानाच्या इच्छेने तप केले जाते. बहुधा महात्मा लोक घरदार सोडल्यानंतरही या विकाराची शिकार होतात; आणि तिसरे तामसी तप हे अविधिपूर्वक होते. दुसऱ्यांना पीडा देण्याच्या दृष्टिकोनातून होते. आता प्रस्तुत आहे दान–

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।

देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्।।२०।।

दान करणे हे कर्तव्य आहे अशा बुद्धीने योग्य स्थळी, योग्य काळी आणि योग्य मनुष्यास प्रत्युपकाराची अपेक्षा न करता, जे दान दिले जाते ते सात्त्विक दान होय.

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्।।२१।।

जे दान क्लेशपूर्वक, अत्यंत कष्टाने, (जे दान नाही, पण द्यावे लागते) तसेच उपकाराचा मोबदला म्हणून हे केले, तर असे मिळेल अशा भावनेने किंवा फलाची अपेक्षा धरून मग दिले जाते, त्याला राजस दान म्हंटले जाते.

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्।।२२।।

जे दान सत्काररहित किंवा तिरस्कारपूर्वक, झिडकारून, अयोग्य ठिकाणी, अयोग्य वेळी, अपात्र माणसांना दिले जाते, ते दान तामस समजले जाते. पूज्य महाराजश्री म्हणत असत '**हो, कुपात्र को दान देने से दाता नष्ट होत जाता है ।**' अयोग्य मनुष्याला दान देण्याने देणारा दाता– नष्ट होतो. श्रीकृष्णानेही हेच म्हंटले आहे की, दान देणे हे कर्तव्य आहे. देश, काल आणि पात्र प्राप्त होताच त्या बदल्यात प्रत्युपकाराची भावना न ठेवता, दिलदारपणाने दिलेले दान सात्त्विक आहे. अडचणीतून बाहेर येणारे, बदलात फलाच्या अपेक्षेने दिले जाणारे दान हे राजस आहे; आणि सत्काररहित, अवहेलनापूर्वक प्रतिकूल ठिकाणी, अयोग्य काळात व अपात्र मनुष्याला दिले जाणारे दान तामस आहे. अर्थात ते दानच असते. परंतु शरीर, गृह इत्यादी ममत्व असणाऱ्या सर्व गोष्टींचा त्याग करून फक्त परमेश्वरावर जे अवलंबून असतात, त्यांच्यासाठी दानाचे विधान त्यापेक्षाही उन्नत असते. आणि तेच असते सर्वस्वाचे समर्पण, संपूर्ण वासनांचे दमन करून मनाचे समर्पण! जसे श्रीकृष्णांनी सांगितले आहे. '**मय्येव मन आधत्स्व**'। म्हणून दान अत्यंत आवश्यक आहे. आता ॐ तत् आणि सत या स्वरूपाचे विवरण केले आहे.

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा।।२३।।

अर्जुना, ॐ, तत आणि सत असा तीन प्रकारचा ब्रह्माचा नामनिर्देश **'ब्रह्मणः निर्देशः स्मृतः'** श्रृतीने सांगितला आहे. ही तीन अक्षरे ब्रह्माची स्मृती देववितो, संकेत करतो आणि ही तीन अक्षरे ब्रह्माचा परिचय देणारी आहेत. या नामाच्या योगाने पूर्वी ब्राह्मण, वेद आणि यज्ञादि रचले गेले आहेत. अर्थात ब्राह्मण, यज्ञ आणि वेद ॐ पासून निर्माण होतात. ते योगातून जन्मतात. ओमच्या सतत चिंतनातूनच त्यांची उत्पत्ती झालेली आहे आणि दुसरा पर्याय नाही.

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्।।२४।।

म्हणून ब्रह्माचे कथन करणाऱ्या म्हणजेच ब्रह्मवाद्यांच्या शास्त्राला अनुसरून होणाऱ्या यज्ञ, दान, तप इत्यादि क्रिया नेहमी 'ॐ' या अक्षराचा उच्चार करुन नेहमी सुरु केल्या जातात की, ज्यामुळे ब्रह्माचे स्मरण होते. आता तत् शब्दाबद्दल पुढे विवरण करीत आहेत.

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः।।२५।।

तत् अर्थात तो (परमात्मा) सर्वत्र आहे, या भावनेने 'तत्' अक्षराचा उच्चार करून फलाची अपेक्षा न करता, शास्त्रात सांगितलेल्या नाना प्रकारच्या यज्ञ, तप आणि दानाच्या क्रिया मोक्षाची परम कल्याणाची इच्छा करणारे लोक ब्रह्मार्पण बुद्धीने करीत असतात. 'तत्' शब्द हा परमात्म्यासाठी समर्पणसूचक आहे. अर्थात जप मात्र 'ॐ' चा करावा. यज्ञ, दान आणि तपाच्या क्रिया त्यावर अवलंबून राहून कराव्या. आता 'सत्' शब्दाचे विवरण पुढील श्लोकात केले आहे.

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते।।२६।।

सत – योगेश्वर श्रीकृष्णांनी 'सत्' म्हणजे काय ते सांगितले आहे. गीतेच्या सुरुवातीस अर्जुनाने म्हंटले होते की, कुलधर्मच शाश्वत आहे, सत्य आहे. त्यावर श्रीकृष्णाने म्हंटले– अर्जुना, तुझ्यामध्ये हे अज्ञान कोठून आले? अरे,

तिन्ही कालामध्ये सत्‌चा कधी अभाव असत नाही, ते नष्ट करता येत नाही आणि असत् वस्तूचे तिन्ही कालात अस्तित्व असत नाही. त्याला रोकले जात नाही. वस्तुतः अशी कोणती वस्तू आहे जिचा तिन्ही कालात अभाव नाही? आणि कोणती असत् वस्तू आहे की जिला अस्तित्व नाही? यावर श्रीकृष्ण म्हणाले – हा आत्माच सत्य आहे आणि प्राणिमात्रांचे शरीर नाशवंत असते. आत्मा सनातन आहे, अव्यक्त आहे, शाश्वत आणि अमृतस्वरूप आहे व तेच परम सत्य आहे.

येथे श्रीकृष्ण म्हणतात 'सत्' अशा परमात्म्याच्या या नावाचा '**सद्‌भावे**' म्हणजे सत्यासाठी आणि चांगले असणे यासाठी उपयोग केला जातो. जेव्हा कर्म सांगोपांग व चांगल्या प्रकारे होऊ लागते, तेव्हा 'सत्' शब्दाचा प्रयोग केला जातो. सत्‌चा अर्थ असा नाही की त्या वस्तू आमच्या आहेत. जेव्हा हे शरीरच आमचे नसते तर त्यासाठी उपभोग्य असणाऱ्या वस्तू आमच्या कशा असतील? हे सत् नाही. सत्‌चा प्रयोग केवळ एका दिशेतच केला जातो– सद्‌भावात आत्माच परम सत्य आहे, या सत्यांचा भाव असावा, त्याला साधण्यासाठी साधुभाव असावा आणि त्याची प्राप्ती करून देणारे कर्म चांगल्या प्रकारे व्हायला लागावे तेव्हा सत् शब्दाचा प्रयोग केला जातो. यावर योगेश्वर म्हणतात –

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते।।२७।।

यज्ञ, दान, तप करीत राहणे या स्थितीला सत् असे म्हणतात. '**तदर्थीयं**' त्या परमात्म्याच्या प्रातीसाठी केले जाणारे कर्म हे सत् आहे. यज्ञ, दान, तप हे कर्म पूरक आहे. शेवटी निर्णय देताना श्रीकृष्ण सांगतात की, या सर्वांसाठी श्रद्धा आवश्यक आहे.

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह।।२८।।

हे पार्था, अश्रद्धेने केलेले हवन, दिलेले दान, आचरलेले तप व केलेले जे कर्म असेल त्याला असत् असे म्हणतात. हे असत् या लोकी व परलोकीही

लाभदायक नाही. म्हणून भगवंताला समर्पण करताना नितांत श्रद्धेची आवश्यकता आहे.

निष्कर्ष–

या अध्यायाच्या सुरुवातीला अर्जुनाने प्रश्न केला की, जे शास्त्रविधींचा त्याग करून आणि श्रद्धेने यजन करतात, (लोक भूत–भवानी अशा अन्य देवतांची पूजा करीत असतात) तर ज्यांची श्रद्धा कशी असते? ती सात्त्विक असते, राजस असते की तामस? यावर योगेश्वर श्रीकृष्णांनी सांगितले, अर्जुना, हा पुरुष म्हणजे श्रद्धेचे एक स्वरूप आहे. कोठे कोठे त्याची श्रद्धा असेलच; आणि जशी श्रद्धा, तसा पुरुष. जशी वृत्ती तसा पुरुष. त्याची ती श्रद्धा सात्त्विक, राजस आणि तामस अशा तीन प्रकाराची असते. सात्त्विक श्रद्धा असणारे देवतांचे, राजसी श्रद्धा असणारे यक्ष, (जे यश, शौर्य देतात) राक्षस (जे क्रूरकर्मी व बलवान असतात) याच्या मागे धावतात आणि तामसी श्रद्धा असणारे भूतप्रेतांचे पूजन करतात. शास्त्रविधिरहित या पूजाविधींच्या द्वारा हे तीन प्रकारचे श्रद्धावान लोक शरीरामध्ये वास करीत असलेल्या भूत समुदाय अर्थात आपले संकल्प आणि हृदयरूपी देशात राहात असणाऱ्या मज परमात्म्याला कृश करतात. ते माझी पूजा करीत नाहीत, पण मला दुःख देतात त्या सर्वांना तू असुर जाण. म्हणजेच भूत, प्रेत, यक्ष, राक्षस तसेच देवतांचे पूजन करणारे सर्व असुर आहेत.

या ठिकाणी देवतापूजनाचा उच्चार तिसऱ्यांदा केला आहे. पहिल्या अध्यायात सातव्या श्लोकात त्यांनी सांगितले की अर्जुना, कामनांनी ज्यांचे ज्ञान भ्रष्ट झाले आहे ते मूढबुद्धी लोक अन्य देवतांची पूजा करतात. ते तेव्हा माझीही पूजा करतात, परंतु ज्यांचे ते पूजन अविधिपूर्वक अर्थात शास्त्रविधिरहित असते. त्यामुळे ते नष्ट होते. येथे या सतराव्या अध्यायात अशा लोकांना आसुरी स्वभावाचे म्हंटले आहे. श्रीकृष्णांच्या मते एका परमात्म्याची पूजा म्हणजे खरी पूजा होय.

त्यानंतर श्रीकृष्णांनी चार प्रश्नांची चर्चा केली आहे. आहार, यज्ञ, तप आणि दान! आहार तीन प्रकारचे असतात सात्त्विक पुरुषाला आरोग्यवर्धक, मधुर असणारा स्निग्ध आहार प्रिय असतो. राजसी पुरुषाला कडू, तीक्ष्ण,

उष्ण, मसालेदार, चमचमीत असा रोगवर्धक आहार प्रिय असतो. तर तामसी पुरुषाला उष्टे, शिळे आणि अपवित्र आहार प्रिय असतो.

शास्त्रविधीत सांगितलेले यज्ञ (जी आराधनेची अंतःक्रिया आहे), जे मनाचे निरोधन करतात, फलाकांक्षरहित तो यज्ञ सात्त्विक आहे. दंभप्रदर्शन, तसेच फलप्राप्तीसाठी केलेला यज्ञ राजसी आहे व शास्त्रविधिविहीन, मंत्र-दान तसेच अश्रद्धेने केलेला यज्ञ तामसी होय.

परमदेव परमात्म्यात प्रवेश देवविणारी योग्यता ज्यांच्यात आहे, त्या प्राज्ञ सद्गुरुची अर्चना-सेवा आणि अंतःकरणपूर्वक, अहिंसा, ब्रह्मचर्य आणि पवित्रतेला अनुसरून, शरीराला तापवणे हेच शरीराचे तप आहे. सत्य, प्रिय आणि हितकारक बोलणे म्हणजे वाचिक तप होय. आणि मनाला कर्मामध्ये प्रवृत्त ठेवणे परमात्म्याशिवाय विषय चिंतनात मनाचे मौन ठेवणे, याला मानसिक तप म्हणतात. मन, वाणी आणि शरीर तिन्ही मिळून भगवंताला प्रसन्न करण्याकरिता जे तप केले जाते, त्याला सात्त्विक तप म्हणतात. अभिलाषेसहित केल्या जाणाऱ्या तपाला राजसी तप म्हणतात, तर शास्त्रविधिरहित दुसऱ्याच्या नाशासाठी जे तप केले जाते, त्याला तामसी तप म्हणतात.

दान करणे आपले कर्तव्य आहे असे समजून देश, काल व योग्य मनुष्य यांचा विचार करुन, श्रद्धापूर्वक जे दान दिले जाते त्याला सात्त्विक दान म्हणतात. लाभाच्या व लोभाच्या अपेक्षेने अत्यंत दुःखाने जे दान दिले जाते, त्याला राजसी दान म्हणतात व तिरस्काराने व अपात्र मनुष्याला दिले जाणाऱ्या दानास तामसी दान म्हणतात.

ॐ तत् आणि सत् यांचे स्वरूप सांगताना श्रीकृष्ण म्हणाले की, हे नाव परमेश्वराचे स्मरण करुन देते. शास्त्रोक्त तप, दान आणि यज्ञादि कर्म करताना प्रथम ॐ चा उच्चार करून प्रारंभ करतात. पूर्तीमध्येच ॐ पिंड सोडतो. तत् चा अर्थ आहे परमात्मा. त्या ईश्वराला समर्पित होऊनच जेव्हा सातत्याने कर्म होते तेव्हा सत्‌चा प्रयोग होतो. भजन सत् आहे. सत् साठी भाव व साधु भावात सत्‌चा प्रयोग केला जातो. परमात्म्याची प्राप्ती करून देणाऱ्या कर्म, यज्ञ, दान आणि तपामध्ये सत्‌चा प्रयोग होतो आणि परमात्म्यात प्रवेश देवविणारे कर्म निश्चितपणे सत् असते; परंतु या सर्वांबरोबर श्रद्धा आवश्यक आहे.

अद्धेने केलेले कर्म, दिलेले दान, तापलेले तप ना या जन्मात लाभदायक आहे, ना पुढच्या जन्मात! तेव्हा श्रद्धा अपरिहार्य आहे.

संपूर्ण अध्यायात श्रध्देवर विवरण केले आहे व शेवटी ॐ तत् व सत्‌ची व्याख्या प्रस्तुत केली आहे, जी गीतेच्या श्लोकात प्रथमच आलेली आहे म्हणून –

ॐ तत्सदिति श्रीमद्‍भगवद्‍गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे 'ॐ तत्सत् श्रद्धात्रयविभागयोगो' नाम सप्तदशो–ऽध्यायः।।१७।।

याप्रमाणे श्रीमद्‍भगवद्‍गीतारूपी उपनिषदातील ब्रह्मविद्यांतर्गत योगशास्त्रातील श्रीकृष्ण आणि अर्जुन यांच्या संवादातील श्रद्धात्रयविभागयोग नावाचा सतरावा अध्याय समाप्त झाला.

इति श्रीमत्‌परमहंस परमानन्दस्य शिष्य स्वामी अड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्‍भगवद्‍गीतायाः 'यथार्थगीता' भाष्ये 'ॐ तत्सत् श्रद्धात्रयविभागयोगो' नाम सप्तदशोऽध्यायः।।१७।।

अशा प्रकारे श्रीमत्परमहंस परमानंदजींचे शिष्य स्वामी अडगडानंदकृत श्रीमद्‍भगवद्‍गीतेवरील भाष्य 'यथार्थ गीता' यामधील 'ॐ तत्सत श्रद्धात्रय विभाग योग' नावाचा सतरावा अध्याय समाप्त झाला.

।।हरि ॐ तत् सत्।।

ॐ

श्री परमात्मने नमः

।। अथ अष्टादशोऽध्यायः ।।

अध्याय अठरावा

गीतेचा हा अंतिम अध्याय आहे. याच्या पूर्वार्धामध्ये योगेश्वर श्रीकृष्णांनी दिलेली अनेक समाधानकारक उत्तरे आहेत, तर उत्तरार्ध म्हणजे गीतेचा उपसंहार असून त्यामध्ये गीतेच्या अध्ययनामुळे काय लाभ होतो याचे विवेचन केलेले आहे. सतराव्या अध्यायात आहार, तप, यज्ञ, दान तसेच श्रद्धेचे त्यांच्या प्रकारांसह सम्यक स्वरूप सांगितले आहे. या संदर्भात त्यागाचे स्वरूप सांगणे–त्याचे विवेचन करणे अद्याप शेष आहे. मनुष्य जे काही करतो त्याचे कारण कोण आहे? ते सर्व कोण करवीत असतो? प्रत्यक्ष भगवान मनुष्याकडून करवून घेत असतो की प्रकृती? अर्थात हा प्रश्न सुरुवातीपासूनच उपस्थित झालेला आहे. या अध्यायात त्यावर पुन्हा प्रकाश टाकलेला आहे. अशाच प्रकारे वर्णव्यवस्थेविषयी चर्चा झालेली होती. सृष्टीमधील त्याच्या स्वरूपाचे विश्लेषण या अध्यायात प्रस्तुत आहे. शेवटी गीतेतून प्राप्त झालेल्या विभूतींवर प्रकाश टाकला आहे.

मागील अध्यायात अनेक प्रकारांच्या विषयाचे विभाजन ऐकून अर्जुनाने श्रीकृष्णाला विचारले की, एवढे सर्व विस्ताराने सांगितलेच आता आणखी एक गोष्ट माझ्यासाठी सम्यकरीत्या सांगाल का? भगवन्, त्याग व संन्यास यांचे स्वरूप त्यांच्या विभागासह स्पष्ट करा.

अर्जुन उवाच

सन्न्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन।।१।।

अर्जुन म्हणाला, हे महाबाहो, हे हृदयसर्वस्वा, हे केशिनिषूदना, संन्यास आणि त्यागाचे यथार्थ स्वरूप मी वेगवेगळे जाणू इच्छितो. आंतरबाह्य गोष्टींचा पूर्ण त्याग म्हणजे संन्यास होय. येथे संकल्प आणि संस्कारांचेही पूर्णत्व असते आणि या संन्यासापूर्वी साधनेच्या पूर्तीसाठी आसक्तीचा अधिकाधिक त्यागच करावा लागतो. याठिकाणी अर्जुन म्हणतो मला संन्यासाचे तत्त्व-स्वरूपही जाणून घेण्याची इच्छा आहे व त्यागाचेही स्वरूप मी जाणू इच्छितो. यावर योगेश्वर श्रीकृष्ण म्हणतात.

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं सन्न्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः।।२।।

अर्जुना, काही विद्वानांच्या मते काम्य कर्माच्या त्यागाला संन्यास असे म्हणतात, तर काही पंडितांच्या मते संपूर्ण कर्माच्या फलत्यागाला त्याग असे म्हणतात.

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे।।३।।

काही विद्वानांच्या मते सर्व प्रकारचे कर्म हे दोषयुक्त असल्याने ते त्याज्य होय. तर दुसऱ्या विद्वानांच्या मते यज्ञ, दान आणि तप यांचा त्याग करणे योग्य नाही- ते त्याज्य नाहीत. अशा प्रकारे इतरांची मते सांगितल्यानंतर योगेश्वर श्रीकृष्ण आपले निश्चित मत देतात.

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः।।४।।

हे अर्जुना, या त्यागासंबंधी माझा निर्णय काय आहे ते आता ऐक. हे पुरुषश्रेष्ठा हा त्याग तीन प्रकारचा सांगितला आहे.

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।।५।।

यज्ञ, दान व तप ही तीन प्रकारची कर्मे त्याज्य नसतात. ही कर्मे तर केलीच पाहिजेत. कारण यज्ञ, दान आणि तप हे मानवाला पवित्र करीत असतात.

श्रीकृष्णांनी चार प्रचलित कर्मांचा येथे उल्लेख केलेला आहे. पहिला काम्य कर्माचा त्याग, दुसरा संपूर्ण कर्मफलाचा त्याग, तिसरा दोषयुक्त असल्याने सर्व कर्मांचा त्याग आणि चौथे मत होते यज्ञ, दान आणि तप त्याज्य नाहीत.– त्यांचा त्याग करणे योग्य नाही. श्रीकृष्ण म्हणतात, हे अर्जुना, माझेही असे निश्चित मत आहे की, यज्ञ, दान आणि तपरूप क्रिया यांचा त्याग करणे योग्य नाही ते त्याज्य नाहीत. यावरून असे सिद्ध होते की, श्रीकृष्णाच्या काळातही विविध मते प्रचलित होती. म्हणजे त्या काळातही मतमतांतरे होती. आजही तशीच स्थिती आहे. तेव्हा या पृथ्वीतलावर कोणी महापुरुष अवतार घेतात किंवा ते येथे येतात तेव्हा अनेकविध मतमतांतरांमधून ते एक कल्याणकारक मत काढून समोर ठेवतात. प्रत्येक महापुरुषाने हेच केले आहे. श्रीकृष्णांनीही हेच केले. त्यांनी काही कोणता नवीन मार्ग दाखवला नाही; परंतु प्रचलित मतमतांतरामधून यथार्थ असणारा मार्ग दाखवून त्यातील सत्याचे समर्थन करून तो मार्ग स्पष्ट केला.

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।

कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्।।६।।

योगेश्वर श्रीकृष्ण ठामपणाने सांगत आहेत की हे अर्जुना, आसक्ती व फलाशा यांचा त्याग करून यज्ञ, दान व तपरूप कर्मे अवश्य केली पाहिजेत. हे माझे निर्णायक मत आहे. आता अर्जुनाने विचारलेल्या प्रश्नांच्या संदर्भात ते त्यागाचे विश्लेषण करताना म्हणतात–

नियतस्य तु सन्न्यासः कर्मणो नोपपद्यते।

मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः।।७।।

हे अर्जुना, नियत् कर्म (श्रीकृष्णांच्या मते नियत्–विहित्–कर्म एकच आहे. ते म्हणजे यज्ञाची प्रक्रिया. या शब्दाचा वापर श्रीकृष्णांनी आठ–दहा

वेळा केला आहे. त्या शब्दावर पुनःपुन्हा भर देत त्यांनी सांगितले की, साधकांनी नियत् कर्म करावे. दुसरे खोटे कर्म करीत भरकटत जाऊ नये). म्हणजेच शास्त्रविधींनी निर्धारित असणाऱ्या कर्माचा त्याग करणे उचित नाही. मोहवश होऊन त्याचा त्याग करणे याला तामस त्याग म्हंटले आहे. सांसारिक विषयाच्या आसक्तीमध्ये गुंतून कार्यम् कर्माचा म्हणजेच नियत् कर्माचा त्याग करणे तामस त्याग होय. असा पुरुष 'अधः गच्छति' किड्या मुंगीप्रमाणे अधम योनीत जातो कारण त्याने भजनाच्या उपासनेच्या प्रवृत्तीचा त्याग केलेला असतो. आता पुढे राजस त्यागाविषयी सांगताना म्हणतात–

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्।।८।।

कर्माला दुःखकारक समजून त्याने शरीराला क्लेश होतील या भयाने जो त्याग केला जातो तो राजस त्याग होय. परंतु या राजस त्याग करणाऱ्या व्यक्तीलाही त्यागाच्या फलाची प्राप्ती होत नाही. जो भजन करीत नाही आणि '**कायाक्लेशभयात्**' शरीराला क्लेश होतील या भयाने कर्माचा त्याग केला जातो. तो त्याग राजसी आहे. अशा त्यागाने साधकाला परमशान्ती प्राप्त होत नाही.

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः।।९।।

हे अर्जुना, शास्त्रविधींनी निर्धारित केलेले कर्म करणे कर्तव्य आहे असे समजून आसक्ती व फलाशा यांचा त्याग करून केले जाते त्याला सात्त्विक त्याग असे म्हणतात व म्हणून साधकाने नेहमी नित्य कर्म करावे व याशिवाय असणाऱ्या सर्व प्रकारच्या कर्माचा त्याग करावा. पण हे नित्य कर्म नेहमी करतच राहावे की कधी त्याचाही त्याग करावा? यावर पुढे योगेश्वर म्हणतात–

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः।।१०।।

हे अर्जुना, जो पुरुष '**अकुशल कर्माचा**' म्हणजेच अकल्याणकारक कर्माचा (शास्त्र-नियत कर्म हेच कल्याणकारक कर्म होय याच्या विरूद्ध जे

कर्म असते ते बंधनकारक असल्याने अकल्याणकारक असते.) द्वेष करीत नाही आणि अकल्याणकारी कर्मात जो आसक्त होत नाही, ज्याला करण्यासाठी काही बाकीही राहिलेले नसते असा त्यागवृत्तीचा मनुष्य संशयरहित, ज्ञानवान आणि त्यागी आहे. त्याने सर्व गोष्टींचा त्याग केलेला असतो. परंतु परमप्राप्तीच्या बरोबर हा पूर्णत्याग म्हणजेच संन्यास होय. यापेक्षा दुसरा कोणता सरळ मार्ग आहे का? यावर श्रीकृष्ण म्हणतात–

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।

यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते।।११।।

देहधारी पुरुषांच्या द्वारा (जे आपण पाहतो ते केवळ शरीर नव्हे. श्रीकृष्णांच्या मते प्रकृतीपासून उत्पन्न झालेले सत्व, रज व तम हे तीन गुण या जीवात्म्याला शरीरात बद्ध करीत असतात. जोपर्यंत हे गुण जीवित आहेत, तोपर्यंत तो जीवधारी जिवंत असतो. कोणत्या ना कोणत्या कारणाने शरीर परीवर्तीत होत राहील. जोपर्यंत देहाचे कारण अस्तित्वात असेल, तोपर्यंत ते परीवर्तीत होत राहील.) संपूर्णपणे कर्माचा त्याग कधीच होऊ शकणार नाही. त्यामुळे जो पुरुष कर्माच्या फलाचा त्याग करीत असतो त्यालाच त्यागी म्हंटले जाते. म्हणून जोपर्यंत शरीरामुळे मनुष्य जिवंत असतो तोपर्यंत त्याने नियत-नित्य कर्म करीत राहावे आणि त्या कर्मफलाचा मात्र त्याग करावा. फलाची अपेक्षा मुळीच करू नये. जे सकामी असतात त्यांच्या मात्र कर्माचे फल असते.

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।

भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु सन्न्यासिनां क्वचित्।।१२।।

जे पुरुष सकामी असतात त्यांना मरणोत्तर चांगले, वाईट आणि मिश्र फळ मिळत असते व असे फळ जन्म जन्मांतरापयंत मिळत राहते. परंतु **'सन्यांसिनाम्'** सर्वस्वाचा त्याग केला आहे अशा पूर्ण त्यागी पुरुषांना-संन्याशांना कर्मफळ कधीही बांधू शकत नाही. यालाच शुद्ध संन्यास असे म्हणतात. संन्यास म्हणजे परमोत्कृष्ट अवस्था आहे. चांगल्या-वाईट कर्माचे फळ तसेच संपूर्ण न्यासकालात संन्यासकालात त्यांचा अंत कसा होतो हा

प्रश्न येथे पूर्ण झाला. आता मनुष्याकडून शुभ अथवा अशुभ कर्म होण्याचे काय कारण आहे?

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।

साङ्ख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्।।१३।।

हे महाबाहो, सर्व कर्माच्या सिध्दीला आवश्यक अशी ही पाच कारणे सांख्य सिद्धांतामध्ये सांगितलेली आहेत ती तू माझ्याकडून चांगल्या प्रकारे समजून घे.

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।

विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्।।१४।।

सांख्यदर्शनात कर्ता (हे मन), वेगवेगळी करण-साधने (ज्यांच्या द्वारे क्रिया केली जाते. जर शुभ काम पार पाडावयाचे असेल तर विवेक, वैराग्य, शम, दम, त्याग, अनवरत चिंतनाची प्रवृत्ती त्या कर्माचे कारण असेल. तेच जर अशुभ-नीच प्रकारचे काम असेल तर काम, क्रोध, राग, द्वेष, लोभ इत्यादी त्या कर्माचे कारण असेल, म्हणजे या कारणामुळे त्या त्या प्रकारच्या कर्माला मनुष्य प्रेरित होतो), नाना प्रकारच्या हालचाली-व्यापार (अनंत इच्छा), आधार (म्हणजेच जी इच्छा पूर्ण करण्यासाठी साधनाची साथ असेल ती इच्छा पूर्ण होत असते) आणि पाचवा हेतू-पाचवे कारण म्हणजे दैव अथवा संस्कार-यांचे समर्थन करतात.

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।

न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः।।१५।।

मनुष्य मन, वाणी अथवा शरीर यांच्या योगाने जे जे विहित (शास्त्रनुसार) अथवा निषिद्ध कर्म करतो त्याचे हे पाच हेतू आहेत- ही पाच कारणे आहेत.

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।

पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः।।१६।।

ज्याची बुद्धी संस्कारविहीन आहे असा मनुष्य कैवल्य स्वरूप आत्म्याला कर्ता समजतो. तो मूढ बुद्धीचा पुरुष यथार्थपणे पाहू शकत नाही.

या प्रश्नावर श्रीकृष्णांनी दुसऱ्यांदा भर दिलेला आहे. पाचव्या अध्यायात त्यांनी सांगितले होते की, तो परमेश्वर ना कर्ता आहे, ना करविता आहे, ना क्रियेशी संयोग जोडून देणारा आहे. मग लोकांचे काय म्हणणे असते? मोहामुळे लोकांची बुद्धी आच्छादलेली असल्याने ते काहीही म्हणतात- बोलू शकतात. येथेही ते म्हणतात- कर्माची पाच कारणे असतात. असे असतानाही कैवल्यस्वरूप परमात्म्याला जो कर्ता समजतो, तो मूढबुद्धीचा मनुष्य यथार्थपणे पाहू शकत नाही. अर्थात भगवंत काही करीत नसले, तरी अर्जुनासाठी येथे ते ठामपणे उभे आहेत. '**निमित्तमात्रंभव**' कर्ता-धर्ता मी आहे तू निमित्त बनून उभा रहा- मग महापुरुष काय सांगू इच्छितात?

वास्तविक भगवंत आणि प्रकृती यांच्यामध्ये एक आकर्षण रेखा आहे. जोपर्यंत साधक प्रकृतीच्या मर्यादेत आहे, तोपर्यंत भगवंत काही करीत नाहीत. साधकाच्या अगदी समीप राहूनही ते द्रष्ट्याच्या स्वरूपात राहतात. अनन्य भावाने इष्ट देवाला पकडल्यानंतर ते हृदयरूपी देशाचे संचालक बनतात. साधक प्रकृतीच्या आकर्षण क्षेत्रातून बाहेर पडून भगवंताच्या क्षेत्रात जातो, म्हणजे स्वतः संपूर्ण भगवंतमय बनतो, तेव्हा अशा आपल्या प्रेमळ भक्तासाठी त्याच्यामागे भगवंत नेहमी ठामपणाने उभे असतात. केवळ अशा भक्तासाठी भगवंत हे करीत असतो व म्हणून सदैव भगवंताचे चिंतन करीत राहा.

यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते।।१७।।

ज्या पुरुषाच्या अंतःकरणात 'मी कर्ता आहे' असा भाव नसतो, तसेच ज्याची बुद्धी अलिप्त असते, त्याने जरी या लोकांना ठार मारले तरी तो मारणारा ठरत नाही व कर्माने बांधलाही जात नाही- बद्धही होत नाही. लोकसंबंधीत लोकसंस्काराचा विलय हाच लोकसंहार आहे. आता त्या नियत-नित्य कर्माची प्रेरणा कशा प्रकारे होते? यावर श्रीकृष्ण म्हणतात-

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसङ्ग्रहः।।१८।।

अर्जुना, परिज्ञाता म्हणजे पूर्ण ज्ञानी महापुरुषाकडून **'ज्ञानं'** त्याला जाणण्याच्या विधीपासून आणि **'ज्ञेयं'** म्हणजे जाणण्यास योग्य वस्तूपासून (श्रीकृष्णांनी, यापूर्वी सांगितले आहे- मीच ज्ञेय आहे व मीच जाणण्यास योग्य पदार्थ आहे.)कर्म करण्याची प्रेरणा मिळत असते. प्रथम तर कोणी ज्ञाता महापुरुष असावा, त्याच्याकडून ज्ञान जाणण्याची पद्धती प्राप्त झाली असावी, लक्ष्य ज्ञेयावर दृष्टी ठेवावी तेव्हा कर्माची प्रेरणा प्राप्त होते आणि कर्ता (मनाची ओढ), करण (विवेक, वैराग्य, शम, दम इत्यादी) तसेच कर्माच्या जाणकारीमुळे कर्माचा संग्रह केला जातो. कर्म एकत्र व्हायला लागते. मागे श्रीकृष्णांनी सांगितले होते की, परमची प्राप्ती झाल्यानंतर त्या पुरुषाला कर्म करण्याचे कसलेच प्रयोजन नसते. कर्म केल्याने त्याला कसला लाभ होत नाही किंवा कर्म न केल्याने त्याचे कसले नुकसान होत नाही. परंतु लोकसंग्रहासाठी म्हणजेच मागून येणाऱ्या लोकांच्या हृदयात कल्याणकारी साधनांचा संग्रह व्हावा म्हणून तो कर्म करीत असतो. कर्ता, करण आणि कर्म द्वारा यांचा संग्रह होत असतो. ज्ञान, कर्म आणि कर्ता याचे तीन-तीन भेद आहेत.

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसङ्ख्याने यथावच्छृणु तान्यपि।।१९।।

ज्ञान, कर्म व कर्ताही गुणभेदाने तीन प्रकारचे आहेत असे सांख्यशास्त्रात सांगितले आहे. तेही तू चांगल्याप्रकारे ऐक. प्रथम ज्ञानाचे प्रकार सांगितले आहेत.

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्।।२०।।

अर्जुना, ज्या ज्ञानाने भिन्न भिन्न असलेल्या भूतांच्या ठिकाणी एकच अविनाशी व अविभक्त भाव पाहिला जातो, त्या ज्ञानाला 'सात्त्विक ज्ञान' म्हणतात. ज्ञान म्हणजे प्रत्यक्ष अनुभूती असते. त्याच्याबरोबरच गुणांचा अंत होत असतो ही ज्ञानाची परिपक्व अवस्था होय. आता राजस ज्ञान म्हणजे काय ते पाहा.

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्।।२१।।

ज्या ज्ञानामुळे सर्व भूतांमध्ये असलेल्या भिन्न प्रकारच्या अनेक भावांना अलग अलग करून चांगले कोणते, वाईट कोणते, हे चांगल्या प्रकारे जाणले जाते, त्याला राजस ज्ञान म्हणतात. राजस गुणांची अशी अवस्था असते. तुमचे ज्ञान याच स्तरावरचे आहे. आता तामस ज्ञान बघावे.

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्।।२२।।

जे ज्ञान देहालाच सर्वस्व समजून त्यातच आसक्त राहते, जे युक्तिरहित म्हणजेच जे निरर्थक आहे, तसेच परमात्म्याच्या ज्ञानापासून जे परावृत करणारे व जे तुच्छ-क्षुद्र आहे, त्या ज्ञानास तामस ज्ञान म्हंटले जाते. आता कर्माचे तीन प्रकार बघा.

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते।।२३।।

जे कर्म '**नियतम्**' शास्त्रविधींनी निर्धारित आहे, संगदोष आणि फळाची अपेक्षा न ठेवणाऱ्या पुरुषाकडून राग-द्वेष न करता जे केले जाते, त्या कर्माला सात्त्विक कर्म असे म्हटले जाते. (नित्य कर्म (आराधना) म्हणजे परमात्म्याचे सतत चिंतन करणे होय. या कर्मामुळे परमात्म्यात प्रवेश प्राप्त होत असतो.)

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्।।२४।।

जे कर्म परिश्रमपूर्वक केले जाते, फळाची अपेक्षा करणाऱ्या आणि अत्यंत अहंकारी असणाऱ्या पुरुषाकडून जे केले जाते त्या कर्माला राजस म्हंटले जाते. येथे साधक तेच शास्त्रनिर्धारित नित्य कर्म करीत असतो परंतु फरक एवढाच की तो साधक फळाची इच्छा करतो व अभिमानी असतो. म्हणून अशा पुरुषाकडून केलेले कर्म राजस कर्म असते. आता तामस कर्म पाहा-

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते।।२५।।

जे कर्म अंती नष्ट होणारे आहे, हिंसा-सामर्थ्य यांचा विचार न करता केवळ मोहवश होऊन केले जाते, त्या कर्माला तामस कर्म असे म्हणतात. हे शास्त्रविहित किंवा नित्य नाही हे स्पष्ट आहे, उलट ते भ्रान्तियुक्त आहे. आता कर्त्याचे लक्षण पाहा.

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते।।२६।।

जो कर्ता अनासक्त आहे, निरहंकारी आहे, अहंकाराने कटू वचन जो बोलत नाही, जो धैर्यवान व उत्साही आहे, कर्मामध्ये यशापयश आले तरी हर्षशोकादि विकारांनी जो युक्त होत नाही, म्हणजेच यशापयशाने आपल्या चित्ताची समता ढळू न देता जो कार्यामध्ये सतत प्रवृत्त असतो, त्या कर्त्याला सात्त्विक म्हंटले जाते. ही उत्तम साधकाची लक्षणे आहेत. कर्म मात्र तेच आहे- नित्य कर्म!

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः।।२७।।

विषयासक्त, कर्मफळाची इच्छा धरणारा, लोभी, दुसऱ्यांना पीडा देणारा, अपवित्र आणि हर्ष व शोकाने जो युक्त आहे अशा कर्त्याला राजस म्हंटले गेले आहे.

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठोऽनैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते।।२८।।

जो अस्थिर बुद्धीचा, असभ्य, अहंकारी, कपटी, दुसऱ्यांचे कार्य बिघडवणारा, खिन्न वृत्तीचा, आळशी व दीर्घसूत्री आहे अशा तऱ्हेचा कर्ता तामस म्हंटला जातो. दीर्घसूत्री म्हणजे आजचे कर्म उद्यावर ढकलणारा, त्याला कर्म करण्याची इच्छा होते पण ते उद्यावर ढकलतो अशा प्रकारचा कर्ता तामस असतो. अशा प्रकारे कर्त्याचे लक्षण पूर्ण झाले. आता योगेश्वर श्रीकृष्णांनी एक नवीन प्रश्न घेतला-बुद्धी, धारणा आणि सुखाची लक्षणे-

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय।।२९।।

हे धनंजया, बुद्धी आणि धारणा शक्तीचेही गुणांनुसार होणारे तीन प्रकार मी संपूर्णपणे व वेगवेगळे तूला सांगतो, ते आता ऐक-

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी।।३०।।

हे पार्था, प्रवृत्ति-निवृत्तीला, कर्तव्य-अकर्तव्याला भय आणि अभयाला तसेच बंधन व मोक्षाला जी बुद्धी यथार्थपणे जाणत असते त्या बुद्धीला सात्त्विकी बुद्धी म्हणतात. परमात्मा पथ व आवागमन पथ (येण्याजाण्याचा मार्ग) या दोन मार्गांना चांगल्याप्रकारे जाणणारी बुद्धी सात्त्विकी बुद्धी होय. ज्याप्रमाणे-

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी।।३१।।

हे पार्था, ज्या बुद्धीने मनुष्य धर्म व अधर्म, तसेच कर्तव्य आणि अकर्तव्य, यांना यथार्थपणे जाणत नाही- त्यांबाबत यथार्थ निर्णय घेऊ शकत नाही ती बुद्धी राजसी बुद्धी आहे. आता तामसी बुद्धीचे स्वरूप पाहावे-

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी।।३२।।

जी बुद्धी, तमोगुणाने आच्छादलेली आहे, अधर्माला धर्म मानते, तसेच संपूर्ण हितांना विपरीत पाहते, त्या बुद्धीला तामसी बुद्धी म्हणतात येथे तीस ते बत्तीस श्लोकांमध्ये बुद्धीचे तीन प्रकार सांगितले आहेत. पहिली बुद्धी कोणते कार्य करावे व कोणते करू नये, तसेच कर्तव्य कोणते व अकर्तव्य कोणते, या गोष्टी यथार्थपणे जाणून निर्णय घेते. त्या बुद्धीला सात्त्विकी बुद्धी म्हणतात. जी बुद्धी कर्तव्य आणि अकर्तव्य यांना अस्पष्टपणे जाणते, यथार्थपणे जाणत नाही, त्या बुद्धीला राजसी बुद्धी म्हणतात. तर

अधर्माला धर्म समजणारी, नश्वरास शाश्वत तसेच हितकारक गोष्टीस अहितकारक मानणारी, म्हणजेच सत्याला विपरीत समजणाऱ्या बुद्धीला तामसी बुद्धी म्हणतात. या प्रकारे बुद्धीचे प्रकार येथे सांगून झाले. आता दुसरा प्रश्न येथे प्रस्तुत केला आहे- तो म्हणजे '**धृति**' धारणेच तीन प्रकार-

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।

योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी।।३३।।

'**योगेन**'-हे पार्था, यौगिक प्रक्रियेद्वारा '**अव्यभिचारिणी**' म्हणजे योगचिंतनाशिवाय दुसरे कसले स्फुरण होणे, म्हणजे व्यभिचार होय. योगयुक्तत्वामुळे स्थिर अशा अव्यभिचारिणी धारणेमुळे मनुष्य मन, प्राण आणि इंद्रिये यांच्या सर्व क्रिया व्यवस्थित चालवतो, धारण करतो, ती धारणा सात्त्विकी आहे. अर्थात मन, प्राण आणि इंद्रिये यांना इष्ट दिशेला लावणे म्हणजे सात्त्विक धारणा होय.

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन।

प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी।।३४।।

हे पार्था, फळाची इच्छा असणारा मनुष्य अति आसक्तीमुळे धारणेच्या द्वारा केवळ धर्म, अर्थ व कामाला धारण करतो (मोक्षाला नाही) ती धारणा राजसी आहे. या धारणेत पण लक्ष्य तेच आहे, केवळ कामना करतो. जे काही करतो त्याच्या मोबदल्यात काही तरी मागत असतो- हीच राजसी धारणा होय. आता तामसी धारणेची लक्षणे पाहा-

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।

न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी।।३५।।

हे पार्था, दुर्बुद्ध मनुष्य, ज्याच्या योगाने निद्रा, भय, चिंता, दुःख आणि अभिमान या सर्वांना धारण करतो, ती धारणा तामसी होय. येथे हा प्रश्नही संपला. आता पुढचा प्रश्न आहे सुख!

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।

अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति।।३६।।

हे अर्जुना, आता सुखाचेही तीन प्रकार माझ्याकडून ऐक. त्यापैकी ज्या सुखात साधक अभ्यासाच्या योगाने रममाण होतो. म्हणजेच चित्ताचा निरोध करून इष्टाच्या ठिकाणी रममाण होतो आणि ज्या योगाने त्याच्या दुःखाचा खात्रीने नाश होतो तसेच–

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।

तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्।।३७।।

जे सुख सुरुवातीला, साधनारंभी विषाप्रमाणे कडू असते (प्रल्हादाला सुळीवर चढवण्यात आले, मीरेला विषप्राशन करावे लागले– कबीर म्हणतात '**सुखिया सब संसार है, खाये और सोये । दुखिया दास कबीर है, जागे और रोवे ।**' म्हणून प्रारंभी ते सुख विषाप्रमाणे भासते) परंतु परिणामी ते अमृततुल्य असते– अमृततत्त्व देणारे असते. म्हणून आत्मविषयक बुद्धीच्या प्रसादाने उत्पन्न झालेले सुख सात्त्विक म्हंटले गेले आहे. तसेच–

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।

परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्।।३८।।

जे सुख विषय व इंद्रिये यांच्या संयोंगापासून उत्पन्न होते, ते उपभोगकालात अमृतसदृश परंतु परिणामी ते विषसदृश असते. कारण ते जन्मृत्यूचे कारण असते. त्या सुखाला राजस सुख असे म्हंटले गेले आहे तसेच–

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।

निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्।।३९।।

जे सुख उपभोगकालात व परिणामी आत्म्याला मोह पाडणारे असते, निद्रा '**या निशा सर्वभूतानां**' जगाच्या रात्रीत अचेत ठेवणारे असते, आळस आणि प्रमाद यांच्यापासून जे उत्पन्न झालेले असते, त्याला तामस सुख म्हंटले आहे. आता योगेश्वर श्रीकृष्ण सर्वांच्या मागे लागणाऱ्या गुणांच्या बाबतीत सांगत आहेत–

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।

सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः।।४०।।

हे अर्जुना, प्रकृतीजन्य गुणांपासून मुक्त असा प्राणी या पृथ्वीवर, स्वर्गामध्ये किंवा देवतांमध्येही आढळणार नाही. म्हणजेच ब्रह्मापासून क्षुद्र किटकांपर्यंतचे यावन्मात्र जगत् क्षणभंगुर आहे. जन्म-मृत्यूमध्ये झुलणारे आहे, ते तिन्ही गुणांनी युक्त आहे. देवता सुद्धा त्रिगुणांच्या विकारांनी युक्त आहेत. त्याही नश्वर आहेत.

येथे बाह्य देवतांचा उल्लेख श्रीकृष्णांनी चौथ्यांदा केला आहे. यापूर्वी सातव्या, नवव्या, सतराव्या व अठराव्या अध्यायात देवतांचा उल्लेख आला आहे. त्या सर्वांचा अर्थ एकच आहे की, देवता त्रिगुणांनी युक्त आहेत. त्यामुळे देवतांना भजणारे नश्वराची पूजा करीत असतात.

भागवताच्या तिसऱ्या स्कंधापासून महर्षि शुक्राचार्य तसेच नऊ योगेश्वरांचे प्रसिद्ध आख्यान आहे, ज्यात उपदेश करताना ते म्हणतात की स्त्री-पुरुषांतील प्रेमासाठी शंकर-पार्वतीची, आरोग्यासाठी अश्विनी कुमारांची, विजयासाठी इंद्राची तसेच धनासाठी कुबेराची पूजा करावी. अशा प्रकारे विविध कामनापूर्तीसाठी कोणाकोणाला भजावे हे सांगून शेवटी ते सांगतात की, संपूर्ण कामनापूर्तीसाठी, इच्छापूर्तीसाठी आणि मोक्षप्राप्तीसाठी एकमात्र नारायणाची पूजा केली पाहिजे. "तुलसी मूलहि सींचिए, फलई फलई अधाई" तेव्हा सर्वव्यापक परमेश्वराचे स्मरण करावे व त्या प्रभूला प्राप्त करण्यासाठी सद्‌गुरुला शरण जावे व निष्कपट भावाने सद्‌गुरुला प्रश्न करून शंका निरसन करावे आणि सद्‌गुरुची सेवा करावी. हा एकमात्र उपाय आहे.

आसुरी आणि दैवी संपदा या अंतःकरणाच्या दोन प्रवृत्ती आहेत, यात दैवी संपदा ही परमात्म्याची दिशा दाखवणारी, ईश्वराचे दर्शन घडवून आणणारी प्रवृत्तीही आहे. म्हणून या वृत्तीला दैवी असे म्हंटले जाते. परंतु या प्रवृत्तीही शांत होतात. त्यानंतर त्या आत्मतृप्त योग्याने करण्यासारखे कोणतेही कर्तव्य शिल्लक राहत नाही.

आता या आधीपासून ज्याची चर्चा सुरू आहे त्या वर्णव्यवस्थेचा प्रश्न पुढे चर्चेला घेतला आहे. वर्ण हा जन्मप्रधान असतो की कर्माने प्राप्त झालेल्या अंतःकरण्याच्या प्रवृत्तीचे नाव आहे?

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः।।४१।।

हे परंतपा, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शुद्र यांची त्यांच्या स्वभावजन्य गुणांनुसार विभागणी केली आहे. जर स्वभावात निर्मलता-शुद्धता असेल तर त्या व्यक्तीत ध्यान- समाधीची क्षमता असते. जर स्वभावात आळस, निद्रा, प्रमाद हे गुण असतील, तर त्या प्रकारेच त्यांचे कर्म असते. म्हणजे मनुष्य स्वभावात जो गुण कार्यरत असतो, ज्या गुणाचे प्राबल्य असते तोच मनुष्याचा वर्ण असतो. तेच त्याचे स्वरूप असते. अर्धा भाग सात्त्विक व अर्धा भाग राजस यातून क्षत्रिय वर्ण बनतो आणि अर्ध्याहून कमी तामस तसचे विशेष राजसापासून दुसरा वर्ग!

या प्रश्नाची चर्चा योगेश्वर श्रीकृष्णाने चौथ्यांदा केली आहे. दुसऱ्या अध्यायामध्ये चार वर्णांमधील एक वर्ण जो क्षत्रिय, त्याची चर्चा केली होती आणि क्षत्रियासाठी युद्धाहून अधिक कल्याणकारक दुसरा मार्ग नाही. तिसऱ्या अध्यायात त्यांनी सांगितले की, जे स्वभावतः दुर्बल आहेत त्यांनीही आपल्या स्वभावानुसार, योग्यतेनुसार धर्मामध्ये प्रवृत्त होणे आणि त्या धर्माचे पालन करताना मरणेही परम कल्याणकारक आहे. दुसऱ्यांची नक्कल करणे, अनुकरण करणेही भयावह आहे. चौथ्या अध्यायात सांगितले की, चार वर्णांची सृष्टी मीच निर्माण केली. म्हणजे योगेश्वरांनी स्वतः मनुष्याला चार वर्णात, जातीत विभागले की काय? यावर ते म्हणतात नाही '**गुणकर्म विभागशः**' गुणांच्या योग्यतेप्रमाणे कर्माची चार भागात विभागणी केली आहे. जेथे गुण एक माप आहे, त्याच्या द्वारा मापून कर्म करण्याच्या क्षमतेला चार वर्गात विभागले आहे. श्रीकृष्णांच्या शब्दांत कर्म एकमात्र अव्यक्त पुरुषाच्या प्राप्तीची क्रिया आहे. ईश्वर प्राप्तीचे आचरण '**आराधना**' आहे, जिची सुरुवात फक्त इष्टदेवावरील श्रद्धेने होते. चिंतनाची पद्धती विशेष आराधना आहे. ज्याविषयी यापूर्वी सांगितलेले आहे. या यज्ञार्थ कर्मालाच चार भागांत विभागले आहे. आता आमच्यात कोणते गुण आहेत व ते कोणत्या श्रेणीचे आहेत? यावर योगेश्वर म्हणतात-

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्।।४२।।

मनाचे शमन, इंद्रियांचा निग्रह, पवित्रता, मन, वाणी आणि शरीराने इष्टदेवतेच्या अनुरूप आराधना करणे, क्षमाभाव, मन, इंद्रिये आणि शरीराचा सरळ भाव, आस्तिक बुद्धी अर्थात इष्टदेवामध्ये खरी आस्था, ज्ञान म्हणजेच परमेश्वराची ओळख, विज्ञान अर्थात परमात्म्याकडून प्राप्त होणाऱ्या निर्देशाप्रमाणे जागृत असणे तसेच त्यानुसार चालण्याची क्षमता, ही सर्व ब्राह्मणाची स्वाभाविक कर्मे आहेत. अर्थात जेव्हा स्वभावात ही योग्यता प्राप्त होते, कर्म प्रवाही होऊन स्वभावात मिसळून जाते, तेव्हा तो ब्राह्मण श्रेणीचा कर्ता आहे असे समज तसेच–

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्।।४३।।

पराक्रम, ईश्वरी तेजाची प्राप्ती, धैर्य चिंतनात दक्षता अर्थात '**कर्मसुकौशलम्**' कर्म करण्यात कौशल्य, प्रकृतीच्या संघर्षातून पळून न जाण्याचा स्वभाव, दान अर्थात सर्वस्वाचे समर्पण, सर्व भावावर स्वामीभाव म्हणजेच ईश्वरीभाव– हे सर्व क्षत्रियांच्या स्वभावातून उत्पन्न होणारे कर्म आहे. स्वभावात योग्यता प्राप्त होते तेव्हा तो कर्ता क्षत्रिय आहे. आता पुढे वैश्य तसेच शुद्राविषयी विवेचन केले आहे.

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्।।४४।।

शेती, गोरक्षा (गाईचे पालन) आणि व्यापार हे वैश्यांचे स्वाभाविक कर्म आहे. गोपालनच का? मग म्हशीना काय मारून टाकायचे का? बकऱ्या पाळायच्याच नाही का? गोपालन या शब्दाचा असा अर्थ नाही. वैदिक वाङ्मयामध्ये 'गो' शब्द अंतःकरण तसेच इंद्रियांसाठी प्रचलित होता. गोरक्षा म्हणजे इंद्रियांचे रक्षण, विवेक, वैराग्य, शम, दम यांच्यामुळे इंद्रिये सुरक्षित राहतात, काम, क्रोध, लोभ, मोह यांच्यामुळे इंद्रिये विभक्त होतात– क्षीण होतात. आत्मिक संपत्ती ही स्थिर संपत्ती आहे. ते आपले स्वतःचे धन

आहे, ते एकदा साथीला आले की ते सदैव आपल्याला साथ देते. प्रकृतीच्या द्वन्द्वामध्ये हळूहळू त्यांचा संग्रह करणे हा व्यापार होय. (**'विद्या धनम् सर्व धन-प्रधानम्'** या धनाला प्राप्त करणे व्यापार वाणिज्य होय) शेती? शरीर हेच एक क्षेत्र आहे. त्याच्या अंतःकरणात पेरलेले बी संस्काररूपात बऱ्यावाईट रीतीने वाढते. अर्जुना या निष्काम कर्मामधे बीजाचा म्हणजे आरंभाचा नाश होत नाही. (त्यातल्या कर्माच्या तिसऱ्या श्रेणीमध्ये कर्म अर्थात इष्ट चिंतन-नियत् कर्म) परमतत्त्वाच्या चिंतनाचे जे बीज या क्षेत्रात पडले आहे, त्याला सुरक्षित ठेवणे, त्यात येणाऱ्या विजातीय विकारांचे निराकरण करणे हीच शेती होय.

कृषि निरावहिं चतुर किसाना।
जिमि बुध तजहिं मोह मद माना।। (मानस, ४।१४।८)

या प्रकारे इंद्रियांना सुरक्षित ठेवणे तसेच प्रकृतीच्या द्वन्द्वातून आत्मिक संपत्तीचा संग्रह करणे आणि या क्षेत्रामध्ये परमतत्त्वाच्या चिंतनाचे संवर्धन करणे हे वैश्यांचे कर्म होय.

श्रीकृष्णांचे मते **'यज्ञशिष्टाशिनः'** पूर्ती कालात यज्ञ ज्याला देतो, तोच परात्पर ब्रह्म होय! त्याचे पान करणारे संतजन सर्व पापांतून मुक्त होतात आणि हळूहळू चिंतन क्रियेने बीजारोपण होते. त्याची सुरक्षा म्हणजे शेती होय. वैदिक शास्त्रात अन्नाचा अर्थ आहे परमात्मा! हा परमात्मच एकमात्र अन्न आहे. चिंतनाच्या पूर्तिकालात हा आत्मा पूर्णतः तृप्त होऊन जातो. तो पुन्हा कधी अतृप्त होत नाही, त्याला पुन्हा येरझऱ्या घालाव्या लागत नाहीत. या अन्नाच्या बियाण्याला एकत्र करून वाढविणे ही शेती आहे.

आपल्यापेक्षा उच्च कुळातील व अध्यात्म दृष्ट्या उन्नत स्थितीतील गुरुजनांची सेवा करणे हा शुद्रांचा स्वभावधर्म आहे. येथे शुद्राचा अर्थ नीच श्रेणीचा असा नसून अल्पज्ञ असा आहे. खालच्या श्रेणीचा जो साधक असतो, तो शुद्र होय. प्रारंभिक श्रेणीचा साधक परिचर्येपासूनच आरंभ करतो. हळूहळू त्याच्या हृदयात सेवेने, संस्कारांचे सृजन होईल व मग क्रमशः वैश्य, क्षत्रिय आणि ब्राह्मणापर्यंतचे अंतर कापून वर्णांना पण मागे टाकून ब्रह्मात प्रवेश मिळवेल. स्वभाव परिवर्तनशील आहे. परिवर्तनशील

स्वभावाबरोबरच वर्णाचेही परिवर्तन होऊ शकते. वास्तविक या वर्णाच्या अति उत्तम, उत्तम, मध्यम आणि निकृष्ट अशा चार अवस्था आहेत. कर्मपथावर चालणाऱ्या साधकांच्या वर-खाली चार पायऱ्या आहेत, कारण कर्म एकच असते नियत् कर्म! श्रीकृष्ण म्हणतात की, परमसिद्धीचा प्राप्तीचा हाच एक रस्ता आहे- मार्ग आहे की तुमच्या स्वभावात जी योग्यता आहे- पात्रता आहे तेथूनच चालू करा-

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु।।४५।।

आपापल्या स्वभावजन्य गुणांच्या योग्यतेनुसार प्राप्त झालेल्या कर्माच्या ठिकाणी रत असणाऱ्या मनुष्याला **संसिद्धिम** भगवतप्राप्तीरूपी परमसिद्धी प्राप्त होते. यापूर्वीही श्रीकृष्णांनी सांगितले आहे की, नियत् कर्म केल्याने तुला परमसिद्धी प्राप्त होईल. पण कोणते कर्म? अर्जुना, शास्त्रविधींनी निर्धारित असणारे यथार्थ कर्म तू कर. आता स्वकर्मरत मनुष्याला कशा प्रकारे परमसिद्धी प्राप्ती होते, तो विधी तू माझ्याकडून ऐक.

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।।४६।।

ज्या परमात्म्यापासून सर्व भूतांची उत्पत्ती झाली व ज्या परमात्म्याने हे सर्व जग व्यापले आहे, त्या परमेश्वराची '**स्वकर्मणा-**' आपल्या स्वभावगत कर्माचेद्वारा पूजा करून मनुष्याला परमसिद्धी प्राप्त होते. म्हणून परमात्म्याची भावना आणि परमात्म्याचेच सर्वांगीण अर्चन आणि क्रमाक्रमाने चालणे आवश्यक आहे. ज्याप्रमाणे कोणी एकदम वरच्या इयत्तेत जाऊन बसले तर खालची इयत्ताही हातातून जाईल व वरची इयत्ता तर प्राप्त होणारच नाही. म्हणून या कर्मपथावर क्रमशः चालावे जसे १८/६ मध्ये श्रीकृष्ण म्हणतात की, तुम्ही अल्प ज्ञानी असलात तरी तेथून कर्माला आरंभ करा. तो विधी आहे- परमात्म्यासाठी समर्पण!

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्।।४७।।

चांगल्या प्रकारे अनुष्ठान केलेल्या दुसऱ्या धर्मापेक्षा आपला धर्म गुणरहित– सदोष असला तरी तो परमकल्याणकारक असतो. '**स्वभाव नियतं**' स्वभावसिद्ध कर्म करणाऱ्या मनुष्याला कधीही पाप लागत नाही व जन्म मृत्यूही पुन्हा कधी त्याला प्राप्त होत नाही. साधारणतः साधकांला ठामपणे असे वाटत असते की, आम्ही सेवा करीत राहणारच. ते तर ध्यानस्थ आहेत, चांगल्या गुणांमुळे त्यांचा सन्मान होत असतो. ते लगेच अनुकरण करू लागतात. श्रीकृष्णाच्या मते नक्कल किंवा इर्षा केल्याने काही प्राप्त होत नाही. आपले स्वभावगत कर्म आपल्या क्षमतेनुसार करूनच साधकाला परमसिद्धी प्राप्त होत असते. स्वभावगत कर्म सोडून परमसिद्धी प्राप्त होणार नाही.

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः।।४८।।

कौन्तेया, दोषयुक्त (अल्पज्ञ अवस्थेत दोषाचे बाहुल्य असणारच तेव्हा कर्म असे दोषयुक्त असले तरी) '**सहजं कर्म**' स्वभावसिद्ध जे नियत कर्म– सहज कर्म यांचा त्याग करता कामा नये. कारण अग्नी जसा धुराने युक्त असतो त्याप्रमाणे प्रत्येक कर्म कोणत्या ना कोणत्या दोषाने युक्त असते. साधक जरी ब्राह्मण श्रेणीतील असला तरी कर्म हे करावेच लागते. जोपर्यंत स्थिती प्राप्त होत नाही तोपर्यंत दोष विद्यमान असतात, प्रकृतीचे आवरण अस्तित्वात असते. जेव्हा ब्राह्मण श्रेणीतील कर्म ब्रह्मप्रवेशाबरोबर तेथेच विलय पावते, तेव्हाच दोष तेथे नष्ट होतात. त्यांचा तेथे अंत होतो. मग जेथे कर्माचे प्रयोजन राहत नाही, ती ब्रह्मस्थिती प्राप्त करून घेणाऱ्याचे लक्षण काय असते?

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां सन्न्यासेनाधिगच्छति।।४९।।

ज्याची बुद्धी आसक्तरहित असते, ज्याला कोणतीही इच्छा राहिलेली नसते, ज्याची इंद्रिये त्याच्या ताब्यात असतात अशा पुरुषाला '**संन्यासिनाम्**' परिपूर्ण त्याग केलेल्या अवस्थेत परम नैष्कर्म्य सिद्धी प्राप्त होते. तेथे संन्यास

आणि परम नैष्कर्म्यसिद्धी हे पर्यायरूप आहेत. येथे सांख्ययोगी तेथेच पोहचतो जेथे निष्काम कर्मयोगी पोहोचत असतो. ही उपलब्धी दोन्ही मार्गावर चालणाऱ्यांसाठी समान आहे. आता परम नैष्कर्म्य सिद्धी प्राप्त केलेला पुरुष जसा ब्रह्माला येऊन पोहोचतो, त्याचे पुढे संक्षेपाने चित्रण केले आहे.

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा।।५०।।

हे कौन्तेय, ज्ञानाची अखेरची मर्यादा आहे असे जे ब्रह्म, ते परमसिद्धी प्राप्त केलेला अधिकारी पुरुष कशा प्रकारे प्राप्त करून घेतो तो विधी तू माझ्याकडून सक्षेपाने श्रवण कर. पुढील श्लोकात तोच विधी सांगितला आहे.

बुद्ध्या विशुद्ध्या युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च।।५१।।
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः।।५२।।

हे अर्जुना, शुद्ध बुद्धीने युक्त होऊन, एकान्त व शुभादेशाचे सेवन करणारा, साधनेमध्ये आवश्यक आहे तेवढाच आहार सेवन करणारा, शरीर, मन व वाणी ज्याने आपल्या ताब्यात ठेवले आहे, दृढ वैराग्यसंपन्न असणारा, ध्यानयोगात निरंतर गढून जाणारा, तसेच आपले मन ताब्यात ठेवून शब्दादिक विषयांचा त्याग करून, रागद्वेषाचा पूर्ण त्याग करून–

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते।।५३।।

अहंकार, सामर्थ्य, अभिमान (अहंकार), काम, क्रोध, बाह्य वस्तू व आंतरिक विचारांचा, विकारांचा त्याग करून, ममतारहित, शांत अंतःकरणाचा पुरुष परब्रह्माबरोबर एकरूप होण्यास प्राप्त होतो. आता पुढे पाहा–

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्।।५४।।

अशा प्रकारे ब्रह्मरूप झालेला तो प्रसन्नचित्त योगी कशाचीही आशा ठेवीत नाही. तसेच कुठल्याही गोष्टीबद्दल शोकही करीत नाही. सर्व प्राणिमात्रांचे ठिकाणी त्याची बुद्धी सम होऊन, भक्तीच्या परमोच्च स्थितीत तो असतो. ब्रह्मामध्ये जेथे प्रवेश मिळतो तेथे त्याला श्रेष्ठ भक्ती प्राप्त होते. आता–

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।।५५।।

त्या परमभक्तीच्या द्वारे तो मला तत्त्वाने चांगल्या प्रकारे जाणतो. ते तत्त्व कोणते? मी ज्या प्रभावाने युक्त आहे तो प्रभाव व अजर–अमर–शाश्वत अशा गुणधर्माचा असे मला जाणतो आणि तत्त्वाने मला ओळखून तत्काळ माझ्या प्राप्तिकाळात त्याला भगवंताचे प्रत्यक्ष दर्शन घडते आणि प्राप्तीनंतर तो लगेच स्वतःच्या आत्मस्वरूपाला ईश्वरीय गुणधर्मांनी युक्त समजतो. आत्माही अजर, अमर, शाश्वत, अव्यक्त आणि सनातन आहे, असे जाणतो.

दुसऱ्या अध्यायात योगेश्वर श्रीकृष्णांनी सांगितले होते की, आत्माच सत्य आहे, सनातन आहे, अव्यक्त व अमृतस्वरूप आहे, परंतु या विभूतींनी युक्त आत्म्याला फक्त तत्त्वदर्शी लोकांनीच पाहिले. आता येथे स्वाभाविकपणे एक प्रश्न उपस्थित होतो की वस्तुतः तत्त्वदर्शन आहे तरी काय? बरेच पंचतत्त्व, पंचवीस तत्त्वे मोजायला सुरुवात करतात. परंतु श्रीकृष्णांनी अठराव्या अध्यायात ठामपणाने सांगितले आहे की, परमतत्त्व आहे परमात्मा! व या परमात्म्याला जो जाणतो तोच तत्त्वदर्शी होय. आता जर तत्त्वाची आवड असेल, परमात्मतत्त्वाची आवड असेल तर भजन–चिंतनाची आवश्यकता आहे.

येथे श्रीकृष्णांनी ४९ ते ५९ पर्यंतच्या श्लोकांमध्ये स्पष्टपणे सांगितले आहे की, संन्यासमार्गामध्ये देखील कर्म करावेच लागते. त्यांनी सांगितले, '**संन्यासेन**' संन्यासाच्या द्वारे (अर्थात ज्ञानयोगाने) कर्म करत करत इच्छारहित, आसक्तिरहित तसेच शुद्ध अंतःकरणाचा पुरुष ज्या प्रकारे नैष्कर्म्याच्या परमसिद्धीला प्राप्त होतो, ते आता मी तुला थोडक्यात सांगतो.

प्रकृतिकडे घेऊन जाणारे असे अहंकार, बल, दर्प, काम-क्रोध, मद-मोह इत्यादी विकार जेव्हा शांत होतात आणि विवेक वैराग्य, शम, दम, एकांत सेवन, ध्यान इत्यादी ब्रह्मामध्ये प्रवेश देणारी पात्रता त्याच्यात येते, तो जेव्हा ज्या पात्रतेत परिपक्व होतो, तेव्हा तो ब्रह्म जाणण्यास योग्य होतो. त्या योग्यतेचे नावच पराभक्ती आहे. या योग्यतेद्वारे तो तत्त्वास जाणतो. विभूतींनी युक्त असणाऱ्या भगवंताला तो जाणतो आणि मला जाणून तत्क्षणी तो माझ्यात स्थित होतो. अर्थात ब्रह्म, तत्त्व, परमात्मा आणि आत्मा एक दुसऱ्याचे पर्याय आहेत. एकाची ओळख होताच या सर्वांची ओळख होते. तीच परमसिद्धी, परमगती व परमधाम पण आहे.

म्हणून गीतेचा दृढ निश्चय आहे की, संन्यास आणि निष्काम कर्मयोग या दोन्ही अवस्थेत परम नैष्कर्म्यसिद्धी प्राप्त करण्यासाठी नियत् कर्म (चिंतन) अनिवार्य आहे.

आतापर्यंत संन्याशासाठी भजन-चिंतनावर भर दिला आणि आता समर्पण म्हणून त्या गोष्टीला निष्काम कर्मयोग्यासाठीपण सांगत आहेत.

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्।।५६।।

माझ्या आश्रयाला आलेला पुरुष लेशमात्रही त्रुटी न ठेवता सर्व कर्म करीत माझ्या कृपा प्रसादाने शाश्वत, अविनाशी, परमपदाला प्राप्त होतो. कर्म तेच करावयाचे आहे. नियत् कर्म! यज्ञाची प्रक्रिया! पूर्ण योगेश्वर सद्गुरूंच्या आश्रयाला आलेला साधक त्यांच्या कृपाप्रसादाने शीघ्र परमपद प्राप्त करू शकतो. म्हणून ते प्राप्त करण्यासाठी समर्पण आवश्यक आहे.

चेतसा सर्वकर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव।।५७।।

म्हणून हे अर्जुना, सर्व कर्मे (जेवढी तुझ्याकडून शक्य आहेत तेवढी) मनाने मला अर्पण करून, मला समर्पण करून मत्परायण होऊन, बुद्धियोगाचा आश्रय करून, तू सतत माझ्या ठिकाणी चित्त ठेव. योग एकच असा उपाय आहे की, जो सर्व दुःखाचा अंत करणारा आणि परमतत्त्व परमात्म्यात

प्रवेश देवविणारा आहे. त्याची क्रियापण एकच आहे. यज्ञाची प्रक्रिया-जी मन तसेच इंद्रियांचा संयम, श्वासोच्छवास तसेच ध्यान यावर अवलंबून आहे. ज्याचा परिणाम पण एकच आहे- **'यान्ति ब्रह्म सनातनम्'** श्रीकृष्ण पुढे म्हणतात-

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि।।५८।।

या प्रकारे माझा ठिकाणी निरंतर तुझे चित्त स्थिर कर म्हणजे माझ्या कृपेने मन आणि इंद्रियरूपी दुर्ग तू विनासायास चढून जाशील. **''इन्द्रिय द्वार झरोखा नाना। तहँ तहँ सुर बैठे करि थाना ।। आवत देखहि विषय बयारी । ते हठि देहिं कपाट उधारि ।।** हेच ते दुर्जय दुर्ग! माझ्या कृपाप्रसादाने तू सर्व संकटे तरून जाशील परंतु जर अहंकारामुळे माझे न ऐकशील तर विनाश पावशील, परमार्थापासून च्यूत होशील. पुन्हा यावरच भर देताना ते म्हणतात-

यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति।।५९।।

अहंकाराचा आश्रय घेऊन, तू मी युद्ध करणार नाही असे म्हणत आहेस पण तो तुझा निश्चय व्यर्थ आहे. कारण तुझा स्वभाव, क्षात्रवृत्ती तुला युद्ध करायला भाग पाडेल.

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्।।६०।।

हे कौन्तेया, स्वतःच्या स्वभावसिद्ध कर्माने बद्ध झालेला तू आता मोहवश झाल्याने जे कर्म तू करू इच्छित नाहीस, ते कर्म परवश होऊन- तू करशील. प्रकृतीच्या संघर्षापासून न पळण्याचा तुझ्या क्षत्रिय श्रेणीचा स्वभाव तुला बरोबर तुझ्या कर्माच्या ठिकाणी लावेल, ते कर्म करण्यास तुला भाग पाडेल. येथे हा प्रश्न पूर्ण झाला. आता ईश्वर राहतो कुठे यावर ते म्हणतात-

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारुढानि मायया।।६१।।

हे अर्जुना, ईश्वर सर्व प्राणिमात्रांच्या हृदयात राहतो. तो आपल्या इतक्या जवळ राहतो तरी लोक त्याला जाणू का शकत नाहीत? मायारूपी यंत्रात प्रवेश करून सर्व लोक भ्रमाने चकरा मारत राहतात, म्हणून ते जाणत नाही. हे यंत्र मोठे बाधा निर्माण करणारे आहे. कारण ते नश्वर कलेवरात (शरीरात) सारखे फिरवत असते. मग कोणाला शरण जायचे?

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।।६२।।

म्हणून हे भारता, सर्व भावाने तू त्या ईश्वराला (जो हृदयरूपी देशात स्थित आहे) शरण जा. त्याच्या कृपाप्रसादाने अत्यंत श्रेष्ठ, परमशान्ती व शाश्वत असे परमधाम तुला प्राप्त होईल. म्हणून ध्यान करायचे असेल तर हृदयरूपी देशात करा. हे समजल्यानंतरही मंदिर, मशिद, चर्च किंवा अन्यत्र ईश्वराला शोधणे म्हणजे स्वतःच्या वेळेचा अपव्यय करण्यासारखेच आहे. जोपर्यंत माहीत नाही तोपर्यंत ठीक आहे. भागवताच्या चतुःश्लोकी गीतेचा सारांशही हाच आहे की, मी जरी सर्वत्र व्यापून असलो तरी हृदय देशात ध्यान केल्यानेच मी भक्ताला प्राप्त होत असतो.

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु।।६३।।

याप्रमाणे अत्यंत गुह्यातील गुह्यतम ज्ञान तुला मी सांगितले. याचा पूर्णपणे विचार करून मग तुला जसे करायचे तसे तू कर. मात्र सत्य हेच आहे. शोधण्याचे स्थळ हेच आहे. परंतु हृदयस्थित ईश्वर दिसत नाही. त्यावर उपाय सांगताना श्रीकृष्ण म्हणतात.

सर्वगुह्यतमं भूयः श्रृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्।।६४।।

अर्जुना, सर्व गुह्यातील गुह्य असे माझे रहस्ययुक्त वचन-ज्ञान तू पून्हा ऐक (सांगितले आहे, परंतु पुन्हा ऐक. साधकासाठी इष्ट सदैव उभे असतेच) कारण तू मला अतिशय प्रिय आहेस. यासाठी हे अत्यंत हितावह ज्ञान मी तुझ्यासाठी पुन्हा सांगेन ते आहे काय?

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।।६५।।

तू माझ्या ठिकाणी अनन्य भावाने तुझे चित्त ठेव, तू माझा अनन्य भक्त हो, माझ्या ठिकाणी पूर्ण श्रद्धा ठेव, (माझ्या समर्पणात अश्रुपात व्हायला लागो) मलाच नमस्कार कर, असे करण्याने तू मलाच प्राप्त होशील. तू मला अत्यंत प्रिय असल्याने मी हे तुला प्रतिज्ञापूर्वक सांगतो. मागे सांगितले आहे की, ईश्वर हृदयदेशात स्थित आहे. त्याला शरण जा. येथे सांगतात– मला शरण ये. हे अत्यंत गुह्य वचन तू क्षवण कर की, तू मला शरण ये. वास्तविक योगेश्वर श्रीकृष्ण काय सांगू इच्छितात? हेच की, साधकासाठी सद्गुरुला शरण जाणे अत्यंत आवश्यक आहे. श्रीकृष्ण एक पूर्ण योगेश्वर होते. आता समर्पणाची पद्धत सांगत आहेत.

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।६६।।

सर्वधर्मांचा त्याग करून (अर्थात मी ब्राह्मण श्रेणीचा कर्ता आहे की शुद्र श्रेणीचा, मी क्षत्रिय आहे की वैश्य–हा विचार सोडून) केवळ मला अनन्य भावाने शरण ये. मी तुला सर्व पापांपासून मुक्त करेन. तू शोक करू नकोस.

म्हणजे ब्राह्मण, क्षत्रिय इ. वर्णाबाबत विचार करू नकोस. (की या कर्मपथावर मी कोणत्या स्तरावर आहे?) इष्टदेवाशिवाय अन्य कशाचाही विचार न करता, जो अनन्य भावाने मला शरण येतो त्याच्या क्रमशः वर्ण परिवर्तन उत्थानाची तसचे पापासून मुक्तीची (मोक्षाची) जबाबदारी सद्गुरु स्वतःवर घेतात.

प्रत्येक महापुरुषाने हेच सांगितले आहे, एखादे शास्त्र जेव्हा लिहिले जाते तेव्हा वाटते ते सर्वांसाठी लिहिले आहे, परंतु वस्तुतः ते श्रद्धावान मनुष्यासाठी असते; म्हणून त्याच्यावर भर देऊन सांगितले आहे. आता योगेश्वर स्वतः सांगत आहेत की याचे अधिकारी कोण आहेत?

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति।।६७।।

अर्जुना, तुझ्या हितासाठी कल्याणासाठी हा गीतेचा उपदेश मी तुला सांगितला आहे. तेव्हा तू चुकून सुद्धा तपाचरण न करणाऱ्याला, भक्तिरहित असणाऱ्याला ज्याला हा उपदेश ऐकण्याची इच्छा नाही त्याला, आणि जो माझी निंदा करतो– हे चुकीचे आहे ते चुकीचे आहे– अशा प्रकारे जो खोटी निंदा करतो– नावे ठेवतो म्हणजेच माझा जो मत्सर करतो त्याला हे गुह्यतम गीताशास्त्र कधीही सांगणे योग्य नाही. जो माझी व माझ्या भक्तांची निंदा करतो तो महापुरुष असला तरी त्यालाही माझे हे शास्त्र सांगू नकोस. मग प्रश्न असा निर्माण होतो की हे गीताशास्त्र सांगायचे कोणाला? यावर त्यांचे म्हणणे–

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः।।६८।।

जो मनुष्य माझ्यावर नितांत प्रेम करतो– श्रद्धा ठेवतो त्याने गीतेतील परम रहस्ययुक्त उपदेश माझ्या भक्तांना सांगताच तो निःसंदेह मलाच येऊन मिळतो. अर्थात जो भक्त माझे हे गीताशास्त्र ऐकेल, तोही मलाच प्राप्त होईल. कारण जो गीतेचे मनःपूर्वक श्रवण करेल तो सन्मार्गावर चालेल व भवपार होऊन जाईल. आता त्या उपदेशकर्त्यासाठी ते सांगत आहेत.

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि।।६९।।

सर्व मनुष्यामध्ये यापेक्षा माझे जास्त प्रिय कार्य करणारा असा दुसरा कोणीही नाही व पुढेही या जगात त्याच्यापेक्षा मला अधिक प्रिय दुसरे कोणी होणार नाही. कोणापेक्षा? गीतावचनाचा प्रसार करणाऱ्या माझ्या भक्तापेक्षा! जो माझ्या भक्तांमध्ये माझ्या उपदेशाचा प्रसार करेल. त्यांना त्या मार्गावर चालायला शिकवेल अशा भक्तापेक्षा मला दुसरे कोणीही प्रिय नाही. कारण हितकारक–कल्यणकारक असा हा एकच स्त्रोत आहे–राजमार्ग आहे. आता पाहा अध्ययन!

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः।।७०।।

जो पुरुष आमच्या दोघांच्या धर्मसंवादाचे '**अध्येषते**' चांगल्या प्रकारे अध्ययन करेल त्याच्याकडून ज्ञानयज्ञाच्या द्वारा माझीच उपासना केली गेली, मीच पूजला गेलो, असे समजेन. अर्थात असा यज्ञ की ज्याचा परिणाम ज्ञान आहे व ज्याचे स्वरूप मागे सांगितले आहे, त्याचे तात्पर्य एवढेच आहे– साक्षात्कार होऊन ईश्वररूपाचे होणारे ज्ञान– ओळख असे माझे ठाम मत आहे.

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्।।७१।।

जो मनुष्य श्रद्धायुक्त व मत्सररहित होऊन माझे गीताज्ञान–धर्मसंवाद ऐकेल; तोदेखील पापमुक्त होऊन पुण्य कर्म करणाऱ्या लोकांना मिळणाऱ्या शुभ लोकाला जाईल. अर्थात गीतेनुसार कर्म करण्यास जो असमर्थ आहे त्याने गीताज्ञान श्रवण करावे. त्यालाही उत्तम लोक प्राप्त होईल. कारण तो चित्तामध्ये गीतेचा उपदेश उत्तम प्रकारे ग्रहण करेल. येथे अडुसष्ट ते एक्काहत्तर श्लोकांमध्ये भगवान श्रीकृष्णांनी सांगितले आहे की ज्यांना अधिकार नाही, जे अश्रद्ध आहेत त्यांनी गीतेचा उपदेश लोकांना करू नये, परंतु जे श्रद्धावान आहेत त्याने गीतेचा उपदेश अवश्य करावा. जो माझे गीतावाचन श्रवण करेल तो भक्त मला प्राप्त होईल. कारण गुह्यतम कथा ऐकल्यानंतर पुरुष सन्मार्गावर चालू शकतो. जो माझ्या वचनाचा प्रसार करेल त्याच्याइतके दुसरे मला कोणीही प्रिय नाही. जो गीतेचे अध्ययन करेल त्याच्याकडून मी ज्ञानयज्ञाने पूजला जाईन. यज्ञाचा परिणामच ज्ञान आहे. जो गीतेमध्ये सांगितल्याप्रमाणे कर्म करण्यास असमर्थ असतो, परंतु जो श्रद्धेने ऐकतो त्यालाही पुण्यलोक प्राप्त होईल. या प्रकारे भगवान श्रीकृष्णांनी गीता सांगणे, श्रवण करणे, तसेच अध्ययन करण्याने काय फळ प्राप्त होते ते सांगितले आहे. प्रश्न पूर्ण झाला. आता शेवटी अर्जुनाला विचारतात आता तुला काही समजले का?

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय।।७२।।

हे पार्था, माझे गीताशास्त्र तू एकाग्र चित्ताने ऐकलेस ना? आता तुझा अज्ञानापासून उत्पन्न झालेला मोह पूर्णपणे नष्ट झाला ना? यावर अर्जुन म्हणाला–

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव।।७३।।

हे अच्युता, आपल्या कृपेमुळे माझा मोह नष्ट झाला आहे. मला माझ्या स्वरूपाचे स्मरण झाले आहे. जे रहस्यमय ज्ञान मनुने स्मृतिच्या परंपरेतून पुढे चालू ठेवले होते ते आज अर्जुनाने प्राप्त केले. मी अगदी संशयरहित झालो आहे. मी आता आपल्या आज्ञेचे पालन करेन. प्रारंभी दोन्ही सैन्यांचे निरीक्षण करताना दोन्ही सेनेतील स्वजनांना पाहून अर्जुन व्याकूळ झाला होता व त्याने म्हंटले होते की, गोविंदा, स्वजनांना मारून आम्ही कसे सुखी होणार? अशा युद्धाने शाश्वत कुलधर्म नष्ट होऊन जाईल. पिंडोदक क्रिया नष्ट होईल. वर्णसंकर उत्पन्न होईल. आम्ही लोक समंजस असूनही पाप करण्यास उद्युक्त झालो आहोत. यातून सुटण्याचा उपाय आपण का करू नये? शस्त्रधारी कौरव शस्त्ररहित अशा मला मारतील, तरी काही नुकसान होणार नाही कारण ते मरणसुद्धा मला कल्याणकारक ठरणार आहे. गोविंदा, मी युद्ध करणार नाही, मी लढणार नाही; असे म्हणून शस्त्र खाली ठेवून तो रथाच्या मागील भागी खाली स्वस्थ बसून राहिला होता.

ज्या प्रकारे गीतेमध्ये अर्जुनाने योगेश्वर श्रीकृष्णांसमोर अनेक प्रश्न–उपप्रश्नांची शृंखला उपस्थित केली. जसे अध्याय २/७ मध्ये त्याने विचारले मला परमश्रेय कशाने प्राप्त होईल? ते साधन मला विस्ताराने सांगा. २/५४ मध्ये त्याने विचारले की स्थितप्रज्ञाची लक्षणे कोणती? ३/१ मध्ये तो म्हणतो, जर आपल्या दृष्टीने ज्ञानयोग श्रेष्ठ आहे तर तुम्ही मला भयंकर कर्मे करावयास का सांगत आहात? ३/३६ मध्ये तो विचारतो की, मनुष्याची इच्छा नसताना सुद्धा कोणाच्या प्रेरणेने तो पापयुक्त आचरण करण्यास प्रवृत्त होतो? ४/४

मध्ये– आपला जन्म तर आता झाला आहे आणि सूर्याचा जन्म तर अत्यंत जुना आहे, तर तुम्ही हा योग कल्पाच्या सुरुवातीला सूर्याला सांगितला हे कसे? ५/१ मध्ये– तुम्ही कधी संन्यासाची प्रशंसा करता तर कधी निष्काम कर्माची. या दोन्हीमधून मला परमश्रेय प्राप्त होईल असा एकच मार्ग निश्चितपणे सांगा– ६/१५ मध्ये– मन चंचल आहे मग शिथिल प्रयत्न करणारा श्रद्धावान मनुष्य आपल्याला प्राप्त न होता कोणत्या दुर्गतीला प्राप्त होतो? ८/१,२– गोविंदा, आपण ज्याचे वर्णन केले ते ब्रह्म काय आहे? अध्यात्म म्हणजे काय? अधिदैव, अधिभूत काय आहे? या शरीरामध्ये अधियज्ञ कोण आहे? ते कर्म म्हणजे काय? अंत समयी आपल्याला कशा प्रकारे जाणावे? असे सात प्रश्न विचारले. अध्याय १०/१७ मध्ये अर्जुनाने विचारले– निरंतर आपले चिंतन करणाऱ्या मी कोणकोणत्या भावांद्वारे आपले स्मरण करू? ११/४ मध्ये त्यांना त्याने विनंती केली की, आपण ज्या विभूतींचे वर्णन केले त्यांना मी प्रत्यक्ष पाहू इच्छितो. १२/१ मध्ये आपल्यावर अनन्य श्रद्धा असणारे भक्तजन उत्तम प्रकारे आपली उपासना करतात आणि दुसरे अक्षर, अव्यक्ताची उपासना करीत असतात. या दोघांमध्ये उत्तम योगवेत्ता कोण आहे? १४/२१ त्रिगुणांच्या पलीकडे गेलेला मनुष्य कोणत्या लक्षणापासून युक्त असतो? १७/१– तसेच मनुष्य वरील शास्त्रविधींना सोडून, परंतु श्रद्धायुक्त होऊन, उपासना करीत असेल, तर त्याला कोणती गती प्राप्त होते? आणि १८/१– हे महाबाहो, मी त्याग आणि संन्यासाचे यथार्थ स्वरूप पृथक् पृथक जाणू इच्छितो.

या प्रकारे अर्जुनप्रश्न विचारीत गेला. (त्याने जे प्रश्न विचारले नाहीत, त्या गुह्य रहस्यांना परमेश्वरांनी स्वतः दाखवले) त्याचे समाधान होताच तो संशयरहित होऊन म्हणाला, गोविंदा, आता मी आपल्या आज्ञेचे पालन करेन. वास्तविक हे सर्व प्रश्न मानवमात्रांसाठी आहेत. त्या प्रश्नांचे निरसन झाल्याशिवाय कोणताही साधक श्रेयपथावर पुढे जाऊ शकत नाही. तेव्हा सद्‌गुरुंच्या आदेशाचे पालन करण्यासाठी, श्रेयपथावर पुढे जाण्यासाठी संपूर्ण गीतेचे श्रवण करणे आवश्यक आहे. अर्जुनाचे समाधान झाले व येथेच योगेश्वर श्रीकृष्णाच्या मुखातून स्त्रवत असणाऱ्या गीतास्त्रोतरूपी वाणीचा उपसंहारही झाला.

(अकराव्या अध्यायात आपल्या विराटरूपाचे दर्शन अर्जुनाला करवल्यानंतर योगेश्वर श्रीकृष्णांनी अर्जुनाला सांगितले होते की, अर्जुना, अनन्य भक्तीद्वारा या प्रकारे मी दिसण्यासाठी, परमतत्व जाणण्यासाठी किंवा त्यात प्रवेश करण्यासाठी सुलभ आहे. (११/४) अशा प्रकारे दर्शन करणारे साक्षात माझ्या स्वरूपाला प्राप्त होतात. आणि येथे आता योगेश्वर अर्जुनाला विचारतात– तुझा मोह नष्ट झाला का? यावर अर्जुनाने उत्तर दिले, हो माझा मोह नष्ट झाला आहे. मला माझ्या स्वरूपाचे–कर्तव्याचे स्मरण प्राप्त झाले आहे. आता आपण जसे सांगाल तसे मी करेन. परमतत्त्वाच्या दर्शनाबरोबर अर्जुनाला मुक्त व्हायला पाहिजे. वास्तविक अर्जुनाला तर जे व्हायचे ते होऊन गेले होते; परंतु शास्त्र तर भावी पिढ्यांसाठी असते. त्याचा उपयोग आपल्या सर्वांसाठीही आहे.)

सञ्जय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम्।।७४।।

याप्रमाणे वासुदेव आणि महात्मा अर्जुन (अर्जुन एक महात्मा आहे, साधक आहे, मारण्यासाठी उभा राहिलेला धनुर्धर नाही. म्हणून महात्मा अर्जुन) यांच्यामधील आश्चर्यकारक व रोमांचकारी संवाद मी ऐकला. आपल्यामध्ये हा संवाद ऐकण्याची क्षमता कशी आली? पुढे ते सांगतात–

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम्।।७५।।

श्री व्यासांच्या कृपेने, त्यांनी दिलेल्या दिव्य दृष्टीमुळे मी हा श्रेष्ठ असा गुह्यतम योग साक्षात योगेश्वर श्रीकृष्णाच्या तोंडून ऐकला. संजय श्रीकृष्णाला योगेश्वर मानतात. जो स्वतः योगी आहे आणि दुसऱ्यांनाही योग प्रदान करण्याची क्षमता ज्याच्याजवळ आहे तो योगेश्वर होय.

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः।।७६।।

हे राजा धृतराष्ट्रा, केशव व अर्जुन यांचा परम कल्याणकारक आणि अद्‌भुत संवाद वारंवार आठवून मला अत्यंत पुनःपुन्हा हर्षनिर्भर होत आहे व म्हणूनच या धर्मसंवादाचे पुनःपुन्हा स्मरण केले पाहिजे आणि त्याचे सतत स्मरण करीत प्रसन्न राहिले पाहिजे. आता त्यांच्या स्वरूपाचे स्मरण करीत संजय म्हणतो–

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान् राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः।।७७।।

हे राजन, श्रीहरीचे (जो शुभाशुभ सर्वांचे हरण करूनही स्वयं शेष राहतो त्या हरीचे) अति अद्‌भुत स्वरूप पुनःपुन्हा आठवून मला अत्यंत विस्मय वाटत आहे आणि वारंवार माझे मन हर्षभरीत होत आहे. परम इष्टदेव म्हणजे वारंवार स्मरण करण्याचीच वस्तू आहे. शेवटी संजय निर्णय देतो–

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम।।७८।।

हे राजन, ज्या पक्षात योगेश्वर श्रीकृष्ण आणि धनुर्धर अर्जुन, (ध्यान म्हणजे धनुष्य होय, इंद्रियांची दृढता हे गाण्डीव आहे, अर्थात स्थिरतेबरोबर ध्यान धारण करणारा महात्मा अर्जुन) आहे त्याच पक्षाला राज्यलक्ष्मी, विजय– ज्याला हार नाही ईश्वरीय विभूती आणि चल संसारात अचल राहणारी नीती लाभेल, असे माझे मत आहे.

आज तर धनुर्धर अर्जुन नाही. मग ही नीती, विजय विभूती हे सर्व अर्जुनापुरतेच सीमित झाले काय? परंतु अशी गोष्ट नाही. योगेश्वर श्रीकृष्णाने सांगितलेकी, मी सर्वांच्या हृदयात वसत असतो. आपल्या हृदयातही ते आहेत. अनुराग म्हणजे अर्जुन होय. अनुराग म्हणजे आपल्या अंतःकरणाची इष्टदेवतेकडे पाहण्याची दृष्टी आहे, वृत्ती आहे. जर ईश्वराबद्दल असा अनुराग तुमच्या हृदयात असेल, तर सदैव विजय तुमच्याजवळ आहे आणि अचल स्थिती देणारी नीतीही सदैव तुमच्याजवळ राहील– न की पूर्वी केव्हा होती. जोपर्यंत या जगात प्राणिमात्र असतील, परमात्म्याचा निवास त्यांच्या हृदयदेशात राहील. विकल आत्मा त्याला मिळविण्यासाठी इच्छुक राहील व त्यापैकी

ज्यांच्या हृदयात त्याला प्राप्त करण्याची आवड, प्रेम उमळून येईल, तो अर्जुनाच्या श्रेणीत बसेल, कारण अनुराग म्हणजेच अर्जुन होय. म्हणून मानवमात्र याच्याप्रमाणे कर्म करणारा, प्रेम करणारा बनू शकतो.

निष्कर्ष–

हा गीतेचा अंतिम अध्याय आहे सुरुवातीलाच अर्जुनाने प्रश्न केला होता की, हे प्रभू, त्याग आणि संन्यास या दोहोंतील फरक व त्यांचे स्वरूप मी जाणू इच्छितो. योगेश्वर श्रीकृष्णांनी यावर प्रचलित चार मतांची चर्चा केली. त्यातील एक खरेही होते. याला मिळता–जुळता निर्णय देताना योगेश्वर श्रीकृष्णांनी सांगितले की, कोणत्याही काळात यज्ञ, दान व तप यांचा त्याग करू नये. इच्छा राखणाऱ्यांनाही या गोष्टी शुद्ध करतात. या तीन गोष्टींचे पालन करणे व याच्या विरोधी विकारांचा त्याग करणे म्हणजेच वास्तविक त्याग होय. याला सात्त्विक त्याग म्हणतात. फलांची इच्छा ठेवीत केलेला त्याग राजसी आहे आणि मोहवश होऊन कर्माचाच त्याग करणे म्हणजे तामसी त्याग आहे आणि संन्यासाचा त्याग करणे ही परमोत्कृष्ट अवस्था होय. नियत कर्म आणि ध्यानजनित सुख हे सात्त्विक सुख होय. इंद्रिये आणि विषयांचा भोग राजसी आहे आणि तृप्तीदायक असे अन्न आणि उत्पत्तीरहित दुःखद सुख तामसी असते.

मनुष्यमात्राकडून शास्त्राला अनुकूल किंवा प्रतिकूल कर्म होण्याची पाच कारणे आहेत– कर्ता (मन), पृथक् पृथक् करण–साधने (ज्यांच्या द्वारा क्रिया केली जाते. जर शुभ काम पार पाडावयाचे असेल तर विवेक, वैराग्य, शम, दम हे त्या कर्माचे कारण असेल. तेच जर अशुभ–नीच प्रकारचे काम असेल तर काम, क्रोध, राग, द्वेष इत्यादी त्या कर्माचे कारण असेल), नाना प्रकारच्या अनंत इच्छा! इच्छा अनंत प्रकारच्या असतात. सर्वच पूर्ण होऊ शकत नाही. जी इच्छा पूर्ण करण्यासाठी आधार मिळतो तीच इच्छा पूर्ण होत असते. चौथे कारण आहे आधार (साधन) आणि पाचवे कारण आहे हेतू–दैव (प्रारब्ध किंवा संस्कार) प्रत्येक कार्य होण्यासाठी ही पाच कारणे असतात. परंतु जे कैवल्यस्वरूप परमात्म्याला कर्ता समजतात तो मूढबुद्धी मनुष्य यथार्थ जाणू शकत नाही. अर्थात भगवंत काही करीत

नाहीत. मग अर्जुनाला तर तेच म्हणाले होते की, अर्जुना तू निमित्त मात्र होऊन उभा रहा. कर्ता धर्ता तर मीच आहे. मग त्या महापुरुषांचे म्हणणे काय आहे?

वास्तविक प्रकृती आणि पुरुष यांच्यामध्ये एक आकर्षण रेखा आहे. जोपर्यंत मनुष्य प्रकृतीच्या मर्यादेत वागत असतो, तोपर्यंत त्याला माया प्रेरणा देत असते; आणि जेव्हा त्यापेक्षा वर जाऊन स्वतःला भगवंताला समर्पित करतो आणि जेव्हा भगवंत हृदयरूपी देशाचे संचालक बनतात, तेव्हा अशा आपल्या प्रेमळ भक्तासाठी भगवंत करीत असतात. अशा भक्तांच्या श्रेणीत अर्जुन होता, संजयही होता. आणि सर्वांनी या स्तरापर्यंत पोहचण्याचा प्रयत्न करावा. म्हणजे याठिकाणी भगवान स्वतः प्रेरणा देतात. पूर्ण ज्ञाता महापुरुष, जाणून घेण्याचा विधी आणि ज्ञेय परमात्मा या तिन्ही गोष्टींच्या संयोगाने कर्माची प्रेरणा मिळत असते. तेव्हा एखाद्या अनुभवी महापुरुषाच्या (सद्‌गुरुच्या) सान्निध्यात समजून घेण्याचा प्रयत्न केला पाहिजे.

वर्ण व्यवस्थेचा प्रश्न येथे चौथ्यांदा श्रीकृष्णांनी चर्चेला घेतला आहे. त्यांच्या मते इंद्रियांचे दमन, मनाचे शमन, एकाग्रता, शरीर, वाणी आणि मनाचा इष्टदेवाला अनुरूप असा निग्रह करणे, ईश्वराला जाणणे, ईश्वरीय निर्देशाप्रमाणे चालण्याची क्षमता इत्यादी ब्रह्मामध्ये प्रवेश देववणारी योग्यता ब्राह्मण श्रेणीचे कर्म आहे. शौर्य, मागे न हटण्याचा स्वभाव, सर्व प्रकारच्या भावांवर स्वामीत्व, कर्मामध्ये प्रवृत्त होण्याची दक्षता क्षत्रिय श्रेणीचे कर्म आहे. शूद्र याचा अर्थ जातिविशेष नाही. शूद्र याचा अर्थ अल्पज्ञ, अल्प ज्ञानी असा साधक नियत कर्माच्या चिंतनात दहा तास बसून दहा मिनिटेही त्याचे चिंतन करू शकत नाही. शरीर अवश्य बसलेले आहे, पण तेथे मनाचे जे स्थिर होणे ते मात्र जमत नाही. ते तर हवेत फिरत असते, अशा साधकाचे कल्याण कसे होणार? त्याला आपल्यापेक्षा वरच्या अवस्थेतील साधकाची सेवा केली पाहिजे अथवा सद्‌गुरुची सेवा करायला हवी. हळुहळू त्यांच्यातही संस्कारांचे सृजन होईल, गती निर्माण होईल. म्हणजे या अल्प ज्ञानी साधकाचे कर्म सेवेनेच सुरू होईल. कर्म एकच आहे– नियत कर्म, चिंतन! त्याच्या कर्त्याच्या चार श्रेणी अति उत्तम, उत्तम, मध्यम आणि

निकृष्ट म्हणजेच ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शुद्र!

परमतत्त्व स्पष्ट करीत असताना त्यांनी सांगितले की, अर्जुना, आता परम सिद्धी प्राप्त करण्यासाठी असणारा विधी सांगतो की, जी ज्ञानाची उत्कृष्ट निष्ठा आहे, विवेक वैराग्य, शम, दम, निरंतर चिंतन आणि ध्यानाची प्रवृत्ती, ब्रह्मामध्ये प्रवेश देववणारी सर्व प्रकारची योग्यता या सर्व गोष्टी परिपक्व होतात, काम, क्रोध, मोह, राग-द्वेषादि या प्रकृतीमध्ये ओढणाऱ्या प्रवृत्ती जेव्हा शांत होतात तेव्हा व्यक्ती ब्रह्मामध्ये जाण्यास योग्य होतात, त्याच योग्यतेचे नाव पराभक्ती आहे. पराभक्तीद्वाराच तो तत्त्वाला जाणू शकतो. पण तत्त्व म्हणजे काय? त्यांनी सांगितले की, ज्या विभूतींनी मी युक्त आहे त्याला तो जाणतो. अव्यक्त, शाश्वत, अपरिवर्तनशील अशा अलौकिक गुणधर्मयुक्त मला परमात्म्याला तो जाणतो आणि असे जाणून तो तत्क्षणी माझ्यामध्ये स्थिर होतो. हे तत्त्व-परमतत्त्व आहे. पाच की पंचवीस तत्त्वे म्हणजे हे तत्त्व नाही. या परमतत्त्वाच्या प्राप्तीबरोबर आत्मा त्याच स्वरूपात स्थिर होतो. त्याच गुणधर्मांनी तो युक्त होतो.

ईश्वराचा निवास सांगताना योगेश्वर श्रीकृष्णाने सांगितले, अर्जुना, तो ईश्वर सर्व भूतमात्रांच्या हृदयदेशामध्ये निवास करीत असतो; परंतु मायारूपी यंत्रावर आरूढ होऊन लोक दुसरीकडे भरकटतात म्हणून ते इश्वराला जाणत नाहीत. म्हणून हे अर्जुना, तू हृदयदेशात स्थित असणाऱ्या त्या ईश्वराला शरण जा. यापेक्षाही गुह्यतम असे एक रहस्य आहे व ते म्हणजे संपूर्ण धर्मांची चिंता सोडून तू माझ्या आश्रयाला ये, म्हणजे तू मला प्राप्त होशील. हे रहस्य अनाधिकारी पुरुषाला सांगता कामा नये, जो भक्त नाही त्यालाही सांगता कामा नये; परंतु जो भक्त आहे त्याला अवश्य सांगितले पाहिजे, त्याच्याशी अंतर ठेवून वागलो- दुरावा ठेवला तर त्याचे कसे कल्याण होणार? शेवटी योगेश्वर श्रीकृष्णांनी विचारले- अर्जुना, मी तुला जे काही सांगितले ते तू नीट ऐकलेस ना? तुला ते नीट समजले ना? तुझा मोह नष्ट झाला की नाही? यावर अर्जुन म्हणाला, भगवन, माझा मोह नष्ट झाला आहे. मला कर्तव्याचे स्मरण झाले आहे. आपण जे सांगत आहात तेच सत्य आहे आणि आता मी तसेच करेन.

या दोघांचा संवाद ज्याने चांगल्या प्रकारे ऐकला तो संजय आपला निर्णय देताना म्हणतो की, श्रीकृष्ण महायोगेश्वर आहेत व अर्जुन एक महात्मा आहे. त्यांच्या संवादाचे वारंवार स्मरण करून तो आनंदित होत आहे, म्हणून त्याचे (संवादाचे) वारंवार स्मरण करावे. त्या हरीच्या स्वरूपाला आठवूनही तो वारंवार हर्षित होत आहे, तेव्हा वारंवार वासुदेवाचे स्मरण केले पाहिजे. त्याचे ध्यान करीत राहिले पाहिजे. ज्या पक्षात योगेश्वर श्रीकृष्ण आणि महात्मा अर्जुन आहेत तेथेच 'श्री' आहे. विजय-विभूती आणि ध्रुवनीती पण तेथेच आहे. सृष्टीची नीती आज आहे तर उद्या ती बदलेल. ध्रुव तर एकच परमात्मा आहे. त्यात प्रवेश देवविणारी नीती, ध्रुवनीतीपण तीच आहे. जर कृष्ण आणि अर्जुनाला द्वापारकालीन व्यक्तीविशेष मानले, तर आज अर्जुनही नाही व श्रीकृष्णही नाही. आपल्याला तर विजयही मिळवायचा नाही, ना विभूती. मग तर गीता आपल्यासाठी व्यर्थ आहे. परंतु नाही, श्रीकृष्ण एक योगी होते. प्रेमळ हृदयाचा महात्मा अर्जुन आहे. ते दोघेही सदैव राहतात व सदैव राहतील. श्रीकृष्णांनी आपला परिचय देताना सांगितले की, मी अव्यक्त असलो तरी ज्या भावाला मी मिळलो आहे, तो ईश्वर सर्वांच्या हृदयदेशात निवास करतो. त्याचा सदैव तेथेच वास असतो व सदैव राहील. सर्वांनी त्या ईश्वराला शरण गेले पाहिजे. शरण जाणाराही महात्मा आहे, अनुरागी आहे व अनुराग म्हणजेच अर्जुन होय. यासाठी एखाद्या स्थितप्रज्ञ महापुरुषाला शरण जाणे अत्यंत आवश्यक आहे, कारण तेच स्फूर्ती देणारे- प्रेरणा देणारे प्रेरक आहेत.

या अध्यायात श्रीकृष्णांनी संन्यासाचे स्वरूप स्पष्ट केले आहे की, सर्वस्वाचा त्याग म्हणजेच संन्यास होय. केवळ वेष धारण करणे म्हणजे संन्यास नव्हे; परंतु याच्या बरोबर एकांताचे सेवन करीत, नियत कर्मात आपली शक्ती समजून अथवा समर्पणाबरोबरच सतत प्रयत्नशील राहणे अपरिहार्य आहे. प्राप्तीबरोबरच संपूर्ण कर्माचा त्याग म्हणजेच संन्यास होय, जो मोक्षाचा पर्याय आहे. हीच संन्यासाची पराकाष्ठा आहे.

ॐ तत्सदिति श्रीमद्‌भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे 'संन्यासयोगो' नामाष्टादशोऽध्यायः।।१८।।

याप्रमाणे श्रीमद्‌भगवद्‌गीतारूपी उपनिषदातील ब्रह्मविद्यांतर्गत योगशास्त्रातील श्रीकृष्ण आणि अर्जुन यांच्या संवादातील 'संन्यास योग' नावाचा अठरावा अध्याय समाप्त झाला.

इति श्रीमत्परमहंस परमानन्दस्य शिष्य स्वामीअड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्भगवद्गीतायाः 'यथार्थगीता' भाष्ये 'संन्यासयोगो' नाम अष्टादशो-ऽध्यायः।।१८।।

अशा प्रकारे श्रीमत्परमहंस परमानन्दजींचे शिष्य स्वामी अडगडानन्दकृत श्रीमद्‌भगवद्‌गीतेवरील भाष्य 'यथार्थ गीता' यामधील 'संन्यास योग' नावाचा अठरावा अध्याय समाप्त झाला.

।। हरि ॐ तत् सत्।।

उपसंहार

साधारणतः कोणत्याही टीकेमध्ये लोक नवीन गोष्ट शोधतात; परंतु वस्तुतः सत्य हे सत्यच असते. ते कधी नवीन होत नाही किंवा ते कधी जुनेही होत नाही. नवीन बातम्या तर वर्तमानपत्रामध्ये छापल्या जातात. त्या उत्पन्न होणाऱ्या व नाश पावणाऱ्या घटना असतात. सत्य हे अपरिवर्तनशील असते, त्यामुळे दुसरे कोणी त्याबाबतीत म्हणेल तरी काय? जर काही म्हणत असतील तर त्यांनी काही प्राप्त केले नाही- मिळविले नाही. श्रीकृष्णदेखील तेच सत्य येथे सांगत आहेत. त्या परमलक्ष्यापर्यंत पोहचलेला प्रत्येक महापुरुष एकच गोष्ट सांगेल. तो समाजामध्ये दरी पाडू शकत नाही. जर तो समाजात अशी दरी पाडेल. वाद निर्माण करेल, तर हे सिद्ध आहे की त्याने काहीही प्राप्त केले नाही. येथे श्रीकृष्ण तेच सत्य सांगत आहेत जे पूर्वी ऋषी-मुनींनी पाहिले होते. आणि भविष्यकाळातील ऋषीमुनीदेखील, परमात्म्याला प्राप्त केल्यानंतर हेच सत्य सांगतील.

महापुरुष आणि त्यांची कार्यप्रणाली- महापुरुष जगामध्ये सत्याच्या नावावर पसरलेल्या आणि सत्याप्रमाणे प्रतीत होणाऱ्या कुरुढींचे दुष्ट पध्दतीचे शमन करून कल्याणाचा मार्ग प्रशस्त करून देतात. हा कल्याणाचा मार्ग - पथ प्रथमपासूनच असतो; परंतु त्याच्यासारखे भासणारे इतर अनेक मार्ग प्रचलित होतात. त्यामुळे त्यातून सत्याला वेगळे करणे फार कठीण जाते. महापुरुष सत्यस्थित असल्याने ते सत्याशी ओळख करून घेतात, त्याला निश्चित करतात आणि सत्याला सामोरे जाण्यासाठी समाजाला प्रेरणा देतात. हेच श्रीरामाने केले, तेच महावीराने केले तेच बुद्धाने केले, तेच येशूने केले, तेच महम्मद पैगंबराने केले, तेच महात्मा कबीर, गुरुनानक इत्यादी सर्व महापुरुषांनी केले. महापुरुष जेंव्हा या जगातून निघून जातो तेंव्हा मागे राहिलेले त्याचे भक्त - चाहते त्याने दाखवलेल्या मार्गावर न चालता त्याचे जन्मस्थान, मृत्युस्थळ व इतर स्थळे जेथे जेथे तो गेला होता त्याची पूजा करतात.

त्यानंतर ते त्याची मूर्ती बनवून त्या मूर्तीची पूजा करतात. परंतु कालांतराने ते भ्रमात पडतात आणि मग तोच भ्रम रुढीचे स्वरूप धारण करतो.

योगेश्वर श्रीकृष्णांनी देखील तत्कालीन समाजात सत्याच्या नावावर पोसल्या गेलेल्या रीती रिवाजांचे खंडन करून समाजाला प्रशस्त पथावर आणून उभे केले. अध्याय २/१६त त्यांनी सांगितले, असत् वस्तूचे तर अस्तित्वच नसते आणि सत्चा सत्याचा तिन्ही काळात अभाव असत नाही. भगवान असल्याने मी हे माझ्यातर्फे सांगत नाही. परंतु यांचे अंतरंग तत्त्वदर्शकांनी पाहिले आणि मी तेच सांगणार आहे. तेराव्या अध्यायात त्यांनी क्षेत्र-क्षेत्रज्ञाचे वर्णन त्या प्रकारे केले जे 'ऋषिभिर्बहुधागीत' ऋषींद्वारे साधारणपणे गायले गेले होते. अठराव्या अध्यायात त्याग आणि संन्यासाचे तत्त्व दाखवत त्यांनी चार मतांमधील एकाचे विवरण केले व त्या मताला पुष्टी दिली.

संन्यास- कृष्णकालात अग्नीला न शिवणारा तसेच चिंतनाचा त्याग करून आपल्याला योगी, संन्यासी म्हणविणारा संप्रदाय पण फोफावत होता. त्याचे खंडन करीत त्यांनी स्पष्ट केले की ज्ञानमार्ग तसेच भक्तिमार्ग दोन्हींमधील कोणत्याही मार्गाने कर्माचा त्याग करण्यास सांगितले नाही. कर्म तर करायलाच हवे. कर्म करत करत साधना इतकी सूक्ष्म होत जाते की सर्व संकल्पाचा अभाव होतो- तो पूर्ण संन्यास आहे, मधल्या रस्त्यावर, संन्यास नावाची कोणती वस्तू नाही. केवळ कर्माचा त्याग केल्याने, तसेच अग्नीला न शिवण्याने कोणी संन्यासी होत नाही की कोणी योगीही होत नाही. याविषयी अध्याय दोन, तीन, पाच, सहा आणि विशेषकरुन अठरामध्ये पाहता येते.

कर्म- अशाच प्रकारचा भ्रम कर्मासंबंधीही पाहावयास मिळतो. अध्याय २/३९ मध्ये त्यांनी सांगितले की अर्जुना, आजपर्यंत ही बुध्दी तुझ्यासाठी सांख्ययोगाच्या विषयी सांगितली गेली. आणि आता याविषयी तू निष्काम कर्माच्या संदर्भात ऐक. याने परिपूर्ण होऊन तू कर्माच्या बंधनाचा चांगल्या प्रकारे नाश करू शकशील. याचे थोडेही आचरण जन्म-मरणाच्या महान भयापासून उध्दार करविणारे होते. या निष्काम कर्मामध्ये निश्चयात्मक क्रिया

एकच आहे. बुध्दी एकच आहे. दिशा पण एकच आहे. परंतु अविवेकी लोकांची बुध्दी अनेक शाखा-उपशाखांनी युक्त असते. त्यामुळे कर्माच्या नावावर अनेक क्रियांचा विस्तार करतात. अर्जुना, तू नियत कर्म कर. अर्थात, क्रिया पुष्कळ प्रकारच्या आहेत, पण त्या सर्व क्रिया म्हणजे कर्म नव्हे. कर्म म्हणजे एक निर्धारित दिशा होय. कर्म एक अशी वस्तू आहे जी जन्मजन्मांतरापासून चालत आलेल्या शरीराच्या यात्रेचा अंत करते. एक जरी जन्म घ्यायला लागला तर यात्रा पूर्ण कशी व कुठे झाली.

यज्ञ- ते नियत कर्म आहे कोणते? श्रीकृष्णांनी स्पष्ट केले की **'यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबंधनः'** अर्जुना, यज्ञाची प्रक्रिया म्हणजेच कर्म होय. त्याव्यतिरिक्त जे काही केले जाते ते या लोकी बंधन आहे, कर्म नव्हे, कर्म तर या संसार बंधनापासून मोक्ष देवविते आता तो यज्ञ काय आहे? की ज्याला कार्यान्वित केले तर कर्म संपादिले जाईल? अध्याय चारमध्ये श्रीकृष्णाने तेरा चौदा पध्दतींनी यज्ञाचे वर्णन केले आहे. जे सर्व मिळून परमात्म्यात प्रवेश देवविणारी विधी-विशेषांचे चित्रण आहे. योगाची क्रिया आहे. जो योग श्वासाने, ध्यानाने, चिंतन व इंद्रियनिग्रह इत्यादींनी सिध्द होणार आहे. श्रीकृष्णाने हेही स्पष्ट केले आहे की भौतिक द्रव्यांशी या यज्ञाचा काहीही संबंध नाही. भौतिक द्रव्यांनी सिध्द होणारे यज्ञ अत्यल्प आहेत. मग तुम्ही करोडो रुपयांचे हवन का न करा! संपूर्ण यज्ञ तर मन आणि इंद्रियांच्या अंतःक्रियेने सिध्द होत असतात. पूर्ण झाल्यावर यज्ञ ज्याची सृष्टी करता, त्या अमृततत्त्वाच्या जाणकारीचे नाव ज्ञान आहे. त्या ज्ञानामृताचे पान करवणारे योगी सनातन ब्रह्मात प्रवेश मिळवतात. जेथे प्रवेश मिळवायचा होता तो मिळाला तर परत त्या पुरुषाचे कर्माशी काही प्रयोजन नाही. म्हणून यावन्मात्र कर्म त्या साक्षात्कारासहित ज्ञानात शिल्लक राहतात. कर्म करण्याच्या बंधनातून तो मुक्त होतो. या प्रकारे निर्धारित यज्ञाला कार्यरुप देणे हेच कर्म आहे. कर्माचा शुध्द अर्थ आहे- आराधना!

या नियत कर्म, यर्थाथ कर्म अथवा तदर्थ कर्माच्या व्यतिरिक्त गीतेमध्ये इतर कोणतेही कर्म सांगितलेले नाही. श्रीकृष्णांनी ठिकठिकाणी भर दिला आहे. सहाव्या अध्यायात यालाच त्यांनी 'कार्यम् कर्म' असे म्हटले आहे.

सोळाव्या अध्यायात त्यांनी सांगितले की, काम, क्रोध आणि लोभ यांचा त्याग केल्यावरच ते कर्म सुरू होते, जे परमश्रेयाला देवविणारे आहे. सांसरिक कर्मांमध्ये तर जो जितका व्यस्त, तितके त्याच्याजवळ काम-क्रोध आणि लोभ विशेष पण सजून धजून समृध्द झालेले असतात. याच नियतकर्माला त्यांनी शास्त्र विधानोक्त कर्म असे म्हंटले आहे. गीता आपल्यातच पूर्ण शास्त्र आहे- सर्वोपरी शास्त्र वेद आहेत. वेदांचे सार उपनिषद आहे आणि त्या सर्वांचा सारांश योगेश्वर श्रीकृष्णाची ही वाणी- म्हणजे गीता आहे. अध्याय सतराव्यात आणि अठराव्यात देखील शास्त्रविधीने निर्धारित कर्म, नियत कर्म, कर्तव्य कर्म आणि पुण्य कर्म सुचवून त्यांनी वारंवार दृढ केले की, नियत कर्मच परम कल्याणकारक आहे.

योगेश्वर श्रीकृष्णांनी इतके भारपूर्वक सांगूनसुद्धा आपण नियत कर्म न करून, श्रीकृष्णाचे सांगणे न मानून उलट-सुलट कल्पना करतो की, या जगात जे काही केले जाते ते सर्व कर्म आहे. त्यासाठी काहीही त्याग करण्याची आवश्यकता नाही. फक्त फळाची कामना करू नका- हा झाला निष्काम कर्मयोग! कर्तव्य भावनेने कर्म करावे- हा झाला समर्पण योग! या प्रकारे यज्ञाचे नाव येताच आम्ही भूतयज्ञ, पितृयज्ञ, पंचयज्ञ, विष्णूच्या निमित्त केला जाणारा यज्ञ आयोजित करतो व त्यांच्या क्रियेमध्ये स्वाहा म्हणून उभे राहतो. जर श्रीकृष्णाने स्पष्ट काही सांगितले नाही तर आम्ही काहीही करावे, जर सांगितले आहे तर जेवढे सांगितले तेवढेच मानून घ्यावे. परंतु आम्ही तसे मानू शकत नाही. परंपरेने, पिढ्यान् पिढ्या अनेक रीतीरिवाज, पूजा पद्धती आमच्या डोक्यात ठसलेले आहेत. बाह्य वस्तू आम्ही विकून तिच्यापासून दूर होऊ शकतो. परंतु हे पूर्वग्रह आमच्या डोक्यात ठसलेले असल्याने ते आमच्याबरोबरच चालतात. श्रीकृष्णांचा उपदेश सुद्धा आम्ही आमच्या अनुरूप बदलून स्वीकार करतो. गीता तर अत्यंत बोधगम्य, सरळ संस्कृतमध्ये आहे. आपण अन्वयार्थच घेतला तर कधीही संदेह होणार नाही. हाच प्रयत्न प्रस्तुत पुस्तकात केला आहे.

युद्ध- जर यज्ञ व कर्म हे दोन प्रश्न यथार्थ समजून घेतले तर युद्ध, वर्णव्यवस्था, वर्णसंकर, ज्ञानयोग, कर्मयोग अथवा थोडक्यात संपूर्ण गीताच आपल्याला समजेल. अर्जुन लढू इच्छित नव्हता. त्याने धनुष्य खाली ठेवून

तो रथाच्या मागील बाजूला बसून राहिला, परंतु योगेश्वर श्रीकृष्णांनी एकमात्र कर्माचे शिक्षण देऊन कर्माला केवळ दृढ केले एवढेच नाही तर अर्जुनाला त्या कर्माप्रमाणे चालायला प्रवृत्त केले. युद्ध झाले यात संशय नाही. गीतेमध्ये पंधरा-वीस श्लोक असे आहेत की, ज्यात वारंवार सांगितले आहे की, अर्जुना तू युद्ध कर. परंतु एकही श्लोक असा नाही जो मारामारी किंवा काटछाटचे समर्थन करतो. (उदा. अध्याय २, ३, ११, १५ व १८) कारण ज्या कर्मावर भर दिला ते कर्म होते नियत कर्म! जे एकान्ताच्या सेवनाने चित्ताचा सर्व बाजूंनी निग्रह करून ध्यान करण्याने होत असते. जर कर्माचे हेच स्वरूप आहे- चित्त एकांतात व ध्यानात लावणे- तर मग युद्ध कसले? तर गीतेत सांगितलेले कल्याणकारी वचन युद्ध करणाऱ्यांसाठी आहे तर आपण गीतेचा पिंड सोडून द्या. आपल्यासमोर अर्जुनासारखी युद्धाची परिस्थिती तर नाही. वास्तविक तेव्हाही ती परिस्थिती विद्यमान होती व आजही जशीच्या तशीच आहे. जेव्हा चित्ताचा सर्व बाजूंनी निग्रह करून तुम्ही हृदयदेशात ध्यान करू लागाल, तेव्हा काम, क्रोध, राग द्वेष हे विकार आपल्या चित्ताला स्थिर टिकू देणार नाहीत. त्या विकारांशी संघर्ष करणे, त्यांचा अंत करणेच युद्ध होय. विश्वात युद्ध तर होतच राहतात. परंतु त्यामुळे कोणाचे कल्याण होत नाही. या जगात शांतीही त्यामुळे राहात नाही. जेव्हा शांती प्राप्त होते, तेव्हा हा आत्मा आपल्या शाश्वत स्वरूपास मिळतो. ही एकच शांती आहे. तिच्या पश्चात अशांती नाही. परंतु ही शांती साधनेने प्राप्त करता येते. त्याच्यासाठी नियत कर्माचे विधान आहे.

वर्ण- त्या कर्मालाच चार वर्णांमध्ये वाटले आहे. चिंतन तर सर्वच करतात, परंतु कोणी श्वासोश्वासाची गती थांबविण्यात सक्षम होतील तर कोणी आरंभीच दोन तास चिंतनात बसतील पण दहा मिनिटे पण स्वरूपाला एकचित्ताने ते मिळू शकत नाही. अशा स्थितीतला अल्पज्ञ साधक शुद्र श्रेणीचा आहे. त्याने आपल्या स्वाभाविक क्षमतेनुसार सेवेनेच कर्माला प्रारंभ करावा व क्रमशः वैश्य, क्षत्रिय व ब्राह्मण श्रेणीची क्षमता ह्याच्या स्वभावात निर्माण होत जाईल. तो क्रमशः उन्नत होत जाईल. पण ती ब्राह्मण श्रेणीही सदोष आहे, कारण आजही ते ब्रह्म निराळे आहे. ब्रह्मात प्रवेश

मिळविल्यावर तो ब्राह्मणपण राहत नाही. वर्णाचा अर्थ आहे आकृती! हे शरीर आपली आकृती नाही. आपली जशी वृत्ती तशी आपली आकृती असते. श्रीकृष्ण म्हणतात– अर्जुना, पुरुष श्रद्धाशील आहे. त्यामुळे कोठे ना कोठे त्याची श्रद्धा अवश्य असते. त्याची श्रद्धा जशा प्रकारची असेल त्या प्रकारचा तो स्वयं असेल. जशी वृत्ती तसा तो पुरुष. वर्ण, कर्माच्या क्षमतेचा आंतरिक दंड आहे, परंतु लोकांनी नियत कर्म सोडून बाहेर समाजात जन्माच्या आधारावर जातींना वर्ण मानून त्यांचे जीवन निश्चित करून दिले. वास्तविक ती फक्त एक सामाजिक व्यवस्था होती. ते कर्माचे यथार्थ स्वरूप तोडून–मोडून टाकतात कारण आपल्या खुळचट सामाजिक मर्यादा व जीवनाला धक्का बसू नये. कालांतराने वर्णाची धारणा केवळ जन्माने होऊ लागली. वास्तविक असे काही नाही. श्रीकृष्णांनी सांगितले की चार वर्णांची सृष्टी मी केली. भारताच्या बाहेर सृष्टी नाही का? अन्यत्र तर या जातींचे अस्तित्वही नाही. फक्त भारतातच अंतर्गत लाखो जाती–उपजाती आहेत. श्रीकृष्णाने मनुष्याची वाटणी केली होती का? नाही '**गुणकर्म विभागशः**' गुणाच्या आधारावर कर्म वाटले गेले '**कर्माणि प्रविभक्तानि**' कर्म वाटले गेले. कर्म समजले तर वर्ण समजायला लागेल. मगच वर्णसंकराचे यथार्थ स्वरूप तुम्ही समजू शकाल.

वर्णसंकर– या कर्मपथापासून च्यूत होणे म्हणजेच वर्णसंकर आहे. आत्म्याचा शुद्ध वर्ण आहे परमात्मा! त्यात प्रवेश देवविणाऱ्या कर्मापासून दूर होऊन प्रकृतीमध्ये मिसळून जाणे हाच वर्णसंकर होय. श्रीकृष्णाने स्पष्ट केले की हे नियत कर्म केल्याशिवाय परमात्म्याच्या स्वरूपाला कोणी प्राप्त करू शकत नाही. आणि या स्वरूपाची प्राप्ती झालेल्या महापुरुषाला कर्म केल्याने काही फायदा होत नाही व कर्माचा त्याग केल्याने त्याचे काही नुकसानही होत नाही. तरीही लोकसंग्रहासाठी ते कर्म करीत असतात. त्या महापुरुषांप्रमाणे मलाही अप्राप्य अशी कोणतीही वस्तू या जगात नाही. तरीसुद्धा मागून येणाऱ्या लोकांच्या हितासाठी मी कर्मामध्ये रत असतो. जर असे केले नाही तर वर्णसंकर होईल. स्त्रिया दूषित झाल्याने, भ्रष्ट झाल्याने, वर्णसंकर होतो हे ऐकले होते, परंतु येथे श्रीकृष्ण सांगतात की, स्वरूपस्थ महापुरुषाने कर्म केले नाही तर लोकांत वर्णसंकर होईल. त्या महापुरुषाची

नक्कल करून, आराधना बंद केल्याने वर्णसंकर होतो. ते लोक प्रकृतीमध्ये भटकत राहतील. व मग वर्णसंकर होईल. कारण हे कर्म करीतच त्या नैष्कर्म्याच्या स्थितीला- आपल्या शुद्ध वर्ण परमात्म्याला प्राप्त करता येते.

ज्ञानयोग तसेच कर्मयोग- कर्म एकच आहे नियत कर्म! आराधना, परंतु ते करण्याचे दोन दृष्टिकोण आहेत. आपल्या शक्तीला समजून, हानी-लाभाचा निर्णय घेऊन, कर्म करणे हा ज्ञानयोग आहे. या मार्गाचा साधक जाणत असतो की, आज माझी ही स्थिती आहे. पुढे या भूमिकेत परिणत होऊन जाईन. नंतर आपल्याच स्वरूपाला प्राप्त करीन. या भावनेला घेऊन कर्मास प्रवृत्त होतो. आपल्याच स्थितीचे ज्ञान-भान ठेवून तो चालतो त्याला ज्ञानमार्गी म्हंटले जाते. समर्पणाबरोबर त्याच कर्मामध्ये प्रवृत होणे, हानी-लाभाचा निर्णय इष्टदेवावर सोपवून चालणे हा निष्काम कर्मयोग आहे. हाच भक्तियोग आहे. दोन्हीचे प्रेरक सद्‌गुरू आहेत. एकाच महापुरुषाकडून ज्ञान प्राप्त करून स्वावलंबी होऊन त्याच कर्मात एक प्रवृत्त होतो आणि दुसरा त्याच्यावर अवलंबून राहून, त्याच्यावर श्रद्धा-भरोसा ठेवून कर्मात प्रवृत्त होतो. बस्स! एवढाच दोघांत फरक आहे. यासाठी योगेश्वर श्रीकृष्णांनी सांगितले की- अर्जुना, सांख्यद्वारा जे परम सत्य मिळते, तेच परम सत्य निष्काम कर्मयोगाने पण मिळते. जो दोघांना एकच पाहतो तोच यथार्थपणे पाहत असतो. दोघांना क्रिया दाखवणारा तत्त्वदर्शी एकच आहे. क्रिया पण एकच-आराधना आहे. कामनांचा त्याग दोन्हींमध्ये करतात आणि परिणाम पण एकच आहे. केवळ कर्म करण्याचे दृष्टिकोण दोन आहेत.

एक परमात्मा- नियत कर्म, मन आणि इंद्रियांची एक निर्धारित अंतःक्रिया आहे. जेव्हा कर्माचे हेच स्वरूप आहे तर बाहेर मंदिर, मशीद, चर्च बनवून देवी देवतांची मूर्ती किंवा प्रतीक पूजणे कुठपर्यंत सुसंगत आहे? भारतात हिंदू म्हंटला जाणारा समाज (खरे पाहता ते सनातन धर्मी आहेत. त्यांच्या पूर्वजांनी परम सत्याचा शोध करून देश-विदेशी त्याचा प्रसार केला. त्या मार्गावर चालणारा जगात कोठेही असो सनातनधर्मी आहे. एवढा गौरवशाली हिंदू समाज) कामनांनी ग्रस्त होऊन विविधी भ्रांतीनी भ्रमित झाला. श्रीकृष्ण म्हणतात अर्जुना, देवतांच्या स्थानावर देवता नावाची कोणती शक्ती नाही.

जिथे कुठेही मनुष्याची श्रद्धा झुकते त्या ओटीत मीच फळ देतो. त्याच्या श्रद्धेला पुष्ट करतो. कारण की मीच सर्वत्र आहे. परंतु त्यांचे ते पूजन अविधिपूर्वक आहे. त्यांचे फळ नाशवंत आहे. कामनांनी ज्यांच्या ज्ञानाचे अपहरण झाले आहे ते मूढ बुद्धीचे अन्य लोक देवतांना पूजतात. सात्त्विक लोक देवतांनाच पूजतात. राजसी लोक यक्ष-राक्षसांची तर तामसी लोक भूत प्रेतांची पूजा करतात, घोर तप करतात. परंतु हे अर्जुना, ते शरीरात स्थित असणारे भूत समुदाय आणि अंतःकरणात स्थित असणाऱ्या मला परमात्म्याला कृश करतात. वास्तविक ते खरे पूजन नसतेच. त्यांना तू निश्चितपणे आसुरी स्वभावाचे समज. यापेक्षा अधिक श्रीकृष्ण काय सांगणार? त्यांनी स्पष्टपणे सांगितले अर्जुना, ईश्वराचा वास सर्व प्राण्यांच्या हृदयात असतो. केवळ त्या हृदयस्थ ईश्वराला शरण जा. पूजेचे खरे स्थळ हृदयात आहे, बाहेर नाही. तरीही लोक दगड-धोंडे, पाणी, मंदिर-मशीद, देवी-देवता यांच्या मागे धावत असतात. त्यांच्याबरोबर श्रीकृष्णाचीही एक प्रतिमा वाढवतात. श्रीकृष्णाच्याच साधनेवर भर देणारे व आयुष्यभर मूर्तिपूजेचे खंडन करणाऱ्या बुद्धाचीही मूर्ती त्याच्या अनुयायांनी बनवली आणि दिवे ओवाळीत लागले पूजा करायला. वास्तविक महात्मा बुद्धानेही सांगितले होते आनंद, तथागताच्या शरीरसेवेत, पूजेत समय वाया घालवू नकोस.

मंदिर, मशीद, चर्च, तीर्थ मूर्ती तसेच स्मारकांनी पूर्वी होऊन गेलेल्या महापुरुषांच्या स्मृती साठविल्या जातात की ज्यामुळे त्यांच्या कार्याचे स्मरण होत रहावे. महापुरुषांत स्त्रिया, पुरुष सर्व होत आले आहेत. जनकाची कन्या 'सीता' मागील जन्मात एक ब्राह्मण कन्या होती. आपल्या पित्याच्या प्रेरणेने परब्रह्म मिळविण्यासाठी तिने तपस्या केली. परंतु सफल होऊ शकली नाही. दुसऱ्या जन्मात तिने रामाला प्राप्त केले. आणि चिन्मय, अविनाशी, आदिशक्तीच्या रूपात प्रतिष्ठित झाली. ठीक याच प्रकरे राजकुलात उत्पन्न झालेल्या मीरामध्ये परमात्म्याच्या भक्तीचा प्रस्फोट झाला. सर्व काही सोडून ती भगवंताच्या चिंतनात मग्न झाली, व्यवधानांना झेलले आणि सफल राहिली. त्यांची स्मृती टिकविण्यासाठी मंदिरे झाली, स्मारके झाली. कारण त्यामुळे समाज त्यांच्या उपदेशानुसार आचरण करू शकेल. मीरा, सीता अथवा पक्षाचा शोध करणारा प्रत्येक महापुरुष आमचा आदर्श आहे. आम्ही त्यांच्या

पाऊलावर चालले पाहिजे परंतु जर आम्ही केवळ त्यांच्या चरणावर फुले वाहून, चंदन लावून आपल्या कर्तव्यांची इतिश्रीच समजून बसलो तर यापेक्षा मोठी चूक काय होईल? साधारणतः जो ज्याचा आदर्श असतो त्याची मूर्ती, चित्र, खडावा, त्याचे स्थान अथवा त्याच्या संदर्भातील काहीही पाहिल्यावर, ऐकल्यावर मनात श्रद्धा भरून येते. हे योग्यच आहे. आम्ही पण आमचे गुरुदेव भगवानाच्या चित्रावर थुंकू शकत नाही. त्याला कचऱ्यात फेकू शकत नाही. कारण की ते आमचे आदर्श आहेत. त्यांच्या प्रेरणेप्रमाणे तसेच सांगण्याप्रमाणे आम्हाला चालायचे अभिष्ट आहे आणि हीच त्यांची यथार्थ पूजा आहे. इथपर्यंत तर ठीक आहे की जो वस्तुतः आदर्श आहे त्यांचा अनादर करू नका. परंतु त्यांच्यावर पाने, फुले वाहण्यालाच भक्ती समजून बसण्याने, त्यालाच कल्याण्याचे साधन मानण्याने आम्ही आमच्या लक्ष्यापासून फार दूर भटकत राहू.

आपल्या आदर्शाच्या उपदेशाला हृदयात साठवून त्यावर चालण्याची प्रेरणा ग्रहण करण्यासाठीच स्मारकांचा उपयोग आहे. मग त्याला आश्रम, मंदिर, मशीद, चर्च, मठ, विहार, गुरुद्वारा किंवा काहीही नाव द्यावे. साहजिकच त्या केंद्रांचा संबंध धर्माशी असेल तर ज्याची प्रतिमा आहे त्याने काय केले? आणि काय मिळविले? कशी तपश्चर्या केली? कसे प्राप्त केले? केवळ इतकेच शिकण्यासाठी आम्ही तेथे पोहोचतो आणि पोहचलेही पाहिजे. परंतु या स्थानावर महापुरुषांची पावले दाखविली गेली नाहीत, त्याप्रमाणे शिकवले गेले नाही, कल्याणाची व्यवस्था केली गेली नाही तर ते स्थान चुकीचे आहे. तेथे आपल्याला केवळ रूढी मिळेल. तेथे जाण्यात आपले नुकसान आहे. व्यक्तीगत रूपाने घरोघरी, गल्ली गल्लीत जाऊन उपदेश पोहचविण्याच्या अपेक्षेने सामुहिक उपदेश केंद्राच्या रूपात या धार्मिक संस्थानाची स्थापना केली होती. परंतु कालांतराने प्रेरणास्थळानीच मूर्तिपूजा तसेच रूढींनी धर्माचे स्थान घेतले. येथूनच भ्रम पोसला, वाढला.

ग्रंथ– या प्रकारे पुस्तकाचे अध्ययन आवश्यक आहे. ज्यामुळे आपण नेमून दिलेल्या क्रियेला समजू शकाल, जिला योगेश्वर कृष्णांनी नियत कर्म म्हटले आहे आणि जेव्हा समजेल तेव्हा ताबडतोब करायला सुरुवात करावी.

विस्मरण होत असेल तर पुनःपुन्हा अध्ययन करा. असे नाही की पुस्तकाला हात जोडून त्यावर अक्षत, चंदन शिंपडून ठेवावे. पुस्तक मार्ग निर्देशक चिन्ह आहे, जे पूर्तीपर्यंत साथ देते. आपल्या इच्छित स्थळाकडे बघत बघत पुढे चालू लागा. जेव्हा इष्टाला हृदयापासून पकडू तेव्हा ते पुस्तकच इष्ट देव बनून जाईल. म्हणून स्मृती साठवणे, संवर्धन करणे हानिकारक नाही. परंतु या स्मृतिचिन्हांच्या पूजेने संतुष्ट होणे हानिकारक आहे.

धर्म- (अध्याय २/१६-२९) योगेश्वर श्रीकृष्णाच्या अनुसार असत् वस्तूचे अस्तित्व नसते आणि सत्याचा कधी अभाव नसतो. परमात्मा हेच सत्य आहे, शाश्वत आहे. अजर-अमर, अपरिवर्तनशील आणि सनातन आहे. परंतु तो परमात्मा अचिंत्य आणि अगोचर आहे, चित्ताच्या लहरींच्या वर आहे. आता चित्ताचा निरोध कसा करावा? चित्ताचा निरोध-निग्रह करून परमात्म्याला प्राप्त करण्याच्या विधीविशेषाचे नाम कर्म आहे. या कर्माला कार्यरूप देणे हाच धर्म आहे, हेच दायित्व आहे.

गीतेमध्ये (अध्याय २/४०) सांगितले आहे की, हे अर्जुना, या कर्मयोगामध्ये आरंभाचा नाश होत नाही. या कर्मरूपी धर्माचे लेशमात्र आचरणाने जन्म-मृत्यूच्या महान भयापासून उद्धार होतो. अर्थात या कर्माला कार्यरूप देणे हाच धर्म आहे.

या नियत कर्माला (साधन पथाला) साधकाच्या स्वभावात उपलब्ध असणाऱ्या क्षमतेप्रमाणे चार भागांत वाटले गेले आहे. कर्माला समजून घेऊन जेव्हा मनुष्य प्रारंभ करतो तेव्हा प्रथम अवस्थेत तो शुद्र असतो. क्रमशः विधीप्रमाणे तो आचरण करेल तर तोच वैश्य बनतो. प्रकृतीचे संघर्ष झेलण्याची क्षमता आणि शौर्य प्राप्त झाल्यावर तीच व्यक्ती क्षत्रिय व ब्रह्मामध्ये तद्रूप होण्याची (वास्तविक परिचय, ओळख, जाणकारी, विज्ञान, ईश्वरीय वाणी मिळणे), त्याच्या अस्तित्वावर निर्भर राहण्याची क्षमता, असे गुण-योग्यता प्राप्त झाल्यावर तोच ब्राह्मण बनतो. यासाठी योगेश्वर श्रीकृष्ण (गीता अध्याय १८/४६-४७) म्हणतात की, स्वभावामध्ये उपलब्ध असणाऱ्या क्षमतेनुसार कर्मामध्ये रत होणे हाच स्वधर्म होय. स्वधर्म जरी कमी प्रतीचा असला तरी स्वभावात उपलब्ध क्षमतेनुसार कर्म करणे, स्वधर्म

पाळणे श्रेयस्कर आहे आणि स्वतःमध्ये क्षमता प्राप्त करून न घेता दुसऱ्यांच्या उन्नत कर्माचे आचरण करायला जाणे हानिकारक आहे. स्वधर्मात मरणेदेखील कल्याणकारक आहे कारण वस्त्र बदलण्याने बदलणारा तर बदलत नाही. त्याच्या साधनेचा क्रम पुन्हा तेथून सुरू होईल, जेथून तो तुटला होता. पायरी पायरीने चालण्याने तो परमसिद्धी अविनाशी पद प्राप्त करू शकतो.

यावर पुन्हा भर देताना ते म्हणतात की ज्या परमात्म्यापासून सर्व प्राण्यांची उत्पत्ती झाली आहे, जो सर्वत्र व्याप्त आहे त्याला स्वभावसिद्ध क्षमतेप्रमाणे चांगल्या तऱ्हेने पुजून, मनुष्य परमसिद्धी प्राप्त करू शकतो. अर्थात निश्चित केलेल्या पद्धतीप्रमाणे परमात्म्याचे चिंतन करणे म्हणजेच धर्म होय.

धर्मामध्ये प्रवेश कोणाला मिळतो? तो करण्याचा अधिकार कोणाला आहे? हे स्पष्ट करताना योगेश्वरांनी सांगितले, "अर्जुना, अत्यंत दुराचारी मनुष्याने जरी मला अनन्य भावाने भजले, (अनन्य अर्थात अन्य न) माझ्याशिवाय इतर कोणालाही न भजता जर त्याने माझेच पूजन-आराधना केली तर 'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा' तो शीघ्रही धर्मात्मा बनतो. त्याचा आत्मा धर्माने युक्त होतो. म्हणून श्रीकृष्णाच्या मते धर्मात्मा तोच आहे, जो परमात्म्याच्या ठिकाणी अनन्य निष्ठा ठेवत असतो. धर्मात्मा तो आहे जो परमात्म्याच्या प्राप्तीसाठी नियत कर्माचे आचरण करतो. धर्मात्मा तो आहे जो स्वभावाच्या नियत क्षमतेनुसार परमात्म्याच्या शोधात निमग्न आहे.

शेवटी ते सांगतात की, "सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज" अर्जुना, सर्व धर्मांची चिंता सोडून मला शरण ये. म्हणजेच परमेश्वराच्या ठिकाणी स्वतःला समर्पित केलेली व्यक्तीच धार्मिक आहे. एका परमात्म्यामध्ये श्रद्धा स्थिर करणे म्हणजेच धर्म होय. त्या परमात्म्याच्या प्राप्तीसाठी निश्चित क्रिया कर्म करणे म्हणजेच धर्म होय. ही स्थिती प्राप्त करून घेतलेले महापुरुष, आत्मतृप्त महापुरुषांचा सिद्धांत हाच सृष्टीमधील एकमात्र धर्म होय. त्यांना शरण जाऊन त्या महापुरुषांनी त्या परमात्म्याला कशा प्रकारे प्राप्त केले? कोणत्या मार्गावर चालावे? तो मार्ग सदैव एकच आहे. त्या मार्गाने चालणे त्याला धर्म म्हणतात.

धर्म मनुष्याच्या आचरणाची वस्तू आहे. ते आचरण केवळ एकच आहे "व्यावसात्मिक बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन" (२/४१) या कर्मयोगात निश्चयात्मक क्रिया एकच आहे. इंद्रियांचे व्यापार आणि मनाचे व्यापार यांना संयमित करून आत्म्याला (परात्पर ब्रह्मामध्ये) प्रवाहित करणे होय. (४/२७)

धर्मान्तरण– भारत हा सनातन धर्माचा पुरातन देश! दुष्ट रीती एवढी वाढली की, मुसलमानांच्या आक्रमणाचे वेळी त्यांचा धर्म आक्रमकांच्या हातातील एक घास खाण्याने व दोन घोट पाणी पिण्याने नष्ट व्हायला लागला.धर्मभ्रष्ट घोषित झालेल्या हजारो हिंदूंनी आत्महत्या केली. धर्मासाठी मरणे ते जाणत होते; पण धर्म म्हणजे काय ते समजतील तेव्हा ना! धर्म बनला लाजाळूच्या झाडासारखा! त्या झाडाला स्पर्श करताच ते मिटून जाते– म्लान होऊन जाते. परंतु स्पर्श बाजूला होताच पुन्हा पसरू लागते. परंतु त्यांचा सनातन धर्म असा मिटून गेला की पुन्हा कधी वाढलाच नाही. ज्या सनातन आत्म्याला भौतिक वस्तू स्पर्शपण करू शकत नाही, तो काय स्पर्शाने, खाण्यापिण्याने नष्ट होतो? तुम्ही तलवारीने मरता, धर्म शिवाशिवीने मरून गेला? काय खरोखर धर्म नष्ट झाला होता काय? कधीच नाही. धर्माच्या नावावर जी दुष्ट रूढी फोफावत होती ती नष्ट झाली. फिरोज तुघलक शासनकाळात, काझी मुगीसुद्दीनने असे जाहीर केले की, जर एखादा मुसलमान थुंकू इच्छित असेल तर हिंदूनी त्यासाठी आपले तोंड उघडायला पाहिजे. कारण त्याच्याजवळ धर्म नाही. काय वाईट आहे त्याच्यात? तोंडात थुंकल्याने तर एकच मनुष्य मुसलमान बनेल; पण विहिरीत थुंकल्याने तर हजारो हिंदू मुसलमान बनले असते. वास्तविक कोण आततायी होते मुसलमान लोक की त्यावेळचा हिंदू समाज?

ज्यांनी असे भ्रष्ट झाल्याने आपला धर्म बदलला त्यांना कोणता धर्म मिळाला का? हिंदूतून मुसलमान बनणे किंवा विशिष्ट प्रकारच्या राहणी करणीतून दुसऱ्या राहणीकरणीचा स्वीकार करणे म्हणजे धर्म नव्हे. या प्रकारे योजनाबद्ध षडयंत्राचा फास बनवून त्यांना बदलले ते काय धर्मात्मा होते? नाही ते तर आणखी मोठ्या दुष्ट रूढीचे शिकार बनलेले होते. हिंदू

त्यातच जाऊन फसले. अविकसित व वाट हरवलेल्या लोकांना सभ्य बनविण्यासाठी मुहम्मदने विवाह, घटस्फोट, मृत्युपत्र, देणे-घेणे, व्याज, साक्षी, शपथ, प्रायश्चित, उदरनिर्वाह, खाणेपिणे, राहणी-करणी इत्यादींच्या बाबतीत एक समाज व्यवस्था लावून दिली. तसेच मूर्तिपूजा, व्यभिचार, चोरी, दारू, जुगार, आई-बहीण इत्यादीबरोबर विवाहास प्रतिबंध केला. समलिंगी तसेच रजस्वाला मैथुनाचा निषेध करून रोजच्या दिवसांत पण यासाठी ढील दिली. जन्नतमध्ये बरीचशी समवयस्क व शिवलेल्या हूरो आणि किशोर बालकांचे प्रलोभन दिले. अर्थात्, हा काही धर्म नव्हता. एक प्रकारची सामाजिक व्यवस्था होती. असे सांगून त्यांनी वासनेत बुडालेल्या समाजाला तेथून वळवून आपल्याकडे आणले. स्त्रियांना जन्नतमध्ये किती पुरुष मिळतील? यावर त्यांनी विचारच केला नाही. हा त्यांचा दोष नाही. दोष त्या देश, काल व परिस्थितीचा होता; ज्यात स्त्रियांच्या इच्छा आकांक्षावर काहीच ध्यान दिले नव्हते.

महम्मद साहेबांनी ज्याला धर्म म्हंटले आहे तिकडे कोणाचे लक्षच नाही. त्यांनी सांगितले होते- ज्या पुरुषाचा एकही श्वास ईश्वराच्या खुदाच्या नामाशिवाय व्यर्थ जातो, त्याला खुदा विनाशकालात तसेच विचारतो. ज्याप्रमाणे कोण्या पाप्याला पापाच्या बदल्यात विचारले जाते व त्याची सजा आहे 'दोजख!' असे किती सच्चे मुसलमान आहेत की ज्याचा एकही श्वास रिकामा जात नाही? करोडोमध्ये कदाचित एखादाच असा निघेल. बाकीच्यांचे श्वास असे रिकामेच जातात, ज्याची सजा आहे, जी पापी लोकांच्यासाठी असते ती सांगण्याची आवश्यकता नाही- मुहम्मदाने सांगितले की जो कोणालाही सतावत नाही अथवा प्राणिमात्रांना त्रास देत नाही, तो आकाशातून खुदाचा आवाज ऐकतो. हे सर्व स्थानासाठी होते परंतु मागून येणाऱ्यांनी एक मार्ग काढला की मक्केमध्ये एक मशीद आहे. तिथे हिरवे गवत तोडायचे नाही. त्या मशिदीत कोणा पशूला मारायचे नाही. तेथे कोणाला कसलेही दु:ख पोहोचायला नको आणि पुन्हा वळून-फिरून ते त्याच स्थानावर उभे राहिले. काय खुदाचा आवाज ऐकण्यापूर्वी मुहम्मदाने कोणती मशीद बनवली होती? कधी कोणत्या मशिदीत 'आयत' उतरली? ही मशीद

म्हणजे असे स्थान राहिले आहे ज्यात त्यांची आठवण सुरक्षित आहे. मुहम्मदांचा आशय तबरेजने जाणला होता. मन्सूरने जाणला होता. इकबालने जाणला होता. परंतु ते धर्मवेड्या लोकांचे शिकार बनले. त्यांचे हाल हाल केले गेले. सुकरातला विष प्राशन करायला लावले कारण तो लोकांना नास्तिक बनवत होता. असाच आरोप येशूवरही लावला गेला. त्यांना सुळावर चढवण्यात आले कारण ते विश्रामच्या दिवशीही काम करीत होते; आंधळ्यांना दृष्टी देत होते. तसेच भारतातपण आहे. आता पण कोणी प्रत्यक्षदर्शी महापुरुष सत्याकडे सूचना करतो तेव्हा तर या मंदिर, मशीद, मठ, संप्रदाय आणि तीर्थांकडून ज्याची उपजीविका चालते ते हाय-हाय करायला लागतात. अधर्म-अधर्म असे ओरडायला लागतात. या स्थानांमुळे कोणाला लाखो करोडोंचे उत्पन्न प्राप्त होते तर कोणाचा त्यावर उदरनिर्वाह चालतो. वास्तविकतेच्या प्रचारामुळे त्यांच्या या जीवेकेच्या साधनाला धक्का पोहचू शकतो व म्हणूनच ते सत्याला वाढू देत नाहीत व देऊही शकत नाहीत. या व्यतिरिक्त त्यांच्या विरोधाचे काही कारण नाही. पूर्वी ही स्मृती का कशासाठी जतन केली गेली याचे त्यांना भान नाही.

गृहस्थांचा अधिकार- साधारणतः लोक विचारतात की जेव्हा कर्माचे हेच स्वरूप आहे की, ज्यात एकांतवाद, इंद्रियनिग्रह, निरंतर चिंतन आणि ध्यान करणे हे आहे तेव्हा तर ते गृहस्थाश्रमी लोकांसाठी काही कामाचे नाही. मग तर गीता फक्त साधुजनांसाठीच आहे. परंतु असे काही नाही. गीता त्या सर्वांसाठी आहे, जे या पथावरील पथिक आहेत आणि जे या मार्गावरील पथिक बनू इच्छित आहेत, त्यांच्यासाठीही गीता आहे. सर्व मानवमात्राबाबत गीतेचा आशय समान आहे. सद्‌गृहस्थासाठी तर ती अधिक उपयुक्त आहे, कारण कर्माचा प्रारंभ तेथूनच होतो.

श्रीकृष्णाने सांगितले होते, अर्जुना, या निष्काम कर्मयोगात आरंभाचा नाशच होत नाही. याचे अल्प साधन जन्म-मरणासारख्या महाभयापासून मुक्त करून उद्धार करते. मग आपणच सांगा थोडे साधन कोण करेल? गृहस्थ की विरक्त साधू? गृहस्थच या साधनेसाठी आपला थोडा वेळ देऊ शकतो. हे त्याच्यासाठीच आहे. अध्याय ४/३६ मध्ये ते म्हणतात, अर्जुना,

अरे तू संपूर्ण पापी लोकांपेक्षा अधिक पापी असलास तरी ज्ञानरूपी नौकेच्या साहाय्याने तू निःसंदेह भवपार होशील. अधिक पापी कोण आहे? जो निरंतर त्यामागे लागला आहे तो की लागू इच्छितो तो? तेव्हा गृहस्थाश्रमापासूनच कर्माचा आरंभ होत असतो. अध्याय ६/३७-४५ मध्ये अर्जुनाने विचारले, भगवन् शिथिल प्रयत्न करणाऱ्या श्रद्धाळू पुरुषाला परमगती प्राप्त होत नाही, तर मग तो कोणत्या दुर्गतीला पोहचतो? श्रीकृष्णांनी सांगितले- योगापासून विचलित झालेले शिथिल प्रयत्न करणाऱ्या श्रद्धाळू पुरुषांचा विनाश होत नाही. तो योगभ्रष्ट पुरुष श्रीमंताच्या शुचीनाम शुध्द (सत्य आचरण करणारेच श्रीमंत असतात.) घरी जन्माला येतात व योगीकुळात प्रवेश मिळवतो. साधनेकडे आकर्षित होतो आणि अनेक जन्मांत हळूहळू तेथे पोहचतो-की ज्याला परमगती अर्थात परमधाम म्हणतात. ते शिथिल प्रयत्न कोण करतो? योगभ्रष्ट होऊन तो कुठे जन्म घेतो? तो गृहस्थ तर बनला तेथूनच तो साधनेकडे जर अनन्यभावाने मला भजू लागेल तर तोदेखील साधकच होय, कारण ते निश्चयाने योग्य रस्त्याला लागले आहेत. अत्यंत दुराचारी कोण असेल? जो भजनास प्रवृत्त झाला तो किंवा ज्याने भजनास अजून आरंभच केला नाही तो? अध्याय ९/३२ मध्ये सांगितले- स्त्री, वैश्य, शुद्र तसेच पापयोनीवालेदेखील माझ्या आश्रयाला येऊन साधना करून परमगतीला प्राप्त होतात. मग हिंदू असो, खिश्चन असो की मुसलमान असो, कोणीही परमगतीला प्राप्त होतात. श्रीकृष्ण असे काही सांगत नाहीत. ते म्हणतात अत्यंत दुराचारी, अत्यंत पातकी मनुष्य माझ्या आश्रयाला येऊन परमगतीला प्राप्त होतो व म्हणूनच गीता मानवमात्रासाठी आहे. गृहस्थाश्रमापासून कर्माचा आरंभ असतो. तो गृहस्थ क्रमशः योगी बनतो, पूर्ण त्यागी होतो आणि तत्त्वाच्या मार्गदर्शनानंतर परममध्ये प्रवेश प्राप्त करू शकतो; ज्याला श्रीकृष्णाने सांगितले की ज्ञानी माझे स्वरूप आहे.

स्त्री - गीतेच्या सांगण्याप्रमाणे शरीर एक वस्त्र आहे. ज्याप्रमाणे मनुष्य जीर्ण झालेले वस्त्र टाकून नवीन वस्त्र धारण करतो त्याप्रमाणे प्राणिमात्रांचा स्वामी असणारा आत्मा शरीररूपी वस्त्राचा त्याग करून दुसरे शरीरूपी वस्त्र धारण करतो. स्त्री किंवा पुरुष म्हणजे त्या वस्त्राचा आकार

आहे. जगात दोन प्रकारचे पुरुष असतात–क्षर व अक्षर. समस्त प्राण्यांचे शरीर क्षर पुरुष किंवा परिवर्तनशील पुरुष आहे. मनासहित इंद्रियांचे नियमन होऊन आत्म्याच्या ठिकाणी ती स्थिर होतात तेव्हा तोच अक्षरपुरुष बनतो. त्याचा कधी विनाश होन नाही. ही भजनाची अवस्था आहे.

समाजात कधी स्त्रीचा सन्मान केला जातो तर कधी तिचा समाजात अपमान होतो; परंतु गीतेची अपौरूषेय वाणी सांगते की, शुद्र (अल्पज्ञ) असो की ज्ञानी असो, स्त्री असो व पुरुष असो जो मला शरण येतो तो परमतत्वास प्राप्त होतो व म्हणूनच या कल्याणाच्या मार्गावर जे एका पुरुषाचे स्थान आहे तेच स्त्रीला स्थान आहे.

भौतिक समृद्धी– गीता परम कल्याण तर देतेच त्याबरोबर मनुष्यासाठी आवश्यक अशा भौतिक वस्तूंची व्यवस्थाही करते. अध्याय ९–२०/२२ मध्ये योगेश्वर श्रीकृष्ण म्हणतात की, बरेचसे लोक निर्धारित विधीने माझे पूजन करून त्या बदल्यात स्वर्गाची इच्छा करतात. त्यांना विशाल स्वर्ग–लोक मिळतो, मी त्यांना तो देतो. जे मागतील ते माझ्याकडून मिळेल, परंतु उपभोगानंतर ते उपभोग संपतील. कारण स्वर्गातील भोगही नश्वर असतात. त्यांना पुन्हा जन्म घ्यावा लागेल. हो! माझ्याशी त्यांचा संबंध असल्याने नष्ट होत नाहीत. कारण मी कल्याण स्वरूप आहे. मी त्यांना उपभोग देतो आणि हळूहळू त्या भोगापासून निवृत्त करून पुन्हा त्यांना कल्याणकारी कार्यात लावून देतो.

क्षेत्र– टीकाकार म्हणतात की एक कुरुक्षेत्र बाहेर आहे आणि दुसरे मनाच्या आत! गीतेचा एक अर्थ बाहेर आहे, दुसरा आत! परंतु असे काही नाही. वक्ता एक गोष्ट सांगतो, परंतु श्रोता आपल्या बुद्धीला अनुरूप त्याचे ग्रहण करतो, त्यामुळे अनेक अर्थ प्रतीत होत असतात. साधनपथावर क्रमशः चालत जो पुरुष श्रीकृष्णाच्या स्तरावर उभा राहील तर जे श्रीकृष्णाच्या समोर होते, तेच त्याच्याही समोर येईल. तोच महापुरुष त्यांच्या मनातील भावांना, गीतेतील संकेताना समजू शकतो, समजावू शकतो.

गीतेचा एकही श्लोक बाहेरचे चित्रण करीत नाही. खाणे, पिणे, कपडे, राहणे आपण जाणताच. राहणी–साहणी, मान्यता लोकरीती, नीतीमध्ये

देशकाल आणि परिस्थितीनुसार परिवर्तन ही प्रकृतीची देणगी आहे. यात श्रीकृष्ण आपल्याला कोणती व्यवस्था देतील? कोणाच्या घरात मुली जास्त असतात, पुष्कळ विवाह होतात तर कोठे त्यांची संख्या कमी असते. काही ठिकाणी अनेक भावांमध्ये एक स्त्री पत्नी बनून राहते. यात श्रीकृष्ण काय व्यवस्था देतील? दुसऱ्या विश्वयुद्धानंतर जपानमध्ये लोकसंख्येत एकदम घट होऊन देशापुढे एक समस्या निर्माण झाली तर तीस मुलांना जन्म देणाऱ्या एका महिलेचा 'मदरलँड' देशाची माता या उपाधीने सन्मानित करण्यात आले. वैदिककालीन भारतात पूर्वी दहा संतानाना जन्म देण्याविषयी विधान आहे. आता "एक या दो बच्चे, होते है घरमें अच्छे" अशी घोषणा सुरू आहे. कदाचित ते राहिले नाहीत तर देशासाठी चिंतेचा विषय नाही. समस्येचे निराकरणच होते. श्रीकृष्ण यामध्ये कोणती व्यवस्था देणार?

श्रेय- काम, क्रोध, लोभ, मोह यांच्या काही शाळा उघडलेल्या नाहीत. तरीही या विकारांमध्ये मुले मोठी माणसे तसेच शहाण्यापेक्षा अधिक प्रवीण निपजतात. यामध्ये श्रीकृष्ण काय शिकवणार? हे सर्व तर प्रकृतीकडून स्वचलित आहे. पूर्वी वेद शिकविले जात होते, धनुर्विद्या, गदायुद्ध शिकवले जात असत. आज ते कोण शिकवतात? आज तर पिस्तूल चालवले जाते. आज स्वयंचलित यंत्राचे युग आहे. तेव्हा रथ चालवायला शिकावे लागत असे, घोड्यांची लीद फेकावी लागत असे. आज मोटारींचे तेल साफ केले जाते. यात श्रीकृष्ण काय सांगतील? त्यांनी असे सांगावे की घोड्यांना असा खरारा करू नका. बाहेर आपल्याला कशी व्यवस्था द्यायची? पूर्वी स्वाहा म्हणण्याने पाऊस पडत असे. आता उपकरणांनी पाऊस पाडला जातो. आधी पावसावर पीक अवलंबून होते. आता मनाला वाट्टेल तसे पीक घेतले जाते. योगेश्वर श्रीकृष्ण सांगतात की प्रकृतीपासून उत्पन्न होणाऱ्या गुणांच्याद्वारा परवश होऊन मनुष्य परिस्थितीच्या अनुसार बदलतच असतो. गुण स्वतः त्यांना बदलण्यात, वळविण्यास सक्षम आहेत. भौतिकशास्त्र, समाजशास्त्र शिक्षणशास्त्र, अर्थशास्त्र व तर्कशास्त्र तो घडवत राहतो. एकच वस्तू अशी आहे की जी मनुष्य जाणत नाही– ओळखत नाही. जी आहे त्याच्याच जवळ, परंतु तिचे विस्मरण त्यांना असते. गीता ऐकल्यानंतर

अर्जुनाची ती स्मृती परत आली. ती स्मृती आहे परमात्म्याची, जी हृदय देशात असूनही त्याच्यापासून पुष्कळ दूर असते. त्यालाच मनुष्य प्राप्त करू इच्छितो, परंतु नीट रस्ता मिळत नाही. केवळ कल्याणपथाबद्दलच माणूस अनभिज्ञ आहे. मोहाचे आवरण इतके दाट आहे की, तेथे विचार करण्यास वेळ पण मिळत नाही. त्या महापुरुषाने तुमच्यासाठी वेळ दिला आहे. ते कर्म स्पष्ट केले आहे– जे करण्याविषयीचा निर्देश गीतेत आहे. गीता मुख्य हेच देते. भौतिक वस्तूंची प्राप्तीही तिच्याकडून होते, परंतु श्रेयाच्या तुलनेत प्रेय नगण्य आहे.

योग-प्रदाता– योगेश्वर श्रीकृष्णाच्या मते कल्याण मार्गाचे ज्ञान, त्याचे साधन आणि त्याची प्राप्ती सद्गुरुकडूनच होत असते. इकडे-तिकडे तीर्थांच्या ठिकाणी भटकून किंवा पुष्कळ परिश्रमाने ते प्राप्त होत नाही. ते संताद्वाराच प्राप्त केले जाते. अध्याय ३/१४ मध्ये श्रीकृष्ण म्हणतात, अर्जुना, तू एखाद्या तत्त्वदर्शी महापुरुषाजवळ जाऊन चांगल्या प्रकारे प्रणाम कर, त्यांची निष्कपट भावाने सेवा करून त्या ज्ञानाची प्राप्ती कर. प्राप्तीचा एकच उपाय आहे– तो म्हणजे महापुरुषाचे सान्निध्य आणि त्यांची सेवा! त्यांच्यानुसार आचरण करून योगाची सिद्धी यथाकाली प्राप्त होईल. अध्याय १८/१८ मध्ये त्यांनी दाखविले की, परिज्ञाता अर्थात तत्त्वदर्शन झालेला महापुरुष, ज्ञान अर्थात जाणण्याचा विधी आणि ज्ञेय परमात्मा तिन्ही कर्मांचे प्रेरक आहे. केवळ पुस्तक नव्हे पुस्तक तर एक उपाय आहे. उपाय जपण्याने कोणी निरोगी होत नाही. पण त्याला अमलात आणायला हवे.

नरक– अध्याय १६/१६ मध्ये आसुरी संपत्तीचे वर्णन करताना योगेश्वर श्रीकृष्णांनी सांगितले आहे की, अनेक प्रकारांनी भ्रमित चित्त करणारे, मोहात फसलेले, आसुरी स्वभावाची माणसे अपवित्र नरकात पडतात. मग प्रश्न स्वाभाविकच उपस्थित होतो की नरक कसा आहे आणि कशाला म्हणतात? श्रीकृष्ण म्हणतात– माझा द्वेष करणाऱ्या नराधमांना मी वारंवार आसुरी योनीत टाकत असतो, हाच नरक होय, त्या नरकाचे द्वार कोणते? त्यांनी सांगितले की काम, क्रोध आणि लोभ ही नरकाची तीन दारे आहेत, ज्यामुळे

आसुरी संपत्ती एकत्र होते. म्हणून वारंवार कीटक, पतंग, पशू इत्यादी योनींमध्ये जाणे म्हणजे नरक होय.

पिण्डदान– पहिल्या अध्यायात विषादग्रस्त अर्जुनाला शंका होती की, युद्धजनित नरसंहाराने पितृ लोक पिंड दान आणि समर्पणापासून वंचित होऊन जातील. यावर श्रीकृष्ण म्हणाले की अर्जुना, तुला हे अज्ञान कोठून आले? पिण्डोदक क्रियेला योगेश्वरांनी अज्ञान म्हटले व दाखविले की, ज्या प्रकारे वस्त्राचा त्याग करून मनुष्य नवे वस्त्र धारण करतो. ठीक तशाच प्रकारे हा आत्मा जीर्ण शरीराचा त्याग करून मनुष्य शरीररूपी नवीन वस्त्र धारण करतो. येथे शरीर हे एक वस्त्र आहे आणि आत्म्याने फक्त वस्त्र बदलले म्हणजे तो मेला नाही. नश्वर शरीर बदलले. बाकी त्याची व्यवस्था पूर्ववत आहे. तर मग भोजन (पिंडदान), आसन, शय्या, घर, आवास, जल इत्यादींचे दान देऊन कोणाला तृप्त केले जाते? यामुळेच योगेश्वरांनी याला अज्ञान म्हटले. अध्याय १५/७ मध्ये यावर भर देत ते म्हणतात हा आत्मा म्हणजे माझा सनातन अंश आहे, स्वरूप आहे आणि मनासहित पाच इंद्रियांच्या कार्यविभागातून निर्मित संस्कार घेऊन दुसरे शरीर तो धारण करतो आणि मनासहित सहा इंद्रियांचे द्वारा नवीन शरीरात विषय भोगांचा उपभोग घेतो. आत्म्याने जे शरीर धारण केले तेथे पण भोगसामग्री उपलब्ध आहे तरीसुद्धा पिंडदान का दिले जाते?

येथे एक शरीर सोडून दुसरे शरीर धारण केले तो आत्मा सरळ त्या शरीरात जातो. मध्ये कोणते विश्रांतिस्थान किंवा थांबणे नाही. हजारो पिढ्यांच्या पितरांचे अनादि कालापासून पडून राहणे आणि ज्यांची जीविका, वंश परंपरांच्या हातात निर्धारित करणे, तसेच पिंजऱ्यातील पक्ष्याप्रमाणे त्याचे रुदन, पतन हे एक अज्ञानमात्र आहे. म्हणून श्रीकृष्णांनी याला अज्ञान म्हंटले.

पाप आणि पुण्य– या प्रश्नावर समाजात अनेक भ्रम आहेत. परंतु योगेश्वर श्रीकृष्णाच्या नुसार रजोगुणाने उत्पन्न हा काम, क्रोध भोगांनी कधीही तृप्त न होणारे मोठे पापी आहेत. अर्थात कामच एकमात्र पापी आहे. पापाचा उगम काम आहे, कामना आहे. या कामना राहतात कुठे? श्रीकृष्णांनी

सांगितले की इंद्रिये, मन व बुद्धी हे यांचे राहण्याचे ठिकाण म्हंटले जाते. जेव्हा विकार शरीरात नाही तर मनात उत्पन्न होतात, तर मग नुसते शरीर धुवून काय फायदा?

श्रीकृष्णाच्या मते मनाची शुध्दी होते नामजपाने, ध्यानाने, समकालीन कोण्या तत्त्वदर्शी महापुरुषाच्या सेवेने, त्यांच्या प्रती समर्पणाने, ज्याच्यासाठी ते ४/३४ मध्ये प्रोत्साहित करतात की **तद्‌विद्धि प्राणिपातेन** सेवा आणि प्रश्न करून ते ज्ञान मिळवा. ज्यामुळे सर्व पापे नष्ट होऊन जातात.

अध्याय ३/१३ मध्ये त्यांनी सांगितले की, यज्ञातून शिल्लक राहिलेले अन्न खाणारे संतजन संपूर्ण पापांपासून सुटतात, मुक्त होतात व जे शरीरासाठी कामना करतात ते पापी पापच खातात. यज्ञ चिंतनाची एक निश्चित क्रिया आहे त्यामुळे मनात राहिलेले चराचर विश्वाचे संस्कार जळून जातात, शिल्लक फक्त ब्रह्मच राहते, म्हणून शरीराच्या जन्माचे जे कारण आहे तेच पाप आहे आणि जे त्या अमृततत्त्वाला देवविणारे आहे त्याच्या नंतर कधीही शरीर धारण करण्यास लागू नये, तेच पुण्य होय.

अध्याय ७/२९ मध्ये ते सांगतात की, मला शरण येऊन जरामरण आणि दोषांपासून सुटण्यासाठी यत्न करणारे पुण्यकर्मी ज्या पुरुषांचे पाप नष्ट झाले आहे ते संपूर्ण ब्रह्माला, संपूर्ण कर्म, संपूर्ण अध्यात्म जाणतात. म्हणून पुण्यकर्म ते आहे, जे जरा-मरण आणि दोषांच्या वर उठून शाश्वताची ओळख व त्यातच नेहमीसाठी स्थिती देववितात आणि जे जन्म-मृत्यू, जरा-मरण, दु:ख-दोषांच्या परिघात फिरवत ठेवते तेच पाप कर्म आहे.

अध्याय १०/३ मध्ये सांगतात- जो मला जन्ममृत्यूरहित आदिरहित, अंतरहित तसेच सर्व लोकांच्या महान ईश्वराला साक्षात्कारासहित जाणून घेतो तो पुरुष मरण धर्मी मनुष्यांमध्ये ज्ञानी आहे आणि असे जाणणारा संपूर्ण पापांपासून मुक्त होऊन जातो.

सारांश वारंवार जन्ममृत्यूचे कारणच पाप आहे. आणि जो त्यापासून स्वत:ला वाचवून शाश्वत परमात्म्याकडे वळतो, परम शांती प्राप्त करतो, तेच पुण्यकर्म होय. खरे बोलणे, केवळ आपल्या परिश्रमाचे खाणे, स्त्रियांमध्ये

मातृभाव, इमानदारी इत्यादी गुण या पुण्यकर्मांचे सहाय्यक अंग आहेत. परंतु सर्वोत्कृष्ट पुण्य आहे- परमात्म्याची प्राप्ती, जे एक मात्र परमात्म्याच्या श्रद्धेला तडा देते, ते पाप आहे.

सर्व संत एक- गीतेच्या अध्याय ४/१ मध्ये भगवान श्रीकृष्णाने दाखविले की, अविनाशी योग कल्पाच्या आदिकाळात मी सूर्याला सांगितला होता. परंतु श्रीकृष्णाच्या पूर्वीचा इतिहास अथवा इतर कोणत्याही शास्त्रात कृष्ण नामाचा उल्लेख मिळत नाही.

वास्तविक पाहता श्रीकृष्ण एक पूर्ण योगेश्वर आहेत. ते एक अव्यक्त आणि अविनाशी भावाच्या स्थितीमध्ये आहेत. जेव्हा जेव्हा परमात्म्याला मिळविणारी क्रिया अर्थात योगाचे सूत्र सांगण्यात आले तेव्हा अशाच स्थितीतल्या कोण्या महापुरुषाने ते केले. मग तो राम असो किंवा ऋषी जरथुस्त्र का न हो? पुढील बदलत्या काळात हाच उपदेश येशू, मुहम्मद, गुरूनानक इत्यादींच्या माध्यमातून आला, पण सांगितला श्रीकृष्णाने.

म्हणून सर्व महापुरुष एकच आहेत. सर्वजण एकाच बिंदूला स्पर्श करून एकाच स्वरूपाला मिळतात. अनेक पुरुष या मार्गावरून चालतील, परंतु जेव्हा मिळवतील तेव्हा एकच पद प्राप्त करतील. अशा अवस्थेला प्राप्त झालेले संताचे शरीर एक घर म्हणूनच उरलेले असते. ते स्वतःशुद्ध आत्मस्वरूप आहेत. अशा स्थितीच्या लोकांनी केव्हा काही सांगितले तर ते योगेश्वरांनेच सांगितले होय.

संत कुठे ना कुठे जन्म घेतोच. पूर्व अथवा पश्चिमेत, काळया किंवा गोऱ्या परिवारांत, पूर्व-प्रचलित कोण्या धर्मावर अवलंबून राहणाऱ्यांमध्ये अथवा अबोध समुहामध्ये, सामान्य जीवन जगणारे गरीब अथवा श्रीमंत कुळात जन्म घेऊन ही संत त्यांच्या परंपरेतील होत नाही. तो तर आपले लक्ष्य परमात्म्याला पकडून स्वरूपाकडे पुढे वाटचाल करतो व तोच स्वरूपमय होतो. त्यांच्या उपदेशामध्ये जात-पात, वर्णभेद, रंगभेद आणि अमीर-गरिबीच्या भिंती असत नाहीत, इथपर्यंत की त्यांच्या दृष्टीत नर-मादी हा भेदही राहत नाही (पाहा गीता १५/१६ "द्वाविमों पुरुषो लोके।")

महापुरुषांच्या पश्चात त्यांचे अनुयायी आपला संप्रदाय बनवून संकुचित वृत्तीचे बनतात. कोण्या महापुरुषाच्या मागे चालणारे यहुदी होऊन जातात. परंतु या भिंतीशी संतांचा संबंध कदापि होत नाही. संत न तर कोणी सांप्रदायिक आहेत न कोणी एका जातीचे संत आहे. त्यांना कोणत्या सामाजिक संगठनामध्ये मर्यादित करून ठेवू नका.

म्हणून विश्वातले संत, मग त्यांचा जन्म कोणत्या समुहात अगर टोळीत झालेला असो, मग जरी कोण्या धर्माचे (सांप्रदायिक) लोक त्यांचे पूजन अधिक प्रमाणात करीत असोत, कोण्या सांप्रदायाच्या प्रभावामुळे अशा संतांची निंदा करू नये कारण की ते निरपेक्ष आहेत. विश्वात कोणत्याही ठिकाणी उत्पन्न झालेला संत निंदनीय नसतो. जर कोणी असे करीत असेल, तर तो आपल्या आत राहिलेल्या परमात्म्याला कृश-दुर्बल करतो. आपल्यामध्ये स्थित असणाऱ्या परमात्म्याशी दुरावा निर्माण करतो. स्वतःच तो आपले नुकसान करतो. अखिल विश्वात जन्म घेणाऱ्यांत जर आपला कोणी खरा हितेच्छू असेल तर तो संतच असतो म्हणून त्यांच्या बाबतीत सहृदय राहणे जगातल्या लोकांचे मूलभूत कर्तव्य आहे. यापासून वंचित होणे म्हणजे आपल्याला धोका देणे आहे.

वेद- गीतेमध्ये वेदाचे वर्णन बरेच आले आहे. परंतु सर्व मिळून वेद म्हणजे मार्ग निर्देशक चिन्ह (Mile Stone) आहे. ध्येयाप्रत पोहचतात त्या व्यक्तीसाठी त्यांचा उपयोग संपतो. अध्याय २/४५ मध्ये श्रीकृष्णाने सांगितले, अर्जुना! वेद तीन गुणांपर्यंतच प्रकाश टाकतात. तू वेदांच्या कार्यक्षेत्रातून वर ऊठ. अध्याय २/४६ मध्ये सांगितले-सर्व बाजूंनी परिपूर्ण स्वच्छ जलाशय मिळताच छोट्या जलाशयांशी मनुष्याचे जेवढे प्रयोजन राहते तेवढेच चांगल्या ब्रह्मज्ञानी महापुरुषाचे अर्थात ब्राह्मणांचे वेदांशी प्रयोजन राहते. परंतु दुसऱ्यांसाठी त्यांचा उपयोग आहेच. अध्याय ८/२८ मध्ये सांगितले-अर्जुना, मला तत्त्वाने चांगल्या प्रकारे जाणून घेतल्यावर योगी, वेद, यज्ञ, तप, दान इत्यादींच्या पुण्यफलांना पार करून सनातन पदाला प्राप्त होऊन जातात. अर्थात जोपर्यंत वेद जीवित आहेत, यज्ञ करणे बाकी आहे तोपर्यंत सनातन पदाची प्राप्ती नाही. अध्याय १५/१ मध्ये सांगितले की, वर परमात्माच

ज्याचे मूळ आहे, खाली कीटक, पतंग पर्यंत प्रकृती ज्याच्या फांद्या आहेत, विश्व-संसार असा पिंपळाचा एक अविनाशी वृक्ष आहे. जो याला मुळासकट जाणतो तो वेदाचा ज्ञानी आहे. या जाणकारीचा स्त्रोत महापुरुष आहे. त्यांच्या माध्यमातून विशिष्ट भजन आहे. पुस्तक किंवा पाठशाला नाही.

ओम- श्रीकृष्णाच्या मार्गदर्शनात ॐच्या जपाचे विधान मिळवता येते. अध्याय ७/८ ॐकार मी आहे. ८/१३ ॐ चा जप कर व माझे चिंतन कर. अध्याय ९/१७ जाणण्यास योग्य, पवित्र ॐकार मी आहे. अध्याय १०/३३ अक्षरातला अकार मी आहे. १०/२५ मध्ये वचनातले एक अक्षर मी आहे. अध्याय १७/२३ ॐ तत् आणि सत् ब्रह्माचा परिचायक आहे. १७/२४ यज्ञ, दान आणि तपाच्या क्रिया ॐ पासून प्रारंभ होतात. म्हणून श्रीकृष्णाच्या मते ॐ चा जप नितांत आवश्यक आहे. त्याची पद्धती कोणा अनुभवी महापुरुषाकडून शिकावी.

गीतेत सांगितलेले ज्ञान हीच विशुद्ध मनुस्मृति- गीता आदिमानव-पहिला-मूळ पुरुष महाराज मनु ह्याच्याही पूर्वीची आहे- 'इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम!' (४.१) अर्जुना, अरे हा अविनाशी योग मी सूर्याला कल्पाच्या प्रारंभीच सांगितला होता, तसेच सूर्याने तो मनुला सांगितला. मनुने तो ऐकला व आपल्या स्मरणात साठवून ठेवला, कारण ऐकलेली गोष्टी मनाच्या खोल कप्प्यात स्मरणात ठेवता येते. ते हेच ज्ञान मनुने इक्ष्वाकुला सांगितले. इक्ष्वाकुकडून राजर्षिंना हे ज्ञान समजले आणि याच महत्वपूर्ण काळात हा अविनाशी योग या पृथ्वीवरून लुप्त झाला. सुरुवातीच्या काळात-पूवी फक्त सांगण्याची व ते ऐकून लक्षात ठेवण्याची पद्धत होती. लिहितासुद्धा येऊ शकते याची कल्पनाच नव्हती. मनुमहाराजांनी याला मनाच्या स्मृतिंमध्ये साठवून ठेवले आणि लक्षात ठेवण्याची- स्मृति परंपरा दिली. म्हणून गीतेत वर्णन केलेले ज्ञान हेच फक्त विशुद्ध मनुस्मृति आहे.

भगवंतानी हे ज्ञान मनुच्या अगोदर सूर्याला सांगितले होते. तर मग याला सूर्यस्मृति का बरे म्हणत नाहीत ? खरे पाहता सूर्य प्रकाशमय परमात्म्याचा असा अंश आहे की ज्यामुळे ही मानवी सृष्टी निर्माण झाली आहे. भगवान श्रीकृष्ण म्हणतात, "मीच परमचेतन बीज रूपाने पिता आहे, प्रकृति गर्भधारणा

करणारी आई आहे." तोच बीजरुपातील पिता सूर्य आहे. सूर्य ही परमात्म्याची अशी प्रशक्ति आहे की जीने मानवाची निर्मिती केलेली आहे. सूर्य ही काही कोणी व्यक्ति नव्हे. जेव्हा परमात्म्याच्या या ज्योतिर्मय तेजापासून मानवाची उत्पत्ति झाली तेव्हाच त्या तेजामध्ये हे गीतेमध्ये विषद केलेले ज्ञान सुद्धा प्रसारित केले, म्हणजेच सूर्याला सांगितले. सूर्याने ते आपल्या मुलाला मनुला सांगितले म्हणून ही मनुस्मृति! सूर्य म्हणजे कोणी व्यक्ति नव्हे तर बीज आहे.

भगवान श्रीकृष्ण म्हणतात, तोच प्राचीन योग मी तुला सांगणार आहे. तू लाडका भक्त आहेस तसेच खास मित्रही आहेस. अर्जुन बुद्धिमान होते, गीता ग्रहण करण्याची त्यांची क्षमता होती. त्यांनी भगवंतांसमोर प्रश्नांची मालिकाच सुरु केली. "तुमचा जन्म तर आत्ता झालेला आहे, सूर्याचा जन्म तर फार पूर्वी झालेला आहे. मग तुमच्या, तुम्हीच हे सूर्याला सांगितले, या विधानावर मी कसा काय विश्वास ठेवावा ?" अशाच प्रकारचे वीस पंचवीस प्रश्न त्यांनी उभे केले. गीता संपेपर्यंत त्यांचे प्रश्न (निराकरण झाल्याने) संपून गेले. मग जे अर्जुन विचारु शकत नव्हते परंतु अर्जुनाच्याच हिताचे होते असे काही प्रश्न भगवंतानी स्वतःच निर्माण केले व त्यांचे निराकरण केले. अखेरीस भगवान म्हणाले, अर्जुना, तू माझा उपदेश नीट एकाग्रपणे लक्षपूर्वक ऐकला आहेस का ? मोहापायी निर्माण झालेले तुझे अज्ञान नष्ट झाले आहे का ? अर्जुन म्हणाले –

भगवन्ता, माझा मोह नष्ट झाला आहे. मला स्मृतिंची प्राप्ती झाली आहे. मी केवळ ऐकलेच नाही तर (स्मरणात कोरून ठेवले आहे) स्मृतिंमध्ये धारण केले आहे. मी आपल्या आदेशाचे पालन करीन, युद्ध करीन. त्यांनी धनुष्य उचलले, युद्ध झाले. त्यांना विजय मिळाला, एका विशुद्ध धर्म साम्राज्याची स्थापना झाली आणि एका धर्मशास्त्राच्या रूपात गीता पुन्हा प्रचारात आली.

गीता तुमचा मूळ धर्मग्रंथ आहे. अर्जुनाने आपल्या स्मृतिंमध्ये धारण केलेली मनुस्मृति हीच आहे. मनु साक्षी असलेल्या दोन कामांचा उल्लेख आहे– एक तर पित्याकडून गीतेची प्राप्ती आणि दुसरे म्हणजे मनुच्या समोरच

वेद अवतरले. मनुच्या काळात आणखी कुठली तिसरी गोष्ट घडली नाही. त्याकाळी लिहिण्याची, लिहवून घेण्याची पद्धत (सुविधा) नव्हती, कागद-लेखणी सुद्धा नव्हती, म्हणून ज्ञान हे ऐकून स्मृतिमध्ये साठवून ठेवण्याची परंपरा होती. ज्यांच्यामुळे मानवांची निर्मिती झाली त्या महाराज मनु यांनी वेदांना श्रुतीचा तर गीतेला स्मृतिचा मान दिला.

वेद मनुच्या समोर प्रकट झाले, त्यांचे श्रवण करा. ते श्रवणाच्या योग्यतेचे आहेतच. नंतर भले ही तुम्ही ते विसरलात तरी काही पर्वा नाही. परंतु गीता स्मृति आहे, ती नेहमीच स्मरणात असायला हवी. गीता हे मानवाला कायम टिकून राहणारे (शाश्वत) जीवन, सदैव टिकून राहणारी (शाश्वत) शांती आणि नेहमी असणारी (शाश्वत) समृद्धि ऐश्वर्य संपन्न जीवन मिळवून देणारे ईश्वरी गीत आहे.

भगवान म्हणाले, अर्जुना, जर तू गर्वाच्या आहारी जाऊन माझा उपदेश ऐकला नाहीस तर तुझा नाश होईल, म्हणजेच गीतेतील उपदेशांकडे दुर्लक्ष करणाऱ्याचा नाश होतो. पंधराव्या अध्यायाच्या शेवटच्या श्लोकात (१५.२०) भगवान म्हणतात, '**इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।**' हे गोपनीयाहूनही गोपनीय शास्त्र मी सांगितले आहे. याला तत्वातून जाणून तू संपूर्ण ज्ञान आणि परमश्रेय यांची प्राप्ती करशील. सोळाव्या अध्यायाच्या शेवटच्या दोन श्लोकांमध्ये म्हटले आहे- **य शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकरतः।**' या शास्त्रविधीचा त्याग करून इतर प्रकारांनी भक्ति करतात त्यांच्या जीवनात ना सुख असते, ना स्मृद्धि असते की ना परमगती असते.

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य व्यवस्थितौ। म्हणून अर्जुना, तुझ्या कर्तव्य आणि अकर्तव्याच्या निवाड्यामध्ये हे शास्त्रच प्रमाणभूत आहे. याचा चांगल्या प्रकारे अभ्यास कर आणि त्यानंतर त्याचे आचरण कर. तू माझ्यात निवास करशील, अविनाशी पद प्राप्त करशील आणि शाश्वत जीवन, शाश्वत शांती आणि समृद्धि मिळवशील.

गीता मनुस्मृति आहे आणि श्रीकृष्णाच्या मते दुसरे कोणते ही शास्त्र नाही, दुसरी कोणतीही स्मृति नाही तर गीता हेच धर्मशास्त्र आहे. समाजात

प्रचारात असणाऱ्या वेगवेगळया स्मृति ह्या गीता विस्मृतीत गेल्याचे दुष्परिणाम आहेत. कितीतरी राजांच्या कृपाछत्राखाली लिहिल्या गेलेल्या ह्या स्मृति समाजातील उच्च नीचतेच्या भींती उभारण्यासाठी व त्या टिकवून ठेवण्यासाठी चांगल्याच उपयोगी पडतात. मनुच्या नावावर प्रचार करण्यात येणाऱ्या अथवा सांगितलेल्या मनुस्मृतिमध्ये मनुच्या काळातील वातावरणाचे चित्रण नाही. मूळ अस्सल मनुस्मृति गीता फक्त एका परमात्म्यालाच सत्य मानते, आणि त्यातच जगाचा विलय दर्शविते. परंतु आज प्रचारात असणाऱ्या जवळ जवळ १६४ स्मृति परमात्म्याचे नाव सुद्धा घेत नाहीत, की परमात्म्याच्या प्राप्तीच्या मार्गावर प्राकाशझोतही टाकीत नाहीत. त्या फक्त स्वर्गातील स्थान पक्के करण्यापुरत्या मर्यादित राहतात आणि जे 'न अस्ति' म्हणजे मुळातच नाही आहे, त्यालाच प्रोत्साहन देतात.

महापुरुष- महापुरुष बाह्य तसेच आंतरिक, व्यावहारिक, तसेच अध्यात्मिक लोकरीती आणि यथार्थ वेदरीती दोन्हींची जानकारी ठेवतो. हेच कारण आहे की, समस्त समाजाला महापुरुषांनी राहणीची पद्धत दाखविली आणि एक मर्यादित व्यवस्था दिली. वसिष्ठ, शुक्राचार्य, स्वयं योगेश्वर श्रीकृष्ण, महात्मा बुद्ध, मूसा, इसा, मुहम्मद, रामदास, दयानंद, गुरू गोविंदसिंह इत्यादी हजारो महापुरुषांनी असे केले. परंतु या व्यवस्था तत्कालीन समयानुसार असतात. पीडित समाजाला भौतिक वस्तू प्रदान करणे यथार्थ नाही. भौतिक अडचणी, कोंडी क्षणिक असतात. शाश्वत नसतात. म्हणून त्यांचे निराकरण पण त्या समयापुरतेच होते. त्याला चिरंतन व्यवस्थेच्या रूपात ग्रहण करता येत नाही.

व्यवस्था लावणारे- सामाजिक विकृतींना महापुरुष सोडवतात, त्यांचे निराकरण करतात. जर त्यांचे निराकरण झाले नाही तर ज्ञान, वैराग्यजनीत परम साधन कोण ऐकेल? मनुष्य ज्या वातावरणात फसला आहे त्याला तेथून हटवून यथार्थरूप जाणण्याच्या स्थितीत आणण्यासाठी अनेक प्रलोभने दिली जातात. त्या दृष्टीने महापुरुष ज्या शब्दांचा प्रयोग करतात, काही व्यवस्था देतात, तो धर्म नाही. त्यामुळे शे-दोनशे वर्षे चालेल अशी व्यवस्था मिळते. चार-सहाशे वर्षांसाठी उदाहरण बनते व हजार दोन हजार वर्षात तो सामाजिक

आविष्कार नवीन परिस्थितीबरोबर निष्प्राण होऊन जातो. गुरु गोविंदसिंहाच्या सामाजिक व्यवस्थेमध्ये शस्त्र अनिवार्य होते. आता त्या तलवारीचे औचित्य आहे का? येशू गाढवावर बसत (मत्ती २१) असत. गाढवासंबंधी त्यांनी दिलेली व्यवस्था आज उपयोगी आहे का? त्यांनी सांगितले कोणाचे गाढव चोरू नका. आज गाढव कोण पाळते? या प्रकारे योगेश्वर श्रीकृष्णाने त्या वेळच्या समाजाला सम्यक व्यवस्थित केले. त्याचा उल्लेख महाभारत, भागवत इत्यादी ग्रंथामध्ये आहे. त्याबरोबर या ग्रंथात त्यांनी यथार्थाचेही 'येथे-तेथे' असे चित्रण केले आहे. परम-कल्याणकारी साधना आणि भौतिक व्यवस्थांच्या निर्देशाला एकामध्ये मिसळण्याने समाज तत्त्व निर्णायक क्रमाला पूर्णपणे समजू शकत नाही. भौतिक व्यवस्थांना तो जसेच्या तसेच नव्हे तर वाढवून फुगवून ग्रहण करतो कारण की, ते भौतिक आहे; महापुरुषाने सांगितले असे सांगून या व्यवस्थांसाठी महापुरुषांची ग्वाही पण देतात. महापुरुषाच्या वास्तविक क्रियेला मोडून तोडून त्याला भ्रामक बनवतात. वेद, रामायण, महाभारत, बायबल, कुराण या सर्वांच्या बाबतीत पूर्वग्रहयुक्त धूसर धारणा मनात शेष आहेत.

गीता सर्व मनुष्यमात्रासाठी- पातंजली इत्यादी अनेक महापुरुषांनी परमश्रेयाच्या यथार्थ विधीला सामाजिक व्यवस्थेपासून हटवून वेगळे, स्वतंत्र प्रस्तुत केले. योगेश्वर श्रीकृष्णानेही हे वेगळे करणे कल्याणकारी समजले. उत्तम अधिकारी योग्यता असणाऱ्या बाबतीतच त्यांनी तसे व्यक्त केले. श्रीकृष्णाने वेळो वेळी सांगितले की, तुझ्या, अतिशय प्रेम असणाऱ्या भक्ताच्या हिताच्या इच्छेने सांगतो. हे अति गुप्त रहस्य आहे. शेवटी त्यांनी सांगितले, जर भक्त नसाल तर प्रतीक्षा करा. त्याला त्या मार्गावर आणा. नंतर त्याच्यासाठीच सांगा. हेच मनुष्यमात्रासाठी यथार्थ कल्याणाचे एकमात्र साधन आहे. त्याचेच नाम श्रीकृष्णोक्त गीता आहे.

प्रस्तुत भाष्य- योगेश्वर श्रीकृष्णाच्या आशयाला जसेच्या तसे व्यक्त केलेल्या प्रस्तुत टीकेचे नाव 'यथार्थ गीता' आहे. गीता स्वतंत्रपणे पूर्व साधन ग्रंथ आहे. संपूर्ण गीतेमध्ये संदेहाचे एकही स्थळ नाही. जेथे कोणाला

संदेह असेल तो बौद्धिक स्तरावर जाणता येत नाही, म्हणून तो प्रतीत होतो. म्हणून कोणाला काही समजले नाही तर कोणा तत्त्वदर्शी महापुरुषाच्या सान्निध्यात ते समजून घेण्याचा प्रयत्न करा.

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यीन्ते ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।।
ओम शान्तिः। शान्तिः।। शान्तिः।।।

निवेदन

'यथार्थ गीता' योगेश्वर श्रीकृष्णाची परम पवित्र वाणी आहे. यात आपल्या हृदयात राहिलेल्या परमात्म्याच्या प्राप्तीच्या पद्धतीचे व प्राप्तीच्या नंतरचे केले गेलेले चित्रण आहे. अवहेलनेच्या दृष्टीने या वाणीचा उपयोग वर्ज्य आहे. नाहीतर आम्ही आमच्या लक्ष्याच्या ज्ञानापासून वंचित राहू. या गीताभाष्याचे श्रद्धापूर्वक अध्ययन करण्याने मनुष्य कल्याणकारी साधनाने समृद्ध होईल आणि जो या भाष्याचे यत्किंचितपण ग्रहण करेल, त्याला परमश्रेय प्राप्त होईल. कारण या ईश्वरीय मार्गावर आरंभाचा कधी नाश होत नाही.

– स्वामी अड़गड़ानंद

ध्वनिफीत निर्मितीचा हेतू
ओडियो कॅसेट रेकॉर्डिंगचा हेतू

(१) केवळ एका परमेश्वरावर असीम श्रद्धा आणि संपूर्ण समर्पणाचा संदेश देणारी गीता सर्वांना पवित्र व शुद्ध करण्यासाठी आमंत्रण देत आहे. जगाच्या पाठीवर कुठेही राहणाऱ्या श्रीमंत अथवा गरीब, कुलीन अथवा आदिवासी, पुण्यात्मा किंवा पापी, स्त्री अथवा पुरुष, सदाचारी किंवा दुराचारी सर्वांना तिच्यात प्रवेश आहे. विशेषतः गीता पापी लोकांना त्यांच्या उद्धाराचा सुगम असा मार्ग दाखवते. पुण्यवान लोक तर तिची उजळणी करीत असतातच. अशा या अद्वितीय गीतेवरील अद्वितीय भाष्य करणाऱ्या 'यथार्थ गीते' च्या कॅसेटचे प्रसारण प्रस्तुत करीत आहोत.

(२) शास्त्राची रचना दोन दृष्टींनी केली जाते. एक तर सामाजिक व्यवस्था व संस्कृती कायम टिकवण्याच्या दृष्टीने, की ज्यामुळे लोक पूर्वजांच्या पदचिन्हांचे म्हणजेच परंपरेचे अनुकरण करू शकतील व दुसरी ही की, ज्यायोगे ते शाश्वत शांती प्राप्त करू शकतील. रामचरित मानस, बायबल, कुरान इत्यादींमध्ये दोन्ही दृष्टिकोणांचा समावेश आहे. त्यात भौतिक दृष्टिकोन मुख्य असल्यामुळे मनुष्य समाजोपयोगी व्यवस्था टिकवण्याचा प्रयत्न करीत असतो, तर आध्यात्मिक सूक्तांकडे, मंत्राकडेही तो सामाजिक व्यवस्थेच्या संदर्भात म्हणतो की, शास्त्रामध्ये असे लिहिले आहे. त्यामुळे दोन्ही दृष्टिकोनांसाठी वेदव्यासांनी महाभारत हा ग्रंथ लिहिला असूनही आध्यात्मिक क्रियांचे संकलन गीतेच्या रूपाने वेगळे केले आहे की, ज्यामुळे लोक या

मूळ कल्याण मार्गामध्ये भ्रांतीचे, संभ्रमाचे मिश्रण करू शकणार नाहीत. त्या आध्यात्मिक मूल्यांसह येथे गीतेचा दिव्य संदेश प्रस्तुत करीत आहोत.

(३) गीता हा एखादी विशेष व्यक्ती, जात, वर्ग, पंथ, देशकाल किंवा एखाद्या संप्रदायाचा ग्रंथ नाही. उलट गीता म्हणजे सार्वलौकिक तसेच सर्वकालिक असे धर्मशास्त्र आहे व तो प्रत्येक देश, प्रत्येक जात तसेच कोणत्याही वयाच्या स्त्रीपुरुषांसाठी अत्यंत उपयुक्त आहे. खरोखर ही गीता म्हणजे समस्त मानव जातीचे धर्मशास्त्र आहे आणि अभिमानाची गोष्ट म्हणजे गीता हे आपले धर्मशास्त्र आहे, आपला धार्मिक ग्रंथ आहे.

(४) पूज्य भगवान महावीर, तथागत भगवान बुद्ध ज्ञानी असूनही लोकभाषेत ते गीतेचे संदेशवाहक आहेत. 'आत्मा सत्य आहे आणि संपूर्ण संयमाने आत्मस्थिती प्राप्त करणे' हा गीतेचाच विचार आहे. बुद्धाने या स्थितीलाच सर्वज्ञ तसेच अविनाशी पद असे संबोधून गीतेच्या विचारालाच पुष्टी दिली आहे. इतकेच नव्हे तर अखिल विश्वातील धार्मिक ग्रंथांमध्ये जे सार सांगितले आहे– उदा. ईश्वर, प्रार्थना, पश्चाताप, तप इत्यादी हा सर्व गीतेचाच उपदेश आहे. तोच दिव्य उपदेश श्री अड़गड़ानंद स्वामींच्या मूखातून 'यथार्थ गीतेमध्ये प्रकट झाला आहे' व तो मानवमात्राचा मुक्तीचा दिव्य संदेश कॅसेटच्या रूपाने आम्ही प्रस्तुत करीत आहोत.

(५) भारतातील लोकग्रंथामध्ये सुकरातच्या शिष्यपरंपरेचे प्रमुख पंडित अरस्तू याने आपला शिष्य सिकंदर याला गीताजाणकार ज्ञानी गुरू आणण्याचा आदेश दिला होता. गीतेमधील एकेश्वरवादाचा विश्वातील विविध भाषेत मूसा, ईसा तसेच सूफी महात्म्यांनी प्रसार केला. विविध भाषा असल्याने वेगवेगळे तत्त्व वाटले तरी सिद्धांत गीतेचाच आहे व म्हणून गीता सर्व मानवमात्रांचे अतर्क्य असे धर्मशास्त्र आहे. गीतेतील आशय 'यथार्थ गीतेच्या रूपाने प्रस्तुत करून स्वामी अड़गड़ानंद महाराजांनी मानवाला अमूल्य असे भांडार दिले आहे, जे श्री जीतेनभाई यांच्या सौजन्यांमुळे कॅसेटच्या रूपाने प्रस्तुत होत

आहे. गीतेच्या दहा हजार अनुवादांमध्ये अत्यंत दैदीप्यमान अशा या भाष्याचा स्वाद घेऊन आपणही परमश्रेयाचे साधक बना.

(६) जगातील सर्व धर्म गीतेतील उपदेशाचेच प्रतिनिधित्व करीत आहेत. श्री-अड़गड़ानंद महाराजांच्या मुखातून गीतेवरील भाष्य 'यथार्थ गीता' ऐकून जैन कुलोत्पन्न श्री. जीतेनभाई यांनी महाराजांच्या उपदेशाचा कॅसेटद्वारा प्रसार करण्याचे व्रत घेतले कारण भगवान महावीर, भगवान गौतम बुद्ध, गुरू नानक, कबीर इत्यादी महात्मांच्या सिद्धांतांची उच्चतम अभिव्यक्ती म्हणजे गीता आहे. गीतेवरील दिव्य भाष्याची ही कॅसेट आपल्या सर्वांच्या आत्मदर्शनार्थ प्रस्तुत करीत आहोत.

(७) गीतेच्या निर्मितीनंतर दोन हजार वर्षांपर्यंत धर्मांच्या नांवावर कोणतेच संप्रदाय निर्माण झाले नाहीत व म्हणूनच गीता धर्ममुक्त आहे. त्या वेळी विश्वातील ज्ञानी जनांत एकच शास्त्र गाजत होते व ते म्हणजे उपनिषद सार भगवद् गीता हे होय. मोक्ष आणि समृद्धीचा स्त्रोत म्हणजे गीता होय. कोणतेही शास्त्र वाचण्यापेक्षा श्रवण करणे अधिक लाभदायक आहे कारण कदाचित शुद्ध उच्चारणामध्ये एकाग्रता भंग पावत असते. यासाठी यथार्थ गीतेचा हा सोप्या व सरळ भाषेत केलेला अनुवाद कॅसेटच्या रूपाने आपल्या सेवेसाठी प्रस्तुत करीत आहोत. या कॅसेटच्या श्रवणाने लहान मुलांमध्ये, आजूबाजूच्या लोकांमध्ये परमात्म्याच्या शुभ संस्कारांचा संचार होईल आणि आपल्या अंगणातील वायुमंडल देखील तपोभूमीप्रमाणे सुरभित होईल.

(८) ज्या घरात प्रभूचे नाव घेतले जात नाही ते घर स्मशानवत् असते. आज मनुष्य कामात इतका व्यस्त असतो की इच्छा असूनही तो भगवंताच्या आराधनेसाठी वेळ काढू शकत नाही. अशा स्थितीत गीतेचा दिव्य संदेश श्रवण केला गेला तर परमश्रेय व समृद्धीच्या संस्कारांचे बीजारोपण झाल्याशिवाय राहणार नाही. या कॅसेटच्या रूपाने दिवसभर त्या प्रभूचे स्मरण होत नाहील आणि हीच आराधनेची आधारशिला आहे.

(९) मुलांनी चांगले संस्कार ग्रहण करावेत असे आपण मुलांना सांगत असतो. परंतु चांगले संस्कार याचा अर्थ लोक वेगळाच घेतात. त्यांच्या दृष्टीने पोटापाण्यासाठी भाजी भाकरी मिळवण्याची अंगात धमक प्राप्त करणे, राहण्यासाठी घर मिळविणे व स्वतःचा आर्थिक विकास करणे म्हणजे चांगले संस्कार होत. ईश्वराकडे कोणाचे लक्षच जात नाही. काहीना तर जवळची पुंजी म्हणजे सर्वस्व वाटते. त्यांना ईश्वराचे नाव घेण्याची आवश्यकता वाटत नाही. परंतु ही पुंजी पार्थिव आहे. इच्छा नसली तरी सर्व वैभव येथेच सोडून जावे लागते. अशा स्थितीत ईश्वराची ओळख किंवा ईश्वराला जाणणे हा एक मात्र दिलासा आहे. हा दिलासा आपल्याला या कॅसेटच्या रूपाने प्राप्त होईल.

(१०) जगातील धार्मिक मतभेद हे महापुरुषांच्या मागे त्यांच्या अनुयायांमुळे निर्माण झालेले आहेत. महापुरूषाचे एकांत स्थळ कालांतराने तीर्थ, आश्रम, मठ किंवा मंदिराचे रूप घेते आणि मग त्या ठिकाणी उपजीविकेच्या साधनांपासून उपभोगापर्यंतची सर्व साधने जमवली जातात. त्या महापुरुषाची कालांतराने गादीही बनवली जाते. परंतु केवळ गादीवर बसल्याने कोणी महापुरुष बनत नाही. महापुरुष हा प्रत्यक्षदर्शी असतो व धर्म नेहमी त्याच्या क्षेत्रातील वस्तू असतो. गीता म्हणजे अशाच महापुरुषाची योगेश्वर श्रीकृष्णांची दिव्य वाणी आहे. त्यांनी सांगितलेल्या चिरंतन सत्य आपल्यासाठी या कॅसेटच्या रूपाने प्रस्तुत करीत आहोत.

गीता आपले धर्मशास्त्र आहे

जगात प्रचलित असणाऱ्या संपूर्ण धार्मिक विचारांचे मूळ उद्गमस्थान असणाऱ्या भारतात लिहिल्या गेलेल्या गीतेमध्ये समस्त अध्यात्म आणि आत्मस्थिती देणाऱ्या संपूर्ण शोधांच्या साधनक्रमाचे स्पष्ट वर्णन आहे. त्यामध्ये म्हटले आहे ईश्वर एक आहे, त्याला प्राप्त करण्याची क्रिया आहे, या मार्गात प्राप्त होणारी कृपा एक तसेच त्याचा परिणामही एकच आहे. तो परिणाम म्हणजे परमेश्वराचे दर्शन, भगवत्स्वरुपाची प्राप्ती आणि काळाच्या पलीकडील अनन्त जीवन!

शास्त्र

परमात्म्याची प्राप्ती करुन देणाऱ्या क्रियाशील अशा ज्ञानाबाबतच्या नियमांचे संकलन म्हणजेच शास्त्र होय. या दृष्टिने पाहता भगवान श्रीकृष्णाची गीता सनातन व शाश्वत धर्माचे शुद्ध शास्त्र आहे. ही गीता वेद, उपनिषद, समस्त योगशास्त्र, रामचरित मानस तसेच विश्वातील सर्व दर्शनशास्त्रांचे ती एकटीच प्रतिनिधित्व करीत आहे. मनुष्यमात्रासाठी गीता हे धर्माचे अतर्क्य-गूढशास्त्र आहे.

परमात्म्याचा निवास

तो सर्वसमर्थ, शाश्वत असा परमात्मा मनुष्याच्या ह्रदयातच स्थित आहे. त्याला सर्वभावे शरण गेल्याने शाश्वत धाम, शाश्वत शांति व अनंत जीवनाची प्राप्ती होत असते.

संदेश

सत्य वस्तूचा तिन्ही काळात अभाव नसतो. असत्य वस्तूला अस्तित्वच नसते. तिन्ही काळात परमात्मा सत्य आहे, शाश्वत आहे, सनातन आहे.

- स्वामी अड़गड़ानन्द

५२०० ५२०० ५२०० ५२०० ५२०० ५२०० ५२०० ५२०० ५२०० ५२०० ५२०० ५२०० ५२०० ५२०० ५२०० ५२००

वर्षांच्या दीर्घ कालानंतर श्रीमद्‌भगवद्‌ गीतेची शाश्वत व्याख्या

श्री परमहंस स्वामी अड़गड़ानन्दजी आश्रम ट्रस्ट

न्यू अपोलो एस्टेट, गाला नं 5, मोगरा लेन (रेलवे सबवे के पास), अंधेरी (पूर्व), मुम्बई – 400069

फोन - (022) 28255300 • ई-मेल - contact@yatharthgeeta.com • वेबसाइट - www.yatharthgeeta.com